

GL H 954.03

MIS



125061
LBSNAA

१ राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

L.B.S. National Academy of Administration

मसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

— 125061

अवाप्ति संख्या

Accession No.

~~3211~~

वर्ग संख्या

Class No.

GL H 954.03

पुस्तक संख्या

Book No.

MIS मिश्र

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

लेखक

गंगा शंकर मिश्र

बिड़ला हिन्दी प्रकाशन मण्डल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विक्रेता

प्रेस बुक डिपो,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

द्वितीय संस्करण }
२००० }

१९४९

{

त्रिङ्गल हिन्दी प्रकाशन मण्डल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
के लिए
संसार लिमिटेड, बनारस
द्वारा
प्रकाशित

सर्वाधिकार 'त्रिङ्गल हिन्दी प्रकाशन मण्डल' के अधीन

मुद्रक
देवताप्रसाद गहमरी
संसार प्रेस,
काशी

प्रथम संस्करण में सन् १९२९ के अन्त तक का ही विवरण था। द्वितीय संस्करण में १९४८ के अन्त तक का विवरण दे दिया गया है। जिन पुस्तकों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गयी है, उनका हवाला यथासम्भव पृष्ठों में दे दिया गया है। द्वितीय संस्करण में जो परिवर्द्धन हुआ, उसमें स्थानाभाव के कारण ऐसा न किया जा सका। उसके लिखने में १९३० से १९४५ तक के अंश के लिए मुख्यतः उन उन वर्षों के 'इंडियन ऐनुअल रजिस्टर' से सहायता ली गयी। १९४६ और उसके आगे का विवरण दैनिक 'सन्मार्ग' काशी, के आधार पर लिखा गया है। 'कला और साहित्य' शीर्षक परिच्छेद लिखने में कई मित्रों से बड़ी सहायता मिली, जिसके लिए लेखक उनका अनुगृहीत है।

गङ्गातरङ्ग, नगवा
काशी,
महाशिवरात्रि, २००५

}

गङ्गाशङ्कर मिश्र

प्रास्ताविक उपोद्घात

हमारे देश में नवीन शिक्षा को स्थापना हुए एक शताब्दी हो चुकी; पर शोक है कि अद्यापि हमको शिक्षा—विशेषतः उच्च शिक्षा—अँगरेजी भाषा द्वारा ही दी जाती है।

ई० स० १८३५ में कलकत्ता की 'जनरल कमिटी ऑफ एड्युकेशन' ने अपना मत प्रकट किया था कि—

“We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of Vernacular languages.....We conceive the formation of a Vernacular Literature to be the ultimate object to which all our efforts must be directed.”

अर्थात्, देश का साहित्य बढ़ाना ही हमारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

सन् १८३८ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने “हिन्दुस्तान में शिक्षा” विषयक जो लेख लिखा था उसमें भी उस विद्वान् ने कहा है—

“Our main object is to raise up a class of persons who will make the learning of Europe intelligible to the people of Asia in their own languages.”

अर्थात् हमारा उद्देश्य सुशिक्षित जन तैयार करने का है जो यूरोप की विद्या को एशिया के लोगों की बुद्धि में अपनी भाषा द्वारा उतार दें।

ई० स० १८३९ में लार्ड ऑकलैंड (गवर्नर-जनरल) ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि—

“I have not stopped to state that correctness and elegance in Vernacular composition ought to be sedulously attended to in the superior colleges.”

अर्थात्, उच्च विद्यालयों में मातृभाषा के निबन्धों में वाणी का यथार्थ रूप और लालित्य लाने पर विशेष ध्यान देने की बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता ।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आशा की थी कि अँगरेजी शिक्षा पाये हुए लोगों के संसर्ग से साधारण जनता में नवीन विद्या का आप ही आप अवतार होगा । लेकिन यह आशा सफल न हुई । अतएव ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तिम समय (१८५४) में कम्पनी के ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ (निरीक्षण समिति) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक चिर-स्मरणीय लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर यूनिवर्सिटी तक की शिक्षा का प्रबन्ध सूचित किया । पश्चात् कम्पनी से हिन्दुस्तान का राज्याधिकार महारानी विक्टोरिया के हाथ में आया और बड़े समारोह से नवीन शिक्षा की व्यवस्था हुई—तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य बहुशः सफल नहीं हुआ । यूनिवर्सिटी के स्थापनानन्तर २५-३० वर्ष बाद भी सर जेम्स पील (बम्बई के कुछ समय तक शिक्षाधिकारी) निम्नलिखित रूप में आक्षेप कर सके थे—

“The dislike shown by University graduates to writing in their vernacular can only be attributed to the consciousness of an imperfect command of it. I cannot otherwise explain the fact that graduates do not compete for any of the prizes of greater money value than the Chancellor’s or Arnold’s Prize at Oxford or Smith’s or the Members’ Prizes at Cambridge. So curious an apathy, so discouraging a want of patriotism, is inexplicable, if the transfer of English thought to the native idiom were, as it should be, a pleasant exercise, and not, as I fear it is, a tedious and repulsive trial.”

हमारे नवशिक्षित बन्धुओं ने देश भाषा द्वारा देश का साहित्य बढ़ाया है। इससे इनकार करना अकृतज्ञता करना है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि वह साहित्य-समृद्धि जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है।

इसका कारण क्या है ? कई विद्वानों ने इसका कारण देशी भाषा का अज्ञान और विश्वविद्यालयों में देशी भाषा के पठन-पाठन का अभाव माना है। लेकिन वास्तविक कारण इससे भी आगे जाकर देखना चाहिये। मूल में बात यह है कि परभाषा द्वारा विद्यार्थियों को जो विद्या पढ़ाई जाती है वह उनकी बुद्धि और आत्मा से मेल नहीं खाती। परिणाम यह होता है कि सब पाठ उनकी बुद्धि में—भूमि में पत्थर के टुकड़े के समान—पड़े रहते हैं, बीज के समान भूमि में मिलकर अंकुर नहीं उत्पन्न करने पाते।

यह सुसिद्धान्तित और सुविदित है कि बालक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा में सफलता पा सकते हैं, क्योंकि मातृभाषा शिक्षा का स्वाभाविक वाहन है। इसलिए हमारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिये। केवल सिद्धान्त रूप में ही हम ऐसा नहीं कहते, बल्कि यह व्यवहार में भी हिन्दुस्तान की सब प्राथमिक और अनेक माध्यमिक शिक्षणशालाओं में स्वीकृत हो चुकी है। तथापि उच्च शिक्षा के लिए इस विषय में अभी तक कुछ उपक्रम नहीं हुआ है। विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब महाविद्यालय में प्रवेश करता है तब भी मातृभाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा ग्रहण करना उसके लिए स्वाभाविक देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐसा विशाल देश है कि इसकी एकता साधने के लिए हर एक प्रान्त की (मातृ) भाषा के अतिरिक्त समस्त देश की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रभाषा होने का जन्मसिद्ध और व्यवहारसिद्ध अधिकार देश की सब भाषाओं में हिन्दी भाषा को ही है। उचित है कि हिन्द के सब विद्यार्थी जब विश्वविद्यालय में प्रवेश करें तो स्वाभाविक मातृभाषा से आगे बढ़के राष्ट्रभाषा—हिन्दी—द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। वस्तुतः प्राचीन काल में जैसे संस्कृत और पीछे पाली राष्ट्रभाषा थी उसी प्रकार अर्वाचीन काल में हिन्दी है। इस प्रान्त में हिन्दी का ज्ञान मातृभाषा के रूप में होता ही है। लेकिन जिन प्रान्तों को यह मातृभाषा

नहीं है वे भी इसको राष्ट्रभाषा होने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्रम में एक अधिक भाषा के रूप में सीख लें और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा इसी भाषा में प्राप्त करें; यही उचित है। तामिल देश को छोड़कर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत प्राकृतादि क्रम से एक ही मूल भाषा या भाषामंडल में से उत्पन्न हुई हैं। अतएव उनमें एक कौटुम्बिक साम्य है। इसलिए अन्य प्रान्तीय भी, अपनी मातृभाषा न होने पर भी, हिन्दी सहज ही में सीख सकते हैं। ज्ञान-द्वार की स्वाभाविकता में इससे कुछ न्यूनता जरूर आती है तथापि एकराष्ट्र की सिद्धि के लिए इतनी अल्प अस्वाभाविकता सह लेना आवश्यक है। उत्तम शिक्षा की कक्षा में यह दुष्कर भी नहीं है; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वाभाविकता के पार जाने का सामर्थ्य भी कुछ सीमा तक बढ़ता है।

आधुनिक ज्ञान की उच्च शिक्षा में उपकारक ग्रन्थ हिन्दी में, क्या हिन्दुस्तान की किसी भाषा में, अद्यापि विद्यमान नहीं हैं—इस प्रकार का आक्षेप करके अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रचलित रीति का कितने ही लोग समर्थन करते हैं। किन्तु इस उक्ति का अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है, क्योंकि जब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती तब तक भाषा के साहित्य का प्रफुल्लित होना असम्भव है और जब तक यथेष्ट साहित्य न मिल सके तब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। इन अन्योन्याश्रय दोषापत्ति का उद्धार तभी हो सकता है जब अपेक्षित साहित्य यथाशक्ति उत्पन्न करके तद्द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाय। आरम्भ में जरूर पुस्तकें छोटी छोटी ही होंगी। लेकिन इन पर अध्यापकों के उक्त-अनुक्त-दुरुक्त आदि विवेचनरूप एवं इष्टपूर्तिरूप वार्तिक, तात्पर्यविवरणरूप वृत्ति, भाष्य-टीका, खंडनादि ग्रन्थों के होने से यह साहित्य बढ़ता जायगा और बीच में अहरहः प्रकटित अँगरेज़ी पुस्तकों का उपयोग सर्वथा नहीं छूटेगा। प्रत्युत अच्छी तरह से वह भी साथ साथ रहकर काम ही करेगा। इस रीति से अपनी भाषा की समृद्धि भी नवीनता और अधिकता प्राप्त करती जायगी।

इस इष्ट दिशा में काशी विश्वविद्यालय की ओर से जो कार्य करने का आरम्भ किया जाता है वह दानवीर श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला के दिये हुए ५०,००० रुपये का प्रथम फल है। आशा की जाती है कि इस प्रकार और धन भी मिला करेगा और उससे अधिक कार्य भी होगा। इति शिवम्।

अहमदाबाद,
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० १९८७

}

आनंदशङ्कर बापूभाई ध्रुव,
प्रो-वाइस चांसलर, काशी विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, श्री काशी विश्वविद्यालय
हिन्दी-ग्रन्थमाला-समिति

विषय-सूची

परिच्छेद १

भारत में यूरोप के व्यापारी

पृष्ठ

भारतीय व्यापार—प्राचीन मार्ग—नया मार्ग—मलाबार की दशा—
'पुर्तगालियों की साम्राज्य-चेष्टा—एलबुर्क—पुर्तगालियों का पतन—हालैंड-
निवासी डच लोगों का उद्योग—अँगरेजों का आगमन—ईस्ट इंडिया
कम्पनी—हार्किंस और सर टामस रो—मदरास, कलकत्ता और बम्बई—
मुगलों के साथ युद्ध—संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी—फ्रांसीसी कम्पनी—
अन्य कम्पनियाँ—अँगरेजों की सफलता—इंग्लैंड की व्यापार-नीति—
अँगरेजों का रहन-सहन ।

परिच्छेद २

फ्रांसीसी और अँगरेज

राजनैतिक अशान्ति—फ्रांसीसी शक्ति की वृद्धि—ड्यूमा की सफलता—
डूप्ले की अध्यक्षता—अँगरेजों की स्थिति—पहला युद्ध—सेंट टोम की
चढ़ाई—एलाशपल की सन्धि—दूसरा युद्ध—निजाम की मृत्यु—अम्बर
की लड़ाई—अँगरेजों का प्रयत्न—फ्रांसीसियों की सफलता—क्लाइव की
चाल—अर्काट का घेरा—बुसी और उत्तरी सरकार—डूप्ले का पतन—
उसकी नीति—असफलता के कारण—डूप्ले का चरित्र—तीसरा युद्ध—
लैली का उद्योग—वांडवाश की लड़ाई—फ्रांसीसियों की पराजय ।

परिच्छेद ३

साम्राज्य की नींव

बंगाल के नवाब—विदेशियों के प्रति नीति—सिराजुद्दौला की नवाबी—
 अँगरेजों से झगड़ा—कलकत्ता पर आक्रमण—कालकोठरी—अलीनगर की
 सन्धि—चन्द्रनगर पर अँगरेजों का अधिकार—नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र—
 मीर जाफर के साथ सन्धि—अमीरचन्द को धोखा—पलासी का युद्ध—
 युद्ध का परिणाम—मीर जाफर की नवाबी—अलीगौहर की चढ़ाई—डच
 लोगों की पराजय—क्लाइव की वापसी—शासन का अभाव—दूसरा षड्यं-
 त्र—मीर कासिम की नवाबी—अँगरेजों से झगड़ा—दस्तकों का दुरुपयोग—
 अँगरेजों से युद्ध—मीर जाफर की दूसरी नवाबी—आर्थिक दुर्दशा—बक्सर
 की लड़ाई—मीर जाफर की मृत्यु—क्लाइव की दूसरी गवर्नरी—क्लाइव के
 सुधार—राजनैतिक प्रबन्ध—इलाहाबाद की सन्धि—क्लाइव की नीति—
 उसका चरित्र ।

३७

परिच्छेद ४

देश की दशा

पानीपत का प्रभाव—सम्राट् शाहआलम—अवध के नवाब वजीर—
 रुहेलों का राज्य—सिखों का संगठन—जाट और राजपूत—हैदरअली का
 राज्य—अँगरेजों के साथ युद्ध—मदरास की सन्धि—मराठों की शक्ति—
 मराठा और अँगरेज—पेशवा माधवराव की मृत्यु—निजाम और कनीटक—
 तंजोर के साथ अन्याय—जनता की स्थिति—सामाजिक जीवन ।

६७

परिच्छेद ५

नींव की दृढ़ता

बंगाल का शासन—भीषण दुर्भिक्ष—हेस्टिंग्स की नियुक्ति—नया
 प्रबन्ध—संन्यासियों का दमन—व्यापार—रुहेलों के साथ युद्ध—इंग्लैंड-सरकार

का हस्तक्षेप—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—कौंसिल से झगड़ा—नन्दकुमार को
फाँसी—कौंसिल और कोर्ट—मराठों के साथ युद्ध—बड़गाँव का समझौता—
सालबाई की सन्धि—चेतसिंह पर जुरमाना—अवध के साथ व्यवहार—बेगमों
की दुर्दशा—मैसूर के साथ दूसरा युद्ध—हैदरअली की मृत्यु—मैंगलोर की
सन्धि—हेस्टिंग्स के अन्य सुधार—टि. का हाँडया ऐक्ट—हेस्टिंग्स का
इस्तीफा—पार्लामेंट का अभियोग—हेस्टिंग्स की नीति—उसका शासन और
चरित्र—सर जान मैकफर्सन ।

८७

परिच्छेद ६

हस्तक्षेप न करने की नीति

कार्नेवालिस की नियुक्ति—नौकरियों का सुधार—अदालतों का प्रबन्ध—
बंगाल के जमीन्दार—इस्तमरारी बन्दोबस्त—सरकार की हानि—जमीन्दारों
का लाभ—प्रजा पर प्रभाव—व्यापार की अवनति—मैसूर का तीसरा
युद्ध—श्रीरंगपट्टन की सन्धि—कर्नाटक और अवध—कार्नेवालिस की
वापसी—महमूदजी सिन्धया—अँगरेजों के साथ सम्बन्ध—पूना का दरबार—
सिन्धया और नाना—सिन्धया की मृत्यु—सर जान शोर—मराठे और
निजाम—मराठों की विजय—कर्नाटक और अवध—सेना में अशान्ति—
हस्तक्षेप का समर्थन—अहिल्याबाई की मृत्यु ।

१२६

परिच्छेद ७

साम्राज्य के लिए युद्ध

(१)

वेलेजली की नियुक्ति—भारतवर्ष की स्थिति—वेलेजली का आगमन—
निजाम के साथ व्यवहार—टीपू पर सन्देह—मैसूर का अन्तिम युद्ध—टीपू
का अन्त—टीपू का चरित्र—राज्य का बटवारा—मैसूर का राज्य—हैदराबाद
की सहायक सन्धि—कर्नाटक का अन्त—तंजोर का झगड़ा—अवध

के साथ जबरदस्ती—लखनऊ की सन्धि—अवध का शासन—सूरत का अपहरण—फोर्ट विलियम कालेज—धार्मिक नीति—मिस्र और फारस । १५३

परिच्छेद ८

साम्राज्य के लिए युद्ध

(२)

मराठों की स्थिति—नाना फड़नवीस की मृत्यु—बेसीन की सन्धि—सन्धि का परिणाम—बाजीराव की वापसी—सिन्धिया और भोंसला—मराठों का दूसरा युद्ध—युद्ध पर विचार—फ्रांसिस का मत—युद्ध के उद्देश्य और क्षेत्र—दक्षिण की लड़ाइयाँ—असेई और अरगाँव—गुजरात और बुंदेलखंड—उड़ीसा पर अधिकार—उत्तरी भारत की लड़ाइयाँ—कोयल और अलीगढ़—दिल्ली और आगरा—लसवाड़ी की लड़ाई—देवगाँव और अर्जुनगाँव की सन्धियाँ—मराठों की हार के कारण—होलकर के साथ युद्ध—आर्थर वेलेजली का मत—युद्ध का प्रारम्भ—भरतपुर का घेरा—वेलेजली की वापसी—सहायक प्रथा—वेलेजली का उद्देश्य—उसका चरित्र । १७८

परिच्छेद ९

मराठों का पतन

नीति में परिवर्तन—कार्नवालिस की मृत्यु—सर जार्ज बालों—युद्ध का अन्त—निजाम और पेशवा—विह्वौर का उपद्रव—लार्ड मिंटो—महाराजा रणजितसिंह—खालसा दल—अमृतसर की सन्धि—सीमाओं की रक्षा—समुद्री युद्ध—कृष्णकुमारी का आत्मबलिदान—ईसाईमत का प्रचार—लार्ड मिंटो की नीति—कम्पनी का नया आशापत्र—लार्ड हेस्टिंग्स—नेपाल का राज्य—गोरखों का युद्ध—सिगौली की सन्धि—पिंडारियों का दमन—मराठों का भय—भोंसलाओं की अवनति—सिन्धिया के साथ नई सन्धि—होलकर के राज्य की दुर्दशा—पेशवाओं

का अन्त—पेशवाई शासन—मराठों का पतन—अवध के शाह—
शासन-प्रबन्ध—सर टमस मनरो—माउंट स्टुआर्ट एलफिंस्टन—सर जान
मालकम—कर्नल जेम्स टाड—लार्ड हेस्टिंग्स का इस्तीफा—विला-
यती माल—आर्थिक जीवन—राजनैतिक उदासीनता । २१८

परिच्छेद १०

सुधार और शिक्षा

जान ऐडम और अखबार—लार्ड एमहर्स्ट—बर्मा का राज्य—
पहला युद्ध—बारिकपुर का विद्रोह—बर्मा में युद्ध—यांडबू की सन्धि—
भरतपुर का पतन—उत्तरी भारत की यात्रा—दौलतराव सिन्धिया की
मृत्यु—लार्ड विलियम बेंटिंक—शासनसुधार—ठगों का दमन—सती-
प्रथा का अन्त—देशी राज्य—रूस का भय—सिखों का राज्य—बेंटिंक और
रणजीतसिंह—कम्पनी का आज्ञापत्र—लार्ड मैकाले—शिक्षा का प्रश्न—
अँगरेजी भाषा का प्रचार—अँगरेजी शिक्षा का प्रभाव—बेंटिंक का
इस्तीफा—राजा राममोहन राय—ब्रह्मसमाज—सर चार्ल्स मेटकार । २६३

परिच्छेद ११

पश्चिमोत्तर सोमा की रक्षा

लार्ड आकलैंड—पश्चिमोत्तर प्रान्त का दुर्भिक्ष—देशी राज्य—रूस
की समस्या—अफगानिस्तान में हस्तक्षेप—युद्ध की घोषणा—पहली
विजय—भीषण बदला—आकलैंड का दोष—लार्ड एलिनबरा—युद्ध
की समाप्ति—सोमनाथ का फाटक—सिन्ध का शिकार—मियानी का
युद्ध—ग्वालियर का झगड़ा—पंजाब पर दृष्टि—अन्य राज्य—एलिनबरा
की नीति—लार्ड हार्डिज—रणजीतसिंह की मृत्यु—सिख-शासन—

पंजाब की दुर्दशा—सिखों का पहला युद्ध—मुदकी और फिरोजशहर
अलीवाल और सोबरावँ—लाहोर की सन्धि—हार्डिज का शासन । २९४

परिच्छेद १२

साम्राज्य की पूर्ति

लार्ड डलहौजी—पंजाब में अशान्ति—मुलतान का विद्रोह—सिखों का दूसरा युद्ध—चिलियानवाला और गुजरात—पंजाब-पतन—नया प्रबन्ध—बर्मा का दूसरा युद्ध—पीगू का शासन—देशी राज्यों का अपहरण—सतारा—नागपुर—भोंसला-शासन—झाँसी—निजाम और बरार—अवध राज्य का अन्त—नवाबी शासन—मुगल बादशाह—अन्य नवाब और राजा—काबुल और किलत—शासन-प्रबन्ध—रेल—तार—डाक—नहर और सड़कें—शिक्षा और व्यापार—कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र—डलहौजी का चरित्र ।

३२२

परिच्छेद १३

कम्पनी का अन्त

लार्ड कैनिंग—राजनैतिक अशान्ति—सामाजिक परिवर्तन—धार्मिक उत्तेजना—सैनिक स्थिति—सिपाही-विद्रोह—दिल्ली—कानपुर—लखनऊ—बरेली—बिहार—झाँसी—तात्या टोपे—विद्रोह का अन्त—असफलता के कारण—कम्पनी का अन्त ।

३५६

परिच्छेद १४

ब्रिटिश छत्र की छाया

रानी विकटोरिया का घोषणापत्र—देशी राज्य—सैनिक संगठन—आर्थिक सुधार—शासन-प्रबन्ध—नील और चाय की खेती—लार्ड एलगिन—सर जान लारेंस—भूटान की लड़ाई—अफगानिस्तान—उड़ीसा का अकाल—लारेंस का शासन—लार्ड मेयो की नीति—शेरअली से मेंट—आर्थिक प्रबन्ध—लार्ड मेयो की मृत्यु—लार्ड नार्थब्रुक—स्वतन्त्र व्यापार—मल्हारराव गायकवाड़—युवराज का आगमन—नार्थब्रुक का

इस्तीफा—लार्ड लिटन—दिल्ली दरबार—दक्षिण में अकाल—आर्थिक
प्रबन्ध—अलीगढ़ कालेज—वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट—दूसरा अफगान युद्ध—
गंडमक की सन्धि—लार्ड लिटन का इस्तीफा । ३७९

परिच्छेद १५

राष्ट्रीयता का जन्म

लार्ड रिपन—अमीर अब्दुर्रहमान—मैसूर—देशी समाचारपत्रों की
स्वाधीनता—स्थानीय स्वशासन—आर्थिक सुधार—शिक्षा-प्रबन्ध—
मनुष्य-गणना—इंडियन सिविल सर्विस—इलवर्ट बिल—उदार नीति—
लार्ड रिपन का इस्तीफा—लार्ड डफरिन—पंजदेह की घटना—बर्मा का
तीसरा युद्ध—देशी राज्य—कानून-लगान—आर्यसमाज—थियासोफिकल
सोसायटी - रामकृष्ण मिशन—राष्ट्रीयता का भाव—इण्डियन नेशनल
कांग्रेस—डफरिन की नीति—लार्ड लैंसडौन—सीमाओं की रक्षा—काश-
मीर—मनीपुर—सिक्का—कौंसिलों का सुधार—पब्लिक सर्विसेज कमी-
शन—दूसरा लार्ड एलगिन—चित्ताराल और तीराह—प्लेग और अकाल—
कपड़े पर चुङ्की—अफीम का व्यापार—सैनिक प्रबन्ध—लार्ड कर्जन—
अकाल—पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त—अफगानिस्तान—फारस की खाड़ी—
तिब्बत—बंगाल का झगड़ा—दिल्ली दरबार और देशी राज्य—कृषि और
व्यापार—प्राचीन स्मारक-रक्षा—उच्च शिक्षा—वंग-विच्छेद—स्वदेशी और
बायकाट—किचनर से मतभेद—लार्ड कर्जन का इस्तीफा । ४०४

परिच्छेद १६

राजनैतिक सुधार

लार्ड मिंटो—अमीर हबीबुल्ला—मुसलिम लोग—कांग्रेस में मत-
भेद—क्रान्तिकारी दल—दमन का जोर—सातवें एडवर्ड का घोषणापत्र—
जान मार्ले की नीति—मार्ले-मिंटो सुधार—मिंटो की नीति—लार्ड हार्डिञ्ज—

सम्राट् का आगमन—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय—यूरोपीय महायुद्ध—लार्ड चेम्सफर्ड—लखनऊ का सम-मौता—देश की स्थिति—भारतसचिव की विज्ञप्ति—मांटैग्यू-चेम्सफर्ड सुधार—भारतसचिव और इण्डिया कौंसिल—भारत-सरकार—प्रान्तीय सरकार—निर्वाचन—नरेन्द्रमण्डल—पार्लामेंट का अधिकार—सुधारों का प्रारम्भ—रौलट बिल सत्याग्रह—पंजाब में अशान्ति—भीषण हत्याकांड—खिलाफत—असहयोग आन्दोलन—लार्ड रीडिंग—मोपला—विद्रोह—चौरीचोरा—बारडोली-निर्णय—असहयोग का प्रभाव—मांटैग्यू का इस्तीफा—तीसरा अफगान-युद्ध—अकाली आन्दोलन—स्वराज्य-दल—खिलाफत का अन्त—हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा—सुधारों की उपयोगिता । लार्ड अरविन—भारत और साम्राज्य—राष्ट्रसंघ—सीमाओं का प्रश्न—देश - रक्षा—व्यापार—खेती—आर्थिक प्रबन्ध—शिक्षा—समाज-सुधार—साइमन कमीशन—सर्वदल सम्मेलन—देशी राज्य—बटलर कमेटी—मजदूर-संघ—किसानों का एका—पब्लिक सेफ्टी बिल—औप-निवेशिक स्वराज्य—पूर्ण स्वराज्य की माँग का आश्वासन—नमक सत्याग्रह—धरुना पर धावा—प्रथम गोलमेज सम्मेलन—अरविन-गांधी समझौता—मुसलमानों का रुख—कराची कांग्रेस—द्वितीय गोलमेज सम्मेलन—लार्ड विलिंगडन—दमनचक्र—साम्प्रदायिक निर्णय—अन्त्यजोद्धार आन्दोलन—तृतीय गोलमेज सम्मेलन—सत्याग्रह की प्रगति—सन् १९३१ की जनगणना—बिहार का भूकंप—समाजवादी दल—नया शासन-विधान ।

४४७

परिच्छेद १७

साम्राज्य का अन्त

सुधारों से असन्तोष—बादशाह छठें जार्ज—विधान सम्मेलन की माँग—लार्ड लिनलिथगो—निर्वाचन का फल—पदग्रहण का प्रश्न—प्रथम कांग्रेसी सरकारें—गैर कांग्रेसी प्रान्त—पाकिस्तान का बीज—कांग्रेस और लीग—हिन्दू राष्ट्र का भाव—अग्रगामी दल—राजकोट का मामला—दूसरा महायुद्ध—भारत भी शामिल—वाइसराय की घोषणा—कांग्रेसी सरकारों का

पदत्याग—खाकसार संघटन—व्यक्तिगत सत्याग्रह—रवीन्द्रनाथ की मृत्यु—महायुद्ध की प्रगति—भारत पर आक्रमण—क्रिप्स का आगमन—प्रस्ताव अस्वीकृत—भारत छोड़ो आन्दोलन—सरकारी दमन—बंगाल का दुर्भिक्ष—कण्ट्रोल और राशन—च्यांग काई शेक—लार्ड वेबल—साम्प्रदायिक समझौते का प्रयत्न—महायुद्ध में विजय—शिमला सम्मेलन—हिन्दू कानून समिति—पार्लामेंटी शिष्ट मण्डल—नया चुनाव—आजाद हिन्द फौज—अफसरों पर मुकदमा—सेना में अशान्ति—अमात्य मण्डल भेजने की घोषणा—अमात्य मण्डल का आगमन—कांग्रेस की शर्तें—लीग की धमकी—दूसरा शिमला सम्मेलन—अमात्य मण्डल योजना—संव्यवस्था—विधान सम्मेलन—शासनपरिषद्—राजनैतिक दावपेंच—विधान सम्मेलन की तैयारी—प्रान्तीय शासन—काश्मीर में आन्दोलन—हड़तालों का जोर—दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह—कलकत्ते में प्रत्यक्ष काररवाई दिवस—सरकार का पदग्रहण—जेहात के लिए भर्ती—पूर्वी बंगाल की बर्बरता—नेहरू जी की सीमाप्रान्त यात्रा—संयुक्त राष्ट्रसंघ में शिकायत—सरकार में लीग का प्रवेश—बिहार में बदला—मालबीय जी का महाप्रयाण—तलवार का जवाब तलवार से—जन-संख्या परिवर्तन का सुझाव—समूहोत्तरण की व्याख्या—विधान सम्मेलन आरम्भ—लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव—व्याख्या पर विवाद—कांग्रेस के रुख में परिवर्तन—गांधी जी की बंगालयात्रा—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—लीगी नेशनल गार्ड—पंजाब में लोगो आन्दोलन—लीग की नयी माँग—स्वतन्त्रता तिथि का घोषणा—घोषणा का प्रभाव—नमक कर की समाप्ति—पंजाब के प्रधान मन्त्री का इस्तीफा—गृहयुद्ध की आग—लार्ड वेबल का प्रस्थान—लार्ड माउण्ट बैटन का आगमन—एशियाई सम्मेलन—पंजाब तथा बंगाल विभाजन का सुझाव—सिन्ध में लीगी अन्याय—नेताओं से परामर्श—शान्ति के लिए अपील—पैथिक लरेन्स का इस्तीफा—धर्मयुद्ध आन्दोलन—ब्रिटिश सरकार से परामर्श—स्वतन्त्रता और विभाजन की घोषणा—नेताओं का मत—राज्यों का रुख—बटवारे की काररवाई—भारतीय स्वतन्त्रता बिल—सम्राट् की स्वीकृति—स्वतन्त्रता का सुप्रभात ।

परिशिष्ट (१)

स्वतन्त्रता का प्रथम वर्ष

राष्ट्रिय सरकार—प्रान्तों का विभाजन—उत्प्रेषितों की समस्या—पाकि-
स्तान की स्थापना—कलकत्ते में गांधी जी का अनशन—उपद्रवों की आग—
जूनागढ़ का झगड़ा—गोवध बन्दी आन्दोलन—काश्मीर पर आक्रमण—
काश्मीर भारत में शामिल—संयुक्त राष्ट्रसंघ में शिकायत—हैदराबाद से सम-
झौता—भारतीय परराष्ट्र नीति—कण्ट्रोल हटाने का निर्णय—औद्योगिक
शक्ति का प्रयत्न—कांग्रेस तथा लीग भी विभक्त—गांधी जी का अन्तिम
अनशन—गांधी जी का आत्मवलिदान—विश्वव्यापी शोक—क्षोभ की
लहर—राज्यों का विलय—व्यापार में उन्नति—वैज्ञानिक अनुसन्धान—
डाक तार की व्यवस्था—यातायात साधन—सुरक्षा व्यवस्था—प्रान्तीय
शासन—काश्मीर कमीशन—कम्प्यूनिस्टों का कुचक्र—माउण्ट बैटन का
प्रस्थान—प्रथम भारतीय गवर्नर जेनरल—आर्थिक संकट—कायदे आज़म
जिना की मृत्यु—हैदराबाद में पुलिस काररवाई—प्रधान मन्त्री सम्मेलन—
काश्मीर में युद्ध बन्द—

६१०

परिशिष्ट (२)

कला और साहित्य

ललित कलाएँ—स्थापत्य—चित्रकारी—संगीत—साहित्य—हिन्दी—
उर्दू—बंगला—मराठी—गुजराती—तामिल—तेलगू—विज्ञान—सांस्कृतिक
पुनरुद्धार ।

६३७

संक्षिप्त विवरण ।

६५६

अनुक्रमणिका ।

६७०

चित्र-सूची

वास्कोडगामा	२	माधवराव बल्लाल	७५
एलबुर्क	५	दीपक-प्रवाह	८५
भारत में पुर्तगाली	७	वारेन हेस्टिंग्स	८९
सूरत की कोठी	१०	सहेला सिपाही	९४
मदरास किले का एक भीतरी		फिलिप फ्रांसिस	९९
दृश्य	१२	एलाइजा इम्पी	१०३
पुराना कत्तकत्ता	१३	राघोबा	१०५
मदरास पर फ्रांसीसियों का		हैदरअली	११५
अधिकार	२२	सर विलियम जोन्स	११८
निजाम आसफजाह	२५	एडमंड बर्क	१२१
कलाइव	२८	कार्नवालिस	१२६
मुहम्मदअली	२९	टीपू	१३५
झूले	३३	महादजी सिन्धिया	१४३
आधुनिक पाण्डुचेरी	३५	सर जान शोर	१४५
अलेवर्दी खाँ	३९	आसफुद्दौला	१४८
सिराजुद्दौला	४३	अहिल्याबाई	१५१
मीरजाफर के साथ सन्धि	४६	लार्ड वेलेजली	१५३
मीरकासिम	५२	नेपोलियन	१५५
बंगाल के बन्दूकची	५५	टीपू का तोपखाना	१६१
दीवानी-प्रदान	६२	टीपू का महल	१६३
शुजाउद्दौला	६८	हैदर और टीपू का मकबरा	१६५
सूरजमल	७९	पुर्णिया	१६७

सवाई माधवराव	१७८	चार्ल्स मेटकाफ	२९३
तुकोजी होल्कर	१८०	लार्ड आकलैंड	२९८
नाना फड़नवीस	१८१	बर्न्स	२९८
आर्थर वेलेजली	१९२	शाहशुजा	३०१
गाविलगाढ़	१९५	अकबरखाँ	३०२
बुंदेलखंड के गोसाईं	१९७	लार्ड एलिनबरा	३०४
मुकुंदरा	२०७	दोस्तमुहम्मद	३०५
डोंग के खैंडहर	२०९	हार्डिज	३१२
कलकत्ता का सरकारी भवन	२१७	गुलाबसिंह	३२०
मदरास के सिपाही	२२५	लार्ड डलहौजी	३२२
लार्ड मिटो	२२६	कैदी मूलराज	३२८
अमृतसर	२२९	वाजिदअली शाह	३४२
लार्ड हेस्टिंग्स	२३३	जीनतमहल	३४९
बापू गोखले	२४५	कैनिंग	३५६
दूसरा बाजीराव	२४६	बहादुरशाह की गिरफ्तारी	३६३
टामस मनरो	२५५	नाना साहब	३६४
जैन पंडित और कर्नल टाड	२५८	लखनऊ की रेजीडेंसी	३३७
लार्ड एमहर्स्ट	२६४	लक्ष्मीबाई	३७१
बारिकपुर की कोठी	२६६	तात्या टोपे	३७२
बर्मियों का जंगी मच्चान	२६८	रानी विक्टोरिया	३७९
सन्धि-सम्मेलन	२६९	सर जान लारेंस	३८५
भरतपुर का किला	२७१	लार्ड मेयो	३८९
दौलतराव सिन्धिया	२७३	लार्ड लिटन	३९६
विलियम बैंटिक	२७४	सैयद अहमद खाँ	३९९
ठगों का एक दल	२७६	काबुल का किला	४०१
रणजीतसिंह	२८५	लार्ड रिपन	४०४
राजा राममोहन राय	२९१	लार्ड डफरिन	४१५

थीवा और उसकी रानी	४१७	त्रिनाथक दामोदर सावरकर	५३४
श्रीराम दयानन्द	४२०	हिटलर	५३७
स्वामी विवेकानन्द	४२१	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	५४१
दादाभाई नौरोजी	४२३	सर स्टेफर्ड क्रिप्स	५४३
लार्ड कर्जन	४३३	कस्तूरबा	५४६
सातवें एडवर्ड	४३९	न्यांग काई शेक	५४८
सुरेन्द्रनाथ बनर्जी	४४२	लार्ड वेवेल	५४९
गोपालकृष्ण गोखले	४४५	मुसोलिनी	५५०
लार्ड मिंटो	४४७	सुभाषचन्द्र बसु	५५६
बाल गंगाधर तिलक	४५०	मिस्टर एटली	५६०
जान मार्ले	४५१	पैथिक लारेंस	५६५
लार्ड हार्डिज	४५४	जवाहरलाल नेहरू	५७३
पाँचवें जार्ज	४५५	विजया लक्ष्मी	५७६
हिन्दू विश्वविद्यालय (विज्ञान- विभाग)	४५९	बल्लभभाई पटेल	५८०
लार्ड चेम्सफर्ड	४६१	राजेन्द्रप्रसाद	५८३
मटिग्यू	४६४	लार्ड माउण्ट बैटन	५९४
लार्ड रीडिंग	४७६	सरोजिनी नायडू	५९५
महात्मा गांधी	४७९	स्वामी करपात्रीजी	५९९
अमानुल्ला शाह	४८१	कायदे आजम जिना	६११
चित्तरंजन दास	४८४	श्री राजगोपालचारी	६३३
लार्ड अरविन	४९१	विकटोरिया मेमोरियल हाल	६३९
लाला लाजपतराय	५०२	सुदामा की कुटी	६४१
वेजउड बेन	५०८	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	६४७
सरदार भगतसिंह	५१७	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	६५१
छठे जार्ज	५२६		
लार्ड लिनलिथगो	५२७		

(२४)

नकशे

सन्	१७५१	में	भारत	३६
"	१८०५	"	"	२१४
"	१८२३	"	"	२६२
"	१८५६	"	"	३५६
"	१९४८	"	"	६११

— — —

परिच्छेद १

भारत में यूरोप के व्यापारी

भारतीय व्यापार—भारत का विदेशीय व्यापार सदा से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन समय में बहुत से राष्ट्रों की इसी व्यापार के सहारे उन्नति हुई थी, आज कल भी इंग्लैंड की शक्ति और सम्पत्ति इसी व्यापार पर निर्भर है। यूनानियों के आने के पहले से इस व्यापार का पता चलता है। रोम-साम्राज्य के समय से भारत का यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है। पहले यहाँ से कपड़े, जवाहरात, मोती, मसाले और हाथी-दाँत की चीजें बराबर यूरोप जाती थीं।

प्राचीन मार्ग—तब ऐसे तीन मार्ग थे, जिनसे यह व्यापार होता था। एक तो फारस की खाड़ी से एशिया-माइनर होकर जाता था, और दूसरा लाल समुद्र के उत्तरी किनारे पर उतरकर मिस्र देश में से भूमध्यसागर तक था। इनके सिवा केवल उत्तर की ओर का एक तीसरा मार्ग था। यह भारतवर्ष के उत्तर से मध्य एशिया की आमू नदी के किनारे किनारे जाता हुआ कास्पियन समुद्र से काले समुद्र तक था। इनमें सब से अधिक सुगमता पहले मार्ग से थी। सातवीं शताब्दी में जब मिस्र पर मुसलमानों का अधिकार हो गया, तब समुद्री व्यापार मुसलमानों के हाथ में चला गया। ये लोग भारतवर्ष से माल लेकर वेनिस और जिनोआ भेजते थे, जहाँ से यह माल सारे यूरोप में

जाता था। इस व्यापार के कारण थोड़े ही दिनों में वेनिस मालामाल हो गया। सन् १४५३ में तुर्क लोगों की विजय के कारण इस मार्ग में भी बाधाएँ पड़ने लगीं, और यूरोप-निवासियों को भारतवर्ष आने-जाने के लिए एक नया मार्ग ढूँढ़ निकालने की चिन्ता होने लगी।



वास्कोदगामा

डियाज नाम का एक पुर्तगाली अफ्रिका के एक दक्षिणी अन्तरीप तक

नया मार्ग—यूनानी लोगों के समय से ही यह अनुमान था कि अफ्रिका घूमकर भारत-वर्ष जाने का एक समुद्री मार्ग है, परन्तु इसका किसी को ठीक ठीक पता न था। स्पेन के राजा की आज्ञा से 'सोने की चिड़िया' भारतवर्ष को ढूँढ़ते ढूँढ़ते, सन् १४९२ में, जिनीआ निवासी कोलम्बस अमरीका जा पहुँचा। इसी धुन में जान केवो न्यूफाउंडलैंड पहुँच गया। अन्त में इसे ढूँढ़ निकालने का श्रेय पुर्तगाल को ही प्राप्त हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही यहाँ के निवासी इसकी खोज में लगे हुए थे। राजकुमार हेनरी का सारा जीवन इसी में व्यतीत हुआ था। सन् १४८७ में

पहुँचा। यहाँ से भारतवर्ष पहुँचने की आशा हुई, इसलिए इसका नाम 'गुडहोप' रखा गया। जुलाई सन् १४९७ में वास्कोदगामा नाम का एक दूसरा पुर्तगाली तीन छोटे-छोटे जहाज और १६० आदमी लेकर लिस्बन नगर से रवाना हुआ; और ता० २० मई, सन् १४९८ को उसने मलाबार तट पर कालीकट के निकट भारत-भूमि पर पैर रखा।

मलाबार की दशा—कालीकट में उस समय हिन्दू राजा थे, जो 'जमोरिन' कहलते थे। कई यात्रियों के दिये हुए विवरण से पता लगता है कि मलाबार देश उस समय बड़ी अच्छी दशा में था। पन्द्रहवीं शताब्दी का एक ईरानी यात्री, जिसका नाम अब्दुर्रजाक था, लिखता है कि 'कालीकट में न्याय और शासन का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। व्यापार के लिए सब तरह की सुविधाएँ थीं। जहाजों से जो माल उतरता था, उसको चुंगी वसूल करनेवाले सरकारी अफसर बाजारों में ठीक-ठीक रीति से भेज देते थे। सौदागरों को स्वयं कोई देख-रेख न करनी पड़ती थी, और न किसी प्रकार का कोई झंझट ही होता था।' 'तहफतुल मुजाहदीन' के लेखक का कहना है कि 'हिन्दू राजाओं का मुसलमानों के साथ बड़ा ही उदार व्यवहार था, यद्यपि मुसलमानों की संख्या आबादी की दशांश भी न थी, पर तब भी उनके धार्मिक भावों का बराबर ध्यान रखा जाता था।' इस धार्मिक उदारता का समर्थन वरथेमा नामक इटालियन यात्री भी करता है। फ्रांसीसी यात्री पिरार का कहना है कि 'ऐसी धार्मिक स्वतंत्रता उसे कहीं भी देखने को नहीं मिली थी। प्रत्येक मनुष्य अपने धार्मिक रिवाजों को मानता था, पर आपस में कभी किसी प्रकार का झगड़ा न होता था, देश भर में पूर्ण शांति थी, और भिन्न-भिन्न देशों के व्यापारी ब्रेखटके व्यापार करते थे। उस समय के भारतवासी पुर्तगालियों से कहीं अधिक सभ्य थे।'।

पुर्तगालियों की साम्राज्य-चेष्टा—अरब सौदागरों के विरोध के कारण वास्कोदगामा को व्यापार में अधिक सफलता नहीं हुई। वह देश की

देख-भाल कर दूसरे ही वर्ष पुर्तगाल वापस चला गया। सन् १५०० में वहाँ के राजा ने केब्राल की अध्यक्षता में थोड़े से जहाज फिर भारतवर्ष भेजे। उसने कालीकट में एक कोठी खोली, तथा कनानूर और कोचीन में व्यापार का सिलसिला जमाया। सन् १५०२ में वास्कोदगामा फिर २० जहाज लेकर भारतवर्ष आया, और कोचीन के राजा के साथ मिलकर उसने जमोरिन पर ही आक्रमण कर दिया। इन दिनों यूरोप का जो राज्य, जिस देश को ढूँढ़ निकालता था, वह देश उसी की सम्पत्ति समझा जाता था, और उसका सारा व्यापार उसी राज्य के हाथ में रहता था। इस रीति के अनुसार पुर्तगाल के राजा भी अपने को पूर्वी देशों का स्वामी मानने लगे। तिस पर सन् १५०२ में उनको पोप का एक आज्ञापत्र भी मिल गया, जिससे उनका अधिकार और भी पुष्ट हो गया। सन् १५०५ में अलमिडा राज-प्रतिनिधि बनाकर भारतवर्ष भेजा गया। उसका मत था कि सागरों पर पुर्तगाल को अपना पूरा आधिपत्य रखना चाहिए। इसके बिना पुर्तगालियों के हाथ में कुल पूर्वी व्यापार नहीं रह सकता है। भारतवर्ष की भूमि पर किले बनवा कर अधिकार करना ठीक नहीं, क्योंकि पुर्तगाल ऐसे दूर देश से उनकी रक्षा करना असम्भव है।

एलबुकर्क—सन् १५०९ में एलबुकर्क गवर्नर नियुक्त किया गया। इसकी नीति दूसरी ही थी। व्यापार की दृष्टि से कुछ अच्छे-अच्छे स्थानों को यह अपने अधिकार में रखना चाहता था। भारतवासी और पुर्तगालियों में परस्पर-विवाह की प्रथा चलाकर वह पुर्तगालियों का सम्बन्ध अधिक दृढ़ करना चाहता था। इन्हीं की सन्तान से नई आबादियाँ बसाने का उसका विचार था। जहाँ ये दोनों बातें असम्भव थीं, वहाँ वह दुर्ग बनवाना चाहता था, और ऐसा भी न होने पर उसने सोचा था कि समझा-बुझाकर देशी राजाओं से पुर्तगाल के राजा का आधिपत्य स्वीकार कराना चाहिए, और उसको कर भेजवाना चाहिए। संक्षेप में उसका विचार भारतवर्ष में पुर्तगाली साम्राज्य स्थापित करने का था। इसी नीति के अनुसार सन् १५१० में उसने बीजापुर के सुल्तान से गोआ छीन लिया, और उसमें ईसाई-राज्य

की नींव डाली। संसार-विजयी सिकन्दर के बाद भारतवर्ष की भूमि पर यूरोप-निवासियों का यह पहला ही राज्य था।

गोआ का शासन-प्रबन्ध पुर्तगाली ढंग पर किया गया। मुसलमान अधिकारियों की जगह पर पुर्तगाली थानेदार बनाये गये। इनको दीवानी और फौजदारी दोनों अधिकार दिये गये। भारतवासी सिपाहियों की एक सेना भी बनाई गई, जिसमें भारतवासी ही अफसर भी रखे गये। शिक्षा-प्रचार के लिए नये स्कूल भी खोले गये। एलबुकर्क को मुसलमानों से बड़ी चिढ़ थी, इसलिए अधिकतर हिन्दू ही नौकर रखे गये। अपने राज्य में उसने सती-प्रथा बन्द करने का भी प्रयत्न किया। इस तरह भारतवर्ष में पहला पाश्चात्य राज्य स्थापित हुआ।

भारतवर्ष में पुर्तगाली साम्राज्य ही स्थापित करना एलबुकर्क का उद्देश्य न था, वह कुल पूर्वी व्यापार अपने हाथ में रखना चाहता था। इसी उद्देश्य से सन् १५११ में उसने मलक्का पर विजय प्राप्त की। व्यापार की दृष्टि से यह नगर उस समय बड़ा प्रसिद्ध था। चीन, जापान तथा और पूर्वी द्वीपों का व्यापार



एलबुकर्क

इसी नगर द्वारा होता था। यहाँ से मसाला उत्पन्न करनेवाले द्वीपों के खोजने का भी उसने प्रयत्न किया। इस तरह पूर्वी व्यापार के द्वार पर अधिकार जमा कर, उसने भारतवर्ष के पश्चिमी व्यापार के द्वारों की ओर निगाह उठाई। यह व्यापार अरब सागर में अदन, और फारस की खाड़ी में उरमुज के बन्दरगाहों द्वारा होता था। एलबुकर्क ने इन दोनों को अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न किया। अदन को तो वह न जीत सका, पर अपनी मृत्यु के पूर्व सन् १५१५

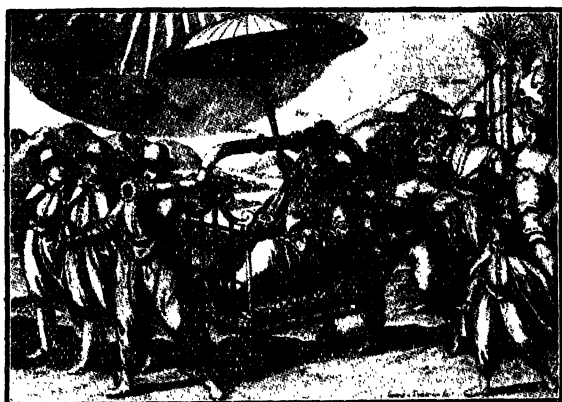
में उरमुज पर उसने पुर्तगाली पताका फहरा दी। इसी तरह थोड़े ही काल में एलबुर्क की दूरदर्शिता, चतुरता और वीरता से पूर्व में पुर्तगाल एक बड़ी शक्ति बन गया।

पुर्तगालियों का पतन—परन्तु यह शक्ति बहुत दिन तक कायम न रह सकी। एलबुर्क के मरने पर इसका संचालन ऐसे लोगों के हाथ में आया, जिन्हें वास्तविक अवस्था का पूरा ज्ञान न था। पुर्तगाली कट्टर ईसाई थे, पोप के आज्ञा-पत्र के बल पर उन्होंने भारतवर्ष में अपना राज्य जमाना चाहा था। वास्कोदगामा पहली बार जब भारतवर्ष में आया था, उसका अनुमान था कि मुसलमानों को छोड़कर सब भारतवासी ईसाई हैं। इसी विश्वास पर कालीकट के निकट एक हिन्दू-मन्दिर में पुर्तगालियों ने पूजन भी किया था। हिन्दू-मूर्तियों को वे ईसाई-सन्तों की मूर्तियाँ समझते थे। पुर्तगाल के राजा भी इसी भुलवे में थे, केब्राल को आज्ञा-पत्र देते समय इन 'पथभ्रष्ट' ईसाइयों को 'सदुपदेश' देने के लिए कहा गया था^१। वास्कोदगामा कुछ लोगों को पकड़ ले गया था, वे पकड़े ईसाई बनकर वापस आये। कालीकट-निवासियों ने उनके साथ खाना-पीना अस्वीकार किया, तब पुर्तगालियों की आँखें खुलीं, और उनको अपनी भूल का पता लगा। तभी से ईसाई-धर्म के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

धर्म-प्रचार की धुन में व्यापार और साम्राज्य का ध्यान जाता रहा, एलबुर्क सा दूरदर्शी शासक भी इसी धुन में पड़ गया। गैर-ईसाई जातियों को तरह-तरह की पीड़ाएँ दी जाने लगीं। संन्यासियों का रूप धारण करके भोली भाली जनता को धोखा दिया जाने लगा, और 'ज्ञानोपदेश' के नाम से ईसाई-मत का प्रचार होने लगा। पादरी लोग राज-काज में भी हस्तक्षेप करने लगे। ये लोग उत्तरी भारत भी जा पहुँचे और मुगल सम्राट् अकबर तक को ईसाई बनाने का स्वप्न देखने लगे। यद्यपि भारतवर्ष ईसाई न बन सका, पर इस धर्म-प्रचार का यह फल अवश्य हुआ कि

१ हाइटवे, राज्ज आफ दि पोर्चुगीज पावर इन इंडिया, पृ० ३०

पुर्तगाली अविश्वास की दृष्टि से देखे जाने लगे। इनके कठोर बर्ताव और अत्याचार से प्रजा पीड़ित हो उठी। व्यापार धीरे-धीरे अन्य विदेशी जातियों के हाथ में जाने लगा। एलबुर्क की चलाई हुई परस्पर-विवाह की प्रथा का परिणाम भी उल्टा ही हुआ। इनके बच्चे न तो पक्के ईसाई ही बने, और न हिन्दू ही रहे। रहन-सहन तथा विचारों में भिन्नता होने के कारण विवाह-सम्बन्ध दृढ़ न रहे, और समाज में व्यभिचार फैल गया।



भारत में पुर्तगाली

शासकों में घूस खाने की आदत पड़ गई, और वे प्रजा से बड़ी निर्दयता का व्यवहार करने लगे। पुर्तगालियों का व्यापार सौदागरों के हाथ में न था, इसका संचालन वहाँ के राजकर्मचारी करते थे, जो व्यापारिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे। इसका फल यह होता था कि राजनैतिक उथल-पुथल से व्यापार को बराबर धक्का लगाता था। सन् १५८० में स्पेन के राजा दूसरे फिलिप ने पुर्तगाल को अपने राज्य में मिला लिया, इससे पुर्तगाल यूरोप के झगड़ों में पड़ गया, वहाँ हालैंड और इंग्लैंड इसके विरोधी हो गये, और उन्होंने पूर्व में भी इसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। इन

सब बातों का फल यह हुआ कि पुर्तगाली साम्राज्य की आशा जाती रही। जितना शीघ्र इसका उत्थान हुआ था उतना ही शीघ्र इसका पतन भी हुआ। इसके बाद भारतवर्ष में फिर साम्राज्य स्थापित करने का साहस पुर्तगालियों को कभी न हुआ। इस साम्राज्य का स्मरण दिलानेवाले गोआ, डामन, और ड्यू ये तीन स्थान अब भी पुर्तगालियों के अधिकार में हैं।

हालैंड-निवासी डच लोगों का उद्योग—पूर्वी व्यापार से पुर्तगाल का वैभव देखकर हालैंड-निवासी डच लोगों के चित्त में भी पूर्व में व्यापार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। सन् १५९७ से इन लोगों ने भारत पहुँचने का प्रयत्न आरम्भ किया। परन्तु बहुत दिनों तक पुर्तगाल और स्पेन की तीव्र दृष्टि के कारण इन लोगों की दाल न गल सकी। सन् १६०२ में व्यापार करने के लिए इन लोगों ने एक बड़ी कम्पनी बनाई, इस कम्पनी ने सब से पहले जावा द्वीप में काम आरम्भ किया। सन् १६४१ में इन लोगों ने पुर्तगालियों से मलक्का जीत लिया, और इस तरह मसाला उत्पन्न करनेवाले पूर्वी द्वीपों के व्यापार पर अधिकार जमा लिया। भारतभूमि पर मदरास के उत्तर सन् १६०९ में पूलीकट स्थान पर इन्होंने अपना पहला किला बनाया। उसके बाद इनका मुख्य स्थान नेगापट्टम हुआ। इनकी एक कोठी आगरा में भी खुली। सन् १६७५ में बंगाल में चिनसुरा नामक स्थान पर भी इन लोगों ने एक कोठी खोली। मलाबार तट पर पुर्तगालियों के सभी स्थान इन लोगों ने छीन लिये। परन्तु भारत में इनका राज्य न जम सका। इसके कई कारण थे। इनका ध्यान भारत की अपेक्षा मसाले के टापुओं की ओर अधिक था। वहाँ से अन्य जातियों के निकालने की ये लोग बराबर चेष्टा करते थे। सन् १६२३ में अम्बोयना के डच गवर्नर ने कई एक अँगरेज और जापानियों को गिरफ्तार करके मरवा डाला। इस हत्याकाण्ड से इंग्लैंड में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ, और हालैंड को एक बड़ी रकम हरजाने में देनी पड़ी। भारतवर्ष में इनके जितने स्थान थे, वे सब धीरे-धीरे अँगरेजों के हाथ में चले गये।

अँगरेजों का आगमन—सन् ८८३ में सिधेलम नामक सब से पहला अँगरेज भारतवर्ष आया था, पर उसका व्यापार से कोई सम्बन्ध न था। वह सन्त दामस की यात्रा करने आया था। परन्तु जब से स्पेनवालों ने अमरीका और पुर्तगालियों ने भारतवर्ष ढूँढ़ निकाला था, तभी से अँगरेज भी इन लोगों के साथ अपना हिस्सा लगाने के लिए उत्सुक हो रहे थे। सन् १५११ में इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी से उन्होंने प्रार्थना की थी कि भारतवर्ष जाने की आज्ञा उनको दी जाय। १५७९ में स्टिवेंस नामक एक पादरी गोआ पहुँचा। वह पुर्तगालियों के साथ बहुत समय तक रहा। उसने कनाड़ी, कोकणी और मराठी भाषाओं का अध्ययन किया। मराठी भाषा पर वह बड़ा मुग्ध था, और उसे वह सब से उत्तम भाषा मानता था। उसने इन भाषाओं का एक व्याकरण और कोंकणी भाषा में 'क्रिश्चियन पुराण' नामक एक बड़ा काव्य भी लिखा^१। इसके पत्रों से इंग्लैंड के व्यापारियों को भारतवर्ष का कुछ पता चला। सन् १५८२ में लन्दन के स्टेपर और ऑसबोर्न नामक दो व्यापारियों ने कुछ जहाज भारतवर्ष भेजने के लिए तैयार किये। इन जहाजों के साथ कई अँगरेज थे, जिनको पूर्वी देशों का कुछ ज्ञान था। इनमें से न्यूबरी महारानी एलिजबेथ का एक पत्र भी सम्राट् अकबर के नाम लाया था, जिसमें महारानी ने इन लोगों की रक्षा करने और व्यापारिक सुविधाएँ देने की प्रार्थना की थी। इस पत्र का मुगल सम्राट् पर क्या प्रभाव पड़ा इसका कुछ पता नहीं है। उन दिनों सम्राट् के दरबार में पुर्तगालियों का जोर था, अकबर उनसे ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों को सुनता था, इसलिए अनुमान होता है कि अँगरेजों की कोई विशेष सुनवाई नहीं हुई। राल्फ फिच के दिये हुए विवरण से पता चलता है कि लीड्स नामक जोहरी को सम्राट् ने फतहपुर सीकरी में रख लिया था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी—सन् १५८८ में अँगरेजों ने स्पेन का एक बड़ा भारी जहाजी बेड़ा 'आर्मडा' नष्ट कर डाला। इस विजय के आनन्द में अँगरेजों को सागर-साम्राज्य का स्वप्न दिखलाई देने लगा। अँगरेज जहाज स्पेन और पुर्तगाली जहाजों को लूटने लगे। इन दोनों जातियों के व्यापार में भी हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। सन् १६०० में लन्दन के व्यापारियों की एक कम्पनी स्थापित हुई, जिसको पूर्व में व्यापार करने के लिए महारानी एलिजबेथ ने आज्ञा दी। कुछ दिनों तक तो मसाले के टापुओं में व्यापार जमाने का प्रयत्न होता रहा, पर सन् १६०३ में मिल्डन हाल नामक अँगरेज फिर सम्राट् अकबर के पास भेजा गया। इस बार भी पुर्तगालियों ने सम्राट् के कान भर दिये, और मिल्डन हाल को कोरे ही विलायत वापस जाना पड़ा।

हार्लिस और सर टामस रो—सन् १६०८ में इंग्लैंड के राजा पहले जेम्स का एक पत्र लेकर हार्लिस सम्राट् जहाँगीर के दरबार में पहुँचा, और



विचित्र कहानियाँ सुना-सुनाकर उसने मन-मौजी सम्राट् पर अपना खूब रंग जमाया। जहाँगीर उसको 'इंगलिश-खाँ' कहा करता था, परन्तु पुर्तगालियों के षड्यंत्र से उसे भी शीघ्र ही दरबार छोड़ना

पड़ा। सन् १६१२

सूरत की कोठी में गुजरात के मुगल सूबेदार के अनुग्रह से जैसे-तैसे सूरत में अँगरेजों की सब से पहली कोठी खोली गई। भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर सूरत उन

दिनों सब से मुख्य स्थान था। यहाँ सब तरह का व्यापार होता था, और पूर्वीय द्वीपों के जहाज ठहरते थे। यहाँ भी पुर्तगालियों ने अँगरेजों का पीछा न छोड़ा, वे मुगल सूबेदार को अँगरेजों के विरुद्ध बहकाने लगे, परन्तु अँगरेजों ने समुद्र पर उनकी अच्छी खबर ली। फारस की खाड़ी में ईरानियों की सहायता से उन्होंने उरमुज छीन लिया, और पुर्तगाली जहाजों को अच्छी तरह लूटा। हार्किस के चले जाने पर कुछ दिनों तक मुगल दरबार में अँगरेजों की कोई सुनवाई न हुई। सन् १६१५ में कम्पनी की प्रार्थना पर इंग्लैंड के राजा पहले जेम्स ने सर यामस रो को अपना राजदूत बनाकर जहांगीर के दरबार में भेजा। यामस रो तीन वर्ष तक मुगल दरबार में रहा, सब तरह से उसने सम्राट् को रिझाया, पर इंग्लैंड से छोटे द्वीप के राजा के साथ मुगल सम्राट् बराबर की सन्धि करने के लिए राजी न हुआ। अन्त में रो को शाही फरमान पर ही सन्तोष करना पड़ा। इसके द्वारा गुजरात के सूबेदारों को आज्ञा दी गई कि वे सूरत और अहमदाबाद के अँगरेज कोठीवालों को तंग न किया करें, साथ ही उन्हें देश भर में व्यापार करने तथा अपने धर्मानुसार रहने के अधिकार दिये गये। चलते समय रो ने कम्पनी को सदा व्यापार में लगे रहने की सलाह दी, और राजनैतिक झगड़ों में पड़ने से मना किया। उसका मत था कि व्यापार और युद्ध दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

मदरास, कलकत्ता और बम्बई—पश्चिमी तट पर कई एक कोठियाँ खोलकर अँगरेज पूर्व की ओर बढ़ने लगे। सन् १६२५ में नीलोर जिले में अरम-गाँव में उन्होंने एक कोठी खोली, पर यहाँ के शासकों से तंग आकर सन् १६३९ में पूर्वी तट पर उन्होंने कुछ जमीन भाड़े पर ली। बाद को यहाँ के नायक से समझौता करके चन्द्रगिरि के राजा के आज्ञानुसार उन्होंने भारतभूमि पर सेंट जार्ज नाम का पहला किला बनाया। यह किला और इसके आस-पास की आबादी ही आधुनिक मदरास है। सूरत के अँगरेज डाक्टर वाउटन के इलाज से सम्राट् शाहजहाँ की लड़की जहाँनारा अच्छी हो गई, इस पर अँगरेजों को बंगाल में भी व्यापार करने की अनुमति मिल गई। सन् १६३३ में पहले बालासोर में एक कोठी बनी, फिर सन् १६५१ में हुगली के पास एक बस्ती बसाई गई।

सन् १६९० में कम्पनी के एक गुमास्ता जॉब चार्नक ने वर्तमान कलकत्ता नगर की नींव डाली, यहीं पर फोर्ट-विलियम किला बना। सन् १६६१ में इंग्लैंड के राजा दूसरे चार्ल्स को बम्बई का द्वीप दहेज में मिला। यह द्वीप पुर्तगालियों के पास था, डच लोगों के विरुद्ध अँगरेजी सहायता लेने की आशा से पुर्तगाल ने



मद्रास किले का एक भीतरी दृश्य

इस स्थान को दहेज में दिया था। उस समय चार्ल्स इस स्थान के महत्व को न समझ सका, और केवल दस पौंड सालाना पर उसने यह द्वीप कम्पनी को दे दिया। जैसे-जैसे अँगरेजों की बढ़ती होती गई, इन स्थानों में अधिक भूमि मिलती गई, और अन्त में ब्रिटिश भारत के ये तीन मुख्य प्रान्त हो गये। ये तीनों प्रान्त प्रेसीडेंसी कहलाते हैं। प्रेसीडेंसी पहले उस जगह का नाम था, जहाँ कम्पनी की किसी कोठी का अध्यक्ष अथवा प्रेसीडेंट और उसकी कौंसिल के मेम्बर रहते थे।

मुगलों के साथ युद्ध—सन् १६८३ में जोशिया चाइल्ड सूरत की कोठी का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। इस समय भारतवर्ष में औरंगजेब का शासन

था, उसकी नीति से प्रजा असन्तुष्ट हो रही थी। दक्षिण में मराठों ने बगावत कर दी थी, दूसरे प्रान्तों में भी अशान्ति की आग सुलग रही थी। ऐसी दशा में अंगरेजों को भी अपना राज्य स्थापित करने की सूझने लगी। वे बंगाल के सूबेदार से लड़ बैठे। फल यह हुआ कि मुगल सम्राट् की आज्ञा से पटना, कासिम-बाजार और मछली-पट्टन की कोठियाँ अंगरेजों से छीन ली गईं। सूरत से भी अंगरेजों को निकाल बाहर करने की आज्ञा हो गई। अँग-



पुराना कलकत्ता

रेजों की इस समय क्या शक्ति थी कि वे मुगल सम्राट् का सामना कर सकते ! बिना सोचे-समझे उन्होंने सेना भेजने के लिए विलायत लिख दिया था। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। परन्तु उन्होंने इस समय पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। पश्चिमी तट पर जो मुगल जहाज थे उन्हें पकड़ लिया, और हज के लिए मक्का शरीफ जानेवाले मुसलमान यात्रियों को तंग करना शुरू किया। इस पर औरंगजेब ने अपनी नीति बदल दी, १७ हजार पौंड जुरमाना लेकर कम्पनी को क्षमा कर दिया, और फिर से व्यापार करने की आज्ञा दे दी।

संयुक्त ईस्ट इंडियन कम्पनी—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड में कम्पनो के बहुत से विरोधी उत्पन्न हो गये। इसको माल-माल देखकर और व्यापारी भी भारतवर्ष में व्यापार करने का विचार करने

लगे। थोड़े दिन बाद उन्होंने एक नई कम्पनी बनाई। पुरानी कम्पनी के संचालक इसे सहन न कर सके, फल यह हुआ कि दोनों में खूब झगड़ा चल पड़ा। इंग्लैंड और भारत दोनों देशों में दोनों कम्पनियों के कर्मचारी आपस में लड़ने लगे। इस परस्पर की फूट से व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा, और दोनों कम्पनियों को ज्ञात हो गया कि इससे किसी को भी लाभ न होगा। इस पर दोनों ने समझौता कर लिया और सन् १७०६ में ये दोनों कम्पनियाँ एक में मिल दी गईं। आगे चल कर इसी संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतवर्ष में राज्य हुआ।

अन्य विदेशी कम्पनियों की तरह इसका संचालन इंग्लैंड की सरकार के हाथ में न था। पाँच सौ पौंड के हिस्सेदारों की एक सभा थी, जो 'कोर्ट आफ् प्रोप्राइटर्स' कहलाती थी, कम्पनी के सम्बन्ध की सब बातों का अन्तिम निर्णय इस संस्था के हाथ में था। इसमें से चुने हुए कुछ मेम्बरों की एक छोटी समिति थी, जो 'कोर्ट आफ् डाइरेक्टर्स' के नाम से प्रसिद्ध थी। कम्पनी का संचालन और साधारण प्रबन्ध इस समिति के हाथ में था। इन दोनों संस्थाओं में बड़ी खटपट रहती थी। भारत-वर्ष में बम्बई, मद्रास और कलकत्ता ये तीन मुख्य स्थान थे, जहाँ पर इसके अध्यक्ष रहते थे। इन अध्यक्षों की एक छोटी सी कौंसिल भी रहती थी। इंग्लैंड के राजा दूसरे चार्ल्स के एक आज्ञा-पत्र से इनको अपनी रक्षा के लिए कुछ सेना रखने और गैर-ईसाई शक्तियों से युद्ध तथा सन्धि करने के भी अधिकार मिल गये थे। इनका व्यापार बनियों के द्वारा होता था। हर एक बनिये के कई एक गुमास्ते रहते थे, जो अध्यक्ष का परवाना लेकर माल खरीदने के लिए जमीन्दारों के पास जाते थे। गाँवों में इनके रहने का स्थान कचहरी कहलाता था। हरकारों के द्वारा यहाँ वह दलाल और जुलाहों को बुलाता था, और उनको कुछ पेशगी देकर लिखा लेता था कि अमुक समय तक इतना माल उनको इतने दाम पर देना होगा।

इन दिनों कम्पनी के कर्मचारियों का वेतन बहुत कम होता था, कोठियों के अध्यक्षों को पचास रुपया माहवार से अधिक न मिलता था।

निजी लाभ के लिए वे किसी प्रकार का व्यापार न कर सकते थे, इसका एकमात्र अधिकार केवल कम्पनी को था। ऐसी दशा में अनुचित उपायों से वे अपना काम चलते थे। इंग्लैंड से इनका निरीक्षण असम्भव सा था, क्योंकि कम से कम एक वर्ष में तो वहाँ से पत्र ही आता था। सारा काम बड़े-बड़े अव्यक्तों के हाथ में था। कम्पनी के संचालक, डाइरेक्टरों को, उनकी कार्रवाइयों का पता तक भी न लगता था।

फ्रांसीसी कम्पनी— पुर्तगाल, हालैंड और इंग्लैंड की देखादेखी सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस ने भी भारतवर्ष से व्यापार प्रारम्भ किया। सन् १६४२ में फ्रांसीसी मंत्री रीशलू के उद्योग से एक कम्पनी स्थापित हुई, पर इसका काम नहीं चला, इसलिए सन् १६६४ में एक दूसरी कम्पनी स्थापित की गई। इस कम्पनी ने एक कोठी सूरत में और दूसरी मछलीपट्टन में खोली। इसके दस वर्ष बाद पांडुचेरी की नींव पड़ी। कलकत्ता के पास चन्द्रनगर में भी इन लोगों ने एक कोठी खोली। इन दिनों यूरोप में हालैंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ा हुआ था, इसका प्रभाव भारतवर्ष में भी पड़ा। यहाँ भी फ्रांसीसी और डच लोगों में झगड़ा होने लगा। सन् १६९५ में डच लोगों ने पांडुचेरी पर अधिकार कर लिया, परन्तु बाद को सन्धि हो जाने पर लौटा दिया। फ्रांसीसियों ने भी डच-व्यापार को खूब क्षति पहुँचाई। इन दोनों की अनवधान से इंग्लैंड ने मनमाना लाभ उठाया। मुगल साम्राज्य का पतन होने पर फ्रांस को भी भारत में राज्य स्थापित करने की सूझी, पर इस उद्योग में उसको इंग्लैंड से घोर लड़ाई करनी पड़ी, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

अन्य कम्पनियाँ— सन् १६१६ में डेन्मार्क-निवासियों ने भी एक कम्पनी बनाई। सन् १६७६ में कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर में इनकी कोठी खुली। सन् १७३१ में स्वेडनवालों ने भी इसके लिए प्रयत्न किया। सन् १७४४ में प्रशिया के राजा, और सन् १७८४ में आस्ट्रिया के सम्राट् ने भी कम्पनियाँ स्थापित कीं। प्रशिया की कम्पनी के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी अपना निजी व्यापार करते थे। जब संचालकों को यह पता

लगा, तब उन्होंने इसको रोकने के लिए बड़ी कड़ी आज्ञा दी। यूरोप के राजनैतिक झगड़ों और डच तथा अँगरेजों के प्रबल विरोध के कारण, इन कम्पनियों को सफलता प्राप्त न हुई, और थोड़े ही दिनों में इनका काम बन्द हो गया।

अँगरेजों की सफलता—सत्रहवीं शताब्दी में भारत की अतुल सम्पत्ति देखकर यूरोप की सभी जातियाँ ललचा रही थीं। उसके व्यापार में सभी ने हिस्सा लगाना चाहा, पर अन्त में अँगरेजों के सिवा और किसी की दाल न गली। इसके कई कारण थे। पुर्तगाली सब से पहले आये, पर वे भारत की परिस्थिति को न समझ सके। धर्मप्रचार की धुन में पड़कर उन्होंने अपना व्यापार अपने हाथ चौपट कर डाला। उनकी संकीर्ण नीति और उसके परिणामों का उल्लेख किया जा चुका है। अलमिडा की सलाह पर न चक्कर उन्होंने भारी भूल की। उनकी जहाजी शक्ति सदा कमजोर रही। पुर्तगालियों के बाद डच लोग आये। ये बड़े साहसी और वीर थे, इनके पास धन की कमी न थी, और राज्य की ओर से भी पूरी सहायता मिलती थी। परन्तु इनका ध्यान भारत की अपेक्षा मसाले के टापुओं की ओर अधिक था, इसके अलावा जहाजी ताकत में अँगरेजों का मुकाबला करना सहज न था। फ्रांसीसी औरों की अपेक्षा देर में आये। उनकी कम्पनी सरकारी कम्पनी थी, उसके कारबार में वहाँ के राजकर्मचारी बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। फ्रांसीसी व्यापार-कला में दक्ष न थे, इसी लिए व्यापार में उन्होंने कोई विशेष उन्नति नहीं की। अँगरेजों ने प्रारम्भ से ही अपनी जहाजी ताकत बढ़ाने का प्रयत्न किया। भारत के व्यापार में वे सागरों का महत्व भली भाँति समझते थे। उनके नाविक चतुर और साहसी थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य से विशेष सम्बन्ध न था। प्रसिद्ध व्यापारियों के उद्योग से ही उसकी स्थापना हुई थी। इस समय इसका संगठन ऐसा था कि राजकर्मचारियों को मनमाना हस्तक्षेप करने का अवसर बहुत कम मिलता था। इंग्लैंड के राजा रुपये के लालच से सदा इसकी सहायता करने के लिए उद्यत रहते थे। कम्पनी के कर्मचारी बड़े व्यापार-कुशल

थे। उन्होंने इस अवसर पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया, पहले डच लोगों का साथ देकर पुर्तगाल की शक्ति नष्ट कर डाली, फिर हालैंड और फ्रांस में लड़ाई छिड़ने पर अपना मतलब गाँठ लिया। इंग्लैंड के सौभाग्य से उसके शत्रु आपस ही में लड़ मरे।

इंग्लैंड की व्यापार-नीति—विदेशियों के आने से भारतवर्ष के व्यापार में एक बड़ा गोलमाल प्रारम्भ हो गया। जवाहरात, सूती तथा रेशमी कपड़े और हाथीदाँत की बनी हुई चीजें बहुत दिनों से भारतवर्ष से यूरोप जाती थीं। इनके कारबारी सब हिन्दुस्तानी थे, और इनका व्यापार मुसलमान सौदागरों के हाथ में था। इन बनी हुई चीजों के अतिरिक्त रंग, नील, दवाइयाँ, लौंग, मिर्च, मसाला, अफीम और शोरा भी बाहर जाता था। यह सब माल भारतवर्ष के ही बने हुए जहाजों पर लदकर बाहर जाता था। विदेशियों ने धीरे-धीरे यह व्यापार अपने हाथ में ले लिया। व्यापारिक संग्राम में अन्य विदेशियों को पीछे हटाकर अँगरेजों ने इस व्यापार पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया। पूर्वी और पश्चिमी तट, तथा बंगाल और उत्तरी भारत के मुख्य मुख्य स्थानों में इनकी कोठियाँ खुल गईं। उन दिनों सूरत में सूत का काम होता था, अहमदाबाद में रेशम और बरी का काम बनता था। आगरे से लाख, चपड़ा, नील, सूती छींट और बाफता जाता था। बंगाल में नील और शोरा के काम के अलावा बारीक सूती कपड़े, तंजेव, मलमल और आवेरवाँ खूब बनते थे। कालीकट से मिर्च और मसाले लदे जाते थे। इस व्यापार से इस समय तक भारत और इंग्लैंड दोनों का लाभ होता था। पर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से इंग्लैंड की व्यापार-नीति में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। सन् १६९७ में लन्दन के जुलाहों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार पर बड़ा असन्तोष प्रकट किया। उनका कहना था कि हिन्दुस्तानी माल के आगे उनके रेशमी कपड़े को कोई पूछता तक नहीं है, इससे उनका रोजगार चौपट हो रहा है। यह आन्दोलन इतना प्रबल हुआ कि सन् १७०० में पार्लामेंट को हिन्दुस्तानी कपड़े पर १५ सैकड़ा चुंगी लगानी पड़ी। सन् १७०१ में

एक दूसरा कानून बनाया गया, जिसकी भूमिका में कहा गया कि हिन्दुस्तान के इस व्यापार से देश को बड़ी क्षति पहुँच रही है, सारा धन बाहर जा रहा है, गरीबों की रोजी मारी जा रही है, इसलिए पूर्व के बने हुए कपड़ों का व्यवहार देश में न होना चाहिए। सन् १७०२ में यह कानून और भी कड़ा बना दिया गया। ऊनी और रेशमी कपड़ों की बुनाई का काम इंग्लैंड में एकदम बन्द न हो जाय, इस उद्देश्य से हिन्दुस्तान के बने और छपे हुए कपड़ों का पहनना विलकुल मना कर दिया गया। भारतवर्ष के व्यापार पर इस नीति का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

अँगरेजों का रहन-सहन—इन दिनों भारतवर्ष में रहनेवाले अँगरेज तथा यूरोप के लोगों का रहन-सहन दूसरे ढंग का था। ये लोग 'फिरंगी' या 'कुलापोश' कहलते थे। इनके अध्यक्ष साधारण जनता पर रोब जमाने के लिए आसावरदारों के साथ पालकियों पर चलते थे। कुछ लोग हिन्दुस्तानी ढंग के कपड़े पहनते थे। क्लाइव के समय तक कई एक अँगरेज अफसरों के साथ पानदान और पीकदान रहते थे^१। यूरोपीय महिलाएँ पहले बहुत कम आती थीं, जो आ जाती थीं, वे प्रायः चिकों के परदे में रहती थीं। काम चलाने के लिए कुछ लोगों को देशी भाषाएँ सीखनी पड़ती थीं। शराब और जुआ का बहुतों को बड़ा व्यसन था^२। इन्हीं के कारण बहुत झगड़ा हुआ करता था। यह दशा सुधारने के लिए बराबर इंग्लैंड से लिखा जाता था।

१ डाइवेल, दि नवान् ऑफ मर्रास, पृ० १८४।

२ एंडर्सन, दि इंग्लिश इन वेस्टर्न इंडिया पृ० १००-१०१

परिच्छेद २

फ्रांसीसी और अंगरेज

राजनीतिक अशान्ति—मुगल सम्राट् औरंगजेब के जीवन-काल ही में, उसकी अनुदार नीति के कारण देश भर में अशान्ति की आग सुलग रही थी, उसके मरने पर तो वह पूर्ण रूप से भभक उठी। थोड़े ही दिनों में मराठों का दिल्ली तक आतंक जम गया। पंजाब में सिख बिगड़ पड़े। राजपूत साम्राज्य से अलग हो गये। चतुर मुसलमान सरदार भी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। सन् १७२२ में दक्षिण का सूबेदार आसफजाह वजीर बनाया गया, दो ही वर्ष में उसने दिल्ली दरबार की दुर्दशा देख ली और सन् १७२४ में वापस जाकर हैदराबाद में निजाम राज्य की नींव डाली। अवध के सूबेदार सादतख़ाँ ने दिल्ली से सम्बन्ध तोड़ दिया। बंगाल के सूबेदार अलीवर्दीख़ाँ ने राज्य-कर भेजना बन्द कर दिया। गंगा के उत्तरी प्रदेश में रुहेलों ने रुहेलखण्ड का राज्य स्थापित कर लिया। इस तरह बीस ही पचीस वर्ष में सारा मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, मुख्य सूबे स्वतन्त्र हो गये, और अकबर के उत्तराधिकारी नाम-मात्र के लिए सम्राट् रह गये। सारे देश में अशान्ति फैल गई, और आपस ही में युद्ध छिड़ गया। ऐसी दशा में यूरोप के लोगों को भारत में अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। इनमें इस समय केवल अंगरेज और फ्रांसीसियों का ही अधिक जोर था। इन दोनों ने पहले दक्षिण

में कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लेकर राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

फ्रांसीसी शक्ति की वृद्धि—सन् १७०१ में पांडुचेरी की नींव डालनेवाला मार्टिन फ्रांसीसियों के अधिकृत स्थानों का मुख्य अध्यक्ष बनाया गया। इस समय पांडुचेरी के अतिरिक्त मछलीपट्टन, सूरत, कालीकट, बालेश्वर, दाका, पटना, चन्द्रनगर और कासिमबाजार में फ्रांसीसियों की थोड़ी बहुत जमीन थी। मार्टिन की अध्यक्षता में पांडुचेरी की बहुत कुछ उन्नति हुई, उसकी आबादी बढ़ गई, और उसमें अच्छी-अच्छी इमारतें बन गईं। मार्टिन देशी शासकों से बहुत मेल रखता था और उनके अधीन रहकर ही फ्रांसीसी शक्ति को दृढ़ करना चाहता था। सन् १७२३ में कम्पनी की आर्थिक दशा सुधर जाने से इसके व्यापार में भी बहुत कुछ उन्नति हुई। दस ही पन्द्रह वर्ष में इसका व्यापार इतना बढ़ गया कि अंगरेज घबरा उठे। अंगरेजी कम्पनी के संचालकों ने इंग्लैंड से लिख भेजा कि फ्रांसीसी व्यापार की पूरी देख-रेख रखनी चाहिए, और उनको इसका बराबर पता मिलना चाहिए। अंगरेजों को इस बात की बड़ी शिकायत थी कि फ्रांसीसी उनके जुलाहे बहका ले जाते थे। इसे रोकने के लिए उन्हें देशी शासकों से सहायता लेनी पड़ती थी।

ड्यूमा की सफलता—सन् १७३५ में ड्यूमा पांडुचेरी का अध्यक्ष बनाया गया। यह बड़ा दूरदर्शी और चतुर मनुष्य था, मार्टिन की नीति पर चलकर इसने देशी शासकों से बड़ा मेल-जोल पैदा किया। कर्नाटक के नवाबों का यह बड़ा मित्र था। जब मराठों ने आक्रमण किया, तब इसने नवाब के कुटुम्ब को पांडुचेरी में स्थान दिया। इस पर मराठे बहुत क्रिगड़े, पर इसने बड़ी चतुरता से राघोजी भोंसला का क्रोध शान्त किया। माही इसके पहले ही फ्रांसीसियों के हाथ में आ गई थी, तंजोर के राजा को कुछ रण-सामग्री देकर इसने कारीकल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इसकी प्रशंसा दूर-दूर तक पहुँचने लगी। मुगल सम्राट ने प्रसन्न होकर सिक्का डालने का अधिकार फ्रांसीसियों को दे दिया, और ४,५०० सवारों का

मनसब देकर, ड्यूमा को नवाब बना दिया। इस पर वह नवाबी शान से रहने लगा, परन्तु इस समय तक उसको 'फ्रांसीसी' साम्राज्य स्थापित करने की न सूझी थी, वह मुगल सम्राट् और कर्नाटक के नवाब के अधीन रहकर ही फ्रांसीसी शक्ति को खूब मजबूत बनाना चाहता था। पाँच वर्ष के शासन में उसने दक्षिण में फ्रांसीसियों की अच्छी धाक जमा दी।

डूप्ले की अध्यक्षता—सन् १७४२ में डूप्ले पांडुचेरी का अध्यक्ष होकर आया। पहले यह चन्द्रनगर में था, और वहाँ इसने बहुत कुछ उन्नति की थी। बहुत काल तक भारतवर्ष में रहने के कारण यह भूमिवासियों के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था, और उनकी कमजोरियों को खूब समझता था। अध्यक्ष होने पर इसने बड़े धूम-धाम से मुगल सम्राट् की प्रदान की हुई नवाब की उपाधि को धारण किया। बहुत दिनों तक ड्यूमा की नीति में उसने किसी प्रकार का परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। पहले उसने कम्पनी के कर्मचारियों को ठीक किया और फिर व्यापार की उन्नति में मन लगाया।

अंगरेजों की स्थिति—फ्रांसीसियों के इस वैभव से अंगरेजों को बड़ी जलन हो रही थी और वे इसको किसी न किसी तरह नष्ट करने का उपाय सोच रहे थे। परन्तु इस समय अंगरेजी कम्पनी के कर्मचारियों में डूप्ले की उन्नति का कोई भी मनुष्य न था। मदरास के अध्यक्ष मोर्स को असली हालत का ज्ञान न था। यूरोप में इन दिनों एक घोर युद्ध छिड़ा हुआ था, और उसमें इंग्लैंड और फ्रांस दोनों एक दूसरे के विरुद्ध खड़े होनेवाले थे। इस युद्ध से भारतवर्ष के व्यापार को हानि न पहुँचे, इसलिए इन दोनों कम्पनियों के अधिकारियों ने अपने कर्मचारियों को युद्ध में भाग लेने से मना कर दिया था। परन्तु एक दूसरे के व्यापार को नष्ट करने पर तुले हुए कर्मचारी इस बात को मानने के लिए तैयार न थे।

पहला युद्ध—सन् १७४४ में फ्रांस और इंग्लैंड में लड़ाई छिड़ गई। इंग्लैंड-सरकार का एक जहाजी बेड़ा भारत-महासागर में आ पहुँचा, और उसने फ्रांसीसी व्यापारी जहाजों को पकड़ना और लूटना

प्रारम्भ कर दिया। इस पर डूप्ले ने मदरास के अध्यक्ष को उदासीन रहने के लिए लिख भेजा पर वहाँ से जवाब मिला कि सरकारी बेड़ा उनके अधीन नहीं है। पांडुचेरी सुरक्षित स्थान न होने से डूप्ले लड़ाई के लिए तैयार न था, इसलिए उसने अर्काट के नवाब अनवरुद्दीन से फ्रांसीसियों की रक्षा करने की प्रार्थना की। नवाब ने अँगरेजों को लिख भेजा कि यदि वे पांडुचेरी पर हमला करेंगे तो उनके लिए अच्छा न होगा। इस पर अँगरेजों ने मदरास पर आक्रमण करने से फ्रांसीसियों को रोकने के लिए भी कहा।



मदरास पर फ्रांसीसियों का अधिकार

इधर डूप्ले ने भी फ्रांसीसी सरकार के एक जहाजी बेड़े को बुला भेजा। इस बेड़े का अध्यक्ष लाब्रडोने था। यह पहले भी भारतवर्ष आ चुका था।

इसने आते ही मदरास पर धावा कर दिया; और बिना लड़े-भिड़े अंगरेजों को निकाल बाहर किया। इस तरह सन् १७४६ में मदरास पर फ्रांसीसी पताका फहराने लगी।

डूफ्ले और लावरडोने की आपस में न पटती थी; ये दोनों बड़े घमंडी और उद्दंड स्वभाव के आदमी थे। डूफ्ले भारतवर्ष में फ्रांसीसियों का अध्यक्ष था, लावरडोने फ्रांस के सरकारी जहाजों का अफसर था, इसलिए ये दोनों एक दूसरे को अपने अधीन समझते थे। लावरडोने जब से पांडुचेरी आया था, तभी से उसका डूफ्ले से झगड़ा चल रहा था। वह डूफ्ले की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही एक बड़ी रकम के बदले में तीन महिने के अन्दर अंगरेजों को मदरास लौटा देने का वचन देकर फ्रांस वापस चला गया। डूफ्ले ने इस समझौते को मानने से इन्कार कर दिया।

सेंट टोम की लड़ाई—फ्रांसीसियों ने अर्काट के नवाब की आज्ञा के विरुद्ध मदरास पर धावा किया था, इस पर अंगरेजों ने नवाब का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। परन्तु डूफ्ले ने नवाब को मदरास दे देने का वादा कर दिया, तब नवाब ने अंगरेजों को टाल दिया। किन्तु जब नवाब ने देखा कि डूफ्ले का विचार मदरास छोड़ने का नहीं है और वह उसे बातों ही में टाल रहा है, तब उसने अपने लड़के की अध्यक्षता में एक सेना भेजी। मदरास के निकट अदयार नदी के तट पर मैलापुर नामक स्थान में इस सेना का फ्रांसीसी सेना से सामना हुआ। फ्रांसीसी सेना खूब कवायद जानती थी और उसके पास बन्दूकों भी अच्छी थीं, इसलिए थोड़ी संख्या होते हुए भी बात की बात में उसने अव्यवस्थित बड़ी भारी मुगल सेना को परास्त कर दिया। जिस स्थान पर यह लड़ाई हुई थी, वहाँ पर सेंट टोम नाम का एक पुर्तगाली किला था, इसीलिए यह लड़ाई सेंट टोम की लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासकारों ने इस लड़ाई को बड़ा महत्व दिया है। उनका कहना है कि इससे भारतीय सेना की कमजोरियों का पता यूरोप-निवासियों को अच्छी तरह मिल गया और पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई। फ्रांसीसियों के लिए यह बड़ी भारी विजय थी।

इस समय तक वे अपने को नवाब के अधीन मानते थे, अब वही नवाब उनसे सन्धि की प्रार्थना करने लगा। इस युद्ध से दक्षिण में डूबे का भी खूब रोव जम गया।

एलाशपल की सन्धि—इस पर फ्रांसीसियों ने अँगरेजों के दूसरे किले सेंट देविड को जीतने का प्रयत्न आरम्भ किया, परन्तु अँगरेजी अफसर लारेस की वीरता और चतुरता के कारण डूबे का सारा प्रयत्न निष्फल गया। इधर अँगरेजों के तेरह जहाज और आ पहुँचे और उन्होंने पांडुचेरी पर धावा बोल दिया। सुरक्षित स्थान न होने पर भी डूबे ने बड़ी बुद्धिमानी और चतुरता के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। इतने ही में यूरोप से एलाशपल^१ की सन्धि के समाचार आ गये, जिससे दोनों दलों को युद्ध बन्द करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार सन् १७४८ में डूबे को मद्रास अँगरेजों को वापस कर देना पड़ा।

दूसरा युद्ध—इस सन्धि से यूरोप में तो कुछ काल के लिए अँगरेजों और फ्रांसीसियों में शान्ति स्थापित हो गई, पर भारतवर्ष में ऐसा न हो सका। दोनों के पास काफी सेनाएँ थी, दोनों को लड़ाई का चस्का लगा हुआ था, दोनों ने समझ लिया था कि किसी एक को नष्ट किये बिना दूसरे की गुजर नहीं है, इसलिए युद्ध जारी रखने का उन्होंने एक दूसरा ही ढंग निकाल लिया। इन दिनों देशी शासकों में बड़ा झगड़ा चल रहा था। ऐसी दशा में विरुद्ध पक्ष लेकर उन्होंने एक दूसरे की शक्ति नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

निजाम की मृत्यु—सन् १७४८ में दक्षिण के सूबेदार वृद्ध आसफ-जाह की मृत्यु हो गई। यह नाम-मात्र को मुगल सम्राट के अधीन था, वास्तव में इसका दिल्ली से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इसके कई लड़के थे। सब से बड़ा लड़का दिल्ली में रहता था, उसको दक्षिण के राज्य की पर्वाह न थी, इसलिए उसका दूसरा भाई नासिरजंग

१ यह एक स्थान का नाम है, जो हालेगड में है।

गद्दी पर बैठा। दक्षिण के एक तत्कालीन लेखक आनन्द रंग पिलार्ड ने पहले ही से लिख दिया था कि बृद्ध निजाम की मृत्यु पर दक्षिण में एक भीषण युद्ध छिड़ेगा। उसकी बात ठीक निकली। नासिरजंग का एक भानजा मुजफ्फरजंग स्वयं निजाम बनने का उद्योग करने लगा। इधर कर्नाटक में भी एक ऐसा ही झगड़ा उत्पन्न हो गया। अनवरुद्दीन को निजाम ने कर्नाटक का नवाब बनाया था। वहाँ के भूतपूर्व नवाब का दामाद चान्दा साहब बहुत दिनों से अनवरुद्दीन को निकालने के प्रयत्न में था। इस समय मुजफ्फरजंग और चान्दा साहब दोनों ने डूप्ले से सहायता माँगी। पिछली लड़ाई से डूप्ले का हौसला बढ़ा हुआ था, और वह ऐसे ही किसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने देखा कि इन दोनों की सहायता करने से फ्रांसीसी सेना का खर्च उसे न उठाना पड़ेगा, और यदि सफलता हो गई तो दक्षिण के सूबेदार और कर्नाटक के नवाब दोनों उसके हाथ में आ जायँगे। इसलिए वह दोनों की सहायता करने के लिए राजी हो गया। तंजोर की गद्दी के झगड़े में अंगरेज भाग ले चुके थे, यह उसके सामने उदाहरण मौजूद था।



निजाम आसफजाह

अम्बर की लड़ाई—डूप्ले की सलाह से पहले कर्नाटक पर अधिकार करना निश्चित हुआ। सन् १७४९ के अगस्त महीने में अम्बर में लड़ाई हुई,

जिसमें फ्रांसीसी सेना की सहायता से चान्दा साहब की विजय हुई, और कर्नाटक का नवाब, अनवरुद्दीन मारा गया। दूसरे ही दिन अर्कोट पहुँच कर चान्दा साहब कर्नाटक की गद्दी पर बैठ गया और मुजफ्फरजंग ने अपने निजाम होने की घोषणा कर दी। सहायता के बदले में चान्दा साहब ने फ्रांसीसियों को अस्सी गाँव दिये। इस सफलता से डूप्ले का हौसला खूब बढ़ गया। अब उसको व्यापार से ही सन्तोष न रहा और वह भारतवर्ष में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। उसने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि व्यापार में अँगरेजों का मुकाबला करने की अपेक्षा यूरोपीय ढंग से संगठित सेना द्वारा निर्बल तथा व्यसनी देशी शासकों का विध्वंस करना कहीं सहज है। इसलिए उसने अब अपना मार्ग ही बदल दिया। परन्तु उसके इस मार्ग में भी अँगरेज बाधक बन बैठे।

अँगरेजों का प्रयत्न—अम्बर की लड़ाई से अनवरुद्दीन का एक लड़का मुहम्मदअली भाग निकला और त्रिचनापल्ली पहुँचकर उसने अँगरेजों से सहायता माँगी। इधर निजाम नासिरजंग ने भी मुजफ्फरजंग के विरुद्ध अँगरेजों से सहायता की प्रार्थना की। डूप्ले की उन्नति से जले हुए अँगरेज ऐसे अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, इसलिए उन्होंने दोनों को सहायता देना स्वीकार कर लिया। डूप्ले का मत था कि जब तक मुहम्मदअली त्रिचनापल्ली में है तब तक चान्दा साहब सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिए वह त्रिचनापल्ली से मुहम्मदअली को निकालना चाहता था। परन्तु इस समय उसके फौजी अफसर उसका साथ नहीं दे रहे थे, दूसरे चान्दा साहब तंजोर के राजा के पीछे पड़ा था, ऐसी दशा में उसको सफलता न हुई। उधर अँगरेजों की सहायता से नासिरजंग ने मुजफ्फरजंग को हरा दिया। इसलिए डूप्ले का बना बनाया काम बिगड़ गया, पर उसका साहस नहीं छूटा। उसने ऐसी चाल चली कि नासिरजंग की सेना में फूट फैल गई और उसी के आदमियों ने उसको मार डाला। इस पर मुजफ्फरजंग निजाम बन गया।

फ्रांसीसियों की सफलता—डूप्ले के लिए यह बड़ी भारी विजय थी। दक्षिण के सूबेदार और कर्नाटक के नवाब दोनों उसके हाथ में आ गये थे। जिस स्थान पर नासिरजंग मारा गया था, वहाँ पर उसने एक विजयस्तम्भ खड़ा किया और उस स्थान का नाम डूप्ले-फतेहाबाद रखा। मुजफ्फरजंग ने प्रसन्न होकर फ्रांसीसियों को कई गाँव और बहुत सा नकद रुपया दिया। कहा जाता है कि उस समय डूप्ले को भी एक बड़ी रकम और ज़मीन मिली। डूप्ले को वह दक्षिण का स्वामी समझने लगा और उसने कृष्णा नदी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। चान्दा साहब फिर अर्काट पहुँच गया और इस बार भी उसने फ्रांसीसियों को बहुत धन दिया। इसी समय एक छोटी सी लड़ाई में मुजफ्फरजंग मारा गया। इसका फल यह हुआ कि सूबेदारी के लिए फिर झगड़ा चल पड़ा। इस पर भी फ्रांसीसी धनराये नहीं। उनके सेनाध्यक्ष बुसी की सहायता से आसफजाह का तीसरा लड़का सलाबतजंग सन् १७५१ में सूबेदार बन गया। बुसी उसका संरक्षक नियुक्त हुआ और बहुत दिनों तक हैदराबाद में बना रहा। निजाम से निश्चिन्त होकर डूप्ले ने त्रिचनापल्ली लेने का फिर से प्रयत्न आरम्भ किया। फ्रांसीसी सेना के साथ चान्दा साहब ने त्रिचनापल्ली को घेर लिया।

क्लाइव की चाल—अब अँगरेजों ने देखा कि मुहम्मदअली की सहायता करके किसी न किसी तरह त्रिचनापल्ली की रक्षा करनी चाहिए। कर्नाटक भर में यही एक ऐसा स्थान रह गया था, जिस पर फ्रांसीसियों का अधिकार न था, और मुहम्मदअली ही तब तक उनके अधीन न बन पाया था। पर इसका कोई ठीक उपाय उनकी समझ में न आ रहा था। इस समय क्लाइव के दिमाग ने उनकी सहायता की, उसने एक ऐसी चाल ढूँढ़ निकाली, जिससे सारा घटना-चक्र ही बदल गया। सन् १७४४ में वह भारतवर्ष आया था, और मदरास में लेखक के पद पर काम करता था। जब सन् १७४६ में फ्रांसीसियों ने मदरास छीन लिया, तब वह अन्य कर्मचारियों के साथ सेंट डेविड के किले में चला गया। फ्रांसीसियों के आक्रमण करने पर

उसने कलम फेंककर तलवार उठाई और लुरेंस की अध्यक्षता में बड़ी वीरता के साथ उस गढ़ की रक्षा में भाग लिया। तंजौर के झगड़े में भी उसने अपनी वीरता और चतुरता का परिचय दिया। इस पर अँगरेजी सेना में उसको एक छोटा सा पद मिल गया। उसने सोचा कि चान्दा साहब त्रिचनापल्ली घेरे हुए है, उसकी राजधानी अर्काट खाली है,



इसलिए यदि अर्काट पर आक्रमण किया जाय तो चान्दा साहब त्रिचनापल्ली छोड़कर अर्काट की रक्षा के लिए दौड़ेगा, और मुहम्मदअली का संकट दूर हो जायगा।

अर्काट का घेरा—मदरास के अध्यक्ष सैंडर्स ने उसकी इस सलाह को मान लिया, और थोड़ी सी सेना के साथ अर्काट पर आक्रमण करने की अनुमति दे दी। वह तीन सौ हिन्दुस्तानी सिपाही और दो सौ अँगरेज

क्लाइव

सैनिकों के साथ चल पड़ा। मार्ग में उसने सिपाहियों को कवायद का खूब अभ्यास कराया, और सरल व्यवहार से उन सब को अच्छी तरह अपने वश में कर लिया। उसके पहुँचते ही अर्काट के संरक्षकों ने हिम्मत हार दी,

और बिना लड़े-भिड़े अर्काट क्लाइव के हाथ आ गया। क्लाइव ने जैसा कुछ सोचा था, वैसा ही हुआ। अँगरेजी विजय का समाचार सुनते ही चान्दा साहब ने अपनी सेना का एक बड़ा भारी भाग अपने लड़के रजा साहब की अध्यक्षता में अर्काट के छीनने के लिए भेज दिया। रजा साहब ५३ दिन तक अर्काट को घेरे पड़ा रहा, पर क्लाइव को न निकाल सका। क्लाइव और उसके सैनिकों ने बड़ी वीरता और धैर्य से दुर्ग की रक्षा की। सिपाहियों ने अपनी अनुपम स्वामि-भक्ति का परिचय दिया, अन्न की कमी होने पर अँगरेजों को भात खिलकर माँड़ से अपना पेट भरा पर साहस नहीं छोड़ा।

अन्त में तंग आकर
रजा साहब ने धावा
किया, पर बुरी तरह
हार कर भागा। अँग-
रेजों ने पीछा किया
और आर्नी में उसको
फिर से हराया। बाद
को मराठों की सहायता
से क्लाइव ने कावेरी
पाक में भी विजय प्राप्त
की और डूले-फतेहा-
बाद नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

सन् १७५२ में
चान्दा साहब त्रिचना-
पल्ली छोड़कर भाग
निकल। वह तंजोर के
राजा के हाथ में पड़
गया, और मुहम्मद-



मुहम्मदअली

अली की सलाह से मार डाला गया। चान्दा साहब वीर और उदार स्वभाव

का आदमी था। उसकी प्रशंसा उन दिनों के अँगरेज भी करते थे। ऊर्म का मत है कि यदि फ्रांसीसी सेना बराबर उसके अधीन रहती, तो उसकी यह दशा न होती। चान्दा साहब की मृत्यु पर अँगरेजों ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब बनाया, जो इस पद के लिए सर्वथा अयोग्य था। इस तरह अँगरेजों की धाक जमाकर क्लाइव अस्वस्थ होने के कारण इंग्लैंड वापस चला गया।

बुसी और उत्तरी सरकार—कर्नाटक निकल जाने पर भी फ्रांसीसियों का प्रमुख नष्ट नहीं हुआ। हैदराबाद में वीर सेनाध्यक्ष बुसी का आतंक जमा हुआ था। उसने मराठों से निजाम सलाबतजंग की रक्षा की थी, इसलिए निजाम उसको खूब मानता था। उसकी सेना के खर्च के लिए निजाम ने उत्तरी सरकार का इलाका दे दिया था। बराबर युद्ध के कारण यह इलाका बहुत तबाह हो गया था, पर तब भी बुसी ने यहाँ से डूप्ले को भी रुपये की मदद दी। थोड़े ही दिनों में वह स्वयं भी बहुत धनी हो गया।

डूप्ले का पतन—इतने दिन के युद्ध से सारा व्यापार चौपट हो गया था, इलाकों की आमदनी काफी न थी, फ्रांसीसी सरकार से कोई सहायता न मिलती थी, इसलिए डूप्ले को रुपये की बड़ी कमी हो रही थी। फ्रांस-सरकार से उसका बहुत दिनों से मतभेद था। वहाँ के अधिकारी उसकी नीति को पसन्द न करते थे। वे व्यापार की दृष्टि से लड़ाइयों को हानिकारक समझते थे। इधर क्लाइव की सफलता से अँगरेजों का पक्ष प्रचल हो रहा था, और उनको धन की कोई कमी न थी। ऐसी दशा में डूप्ले को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी मनोकामना का सिद्ध होना असम्भव है। इसलिए उसने अँगरेजों से सन्धि करने का प्रस्ताव किया। परन्तु उन्होंने डूप्ले का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। सन् १७५४ में फ्रांस-सरकार ने डूप्ले को भारतवर्ष से हटाने की आज्ञा दे दी। वह बिना किसी विरोध के फ्रांस वापस चला गया। वहाँ उस पर सरकार की ओर से अभियोग चलाया गया। इस तरह अपमानित होकर सन् १७६३ में वह मर गया।

‘ उसकी नीति—झूठे उन दिनों की राजनीतिक अशान्ति से लाभ उठाना चाहता था। वह दक्षिण के राजा और नवाबों को खूब पहचानता था। देशी सेना की कमजोरियों को उसने अच्छी तरह समझ लिया था। उसका विश्वास था कि पाश्चात्य रण-प्रणाली कहीं श्रेष्ठ है, और उसको हिन्दुस्तानी सहज ही में सीख सकते हैं। कोई विदेशी शक्ति भारतवर्ष में अपने देश की सेना पर निर्भर नहीं रह सकती है, इसलिए भारतवासियों की सेना बनाना आवश्यक है। उसका खर्चा चलाने के लिए देशी राजा और नवाबों की सहायता करनी चाहिए। देश की तत्कालीन स्थिति में केवल व्यापार ही पर भरोसा करना ठीक नहीं है। स्थायी आय के लिए कुछ भूमि पर भी अधिकार होना आवश्यक है। इस तरह अपनी शक्ति बढ़ाकर भारतवर्ष में विदेशी साम्राज्य स्थापित करना असम्भव नहीं है। देशी शासक पाश्चात्य ढंग पर संगठित सेनाओं का सामना करने में असमर्थ हैं। उनको परास्त करना कठिन नहीं है। परन्तु यदि इस कार्यक्रम में किसी से बाधा पड़ने का भय है, तो वे अंगरेज हैं, इसलिए देशी शासकों की सहायता से या सीधे सीधे लड़कर उनकी शक्ति को पहले नष्ट कर डालना चाहिए।

प्रायः कहा जाता है कि भारतवर्ष के यूरोप-सम्बन्धी इतिहास में यह नीति झूठे ही ने सब से पहले ढूँढ़ निकाली, और बाद को अंगरेजों ने उसी का अनुकरण किया। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता। हिन्दुस्तानी सेना रखना, उसको कवायद सिखाना कोई नयी बात नहीं थी। पुर्तगालियों ने सैकड़ों वर्ष पहले हिन्दुस्तानियों को सेना में रखना प्रारम्भ कर दिया था। बन्दूक और तोप का काम सिखाने के लिए मुगल सेनाओं में विदेशी शिक्षक रहते थे। देशी सेना की कमजोरियों को बर्नियर ऐसे यात्रियों ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही समझ लिया था। उसका कहना था कि अव्यवस्थित मुगल सेना को परास्त करना कोई कठिन काम नहीं है। देशी शासकों की सहायता से अपनी सेना का खर्च चलाना झूठे ने अंगरेजों से ही सीखा था। तत्कालीन राज-

नीतिक अशान्ति में फ्रांसीसी साम्राज्य का स्वप्न देखना कोई बड़ी भारी बात न थी। मुगलों का पतन होने पर छोटी-बड़ी सभी शक्तियाँ इसी धुन में थीं।

डूंगे ने पहले से ही अपनी कोई नीति स्थिर नहीं की थी, घटना-चक्र में पड़कर वह बराबर आगे कदम बढ़ाता गया था। पहले उसका ध्यान केवल व्यापार की ओर था, राजनीति में वह मार्टिन और ड्यूमा की नीति का ही अनुयायी था। सन् १७४९ के बाद, जब उसका प्रभुत्व अच्छी तरह जम गया तब, उसने अपनी नीति में परिवर्तन करना उचित समझा। अँगरेजों ने उसकी नीति का अधिक अनुकरण तो नहीं किया, पर उसकी भूलों से लाभ अवश्य उठाया। उस नीति में जो कुछ कमी थी, उसकी पूर्ति करके अँगरेजों ने उसको सफल बना दिया।

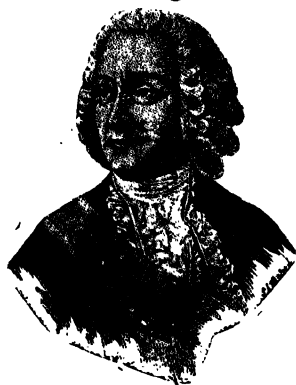
असफलता के कारण—डूंगे की असफलता के कई कारण थे। सब से मुख्य बात तो यह थी कि उसके पास कोई जहाजी सेना न थी। यूरोप से सम्बन्ध रखने का रास्ता अँगरेजों के हाथ में था। डूंगे को अपनी हिन्दुस्तानी सेना पर ही निर्भर रहना पड़ता था। फ्रांस से उसको किसी प्रकार की सहायता न मिलती थी। वहाँ की सरकार से भी उसका मतभेद था। रुपये की उसके पास बड़ी कमी थी। व्यापार चौपट हो गया था, कुर्नाटक और उत्तरी सरकार के जिले निर्धन थे, नवाबों के वादे बड़े बड़े होते थे, पर उतना रुपया न मिलता था। फ्रांस-सरकार लड़ाई के लिए रुपया भेजने पर राजी न थी। उसकी सेना में फूट थी, अफसर स्वार्थी थे और एक दूसरे से जलते थे, उनको अपने देश के लाभ का कुछ भी ध्यान न था। डूंगे स्वयं योद्धा न था, उसको ऐसे अफसरों पर निर्भर रहना पड़ता था, जो कभी कभी उसकी आज्ञा भी न मानते थे।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि यदि वह भारतवर्ष में बना रहता तो क्या फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित होने की कोई सम्भावना थी? उत्तर में कहा जाता है कि इसमें बहुत सन्देह है, क्योंकि उसके चले जाने के बाद अँगरेजों के हाथ में बंगाल सा धनो सूत्र आ गया था और क्लाइव सरीखा चतुर सेनाध्यक्ष मिल गया था। परन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान

रखने योग्य है, यदि डूप्ले भारतवर्ष में बना रहता तो दक्षिण से निश्चिन्त होकर शान्ति के साथ अँगरेज बंगाल को हड़प न कर सकते ।

डूप्ले का चरित्र—इसमें सन्देह नहीं कि डूप्ले बड़ा महत्वाकांक्षी और घमण्डी था, पर एक साम्राज्य स्थापक के लिए ऐसा होना स्वाभाविक ही है । अकृतज्ञता में वह अँगरेजों से बढ़ा हुआ न था । तंजौर, कर्नाटक और बंगाल के नवाबों के साथ जैसा कुछ अँगरेजों ने व्यवहार किया, उसे देखते हुए, देशी राज्यों के प्रति डूप्ले का व्यवहार कहीं अच्छा था ।

उस पर स्वार्थी होने का आरोप निर्मूल है, उसने अपने निजी लाभ के लिए कम्पनी या अपने देश को कभी हानि नहीं पहुँचाई, उल्टे उसने अपनी बहुत सी कमाई उन दिनों की लड़ाइयों में खर्च कर दी । नैतिक दृष्टि से वह अपने समय के अनुसार था । उसमें किसी प्रकार की विशेषता या उच्चता न थी, पर उसका आदर्श क्लाइव से अवश्य बढ़ा हुआ था । उसके धैर्य, साहस और तीव्र बुद्धि का परिचय दिया जा चुका है । शासन में भी वह बड़ा ज़तुर था । फ्रांस सरकार को बढ़ा



डूप्ले

भय था कि पदच्युत होने की आज्ञा का वह घोर विरोध करेगा, पर उसने चूँ तक नहीं की । फ्रांस सरकार उसकी योग्यता तथा दूरदर्शिता को न समझ सकी, यह उसका दुर्भाग्य था, पर उसने सदा उसके गौरव को बढ़ाने का प्रयत्न किया । उसके विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, उसको मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि वह अपने देश का सेवक और एक प्रतिभाशाली मनुष्य था ।

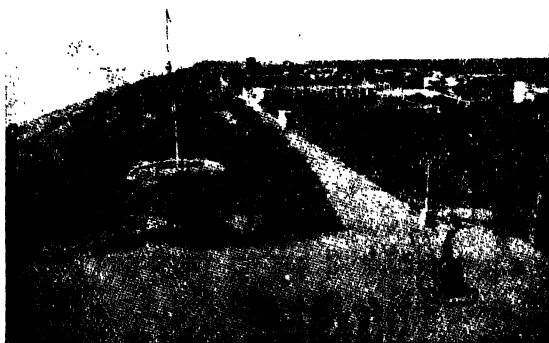
तीसरा युद्ध—सन् १७५६ में इंग्लैंड और फ्रांस में फिर युद्ध छिड़ गया । यह युद्ध सात वर्ष तक चलता रहा । इस समय फ्रांस सरकार को

पता लगा कि डूले की नीति न मानने में बड़ी भूल हुई। यह भूल सुधारने के लिए फिर से प्रयत्न किया गया। इस बार लैली सेनापति और अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। यह सन् १७५८ में भारतवर्ष पहुँचा, परन्तु अब फ्रांसीसियों का पासा पलट चुका था, उनकी शक्ति को फिर से स्थापित करना बड़ा कठिन था। डूले के जाने के बाद से इस समय तक अँगरेजों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। दक्षिण में उनकी पूरी धाक जम गई थी, बंगाल में एक तरह से उनका राज्य ही हो गया था, वहाँ के नवाब उनके हाथ की कठपुतली थे। पर तब भी लैली ने अँगरेजों को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय किया।

लैली का उद्योग—इस बार फ्रांस-सरकार ने कोई बात उठा न रखी। लैली को काफ़ी सेना और धन दिया गया। पर उसके माग्य में सफलता बड़ी न थी। वह तेज मिजाज का आदमी था, उसके आते ही पांडुचेरी में उसका विरोध प्रारम्भ हो गया। वहाँ के कर्मचारी अब फिर से लड़ाई झगड़े में पड़ना न चाहते थे, उन्हें केवल अपने मतलब का ध्यान था। परन्तु लैली ने इसकी कुछ भी परवाह न की, और अँगरेजों से सेंट डेविड का किला छीनकर मदरास पर चढ़ाई कर दी। इस अवसर पर पांडुचेरीवालों ने उसको सहायता देना बिल्कुल बन्द कर दिया। रसद कम पड़ गई, और उसके सिपाही भूखों मरने लगे। इधर अँगरेजों की जहाजी सेना भी आ गई, इस पर लैली को पांडुचेरी भागना पड़ा।

लैली ने आते ही निजाम-दरबार से बुसी को बुला लिया था, इसका फल यह हुआ कि हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभुत्व जाता रहा। निजाम भी उन दिनों यही चाहता था। इधर क्लाइव ने कर्नल फोर्ड की अध्यक्षता में सेना भेजकर उत्तरी सरकार पर कब्जा कर लिया। यहाँ से भी आमदनी बन्द हो जाने पर लैली ने तंजौर के राजा पर चढ़ाई करके रुपया लेना चाहा, पर वह राजा पहले ही से तैयारी कर चुका था, इसलिए लैली का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। उधर बंगाल में क्लाइव ने चन्द्रनगर पहले से ही छीन लिया था। इसलिए आमदनी का अब कोई भी द्वार बाकी न रह गया।

वांडवाश की लड़ाई—लैली अब बिलकुल हताश हो गया पर तब भी वह जैसे-तैसे अँगरेजों का मुकाबला करता रहा। सन् १७६० में वांडवाश के निकट सर आयरकूट ने उसको अच्छी तरह हराया। वीर बुसी पकड़ लिया गया और लैली पांडुचेरी भाग गया। अँगरेजों ने उसका बराबर पीछा किया, और पांडुचेरी को घेर लिया। आठ महीने तक लैली ने बड़े धैर्य और साहस के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। रसद की ऐसी कमी हो गई थी कि एक कुत्ता भी चौबीस रुपये में बिकता था। अन्त में, परेशान आकर लैली ने शस्त्र डाल दिये और वह कैद करके इंग्लैंड भेज दिया गया, जहाँ से वह फ्रांस चला गया। परन्तु फ्रांस सरकार ने उसके साथ भी



आधुनिक पांडुचेरी

अन्याय किया। उस पर भी अभियोग चलाया गया और अन्त में उसे प्राण-दंड दिया गया।

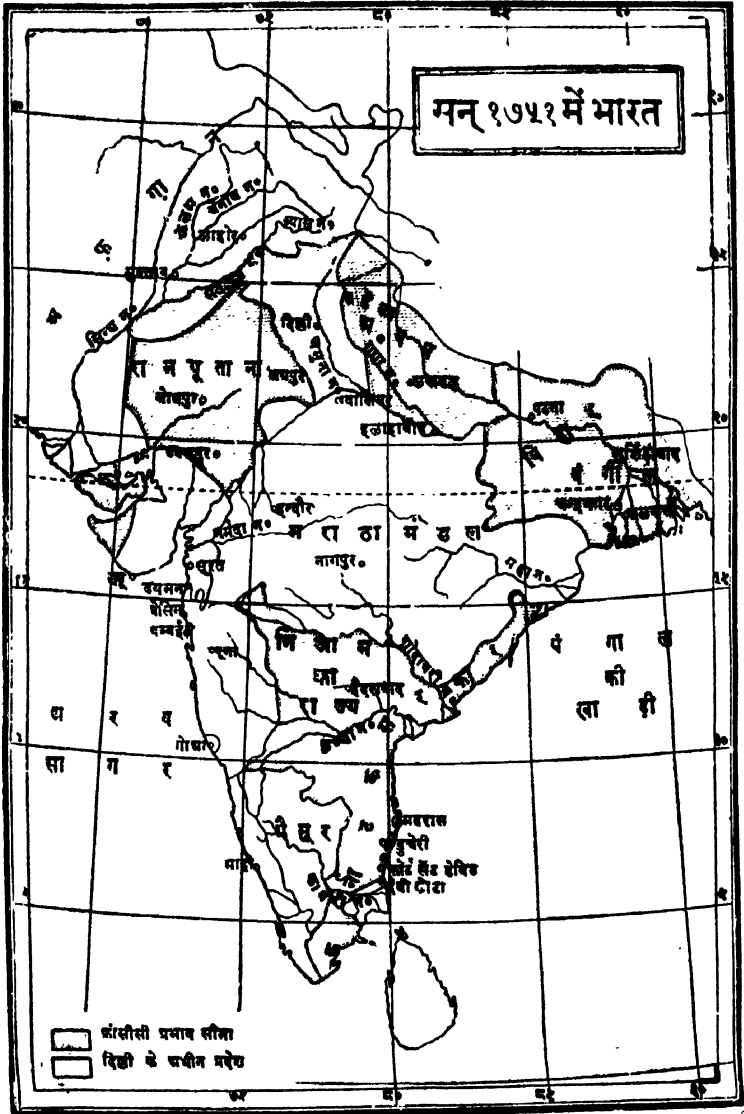
पांडुचेरी पर भी अँगरेजों का अधिकार हो गया। उन्होंने मदरास और सेंट डेविड का पूरा बदला लिया। पांडुचेरी की विशाल इमारतें गिरवा दी गईं और सारा नगर उजाड़ कर दिया गया। नगर-निवासियों को तीन

महीने के अन्दर नगर छोड़ देने की आज्ञा दे दी गई। इतिहासकार ऊर्म लिखता है कि कुछ ही महानों में उस विशाल सुन्दर नगर में एक भी खड़ी हुई छत न रह गई।

फ्रांसीसियों की पराजय—पांडुचेरी के पतन से फ्रांसीसी हताश हो गये। थोड़े दिन बाद जिंजी और माही भी उनके हाथ से निकल गये। सन् १७६१ में सूरत और कालीकट की कोठियों को छोड़कर उनके पास कोई भी स्थान नहीं रह गया। इस तरह भारतवर्ष में फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हो गया। सन् १७६३ में यूरोप का युद्ध समाप्त हो गया और पेरिस की सन्धि से पांडुचेरी, चन्द्रनगर और माही फ्रांसीसियों को लौटा दिये गये। ये स्थान अब भी फ्रांसीसियों के पास हैं।

अन्त में अँगरेजों की ही पूरी विजय हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय उनका जहाजी ब्रेड़ा प्रबल था। समुद्र के सब रास्ते उनके हाथ में थे। उनके जहाजी ब्रेड़े को नष्ट करके भारतवर्ष से सम्बन्ध रखना फ्रांस की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त अँगरेजों को धन का अभाव न था। उनकी कम्पनी का संगठन अच्छा था। फ्रांस-सरकार की तरह इंग्लैंड-सरकार उसके काम में बाधा न डालती थी। उसके कर्मचारियों में एका था और वे सब के सब फ्रांस की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे। इसके प्रतिकूल फ्रांसीसियों की दशा थी, जिसका वर्णन किया जा चुका है। ऐसी दशा में फ्रांसीसियों की हार निश्चित थी।

मन् १७५१ में भारत



परिच्छेद ३

साम्राज्य की नींव

बंगाल के नवाब—पहले बंगाल मुगल साम्राज्य का एक सूबा था, परन्तु औरंगजेब के मरने पर नवाब मुर्शिदाकुलीखाँ स्वाधीन हो गया था। यह पहले हिन्दू था। सन् १७०४ में मकसूदाबाद को इसने अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम मुर्शिदाबाद रखा। सन् १७४१ में उसके वंशजों को हटाकर अलीवर्दीखाँ नाम का एक सरदार नवाब बन गया। यह बड़ा चतुर शासक था। इसका सारा जीवन मराठों से अपने राज्य की रक्षा करने में व्यतीत हुआ।

इन नवाबों के समय के बंगाल की दशा का वर्णन करते हुए गुलाम हुसेन लिखता है कि पिछले साठ वर्ष से साम्राज्य का पतन हो रहा था, सम्राट् अयोग्य थे, सरदार और उमरा बिगड़ रहे थे, परन्तु तब भी इनमें से कोई भी उन नियमों से हटना नहीं चाहता था, जिनसे साम्राज्य की उन्नति हुई थी। उनके राज्य की दशा अच्छी थी, प्रजा सन्तुष्ट थी और आराम से रहती थी। बहुत कम ऐसे लोग थे, जिनको दुख या कष्ट था। अलीवर्दीखाँ के समय तक यही दशा रही। उसने चुन-चुनकर अपने योग्य कुटुम्बियों और मित्रों को बड़े-बड़े ओहदे दिये। वह सदा प्रजा का ध्यान रखता था। युद्धप्रिय और महत्वाकांक्षी होने पर भी प्रजा और जमीन्दारों के साथ, जो पूर्ण रूप से अपना कर्तव्य पालन करते थे, उसका व्यवहार बड़ा अच्छा और उदार होता

था। प्रजा के लिए वह सचमुच पिता-तुल्य था। अपने फौजदारों पर उसकी बराबर निगाह रहती थी और वह उनको कभी अत्याचार न करने देता था। वह अपनी सारी प्रजा को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के एक ही माता-पिता की सन्तान समझता था और योग्य हिन्दू तथा अन्य गैर-मुसलमान व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त करता था। उसके शासन में प्रान्त का रुपया प्रान्त ही में रहता था, जिससे उसी के राज्य की उन्नति होती थी। जनता को जीवन-निर्वाह की चिन्ता न थी, उसके शासन-काल में वह 'शान्ति और सुख' से रही। कहीं-कहीं एक आध जमीन्दार बिगड़ जाता था, परन्तु बाकी राज्य में 'पूर्ण शान्ति और समृद्धि' थी।^१

विदेशियों के प्रति नीति—बंगाल के शासक शुरु से ही विदेशी व्यापारियों पर तीव्र दृष्टि रखते थे। शायस्ताखाँ ने तो अँगरेजों को निकाल ही दिया था, परन्तु मुर्शिदकुलीखाँ के समय में बहुत सा रुपया देखर उन्होंने अपना व्यापार फिर से जमा लिया था। सम्राट् फर्रुखसियर का उनको एक नया फरमान भी मिल गया था, जिसके अनुसार बिना चुंगी के व्यापार करने का अधिकार दे दिया गया था। अँगरेजों के अतिरिक्त फ्रांसीसी और हालैंड-निवासी डच भी बंगाल में व्यापार करते थे। इनकी कोठियाँ चन्द्रनगर और चिनसुरा में थीं। नवाब अलीवर्दीखाँ इन व्यापारियों को अच्छी तरह पहचानता था, और उनसे खूब रुपया ऐंठता था। सन् १७४४ में मराठों से रक्षा करने के लिए उसने अँगरेजों को कलकत्ता में एक खाई बनाने की आज्ञा दे दी थी, परन्तु अँगरेजों को अपना किला अधिक दृढ़ करने की इजाजत उसने कभी नहीं दी। जब कभी अँगरेज इसके लिए प्रार्थना करते थे, तब वह कहा करता था कि तुम लोग व्यापारी हो तुम्हें किले से क्या काम, मेरी संरक्षकता में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। दक्षिण की दशा वह सुन चुका था, विदेशियों की शक्ति और एकता का उसे सदा ध्यान रहता था। वह प्रायः कहा करता था कि विदेशी व्यापारी शहद की मक्खियों का एक छत्ता हैं,

जिससे शहद तो निकाल लेना चाहिए, पर मक्खियों को छेड़ना न चाहिए, छेड़ने से वे काट-काट कर जान ले डालेंगी ।^१

उन दिनों उसके कर्मचारियों और अँगरेजों में बराबर खटपट हुआ करती



अलीवर्दीख़ाँ

थी। अँगरेज बिना महसूल के व्यापार करने के लिए नवाब की दस्तकें

१ रक्रेफ्टन, रिफ्लेक्शन्स आन दि गवर्मेन्ट आफ इंडोस्टान, पृ० ५५ ।

बनियों को दे देते थे और उनसे स्वयं लाभ उठाते थे। इतना ही नहीं, अपनी बस्तियों में माल लाने पर वे चुंगी लगाते थे, और विवाह के अवसरों पर या ज़मीन बेचने पर भी टैक्स लेते थे। नवाब के दरबार में इसकी बराबर शिकायतें होती थीं। अँगरेज अपने पक्ष के समर्थन में मुगल सम्राट् के फरमान पर जोर देते थे, नवाब फरमान के इस उलटे अर्थ को कभी न मानता था। इस तरह उसके जीवन-काल ही में यह झगड़ा चलता रहा, परन्तु उसके मरने पर इसने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया।

सिराजुद्दौला की नवाबी—सन् १७५६ में अलीवर्दीख़ाँ के मरने पर उसका पोता सिराजुद्दौल नवाब हुआ। बचपन के बहुत लड़ प्यार से इसका स्वभाव विगड़ गया था। मुसाहिब लोग जो कुछ समझा देते थे, बिना सोचे विचारे यह वही करने लगता था। अलीवर्दीख़ाँ इसकी कमजोरियों को अच्छी तरह जानता था। उसने पहले ही कह दिया था कि जब यह नवाब होगा तब भारतवर्ष के सभी तटों पर 'टोपवालों' का अधिकार हो जायगा^१।

अँगरेजों से झगड़ा—नवाब अँगरेजों से पहले से ही चिढ़ा हुआ था। उन्होंने उसका कई बार अपमान किया था। उन्होंने कासिमबाजार की कोठी और बागलों में उसको ठहराने से इनकार कर दिया था। अलीवर्दीख़ाँ के दरबार में वे उसको कभी भी न पूछते थे। जब वह मसनद पर बैठा तब भी उन्होंने बहुमूल्य उपहार नहीं भेजे। सिराजुद्दौल कुछ काल तक इन सब बातों को सहन करता रहा, परन्तु अँगरेज बराबर टीठ होते गये। अपने एक मुसाहिब राजवल्लभ पर नवाब नाराज हो गया, उसका लड़का कृष्णदास कलकत्ता भाग गया। जब नवाब ने उसको भेज देने के लिए अँगरेजों को लिखा, तब कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने कोरा जवाब दे दिया। नवाब को अपने जासूसों से यह भी पता चला कि पूर्णिया के नवाब को अँगरेज उसके विरुद्ध ब्रह्मा रहे हैं। दस्तकों का दुरुपयोग पहले से ही चल

रहा था और इससे नवाब की आमदनी को बहुत कुछ हानि पहुँच रही थी। इधर सन् १७५६ में इंग्लैंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलते ही नवाब से बिना पूछे, बताये अँगरेज और फ्रांसीसियों ने अपने-अपने किले ठीक कराना प्रारम्भ कर दिया। इस पर नवाब बहुत बिगड़ा और दोनों को यह काम बन्द कर देने के लिए लिख भेजा। फ्रांसीसियों ने तो एक बहाना बना दिया, पर कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने बड़ा कड़ा उत्तर लिख भेजा और जो दूत पर्वाना लेकर आया था, उसको कलकत्ते से बाहर निकलवा दिया। उत्तर पाते ही नवाब आगबबूल हो गया और उसने अँगरेजों को नष्ट करने का प्रण कर लिया।

कलकत्ता पर आक्रमण—सन् १७५६ के मई महीने में नवाब ने कासिमबाजार की कोठी छीन ली। इस अवसर पर उसने सिपाहियों को कोठी का माल लूटने से मना कर दिया और सिवा युद्ध-सामग्री के कोई सामान नहीं लिया।^१ यहाँ से वह बड़ी तेजी के साथ कलकत्ता पहुँचा। मई-जून की कड़ी धूप में, ग्यारह दिन में, उसने १६० मील का सफर तय कर डाला। कलकत्ता में लड़ाई के लिए काफी सेना न थी, पर तब भी गवर्नर ड्रेक ने लड़ना ही निश्चित किया। सब से पहले उसने सेठ अमीरचन्द और शरण में आये हुए कृष्णदास को गिरफ्तार कर लिया। उसका अनुमान था कि इन्हीं दोनों ने नवाब को बुझाया है। अमीरचन्द के भाई ने गोली चलाने की आज्ञा दे दी। उसे पकड़ने के लिए गोरे लोग जनाने मकान में घुसने लगे, इस पर सेठ के एक जमादार ने घर की १३ स्त्रियों को मारकर उनके सम्मान की रक्षा की।^२

इधर अमीरचन्द के आदमियों से नवाब को कलकत्ता में घुसने का रास्ता मालूम हो गया। अँगरेजों ने किले की रक्षा की पर अन्त में वे घबरा गये। गवर्नर ड्रेक और बहुत से अँगरेज अपने प्राण लेकर नदी के मार्ग से भाग निकले। किले में कुछ सैनिकों के साथ हालवेल्ड रह गया। उसने अमीरचन्द

१ हिल, बंगाल इन १७५६-५७, भूमिका पृ० ६२।

२ वही पृ० ७३।

को ग्रीच में डालकर पहले सन्धि करने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई फल न हुआ। अन्त में लाचार होकर ता० २० जून को हालवेल ने किला नवाब को सौंप दिया। उसके सिपाहियों ने लूट-पाट मचा दी पर किसी अँगरेज को तंग नहीं किया।

✧ **कालकोठरी**—उसी दिन सन्ध्या समय अँगरेज कैदी नवाब के सामने लाये गये। नवाब ने हालवेल की हथकड़ियों को खुलवा दिया और उसको कष्ट न देने का वचन दिया। कैदियों पर कोई कड़ी देख-रेख न थी। कई एक यूरोपियन किले से चले भी गये, पर किसी ने रोक नहीं। इसी समय गोरे सैनिकों ने शराब पीकर हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तंग करना शुरू कर दिया। शराबत करने पर गोरे जिस कोठरी में बन्द कर दिये जाते थे, उसी में उन्हें बन्द करने की आज्ञा देकर नवाब आराम करने चला गया। कहा जाता है कि इस पर उसके सिपाहियों ने १४६ गोरो को उस छोटी सी कोठरी में भर दिया। रात को गरमी में प्यास से तड़प-तड़प कर इनमें से १२३ आदमी मर गये।

हालवेल ने इस घटना का बड़ा हृदय विदारक वर्णन किया है, परन्तु उसकी सत्यता में बहुत कुछ सन्देह है। कोठरी की जितनी लम्बाई-चौड़ाई बतलाई जाती है^१, उतने में १४६ आदमियों का किसी तरह अटना सम्भव नहीं है। मरे हुए आदमियों में ५६ से अधिक के नाम का पता नहीं लगता है। उस समय के हिन्दुस्तानियों द्वारा लिखे हुए इतिहास या कम्पनी के कागजात में इसका कोई उल्लेख नहीं है।^२ जान पड़ता है कि इस घटना के वर्णन में हालवेल ने बहुत कुछ नमक मिर्च मिलाया है। उसकी कई बातों में यह दोष पाया गया है। यदि इसमें कुछ सत्यता भी हो तब भी नवाब उसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। रात की घटना उसकी जानकारी में नहीं हुई थी। यह बात ठीक है कि बाद में उसने इसके लिए किसी को

^१ रिस्सन का कहना है कि यह कोठरी १८ फीट लम्बी और १४ फीट १० इंच चौड़ी थी।

^२ मिस्टर लिटिल का लेख, बंगाल पास्ट एंड प्रेजेण्ट जि० ९।

दंड नहीं दिया। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने इसके लिए अनुरोध भी नहीं किया। सन्धि की शर्तों में इसकी कोई भी चर्चा नहीं थी। इसी से सिद्ध होता है कि यह एक साधारण घटना थी और इसमें नवाब निर्दोष था



सिराजुद्दौला

अलीनगर की सन्धि—कलकत्ता का नाम अब अलीनगर रखा गया। राजा माणिकचन्द को वहाँ का किलेदार बनाकर नवाब मुर्शिदाबाद

वापस चला गया। ड्रेक सहित भागे हुए अँगरेज फलता पहुँचे और वहाँ से उन्होंने कुल हाल मदरास लिख भेजा। यहाँ इन लोगों को नवाब की ओर से कोई विशेष कष्ट नहीं दिया गया। बंगाल की दुर्घटना का समाचार मिलने पर बहुत कुछ बहस के बाद मदरास कौंसिल ने क्लाइव और वासटन को स्थल और जल-सेना का अध्यक्ष बनाकर बंगाल भेजा। इन दोनों ने जनवरी सन् १७५७ में बिना अधिक लड़े-भिड़े कलकत्ता फिर से छीन लिया। इतिहासकार ऊर्म लिखता है कि किले में नवाब के सैनिकों ने कम्पनी के सामान को कोई विशेष हानि न पहुँचाई थी। इसके बाद अँगरेजों ने हुगली की रसद नष्ट कर डाली। यह समाचार मिलने पर नवाब फिर कलकत्ता पहुँचा और सन्धि की बातचीत प्रारम्भ हुई। यह बातचीत हो ही रही थी, तभी एक दिन रात को अँगरेजों ने नवाब के पड़ाव पर धावा कर दिया, जिससे नवाब बहुत घबरा गया और फरवरी सन् १७५७ में उसने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस सन्धि के अनुसार नवाब ने अँगरेजों के व्यापारसम्बन्धी अधिकारों को मान लिया और किले की मनमानी मरम्मत करने की अनुमति दे दी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अँगरेजी दस्तकवाले माल पर महसूल लेना बन्द कर दिया गया और सिकका चलाने का अधिकार भी अँगरेजों को दे दिया गया। नवाब ने हरजाना देना भी मंजूर किया, पर हरजाने की ठीक-ठीक रकम का कोई निर्णय नहीं हुआ। इसी तरह फ्रांसीसियों की कोई सहायता न करने का भी उसने वचन दिया, पर सन्धि-पत्र में इस विषय की कोई शर्त रखना मंजूर नहीं किया। ✓

✠ **चन्द्रनगर पर अँगरेजों का अधिकार**—फ्रांसीसी शक्ति को नष्ट करने पर क्लाइव तुल्य ही हुआ था। नवाब के साथ सन्धि हो जाने पर उसने चन्द्रनगर छीनने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। बिना नवाब की अनुमति के ऐसा करना सम्भव न था, इसलिए बहुत सी चालें चली गईं और मुसाहिबों को घूस देकर फ्रांसीसियों के विरुद्ध नवाब के कान भरे गये। इधर मुगल सम्राट् के आने का समाचार सुनकर नवाब कुछ घबराया हुआ था और अँग-

रेजों का विरोध न करना चाहता था। एक दिन वह फ्रांसीसियों से बहुत रुष्ट हो गया और अंगरेजों को उन पर आक्रमण करने की उसने अनुमति दे दी। पटना में नवाब से मिलने का बहाना करके एक बड़ी सेना के साथ क्लाइव चन्द्रनगर पहुँच गया। फ्रांसीसी बड़ी वीरता से लड़े, परन्तु उनके पास अधिक सेना न थी, इसलिए अन्त में उन्होंने हार मानकर, मार्च सन् १७५७ में, चन्द्रनगर अंगरेजों को दे दिया। दो वर्ष बाद पांडुचेरी की तरह यहाँ की भी विशाल इमारतों को अंगरेजों ने नष्ट कर डाला।

नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र—क्लाइव मदरास से जव्व चला था, तभी उसने यह निश्चित कर लिया था, कि नवाब को बिना पदच्युत किये हुए बंगाल में अंगरेजों की रक्षा होनी कठिन है। इसलिए बंगाल में भी उसने दक्षिण की नीति से ही काम लिया। सन्धि हो जाने के बाद कासिमबाजार की कोठी का अध्यक्ष वाट्स नवाब के दरबार में अंगरेजों का प्रतिनिधि बनाया गया। वाट्स हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था और वह नवाब तथा उसके मुसाहिबों की कमजोरियों को खूब पहचानता था। धन के लालच में पड़कर अमीरचन्द अपना अपमान भूल गया था और वह भी अंगरेजों की सहायता करने के लिए तैयार था। सिराजुद्दौल के बड़े-बड़े मुसाहिब उसके उद्दंड व्यवहार के कारण सदा असन्तुष्ट रहते थे। वाट्स और अमीरचन्द ने इन सब को धन की लालच देकर अपने पक्ष में गाँठ लिया। ये लोग नवाब को उलटी सलाह देने लगे। अंगरेजों ने भी अपनी माँगें बढ़ा दीं; वे अपने न्यायालय खोलने और नवाब के कर्मचारियों को अंगरेजी दस्तकें न मानने के लिए दंड देने का अधिकार चाहते लगे। हरजाने की रकम के लिए भी रोज झगड़ा होने लगा। सन्धि की शर्तों को न मानने और दक्षिण से फ्रांसीसी सहायता माँगने के लिए नवाब, दोषी ठहराया जाने लगा। अन्त में इन सब लोगों ने नवाब को गद्दी से उतारकर उसकी जगह पर मीरजाफर को नवाब बनाना निश्चित किया। मीरजाफर अलीवर्दीखान का बहनोई और नवाब की फौज का बख्शी था।

मीरजाफर के साथ सन्धि—मीरजाफर और अँगरेजों ने एक गुप्त सन्धि की, जिसमें मीरजाफर ने अँगरेजों के सब अधिकारों को मान लिया और फ्रांसीसियों को व्यापार न करने देने का वचन दिया। कलकत्ता के हरजाने में एक करोड़ रुपया देना मंजूर किया और अँगरेजों को कलकत्ता तथा चौबीस परगना की जमीन्दारी देने का वादा किया। इसके बदले में अँगरेजों ने उसकी सहायता और रक्षा करने का भार उठाया।



मीरजाफर के साथ सन्धि

अमीरचन्द को धोखा—अमीरचन्द बड़ा लालची था। इस षड्यंत्र से वह अपना पूरा फायदा उठाना चाहता था। उसने कहा कि यदि मुझे

नवाब के जवाहरात का चौथाई हिस्सा और नकद रुपये पर पाँच प्रति सैकड़ा कमीशन न दिया जायगा तो मैं यह हाल सब से कह दूँगा। अपना कमीशन पक्का करने के लिए वह यह चाहता था कि मीरजाफर और अँगरेजों के बीच जो सन्धि हो, उसमें यह शर्त लिख दी जाय। इस अवसर पर क्लाइव ने उसको खूब छकाया। उसने एक नकली सन्धि-पत्र बनाकर अमीरचन्द को दिखला दिया। वाटसन ने इस पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया, इसलिए उसके हस्ताक्षर बना दिये गये। बाद को जब यह भेद खुला तब अमीरचन्द को बड़ा दुख हुआ। अमीरचन्द ऐसे धूर्त के साथ ऐसा ही व्यवहार उचित था, यह कहने से क्लाइव और उसके साथियों के आचरण पर जालसाजी का जो धब्बा लगता है, वह मिट नहीं सकता। अमीरचन्द ने अँगरेजों को कोई धोखा न दिया था। ता० १० अप्रैल सन् १७५७ को 'सेलेक्ट कमेटी' की जो बैठक हुई थी, उसमें कहा गया था कि हमें इस "उदार और धनी" व्यापारी का कृतज्ञ रहना चाहिए। इस कृतज्ञता का बदला उसको इस प्रकार दिया गया, पर तब भी मरते समय वह बहुत सा धन लन्दन के एक अस्पताल को दे गया।

पलासी का युद्ध—फ्रांसीसियों के सचेत करने पर भी नवाब को इस षड्यन्त्र पर विश्वास नहीं हुआ। एक दिन जब वाट्स उसके दरबार से छिपकर भाग गया, तब उसे इसका पता लगा। परन्तु मीरजाफर ने कुरान की शपथ लेकर स्वामिभक्त रहने का वचन दिया और जैसे-तैसे नवाब को सन्तुष्ट किया। इन दिनों नवाब की ५० हजार सेना का पड़ाव पलासी में पड़ा हुआ था। यह स्थान मुर्शिदाबाद से २३ मील है। तीन हजार सिपाही लेकर क्लाइव यहाँ आ पहुँचा। ता० २३ जून सन् १७५७ को उसने संध्या समय हमला किया। पहले ही धावे में नवाब का वीर सेनानायक मीरमदन मारा गया। मीरजाफर ने युद्ध में कोई भाग न लिया, वह दूर से खड़े हुए यही देखता रहा कि किस पक्ष की विजय होती है। मीरमदन की मृत्यु और मीरजाफर की धोखावाजी देखकर नवाब हताश हो गया। उसी समय रायदुर्लभ ने उसको भागने की सलाह दी। उसके भागते ही सारी सेना तितर-बितर हो गई और अँगरेजों की पूर्ण विजय हुई।

पलासी युद्ध-क्षेत्र से भागकर नवाब मुर्शिदाबाद पहुँचा और अपने खजाने का बहुत सा धन लुटकर सेना को अपने पक्ष में करना चाहा, पर सफल न हुआ। दूसरे ही दिन अँगरेजी सेना के साथ मीरजाफर भी मुर्शिदाबाद पहुँच गया और सिराजुद्दौला को वहाँ से भागना पड़ा। रास्ते में वह पकड़ लिया गया और मीरजाफर के लड़के मीरन ने उसको बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। सिराजुद्दौला के विषय में इतिहासकार मैलेसन लिखता है कि “उसमें चाहे जो कुछ दोष रहे हों, पर उसने देश को बँचा न था। ता० ९ फरवरी से २३ जून तक की घटनाओं पर विचार करनेवाले प्रत्येक निष्पक्ष अँगरेज को यह मानना पड़ेगा कि ईमानदारी में सिराजुद्दौला का पद क्लाइव से कहीं उच्च है। इस दुःखमय नाटक के प्रधान पात्रों में वही एक पात्र था, जिसने धोखा देने का प्रयत्न नहीं किया था।”^१

युद्ध का परिणाम—सैनिक दृष्टि से पलासी का युद्ध कोई युद्ध न था, परन्तु अँगरेजों की दृष्टि में यह युद्ध बड़े महत्त्व का है। इसकी विजय ने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य की नींव डाल दी। नवाब उनके हाथ का खिलौना बन गया और बंगाल सा धनी प्रान्त उनके अधिकार में आ गया। यहाँ की आय से अन्य राजाओं के साथ लड़ने का खर्च चलने लगा और उत्तरी भारत में उनका आतंक जम गया। इस विजय से अँगरेज जाति का ही लाभ नहीं हुआ बल्कि कम्पनी और उसके प्रधान कर्मचारियों को भी बहुत सा धन मिला। क्लाइव को ३० लाख रुपया नकद मिला और कौंसिल के अन्य मेम्बरों को १२ लाख तथा सैनिकों को ४० लाख रुपया दिया गया। इस समय करीब एक करोड़ रुपया नावों में भरकर मुर्शिदाबाद के खजाने से कलकत्ता लाया गया।^२

मीरजाफर की नवाबी—मीरजाफर ने अँगरेजों को इतना रुपया देने का वादा कर दिया था कि सिराजुद्दौला का कुल खजाना खाली हो जाने पर भी वह रकम पूरी नहीं हुई। इसलिये तीन-चार साल तक राज्य की आमदनी से उसने बाकी रुपया देना स्वीकार किया। दूरदर्शी नवाब अलीवर्दी-

१ डिसाइसिव बैटिल्स आफ इंडिया, पृ० ७१।

२ डाडवेल, टूटले ऐंड बलाइव, पृ० १३६।

खाँ ने अच्छी तरह समझ लिया था कि बिना हिन्दुओं के सहयोग के शास करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसने बड़े-बड़े पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त कर रखा था। जगतसेठ ऐसे धनी हिन्दू धन से नवाब की पूरी सहायता करते थे। सिराजुद्दौला भी इसी नीति पर चलता रहा पर अँगरेजों का सहारा मिल जाने से मीरजाफर ने इस नीति को त्याग दिया। वह बिहार के हाकिम रामनारायण और राज्य के दीवान दुर्लभराय से लड़ बैठा। हिन्दुओं के विरोध का फल यह हुआ कि उसको आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई, जिसके कारण वह अँगरेजों के पंजे में बराबर फँसता चला गया।

अलीगौहर की चढ़ाई—बंगाल की दशा देखकर आसपास के सभी राजा और नवाबों को लाभ उठाने की इच्छा होने लगी। इन दिनों मुगल सम्राट् का लड़का अलीगौहर बेकार घूम रहा था। इन सब ने मिलकर उसको खड़ा किया। अवध के नवाब की सहायता से सन् १७५९ में उसने बंगाल पर हमला किया। मीरजाफर बड़ा व्यसनी और आलसी नवाब था। उसको अफीम खाने की भी आदत पड़ गई थी; इस नई आफत को देखकर वह घबरा गया और उसने क्लाइव से, जो सन् १७५८ में बंगाल का गवर्नर बना दिया गया था, रक्षा करने की प्रार्थना की। क्लाइव थोड़ी सी सेना लेकर पटने की ओर बढ़ा। इधर अवध के नवाब ने अवसर पाकर इलाहाबाद पर कब्जा कर लिया और शाहजादा को अकेला ही छोड़ दिया। शाहजादा बंगाल और बिहार का सुबेदार बनकर आया था, परन्तु अब उसे क्लाइव के सामने गिड़गिड़ाना पड़ा। इस समय तक मुगल सम्राट् का नाम बना हुआ था और उसको अपमानित करने का साहस अँगरेजों को न था, इसलिए क्लाइव ने ५०० अशर्कियाँ भेंट करके उसको वापस कर दिया। उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर मीरजाफर ने उसको एक जागीर दे डाली, जिसकी सालाना आमदनी ३०,००० पौंड थी। उसी के कहने पर बंगाल में शोरा के व्यापार का ठेका भी कम्पनी को दे दिया गया।

डच लोगों की पराजय—“क्लाइव का गधा” होने पर भी कुछ काल बाद मीरजाफर को अँगरेजों का भार असह्य होने लगा। उसने चिनसुरा

के डच लोगों से बातचीत शुरू की। उन्होंने बिना सोचे-विचारे जावा से सेना बुला भेजी। फ्रांसीसी नष्ट हो ही चुके थे, यूरोप की शक्ति में केवल यही अँगरेजों का सामना करने के लिए भारतवर्ष में रह गये थे। इंग्लैंड और हालैंड में वैर न था, इसलिए इन लोगों के साथ किसी प्रकार की छेड़-खानी न की जा सकती थी। इस बहाने से इनको भी नष्ट करने का क्लाइव को अच्छा अवसर मिल गया। उसने उनके जहाजों को पकड़ लिया और विदेरा की लड़ाई में उन्हें हरा दिया। इस तरह अँगरेजों के मार्ग से यूरोप का एक और कंठक भी दूर हो गया।

क्लाइव की वापसी—फरवरी सन् १७६० में बहुत सा धन लेकर क्लाइव इंग्लैंड वापस चला गया। चार वर्षों में कम्पनी की स्थिति में उसने आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया, फ्रांसीसी और डच लोगों की शक्ति को नष्ट कर डाला तथा दक्षिण और बङ्गाल के नवाबों को अपने हाथ में कर लिया। इस तरह उसने अँगरेजों को व्यापारी से शासक बना दिया। उसके जाने पर वैनसिटाट बङ्गाल का गवर्नर नियुक्त हुआ।

शासन का श्रमाव—मीरजाफर में शासन की योग्यता न थी, वह नाम मात्र को नवाब था। सारा शासन अँगरेजों के हाथ में था। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन की जिम्मेदारी किसी पर भी न रही और बड़े-बड़े कर्मचारी मनमानी करने लगे। शाहजादा और मराठों के भय से नवाब को बार-बार अँगरेजों से सहायता माँगनी पड़ती थी। इस सहायता के लिए नवाब को अँगरेजी सेना का भार उठाना पड़ता था और कम्पनी के कर्मचारियों को प्रसन्न रखना पड़ता था। इसके लिए उसके पास धन न था, क्योंकि अँगरेज उसकी आमदनी में बराबर हस्तक्षेप करते थे। अँगरेज गुमास्ता हिन्दु-स्तानी व्यापारियों को बिना महसूल व्यापार करने के लिए अँगरेजी दस्तकें दे देते थे, जिससे नवाब की आमदनी में बड़ा घाटा होता था। ढाका के कुछ अँगरेज व्यापारियों ने नमक और सुपाड़ी का कुल व्यापार अपने हाथ में ले रखा था। वे न तो किसी हिन्दुस्तानी को इसमें भाग लेने देते थे और न नवाब को एक पैसा देते थे। महसूल माँगने पर वे नवाब के कर्मचारियों के साथ

बड़ा बुरा बर्ताव करते थे। ऐसी दशा में सरकारी खजाना भरने के लिए प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। कई सालों से सेना का वेतन बाकी पड़ा था, जिसके लिए सिपाही नवाब को बराबर तंग किया करते थे। इस तरह नवाब का खजाना खाली था और उसका कोई शासन न था।

दूसरी ओर कम्पनी की भी ऐसी ही दशा थी। उसके कर्मचारी अपने निजी व्यापार में लगे थे, कम्पनी के लाभ की ओर कुछ भी ध्यान न देते थे, और नवाब से बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठते थे। क्लाइव ऐसे बड़े-बड़े अफसरों ने जब इस तरह बहुत सा धन कमाया था, तब फिर साधारण कर्मचारियों का कहना ही क्या था। वे तो अपने अफसरों का ही अनुकरण कर रहे थे। खूब रुपया मिल जाने से वे इन दिनों बड़ी शान से रहते थे और कम्पनी के हानि या लाभ की कुछ भी पर्वाह न करते थे। कम्पनी को खूब सम्पत्ति मिलने का समाचार पहुँचने पर इंग्लैंड से धन की सहायता आनी बन्द हो गई थी। बम्बई और मदरास से बराबर धन की माँग आ रही थी। इतिहासकार मिल के शब्दों में इन दिनों कलकत्ता का खजाना खाली था। सेना में वेतन न मिलने के कारण बड़ी अशान्ति फैल रही थी। कम्पनी की आय से कलकत्ता का खर्च तक नहीं चलता था।

दूसरा षड्यंत्र—कम्पनी की यह अवस्था देखकर कलकत्ता के अधिकारियों ने दूसरा षड्यंत्र रचना प्रारम्भ किया। मीरजाफर अँगरेजों की लूट-खसोट से परेशान आ गया था। उसका लड़का मीरन जैसे-तैसे काम चला रहा था। सेना उसके काबू में थी। सन् १७६० में उसके एकाएक मरने से सेना में बड़ी अशान्ति फैल गई और नवाब बिल्कुल हताश हो गया। इस अवसर पर उसके दामाद मीरकासिम ने उसकी सहायता की। उसने तीन लाख रुपया अपनी जेब से देकर सिपाहियों को शान्त किया। इससे सेना पर उसका बड़ा रोब जमे गया। अँगरेजों ने अब इसी को नवाब बनाना चाहा। मीरकासिम ने भी बहुत सा धन देने का लालच दिया और सेना का खर्च चलाने के लिए एक लाख रुपया माहवार देने का वादा किया। पहले तो कलकत्ता के गवर्नर ने मीरजाफर को धमकाकर इस बात पर राजी किया कि वह

मीरकासिम को नायब बना दे, पर बाद में थोड़ी सी सेना भेजकर मीरजाफर को गद्दी से उतार दिया और मीरकासिम को नवाब बना दिया। इस तरह बिना लड़े-भिड़े अक्टूबर सन् १७६० में मीरकासिम बंगाल का नवाब बन गया। कौंसिल के कई एक सदस्यों की राय में पहले सहायता का वचन देकर फिर मीरजाफर को गद्दी से उतारना एक ऐसा कलंक का धब्बा था, जो मिट नहीं सकता।

मीरकासिम की नवाबी—मीरकासिम एक योग्य शासक था। उसने शासन में बहुत कुछ सुधार किया। एक लाख रुपया मासिक के बदले में



मीरकासिम

उसने अंगरेजी फौज का खर्चा चलाने के लिए बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले कम्पनी को दे दिये। इन जिलों की आमदनी बहुत अधिक थी। मीरजाफर के समय में कई एक जमीन्दारों ने रुपया देना बन्द कर दिया था। मीरकासिम ने इन सब से रुपया वसूल किया। फौज का बहुत सा वेतन बाकी था, उसको भी चुकाने का उसने प्रयत्न किया। कम्पनी के माल को

छोड़कर बाकी लोगों के माल पर चुंगी वसूल करने के लिए उसने अपने

पौजदारों को कड़ी ताकीद की। वह अपने को बंगाल का मुख्य शासक समझता था और अँगरेजों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था।

अँगरेजों से भगड़ा—मीरकासिम के सुधार अँगरेजों को बहुत खटके, इसलिए वे तरह-तरह की बाधाएँ डालने लगे। पटना के जमीन्दार रामनारायण से जब नवाब ने हिसाब माँगा, तब वहाँ की कोठी के अध्यक्ष कूट ने उसको बहका दिया। मीरकासिम बंगाल की सूबेदारी के लिए मुगल सम्राट की सनद चाहता था परन्तु कूट ने यह भी न होने दिया। पटना में खुले तौर से उसने नवाब का अपमान किया। कूट के बाद पटना में एलिस नियुक्त हुआ। यह बड़े उद्दंड स्वभाव का आदमी था। इसने नवाब को और भी तंग किया। नवाब ने कुछ अँगरेज अपराधियों को मुँगेर में छिपा रखा है, ऐसा कहकर उसने मुँगेर किले की तलाशी लेने का उद्योग किया। अँगरेज अफसरों के घृणित व्यवहार से परेशान होकर मीरकासिम ने कई बार कलकत्ता लिख भेजा कि इससे तो यही अच्छा है कि मेरे हाथ से शासन-भार ले लिया जाय।

दस्तकों का दुरुपयोग—कम्पनी के गुमास्ते दस्तकों का दुरुपयोग बहुत दिनों से कर रहे थे। वे हिन्दुस्तानी व्यापारियों से रुपया लेकर उनको बिना महसूल के व्यापार करने देते थे। इससे नवाब को ३५ लाख रुपया साल का नुकसान होता था। अँगरेज व्यापारी केवल कपड़े का ही काम नहीं करते थे; उन्होंने नमक, सुपारी, तमाखू, चीनी, घी, तेल, चावल, शोरा सभी का काम अपने हाथ में ले रखा था और इन चीजों पर वे एक पैसा भी महसूल देने के लिए तैयार न थे। हिन्दुस्तानियों से इन वस्तुओं को सस्ते दाम पर खरीदकर वे मन्झाने भाव से बेचते थे। इससे जनता को बड़ा कष्ट मिलता था। नवाब तक को शोरा मिलना मुश्किल हो गया था। इसका ठेका अँगरेजों के हाथ में था, इसलिए वे किसी को हस्तक्षेप न करने देते थे। अँगरेज गुमास्तों ने जगह-जगह पर अपनी कचहरियाँ खोल रखी थीं। वहाँ वे लोगों को दंड देते थे और तरह-तरह के नजराने वसूल करते थे। नवाबी पौजदारों को कोई पूछता तक न था।

उस समय की दशा का वर्णन करते हुए सर्जेंट ब्रिगो लिखता है कि “हर एक गुमास्ता जज और उसका घर कचहरी हो रहा है, वह जमीन्दारों तक को दंड देता है। जहाँ वह पहुँच जाता है, जो कुछ माल मिलता है, खरीद लेता है और अपना माल जबरदस्ती बेचता है। किसी के इन्कार करने पर उसको कोड़े लगाये जाते हैं”।^१ नवाब ने कलकत्ता के हाकिमों से इस विषय में बहुत कुछ लिखा-पढ़ी की, पर उसका कोई फल नहीं हुआ। इन दिनों कलकत्ता की कौंसिल में बड़ा झगड़ा चल रहा था। गवर्नर वैनसिटार्ट और हेस्टिंग्स ने नवाब से समझौता करने का प्रयत्न किया, पर कौंसिल ने उनकी राय न मानी। तब नवाब ने खिजलकर सब माल पर चुंगी लेना एकदम बन्द कर दिया। इस आज्ञा से हिन्दुस्तानी और अँगरेज व्यापारियों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। अँगरेज इससे बहुत चिढ़ गये और उन्होंने मीरकासिम को भी पदच्युत करना निश्चित कर लिया। इस पर नवाब भी युद्ध की तैयारी करने लगा।

अँगरेजों से युद्ध—पटना कोठी के हाकिम मिस्टर एलिस ने पटना नगर जीतना चाहा, पर नवाब की सेना ने उसको कैद कर लिया। इस पर कलकत्ता की कौंसिल ने सन् १७६३ में मीरजाफर को फिर से नवाब बना दिया। मीरकासिम बड़ी वीरता से लड़ा, पर धनाभाव के कारण वह अधिक दिनों तक सामना न कर सका। घेरिया और उदवा-नाल की लड़ाइयों में उसकी हार हुई। वहाँ से भागकर वह पटना आया और खिजलकर उसने अँगरेज कैदियों को मार डालने की आज्ञा दे दी। इस घृणित कार्य को समरू नाम के एक यूरोपियन ने किया। अँगरेज सेना के आने का समाचार मिलने पर मीरकासिम पटना से अवध की तरफ भाग गया। वैनसिटार्ट लिखता है कि यदि हम लोग नवाब के अधिकारों में हस्तक्षेप न करते तो वह कभी झगड़ा न करता, यह मेरा विश्वास है। हम लोगों के अधिकारों का वह बराबर ध्यान रखता था। युद्ध छिड़ जाने पर भी कम्पनी के व्यापार में कोई बाधा नहीं पड़ी। इसके प्रतिकूल हममें से कुछ लोगों का व्यवहार

था, जिन्होंने जिस दिन से वह नवाब हुआ, जरा-जरा सी बात में उसके शासन को रौंदने तथा उसके अफसरों को अपमानित करने और धमकाने में कोई कसर उठा न रखी।^१

मीरजाफर की दूसरी नवाबी—मीरजाफर को दूसरी बार मसनद पर बिठलाने के समय अँगरेजों ने उसके साथ एक नई सन्धि की। इसके अनुसार मीरकासिम की बिना चुंगी के व्यापार की आशा रद्द कर दी गई। यह अधिकार केवल अँगरेजों के ही हाथ में रह गया। केवल नमक पर द्वाई सैकड़ा चुंगी देना अँगरेजों ने स्वीकार किया। कम्पनी का सिक्का जायज मान लिया गया और महाजनों को उस पर बट्टा लेने से मना कर दिया गया। नवाब की सेना घटा दी गई। उसको केवल



बंगाल के बन्दूकची

१२ हजार सवार और १२ हजार पैदल रखने की आज्ञा मिली। उसके दरबार में एक अँगरेज रेजीडेंट भी नियुक्त कर दिया गया। नवाब

ने कम्पनी को ३० लाख रुपया हरजाना देने का वादा किया और कम्पनी के अफसरों का जो कुछ नुकसान हुआ था, उसको भी पूरा करने का वचन दिया। थोड़े दिन बाद अँगरेजी सेना के खर्च के लिए नवाब ने ५ लाख रुपया माहवार देना भी स्वीकार कर लिया।

आर्थिक दुर्दशा—दस्तकों के दुरुपयोग से व्यापार को जो हानि पहुँच रही थी, उसका उल्लेख किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त देश की कलाओं को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था। बोल्ट्स लिखता है कि जुलाहों को दादनी देकर मुचलका लिखवा लिया जाता था, इसके अनुसार उसे कुल माल कम्पनी को देना पड़ता था। मुचलके पर जबरदस्ती हस्ताक्षर करवा लिये जाते थे और दादनी का रुपया कोड़े लगा-लगाकर जुलाहों के मत्थे मढ़ दिया जाता था। वे गुमास्तों के गुलाम बन जाते थे और किसी दूसरे के हाथ अपना माल बेच न सकते थे। उन पर बराबर पहरा रहता था, जिसका खर्च भी उन्हीं को देना पड़ता था और थान पूरा होते ही कंधे से उतार लिया जाता था।^१ इस माल का दाम कम्पनी मनमाना देती थी। सन् १७८६ के एक पत्र में संचालकों ने भी इसको माना है। वे लिखते हैं कि जुलाहे कम्पनी के अधीन काम करना पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनको पूरा दाम नहीं मिलता है। अन्य विदेशी हमसे २० से ३० सैकड़ा अधिक दाम देते हैं। इसका फल यह हुआ कि बहुत से जुलाहों ने अपना काम छोड़ दिया।

खेती की भी यही दशा थी। बोल्ट्स का कहना है कि रैयत खेती के साथ-साथ कताई-बुनाई का भी काम करती थी, पर गुमास्तों के अत्याचार के कारण खेती में भी बाधा पड़ने लगी। किसानों को लगान तक देना मुश्किल हो गया, जिसके लिए उन्हें मालविभाग के अफसर तंग करने लगे। इनका अत्याचार कभी-कभी इतना बढ़ जाता था कि बेचारे किसानों को अपने बच्चे बेचकर लगान चुकाना पड़ता था या देश छोड़कर भाग जाना पड़ता था। व्यापार और खेती की यह दशा होने के कारण जनता की आर्थिक

दशा बड़ी शोचनीय हो गई। इसके अतिरिक्त बहुत सा धन इंग्लैंड चला गया, नवाबी शासन के पतन से बहुतों की रोजी मारी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में बेकारी बहुत बढ़ गई और लूट-मार होने लगी।

बक्सर की लड़ाई—मीरकासिम भागकर अवध पहुँचा। वहाँ के नवाब शुजाउद्दौला ने उसका बहुत आदर किया। इन दोनों ने एक बड़ी सेना एकत्र की और मुगल सम्राट् शाहआलम को साथ लेकर, सितम्बर सन् १७६४ में, बिहार तथा बंगाल पर धावा कर दिया। मुगल सम्राट् वही शाहजादा था, जो पहले बिहार पर हमला कर चुका था। इन लोगों की सेना ४० से ६० हजार तक कही जाती है। मीरकासिम ने इस सेना को अच्छी शिक्षा दी थी। ता० २३ अक्टूबर सन् १७६४ को बक्सर में अँगरेजों से लड़ाई हुई। उनकी सेना में ७०७२ सिक्खी—थे, जिसमें ८५७ गोरे और २० तोपें थीं। मेजर मनरो इस सेना का सेनापति था। सवेरे ९ बजे से तीसरे पहर तक घोर युद्ध हुआ। नवाब की सेना बड़ी वीरता से लड़ी, पर सम्राट् की सेना ने पूरा साथ नहीं दिया और शुजाउद्दौला से भी कुछ भूलें हुईं, इसलिए अन्त में अँगरेजों की ही विजय हुई। शुजाउद्दौला तथा मीरकासिम मैदान से भाग निकले और शाहआलम अँगरेजों की शरण में आ गया। अँगरेजों ने शुजाउद्दौला का पीछा किया और चुनार तथा इलाहाबाद के किले छीन लिये। बक्सर की विजय ने पलासी का काम पूरा कर दिया।

मीरजाफर की मृत्यु—सन् १७६५ में वृद्ध नवाब मीरजाफर मर गया और उसका लड़का नजमुद्दौला गद्दी पर बैठा। इसके साथ अँगरेजों ने फिर एक नई सन्धि की। इसके अनुसार नवाब को अपनी सेना और भी घटानी पड़ी और अँगरेजी सेना को बराबर ५ लाख रुपया माहवार देना मंजूर करना पड़ा। मुहम्मदरिजा खाँ नायब बनाया गया और नवाब के बड़े-बड़े अफसरों को नियुक्त करने या निकालने का अधिकार अँगरेजों को दिया गया। नवाबी मालगुजारी वसूल करने के लिए मुतसदियों का रखना और निका-लना भी अँगरेजों के ही हाथ में रखा गया। व्यापार के विषय में मीरजाफर

के साथ सन् १७६३ में जो सन्धि हुई थी, उसकी सब शर्तें मान ली गईं। अँगरेजों के द्वारा मुगल सम्राट् से सूबेदारी की सनद प्राप्त करने का वचन भी नवाब को देना पड़ा। इस तरह नवाब की शक्ति जकड़ दी गई और फिर से स्वाधीन होने की चेष्टा करने का कोई अवसर नहीं रखा गया।

शासन के कठिन भार से मुक्त होकर विषयी नजमुद्दौला बड़ा प्रसन्न हुआ, पर साथ ही साथ बंगाल में नवाबी शासन का अन्त हो गया। थोड़े दिन बाद अँगरेजों के अनुरोध से राजा नन्दकुमार दीवानी के पद से हटा दिया गया। सिराजुद्दौला के समय में यह हुगली का फौजदार था, मीरजाफर ने इसको अपना दीवान बनाया था। यह राज्य की आमदनी का भेद अँगरेजों को कभी न देता था और शुजाउद्दौला तथा शाहआलम की सहायता से नवाब को स्वाधीन बनाना चाहता था।^१ इसी से अँगरेज चिढ़ते थे, परन्तु उनके बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी मीरजाफर ने उसको नहीं निकाला था। इस नयी सन्धि के अनुसार नजमुद्दौला को वही करना पड़ा। इस तरह नवाब का एक योग्य सेवक भी हाथ से जाता रहा और उसके नायब, दीवान, मुतसद्दी, सभी अँगरेजों के आदमी हो गये।

क्लाइव की दूसरी गवर्नरी—बक्सर की लड़ाई के बाद की राज-नैतिक स्थिति का वर्णन किया जा चुका है। शाहआलम और शुजाउद्दौला के साथ इस समय तक कोई समझौता नहीं हुआ था। उनके साथ सन्धि हो जाने पर बंगाल के नवाब की क्या स्थिति होगी, यह प्रश्न भी हल करना था। इधर कम्पनी की भीतरी दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध उसके कर्मचारी बंगाल की राजनीति में भाग लेते थे और अपना निजी व्यापार करते थे। नवाबों से उनको बड़ा धन मिलता था और वे कम्पनी के हानि-लाभ की कभी चिन्ता न करते थे। सेना में भी अशान्ति थी, सिपाहियों को भी रुपये का लालच लगा हुआ था। यह दशा सुधारने के लिए सन् १७६५ में क्लाइव फिर से गवर्नर बनाकर भेजा गया। इस बार उसको

प्रधान सेनापति का पद भी दिया गया और शासन के दोषों को दूर करने के लिए बहुत से अधिकार दिये गये।

क्लाइव के सुधार—भारतवर्ष पहुँचकर क्लाइव ने पहले कम्पनी के कर्मचारियों को ठीक करने की ओर ध्यान दिया। संचालकों ने उसके आने के बहुत पहले नवाबों से इनाम न लेने और निजी व्यापार न करने के लिए लिख भेजा था, परन्तु कलकत्ता की कौंसिल ने उस पर कुछ भी ध्यान न दिया था। संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध कौंसिल तक के मेम्बर नवाबों से खूब धन लेते थे। कम्पनी के प्रायः सभी कर्मचारी घूस खाते थे। इस दशा का वर्णन करते हुए स्वयं क्लाइव, ता० ३० सितम्बर सन् १७६५ के पत्र में, संचालकों को लिखता है कि भारतवर्ष पहुँचने पर मैंने देखा कि शासन का कहीं नाम तक नहीं रह गया है। खूब धन मिलने से अफसर लोग बड़ी शान से रहते हैं और उनके मातहत भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। सेना-विभाग को भी इसका चस्का लग गया है और व्यवस्था का बन्धन ढीला हो रहा है। घूसखोरी और आरामतलबी अधिक बढ़ जाने से कोई राज्य कायम नहीं रह सकता है। कम्पनी के गुमास्ता रैयत पर अत्याचार करते हैं। मुझे भय है कि इस देश में अंगरेजों के नाम पर यह ऐसा धब्बा लग रहा है जो कभी न छूटेगा। महत्त्वाकांक्षा, सफलता और आराम-तलबी से एक नई शासन-व्यवस्था उत्पन्न हो गई है, जिससे अंगरेजों की प्रतिष्ठा घट रही है तथा कम्पनी में विश्वास उठ रहा है। यह साधारण न्याय तथा मानवता के भी विरुद्ध है।

यह दशा सुधारने के लिए उसने कर्मचारियों से एक नया प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाया, जिसमें उन्होंने भेंट या नजराना न लेने का वचन दिया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह प्रथा बन्द हो गई। नये प्रतिज्ञा-पत्र का आशय केवल इतना ही था कि चार हजार से कम की रकम के लिए कौंसिल की अनुमति लेनी पड़ेगी और अधिक होने से उस रकम को कम्पनी को दे देना पड़ेगा। इसका फल यह हुआ कि कर्मचारियों के नजराना लेने से कम्पनी की जो हानि होती थी, वह बन्द हो गई। इस पर इतिहासकार मिल्

ने ठीक लिखा है कि नजराने की रकम अब ब्रजाय कर्मचारियों के कम्पनी की जेब में जाने लगी। इस सुधार में क्लाइव को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्त में उसने सबको दबा लिया।

कर्मचारियों के निजी व्यापार को वह बन्द न कर सका, इसका मुख्य कारण यह था कि उन दिनों इसके बन्द करने की उपयोगिता में उसको स्वयं विश्वास न था। उसका कहना था कि कर्मचारियों को अच्छा वेतन नहीं मिलता है, उनका नजराना लेना भी बन्द करा दिया गया है, ऐसी दशा में बिना निजी व्यापार के उनका खर्चा पूरा नहीं पड़ता है। इसलिए उसने बड़े बड़े अफसरों की एक सोसायटी को नमक, सुपारी, अफीम और तमाखू के व्यापार का ठेका दे दिया। इसके लाभ का कुछ हिस्सा कम्पनी को मिलता था और बाकी हिस्सेदारों में बँट जाता था। कम्पनी के संचालक इसके विरुद्ध थे, पर तब भी उसने इसका प्रबन्ध कर दिया।

इन दिनों कलकत्ता की कौंसिल में बड़ा गोलमाल था। कम्पनी का सारा प्रबन्ध और शासन इस कौंसिल के हाथ में था। कौंसिल के सदस्य प्रायः बड़ी बड़ी कोठियों के अध्यक्ष होते थे। जब उनके प्रबन्ध की आलोचना कौंसिल में होती थी, तब वे निष्पक्ष भाव से विचार नहीं करते थे। क्लाइव को यह भी पता लगा था कि कई एक सदस्यों ने नवाब नजमुद्दौला और नायब मुहम्मदरिजा खाँ से बड़ी बड़ी रकमें ली हैं। इस कौंसिल में जब जगहें खाली हुईं तब क्लाइव ने मदरास से चार आदमियों को बुलाकर मेम्बर बनाया। वह मदरास के कर्मचारियों को अधिक ईमानदार समझता था। कौंसिल को न्याय में निष्पक्ष रखने के लिए उसने यह भी नियम बना दिया कि कौंसिल के मेम्बरों को कोई और पद न दिया जाय।

क्लाइव ने सेना के संगठन में भी बहुत कुछ सुधार किया। मेजर कार्नक को उसने सेनापति बनाया और पैदल सेना के तीन बड़े बड़े दल कर दिये। इनका भार योग्य अफसरों को दिया गया। इन दिनों सेना का खर्च खूब बढ़ा हुआ था। कम्पनी की कुल आमदनी इसी में खर्च हो जाती थी। अफसरों को वेतन के अतिरिक्त भत्ता मिलता था। मीरजाफर ने इस भत्ते की रकम

को दुगुना दिया था। जब तक नवाबों से यह रकम मिलती रही, तब तक तो कोई बात न थी, पर लड़ाई बन्द हो जाने से यह रुपया इस समय कम्पनी को देना पड़ता था। दुगुने भत्ते का नियम बंगाल ही में था, मदरास में इतना भत्ता न मिलता था, इसलिए वहाँ के अफसर बहुत असन्तुष्ट थे। कम्पनी का खर्च कम करने और मदरास के अफसरों को शान्त करने के लिए क्लाइव ने 'डबल भत्ते' का नियम उठा दिया। इसके विरुद्ध अफसरों ने बड़ा आन्दोलन मचाया पर उसने सबको शान्त कर दिया।

राजनैतिक प्रबन्ध—क्लाइव के आने के पूर्व बक्सर का युद्ध हो चुका था, परन्तु इस समय तक कोई सन्धि नहीं हुई थी। बक्सर से भागकर शुजाउद्दौला ने मराठों और रहेलों को मिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें उसको सफलता न हुई। इधर अँगरेजों ने उसके कई अफसरों को फोड़ लिया।^१ इसलिए शुजाउद्दौला इस समय सन्धि के लिए तैयार था। शाहआलम की कोई गिनती ही न थी। बक्सर की विजय पर अँगरेजों को उसने सबसे पहले बधाई दी थी। मीरकासिम भागा हुआ था।

इलाहाबाद की सन्धि—अगस्त सन् १७६५ में इलाहाबाद की सन्धि हुई। शुजाउद्दौला से कड़ा और इलाहाबाद के जिले लेकर शाहआलम को दिये गये। अँगरेजों के प्रार्थना करने पर उसने कम्पनी को बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की 'दीवानी' अर्थात् कर वसूल करने का अधिकार दे दिया। उसे "अपनी इच्छा के विरुद्ध" ऐसा करना पड़ा।^२ अँगरेजों ने सूबा की आमदनी से २६ लाख रुपया सालाना सम्राट् को देना स्वीकार किया और उसकी रक्षा का भार अपने हाथ में लिया। शुजाउद्दौला ने अँगरेजों को ५० लाख रुपया हरजाना देना स्वीकार किया और अवध में बिना महसूल के व्यापार करने की अनुमति दे दी। अँगरेज अवध में भी अपनी कोठियाँ खोलना चाहते थे, परन्तु बङ्गाल की दशा देखकर शुजाउद्दौला ने इस शर्त को मंजूर

१ कलेंडर ऑफ परशियन कार्स्पोंडेंस, जि० १, पृ० ३८५।

२ सियर-उल-मुताखरीन, जि० ३, पृ० ९।

नहीं किया। गुजाउदौल और अँगरेजों ने एक दूसरे की रक्षा करने का भी वादा किया। बङ्गाल के नवाब नजमुद्दौल से कर वसूल करने के सब अधिकार ले लिये गये और उसके बदले में ५३ लाख रुपया सालाना उसको



दीवानी-प्रदान

दिया जाने लगा। उसके मरने पर यह रकम घटाकर ४१ लाख कर दी गई। इस तरह प्रबन्ध करके सन् १७६७ में क्लाइव इंग्लैंड वापस चला गया।

क्लाइव की नीति—क्लाइव बड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह देश और कम्पनी की स्थिति को खूब समझता था। बक्सर के युद्ध के बाद यदि वह चाहता तो अवध पर अधिकार करके दिल्ली तक बेधड़क धावा लगा सकता था, परन्तु ऐसा करना उसने उचित नहीं समझा। बङ्गाल और बिहार में अँगरेजों की शक्ति इस समय दृढ़ नहीं हो पाई थी। ऐसी दशा में आगे कदम बढ़ाना कम्पनी के लिए उसकी राय में “पागलपन” था। इसी लिए बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा में अँगरेजी शक्ति दृढ़ करना ही उसने अपना

उद्देश्य रखा। इसी उद्देश्य से उसने गुजाउदौला के साथ सन्धि की। मराठे उस समय दिल्ली तक पहुँच चुके थे और पूर्व की तरफ बराबर बढ़ रहे थे। इधर रहेले जोर पकड़ रहे थे। गुजाउदौला इन दोनों को मिलाकर अँगरेजों की शक्ति नष्ट करना चाहता था। ऐसी दशा में गुजाउदौला से भिन्नता कर लेने ही में क्लाइव ने अँगरेजों का हित देखा। अब कोई शक्ति उत्तर-पश्चिम की ओर से बिना गुजाउदौला से लड़े हुए बंगाल पर आक्रमण न कर सकती थी। इस तरह बंगाल की पश्चिमी सीमा को उसने दृढ़ बना दिया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अँगरेजों ने अवध के सम्बन्ध में इसी नीति से काम लिया। अवध उस समय बंगाल की बड़ी भारी आड़ था, उसको तोड़ना बुद्धिमानी न थी।

शाहआलम से दीवानी लेने में भी एक बड़ा भारी रहस्य था। सम्राट को २६ लाख रुपया सालाना देना क्लाइव ने योही स्वीकार नहीं कर लिया था। वह अँगरेजों की शरण में था और नवाब वजीर ने उसका साथ छोड़ दिया था। क्लाइव यह अच्छी तरह जानता था कि मुगल सम्राट का नाम बना हुआ है। स्वतंत्र होते हुए भी देशी शासक उसी के साम्राज्य के पदाधिकारी होने में अपना मान समझते हैं। ऐसी दशा में बिना कोई बड़ा पद पाये अँगरेजों का सम्मान नहीं हो सकता, साधारण जनता में वे व्यापारी ही कहलायेंगे। इसके अतिरिक्त बंगाल में फ्रांसीसी और डच लोगों का एकदम नाश नहीं हो गया था। उनकी सरकारों का देश की वास्तविक स्थिति का पता न था, वे इस समय भी मुगल सम्राट को भारतवर्ष का सच्चा शासक मानती थीं। ऐसी दशा में बिना मुगल सम्राट की आज्ञा के बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता था। विदेशी सरकारों की दृष्टि में अपने कार्यों को नियमानुसार सिद्ध करने के लिए शाही फरमान की बड़ी आवश्यकता थी।^१

बंगाल के नवाब के साथ भी इसी नीति का अवलम्बन करके दोहरे शासन की प्रथा चलाई गई। यदि अँगरेज चाहते तो बंगाल के नवाब स्वयं

चन सकते थे, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से खुले तौर पर शासन करना ठीक नहीं था। दूसरे कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, वह कोई राज्य न थी। भारत की जनता का भी ध्यान रखना था। नवाबों के अत्याचार से पीड़ित होते हुए भी वह किसी प्रकार के राज-परिवर्तन के लिए तैयार न थी। शताब्दियों से चले आये हुए नवाबी शासन को वह एकदम नष्ट होते हुए न देखना चाहती थी। कम्पनी के राज्याधिकार को स्वयं इंग्लैंड की पार्लियामेंट भी इस समय न मानती। इसलिए पर्दे की ओट में शिकार खेलने के लिए दोहरे शासन की योजना की गई।

क्लाइव ने स्वयं इसको स्पष्ट शब्दों में माना है। प्रकट रूप से शासन-भार लेने में जो कठिनाइयाँ होती, उनका उल्लेख करते हुए वह ता० ३० सितम्बर सन् १७६५ के पत्र में लिखता है कि इससे कम्पनी का खर्च बहुत बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त यदि कम्पनी के कर्मचारी कर वसूल करने लगे, तो विदेशी राष्ट्र तुरन्त ही बुरा मानने लगे और ब्रिटिश सरकार से शिकायत करेंगे, जिसका परिणाम कम्पनी को बड़े चक्कर में डालेगा। यह कभी सम्भव नहीं कि फ्रांसीसी, डच और डेन लोग अँगरेजी कम्पनी को बंगाल का नवाब मान लेंगे और उसके हाथ में व्यापार का महसूल और उन जिलों की मालगुजारी, जिनको उन्होंने शाही फरमान, या भूतपूर्व नवाबों द्वारा पाया है, देने लगे। ऐसी दशा में जिस नीति से काम निकाला जाता था, उसका वर्णन क्लाइव तथा उसके साथियों ने ता० २४ जनवरी सन् १७६७ के एक पत्र में इस प्रकार किया है—“अपनी वर्तमान अवस्था में हम लोग, नवाब के नाम की छाया के नीचे छिपे हुए एक पेंच की तरह हैं, जो असली संगठन में बिना किसी प्रकार की बाधा डाले हुए, शासन के बृहत् यंत्र को चुपचाप चला रहा है। इससे नवाब के अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता पर साथ ही साथ उसकी शक्ति घट जाती और हमारी शक्ति बढ़ जाती है। शासन तथा न्याय, अफसरों का रखना या निकालना और ऐसे ही राजसत्ता के अन्य अधिकार, जो प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक हैं और जिनके कारण हमारे बीच बड़ी रुकावटें पड़ती हैं,

तथा अन्य यूरोपियनों को जलन होती है, अब भी सदा की भाँति नवाब के हाथ में हैं।”^१

अपनी नीति में डूबे की भूलों को सुधारते हुए उसने उसका बहुत कुछ अनुकरण किया। उसके दोहरे शासन को आगे चलाना असम्भव हो गया, परन्तु इस समय इसके अतिरिक्त और कोई उपाय न था। भारतवर्ष में वह यूरोपियनों से बड़ा घबराता था और उनके नष्ट करने का बराबर प्रयत्न किया करता था।

उसका चरित्र—अमीरचन्द को धोखा देने और मीरजाफर से बड़ी बड़ी रकमें लेने का उसके चरित्र पर बड़ा भारी कलंक लगाया जाता है। इतिहासकार सिथ की राय में जाली सन्धि का समर्थन “धार्मिक या राजनैतिक” दोनों में से किसी दृष्टि से नहीं किया जा सकता है। नजराना और जागीरें लेना उन दिनों साधारण बात थी। फ्रांसिसियों ने भी ऐसा ही किया था, अँगरेज कम्पनी के और कर्मचारी भी यही करते थे। यदि क्लाइव के साथ कोई भेद था, तो इतना ही कि वह स्वार्थ के वश होकर कम्पनी के हित को त्रिकुल न भूल जाता था। जब इंग्लैंड वापस जाने पर उस पर अभियोग चलाया गया, तब पार्लामेंट की कामन्स सभा ने यही कहकर उसको छोड़ दिया कि “नजराना लेने के साथ ही साथ लार्ड राबर्ट क्लाइव ने देश की बड़ी भारी और योग्य सेवा की।”

कम्पनी के संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध उसने कर्मचारियों को निजी व्यापार जारी रखने दिया, इसकी इतिहासकार मिल ने बड़ी निन्दा की है। वह उसकी बनाई हुई “सोसायटी” के कार्यों को “लजाजनक” बतलाता है। उसके इस मत का इतिहासकार सिथ भी समर्थन करता है। वह लिखता है कि किसी निष्पक्ष इतिहासकार के लिए यह कहना असम्भव है कि क्लाइव एशियाई लोगों के साथ उन्हीं के छल-कपट की चालों को न चलता था, धन का उसको लालच न था, और बिना किसी सोच-विचार के उसकी प्राप्ति के लिए वह चेष्टा न करता था। इस निर्णय से उसकी स्मृति पर निश्चय धब्बा

^१ सिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ५०७।

लगता है।^१ अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे साधनों के उचित या अनुचित होने का कुछ भी ध्यान न रहता था।

किस स्थिति में क्या करना चाहिए, यह तुरन्त ही उसकी समझ में आ जाता था। बिना किसी सैनिक शिक्षा के वह एक अनुभवी सैनिक की तरह काम करता था। विपत्ति के समय में वह कभी विचलित न होता था। कर्नाटक के नवाब ने उसको 'साबितजंग' की उपाधि दी थी, इसी नाम से वह देश भर में प्रसिद्ध था। भारत में रहते-रहते नवाबी ढंग से रहने का उसे अभ्यास पड़ गया था। बुढ़ापे में वह बड़ा उदास रहा करता था और अफीम भी खाने लग गया था। सन् १७७४ में उसने आत्महत्या कर ली। बड़े कठिन समय में फ्रांसीसियों से उसने अँगरेजों की रक्षा की और बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली।

परिच्छेद ४

देश की दशा

पानीपत का प्रभाव—पहले तीन पेशवाओं के समय में मराठों की उन्नति देखकर जान पड़ता था कि किसी दिन सारे भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जायगा, परन्तु सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में यह आशा सदा के लिए विलीन हो गई। मुगल साम्राज्य का पतन हो ही चुका था, मराठों की हार के साथ-साथ अँगरेजों का मार्ग साफ हो गया। बंगाल में क्लाइव ने जिस साम्राज्य-वृक्ष का आरोपण किया था, उसको मराठे कभी न पनपने देते, परन्तु अँगरेजों के सौभाग्य से कुछ काल के लिए मराठों की तीव्र गति रुक गई और इस अवसर में उस वृक्ष की जड़ें बंगाल की उपजाऊ भूमि में अच्छी तरह घँस गईं। इसी लिए कुछ इतिहासकारों का मत है कि ब्रिटिश भारत के इतिहास में पलासी के युद्ध की अपेक्षा पानीपत का युद्ध अधिक महत्व का है। इस युद्ध ने उत्तरी भारत में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि जिससे अँगरेजों को उत्तर-पश्चिम की ओर से कोई भय न रह गया।

सम्राट् शाहआलम—इलाहाबाद की सन्धि^१ के बाद से सम्राट् शाह-आलम अँगरेजों के हाथ में आ गया था। इलाहाबाद में उसका हर-तरह से अपमान किया जाता था। मेजर स्मिथ शाही महल में डट गया था और उसने नौबत का बजना तक बन्द कर दिया था।^१ अँगरेजों को जब उससे कोई काम

लेना होता था तब वे उसको रुपया भेजना बन्द कर देते थे। अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेजों के दबाव डालने पर उसे शुजाउद्दौला से भी मेल करना पड़ा था। इस तरह अपने को विवश देखकर वह इलाहाबाद से भागने का प्रयत्न करने लगा। इधर मराठों ने दिल्ली पर फिर अधिकार कर लिया और शाहआलम को बुला भेजा। सन् १७७२ में वह अँगरेजों के हाथ से निकल भागा और मराठों की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर जा बैठा। माहादजी सिन्धिया उसकी ओर से शासन करने लगा। शाहआलम ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले भी मराठों को दे दिये पर अँगरेजों ने किल्ला खाली नहीं किया।

अवध के नवाब वजीर—सन् १७३२ में सद्दतअली खाँ अवध



शुजाउद्दौला

का सूबेदार नियुक्त हुआ था। सन् १७३९ में उसका भानजा सफ़दरजंग नवाब हुआ। सन् १७५४ में उसके मरने पर शुजाउद्दौला गद्दी पर बैठा। इसकी सहायता से सन् १७६१ में अहमदशाह अब्दाली की पानीपत में विजय हुई। उसने शुजाउद्दौला को सम्राट् का वजीर बना दिया। नवाब शुजाउद्दौला ने अपनी सेना को पाश्चात्य रण-प्रणाली सिखलाने का प्रयत्न किया और तोपें बनाने के लिए कई इंजीनियर रखे। उसने अँगरेजों को बंगाल से निकालने का

कई बार प्रयत्न किया। बक्सर की हार के बाद उसने अँगरेजों से मित्रता

कर लेने ही में अपना हित समझा और तब से बराबर उनका साथ देता रहा। अँगरेजों की नीति को वह खूब समझता था, इसीलिए उनके बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी उसने उनको अवध में कोठियाँ खोलने की अनुमति नहीं दी। इलाहाबाद की सन्धि से उसको अवध तो वापस मिल गया, पर वह बिल्कुल तबाह हो गया। कहा जाता है कि इस समय पर उसने अपनी बेगम की नथनी तक बँचकर अँगरेजों को रुपया दिया था।^१

रहेलों का राज्य—रहेलखंड में, जो पहले 'कठेर' कहलाता था, बहुत से अफगानी बस्ते थे। ये बड़े वीर और लड़ाकू थे। औरंगजेब के मरने पर अलीमुहम्मद नाम के एक सरदार ने यहाँ अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। कुछ लोगों का कहना है कि पहले वह एक जाट हिन्दू था। उसने अपनी सेना का अच्छा संगठन किया और अपनी उदारता से प्रान्त के सब सरदारों को मिला लिया। आँवला में इसकी राजधानी थी। सन् १७४९ में यहीं उसकी मृत्यु हुई। मरने के पूर्व वह अपना राज्य अपने लड़कों को बाँट गया और हाफिज रहमतखाँ को उनका संरक्षक तथा झुंडीखाँ को सेनाध्यक्ष बना गया।

हाफिज रहमतखाँ ने शासन में कई एक सुधार किये। व्यापार की उन्नति के लिए उसने सब प्रकार के महसूल उठा दिये। सरदारों ने इसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि इससे उनकी आय को बड़ी हानि पहुँची, परन्तु उसने प्रजाहित की दृष्टि से इस विरोध की कुछ भी पर्वाह नहीं की। इस स्वतंत्र व्यापार से रहेलखंड को बड़ा लाभ हुआ। उसके शासन-काल में हिन्दू प्रजा की भी रक्षा होती थी और उसके साथ कोई अत्याचार न होने पाता था।^२ हाफिज रहमतखाँ पीलीभीत में रहता था। वह बड़ा विद्वान् था। उसके पास पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था, जो उसके मरने पर लखनऊ चला गया। रहेलखंड की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों का जोर रहता था और पूर्व की ओर अवध का राज्य था। इन दोनों की अति को

१ सियर-उल-मुताखरीन, जि० २, पृ० ५८५।

२ स्टैची, हेस्टिंग ऐण्ड दि रहेला वार, पृ० ३०-३१।

रोकने के लिए रहेले कभी मराठों से मित्रता करते थे और कभी नवाब वजीर से ।

सिखों का संगठन—इधर पंजाब में सिखों का जोर बढ़ रहा था । अपने बल का ज्ञान होने पर धीरे-धीरे इनमें भी जमीन के मालिक बनने की इच्छा हो रही थी । इनके कई एक दल बन गये थे, जो 'मिसल' कहलाते थे । इनमें १२ मिसलें मुख्य थीं । जो सरदार जिस मिसल को स्थापित करता, वह मिसल उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाती थी । एक मिसल को स्थापित करनेवाला सरदार भाँग बहुत पीता था, इसलिए उसकी मिसल 'भंगी' कहलाती थी । इन मिसलों को जहाँ जो जमीन मिल गई, उसी पर उन्होंने अधिकार कर लिया । इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही काल में पंजाब मुगल बादशाहों के हाथ से जाता रहा । सरदार जससिंह ने लाहौर जीत लिया और वह अपना सिक्का चलाने लगा । अहमदशाह दुर्रानी कई बार आक्रमण करके भी सिखों को दबा न सका, उन्होंने सरहिन्द छीन लिया और मुसलमानी अत्याचार का भरपूर बदला लिया । अन्त में दुर्रानी ने पटियाला के एक सरदार को सरहिन्द का हाकिम बना दिया ।

इन भिन्न-भिन्न मिसलों को एकता में बाँधनेवाले दो बन्धन थे, एक तो सिख धर्म की रक्षा और दूसरे खालसा की उन्नति । इन दो के सिवा मिसलों में और कोई परस्पर का सम्बन्ध न था । कोई बाहरी शत्रु न होने पर ये दल आपस ही में लड़ा करते थे । इन मिसलों के अतिरिक्त अमृतसर में 'अकालियों' का दल था, जिसके हाथ में गुरुद्वारों का प्रबन्ध था । ये अकाली हर समय लड़ने-मरने के लिए तैयार रहते थे । खालसा की नीति निर्धारित करने के लिए एक सभा रहती थी, जो 'गुरुमाता' कहलाती थी । अकालियों के आमंत्रित करने पर अमृतसर में प्रतिवर्ष दो बार इसकी बैठक होती थी । सर जान मालकम लिखता है कि इस अवसर पर सिख सरदारों को परस्पर के वैर को भूलकर एकता की शपथ लेनी पड़ती थी । वे किसी एक योग्य सरदार को अपना नेता मान लेते थे और उसी की अध्यक्षता में बाहरी शक्ति का सामना करते थे । पर भय की आशंका दूर

हो जाने पर फिर सब मिसलें अलग-अलग हो जातीं और आपस में ही लड़ने लगती थीं। सिख साम्राज्य स्थापित करने के लिए इन मिसलों का एक होना बड़ा आवश्यक था।

जाट और राजपूत—आगरा और जयपुर के मध्य का भाग जाटों

के हाथ में था।

सूरजमल इनका राजा था, जो भरतपुर में रहता था।

पानीपत के युद्ध के अवसर पर पहले इसने मराठों का साथ दिया था,

पर सदाशिवराव भाऊ के उद्दंड व्यवहार से रुष्ट होकर

यह वापस चला आया था। इति-

हासकार गुलामहुसेन

का कहना है कि

शासन की योग्यता

में उससे बढ़कर उस

समय कोई दूसरा

हिंदू राजा न था।^१

इसके मरने पर

मराठों ने जाटों को

भी दबाना प्रारम्भ



सूरजमल

कर दिया। राजपूतों ने मुगल साम्राज्य की अपने बाहुबल से बहुत दिनों तक रक्षा की थी, पर इन दिनों वे निर्बल हो रहे थे और उनका कोई योग्य नेता न था। राजपूताने में भी मराठों का आतंक जम रहा था और जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर के प्रसिद्ध राज्य सिन्धिया का प्रभुत्व स्वीकार करने लगे थे।

हैदरअली का राज्य—इधर दक्षिण में मराठा तथा निजाम के अतिरिक्त मैसूर की एक नई शक्ति उत्पन्न हो गई थी। मैसूर पहले विजयनगर साम्राज्य का एक भाग था। उसके नष्ट होने पर वादयार वंश के हिन्दू राजाओं के अधीन हो गया था। इन दिनों यह वंश निर्बल हो रहा था और मैसूर का राज्य हैदरअली के हाथ में था। हैदरअली का जन्म सन् १७३२ में हुआ था। इसका पिता मैसूर राज्य में नौकर था। हैदरअली ने पहले अपना एक दल बना लिया और इधर-उधर धावा लगाने लगा। उसके साथियों की संख्या दिन-प्रति दिन बढ़ने लगी। इस तरह उसकी शक्ति बढ़ते हुए देखकर मैसूर राज्य ने उसको सेना में नौकर रख लिया। उसने अपने सिपाहियों को खूब शिक्षा दी। डिंडीगल की मराठों से रक्षा करने पर सन् १७५५ में वह फौजदार बना दिया गया। थोड़े दिन बाद उसे बंगलौर की जागीर दे दी गई और वह मैसूर सेना का सेनापति बना दिया गया। कर्नाटक की लड़ाइयों में उसने फ्रांसीसियों का साथ दिया था, तभी से उसका फ्रांसीसियों से परिचय था। उसने अपनी सेना में कई एक फ्रांसीसियों को नौकर रखा और उनकी सहायता से अपना तोपखाना ठीक किया। उसने एक छोटा सा जहाजी बेड़ा बनाने का भी प्रयत्न किया। डेन लोगों से उसने एक जंगी जहाज खरीदा और उसका संचालन एक अँगरेज अफसर के हाथ में दिया। मरम्मत के लिए यह जहाज बम्बई भेजा गया। हैदर से लड़ाई छिड़ जाने पर अँगरेजों ने इस को वहीं रोक लिया।

हैदरअली का प्रभुत्व देखकर मैसूर राज्य के अर्थ-सचिव खांडेराव ने उसकी शक्ति रोकने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर हैदरअली ने उसको कैद कर लिया और जन्म भर तक एक लोहे के पिंजड़े में बन्द

रखा।^१ इस तरह मैसूर से निश्चिन्त होकर उसने सन् १७६३ में बेदनूर का क़ब्ज़ा जीत लिया। उन दिनों बेदनूर व्यापारिक दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध नगर था और आठ मील के घेरे में बसता था। इस अवसर पर बहुत सा धन हैदरअली के हाथ लगा। वास्तव में उसकी भावी प्रसिद्धि का प्रारम्भ यहीं से हुआ जैसा कि वह स्वयं कहा करता था। सन् १७६६ में हिन्दू राजा के मरने पर वह एक प्रकार से मैसूर का राजा ही बन गया। काज़ीकट पर आक्रमण करके उसने मलबार पर भी अधिकार कर लिया। उसका राज्य मराठों और निज़ाम के राज्य से मिला हुआ था, इसलिए उन दोनों से उसका बराबर युद्ध हुआ करता था। मराठों ने कई बार उस पर आक्रमण किया, पर समय के अनुसार कभी वह उनसे लड़ता था और कभी उनको धन तथा भूमि देकर अपनी रक्षा करता था। इस तरह तीन-चार बार मराठों ने उससे बहुत सा धन लिया। दूसरी ओर निज़ाम में कोई दम न था, इसलिए हैदर ने उसके कई एक जिलों को दबा लिया।

अंगरेजों के साथ युद्ध—हैदरअली की बढ़ती देखकर अंगरेज चिन्तित हो रहे थे और हैदरअली भी जानता था कि बिना अंगरेजों को नष्ट किये वह निश्चिन्तता से राज्य न कर सकेगा। इसलिए दोनों युद्ध का अवसर ढूँढ़ रहे थे। अंगरेजों से युद्ध करने के पहले हैदरअली के लिए यह आवश्यक था कि वह निज़ाम और मराठों को अपने पक्ष में मिश्र लेवे। इन्हीं दिनों मराठों ने निज़ाम और मैसूर पर आक्रमण किया। निज़ाम ने पूर्व समझौते के अनुसार अंगरेजों से सहायता मांगी। हैदरअली ने बहुत सा धन देकर मराठों को लौटा दिया और कर्नाटक का लालच देकर निज़ाम को फोड़ लिया। जब अंगरेजी सेना कर्नाटक स्थित की अध्यक्षता में मराठों के विरुद्ध निज़ाम की सहायता करने को पहुँची, तब उसको निज़ाम और हैदर की सेना से सामना करना पड़ा। सन् १७६७ में चंगामा और त्रिनोमली

१ कहा जाता है कि खांडेराव के कैद होने पर मैसूर की रानी ने उसकी प्राण-रक्षा की प्रार्थना की। उत्तर में हैदरअली ने कहा कि मैं उसको तोते की तरह पालूँगा। इसी लिए वह उसको दूध-भात खिलाकर एक पिंजड़े में बंद रखता था।

की लड़ाइयों में हैदरअली की हार हुई। निजाम से उसको कोई सहायता न मिली, उसने अँगरेजों से फिर सन्धि कर ली, पर हैदरअली अकेले ही लड़ता रहा।

मदरास की सन्धि—सन् १७६८ में हैदरअली ने कस्तान निक्सन के दल को नष्ट कर डाला और अपने कई एक स्थान अँगरेजों से छीन लिये। वह बराबर अँगरेजों को दबाता हुआ मदरास के निकट तक पहुँच गया। अँगरेजों ने सन्धि का प्रस्ताव किया, उत्तर में हैदरअली ने दूत से कहला भेजा कि “मैं मदरास के द्वार पर आ रहा हूँ, वहीं पहुँचकर गवर्नर और कौंसिल की शर्तों को सुनूँगा।” इस पर अँगरेज घबरा गये और सन् १७६९ में उन्हें मजबूर होकर सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार दोनों दलों ने जीते हुए देश लौटा दिये और अँगरेजों ने किसी के हमला करने पर हैदरअली की सहायता करने का वचन दिया। इसमें मदरास के गवर्नर ने बड़ी भूल की। अब उसको समय पड़ने पर हैदरअली की सहायता करने के लिए वचनबद्ध हो जाना पड़ा। इस तरह हैदरअली की पूर्ण विजय हुई और मैसूर का पहला युद्ध समाप्त हुआ।^१

मराठों की शक्ति—पानीपत के युद्ध से मराठों की शक्ति नष्ट नहीं हुई, उत्तरी भारत में उनकी तीव्र गति कुछ काल के लिए अवश्य रुक गई, परन्तु इस क्षति को दक्षिण में पूरा करके वे शीघ्र ही दिल्ली फिर जा पहुँचे। युद्ध के बाद बालाजी के मरने पर उसका दूसरा लड़का माधवराव बल्लाल पेशवा हुआ। योग्यता, साहस, वीरता और राजनीतिज्ञता में वह पहले

^१ कहा जाता है कि इस अवसर पर हैदरअली ने मदरास के किले के फाटक पर एक व्यंग चित्र लटकवा दिया था, जिसमें कौंसिल के मेम्बर और गवर्नर हैदरअली के सामने घुटने टेक रहे थे। हैदरअली गवर्नर की लम्बी नाक को, जो हाथी की सूँड़ की तरह थी, पकड़े हुए था और उससे मोहरें गिर रही थीं। पास ही कर्नल स्मिथ संधिपत्र को हाथ में लिए हुए अपनी तलवार के दो डुकड़े कर रहा था। एम० डी० एल० टी० हिस्त्री आर हैदरशाह, पृ० २४६।

तीन पेशवाओं से किसी प्रकार कम न था। गद्दी पर बैठने के समय उसकी अवस्था १६ वर्ष की थी। उसके चचा खुनाथराव ने सोचा था कि

पूजा का शमसन-
भार उसी के
हाथ में रहेगा।
परन्तु माधवराव
अपने चचा का
खिलौना बनकर
न रहना चाहता
था, साल ही
भर में सब
राजकाज वह
स्वयं करने
लगा। उसने
कई बार मैसूर
और निजाम
पर आक्रमण
किया और दोनों
से बहुत सा धन
तथा देश छीन
लिया। सन्
१७६९ में
उसने एक सेना



माधवराव बहलाल

उत्तरी भारत की ओर भेजी। इस सेना के साथ माहादजी सिन्धिया और तुकोजी होलकर थे। इन दोनों ने पहले राजपूताना से दस लाख रुपया वसूल किया, फिर भरतपुर के निकट जायों को हराकर और उनसे ६५ लाख रुपया लेकर वे दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर माहादजी ने शाहआलम को फिर से दिल्ली

के सिंहासन पर बिठला दिया और उसके नाम से वह उत्तरी भास्त में शासन करने लगा ।

दूसरे पेशवा बाजीराव के जीवनकाल ही में, गुजरात में गायकवाड़, मालवा में सिन्धिया और होलकर तथा मध्य भारत में भोंसल के राज्य स्थापित हो गये थे । पानीपत की लड़ाई में जनकोजी सिन्धिया के मर जाने पर माह्लादजी सिन्धिया गद्दी पर बैठे । इसका पिता राणोजी पटेल कभी पेशवा की जूतियाँ उठाया करता था । उसकी एक राजपूत स्त्री से इसका जन्म हुआ था । इसे पेशवा की निजी सेना का भार दिया गया और यह उत्तरी भारत भेजा गया । सन् १७६५ में मल्हारराव होलकर की मृत्यु हो गई । पानीपत के युद्ध में इसकी राय न मानी गई थी । पहले यह भी पेशवा का नौकर था । राजपूताना और पंजाब तक इसका आतंक जमा हुआ था । सर जान मालकम लिखता है कि वीरता और सादगी में सब मराठा सरदारों से यह बढ़ा-चढ़ा था । उसके शासन से मालवा के राजा सन्तुष्ट थे । वह अपनी उदारता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था ।^१ उसके लड़के की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी । कुछ दिनों के बाद पोता भी मर गया, ऐसी दशा में उसकी पुत्रवधू अहिल्याबाई गद्दी पर बैठी । उसने तुकोजी को अपना सेनापति बनाया । यह भी पेशवा की सेना के साथ उत्तरी भारत भेजा गया ।

शाहू महाराज के समय से ही भोंसल 'सेनासाहब सुवे' कहलाते थे । सन् १७५३ में राघोजी की मृत्यु हो जाने पर जानोजी गद्दी पर बैठे । इसका अपने भाइयों से झगड़ा होने लगा । दामाजी गायकवाड़ भी, जिसने पानीपत के युद्ध में बड़ा शौर्य दिखलाया था, सन् १७६१ में मर गया । उसके लड़कों में भी आपस में लड़ाई होने लगी । गायकवाड़ को शाहू की ओर से 'सेनाखास खेल' की उपाधि थी । इन मराठा सरदारों को काबू में रखना सहज काम न था । उत्तरी भारत में सिन्धिया का प्रभुत्व जम रहा था, होलकर राजपूताना को दबा रहा था, भोंसल निजाम की सहायता से प्रबल बनना चाहता था । तब

१ सर जान मालकम, मेम्बायर्स आफ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० १५७-५८ ।

भी माधवराव ने इनको सिर उठाने नहीं दिया, परन्तु अँगरेजों की शक्ति बढ़ जाने से मराठा-मंडल में भी एक नयी स्थिति उत्पन्न हो गई।

मराठा और अँगरेज—अँगरेजों पर शिवाजी का कितना भारी दबाव था, इसका उल्लेख ईस्ट इंडिया कम्पनी के इतिहास में जगह-जगह पर मिलता है। बंगाल के अँगरेज व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। उनकी मृत्यु का समाचार मिलने पर वे लिखते हैं कि “हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब उसके समान साहस-पूर्ण काम करनेवाला मराठों में कोई न होगा और हमें मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा”। शम्भाजी तथा राजाराम का अँगरेजों से अधिक सम्बन्ध नहीं रहा, परन्तु इतने ही में कान्होजी आंग्रे का प्रताप बहुत बढ़ गया और कोंकण प्रान्त के किनारे पर अँगरेजों से उसकी मुठभेड़ होने लगी। यह पहले शिवाजी की जहाजी सेना में खलासी का काम करता था। अपने पराक्रम के कारण राजाराम के समय में उसका मुख्य सेनापति हो गया था। शाहू महाराज ने कुलाबा, सुवर्णदुर्ग, विजयदुर्ग तथा अन्य कई किलों के साथ उसको ‘सरखेल’ की उपाधि प्रदान की थी। उसके पास दस बड़े जहाज थे, जिन पर १६ से ३० तक, और ५० छोटे छोटे जहाज थे, जिन पर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थीं। उसने कम्पनी के कई एक जहाजों को पकड़कर लूट लिया। बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी अँगरेज उसको दबा न सके।

पहले तो पुर्तगालियों को दबाने के लिए अँगरेज मराठों का साथ देते रहे, पर जब पुर्तगालियों की शक्ति नष्ट हो गई और वेसीन (बसई) के किले पर मराठों का अधिकार हो गया, तब अँगरेजों को बम्बई के लिए चिन्ता होने लगी और वे मराठों के साथ भी कूटनीति से काम लेने लगे। सन् १७६९ में कप्तान इंचवर्ड को भेजकर पेशवा के साथ एक व्यापारिक सन्धि की गई। दूसरी ओर सन् १७४०-४१ में कप्तान गार्डन शाहू महाराज के पास कुछ नजर लेकर भेजा गया। उससे कहा गया कि “शाहू राजा के दरबार में उसके मुख्य सलाहकार कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका पता सूक्ष्म दृष्टि से लगाना। दरबार में

बाजीराव पेशवा के शत्रु बहुत हैं, इसलिए योग्य अवसर देखकर उनके हृदय में स्पर्धा तथा ईर्ष्या उत्पन्न करने का प्रयत्न करना और उन्हें समझाना कि पेशवा पहले ही से प्रबल है, इधर पुर्तगालियों पर विजय प्राप्त करने के कारण वह और भी प्रबल हो रहा है, इसलिए उसके बढ़ते हुए प्रभाव के रोकने का यही अवसर है।^१

सन् १७३१ में कान्होजी की मृत्यु हो गई। उसके लड़कों से भी अँगरेजों की चलती रही। आंग्रे की शक्ति अधिक बढ़ जाने पर पेशवा ने उसे दमन करना निश्चित किया और इसके लिए सन् १७५५ में अँगरेजों से सहायता माँगी, जिसको उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों ने मिलकर पहले सुवर्णदुर्ग और बाद को विजयदुर्ग (घेरिया) छीन लिया। विजयदुर्ग की लड़ाई में क्लाइव भी मौजूद था। ये किले बड़ी मुश्किल से पेशवा को वापस दिये गये। सन् १७५९ में एक दूसरी सन्धि करने के लिए विलियम प्राइज वकील बनाकर भेजा गया, पर इसकी सारी वकालत व्यर्थ गई और मनमानी सन्धि न हो सकी। सन् १७६७ में टामस मास्टिन माधवराव पेशवा के दरबार में भेजा गया। वह प्राइज के साथ भी आया था, इसलिए उसको दरबार का अच्छा ज्ञान था। चलते समय उसको समझाया गया कि “माधवराव और रघुनाथराव में परस्पर झगड़ा होने के कारण माधवराव पेशवा का मन यदि अधिक व्यग्र हो, तो फिर हमें पेशवा की अधिक खुशामद करने की जरूरत नहीं.....हमारे विचार से चचा भतीजे का ऊपर से जो मेल-मिलाप दिखलाई देता है, वह वास्तविक नहीं.....इन दोनों के झगड़े के सिवा और कोई ऐसी बड़ी गृह-कलह हो, जिसके कारण इनके राज्य-पतन की सम्भावना हो, तो उसकी सूचना हमें अवश्य देना। यदि निजाम या हैदर के वकीलों ने आकर पेशवा को प्रसन्न कर लिया हो, तो जिस तरह बने उस तरह पेशवा के मन में यह बात भर देना कि इसका परिणाम बहुत बुरा होगा।”^२

१ फारेस्ट, मराठा सिरोज, जि० १, पृ० ७९।

२ वहाँ, पृ० १४०-४३।

पेशवा माधवराव की मृत्यु—सन् १७७२ में २८ वर्ष की अवस्था में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। उसने हैदरअली को नीचा दिखा-
लाया था और शासन में बहुत से सुधार किये थे। मामलतदार तथा राज्य
के अन्य अफसरों पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। देश में धन की
कमी न थी, इसलिए मालगुजारी वसूल करने में कठिनाई न होती थी। न्याय
का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था। प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री अपनी योग्यता
और निष्पक्षता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। इतिहासकार डफ की राय में
माधवराव पेशवा की अकाल-मृत्यु मराठों के लिए पानीपत के युद्ध से
कुछ कम घातक न थी। उसके मरने के बाद से ही जो आपस की फूट, राज्य
की दुर्व्यवस्था और सैनिक प्रबन्ध में दिखाई शुरू हुई, उसने साम्राज्य का अन्त
ही कर दिया। उसका छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा। उसमें न कोई
योग्यता ही थी और न साहस, इसलिए रघुनाथराव को अपना प्रभुत्व जमाने का
अवसर मिल गया। सन् १७७२ में रघुनाथराव और उसकी स्त्री आनन्दी-
बाई के प्रहस्यंज से नारायणराव मार डाला गया और रघुनाथराव स्वयं
पेशवा बन बैठा। इसने निजाम को परास्त किया और उसके पैरों पड़ने पर
दया करके सब धन लौटा दिया। परन्तु इस विजय से भतीजे के वध का
कलंक वह अपने मत्थे से न मिटा सका। बहुत से राजकर्मचारी, जिनमें मुख्य
नाना फड़नवीस था, उसके विरुद्ध हो गये। सन् १७७४ में इन 'बारह
भाइयों' ने नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव को, जो अपने पिता की मृत्यु
के बाद उत्पन्न हुआ था, पेशवा मान लिया। इस पर रघुनाथराव पूना से भाग-
कर अंगरेजों की शरण में चला गया।

निजाम और कर्नाटक—बांडवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों का पतन
हो जाने पर हैदराबाद दरबार में भी अंगरेजों का प्रभुत्व जम गया। सन्
१७६५ में क्लाइव ने बिना निजाम से पूछे बताये सम्राट से लिखा-पढ़ी
करके उत्तरी सरकार की सनद कम्पनी के नाम करा ली। इसको बड़ी
मुश्किल से निजाम ने स्वीकार किया और दोनों में मित्रता की सन्धि हो गई।
इसके बाद ही निजाम ने हैदर का साथ देना निश्चित किया, परन्तु उसकी हार

हो जाने पर सन् १७६८ में अँगरेजों से फिर सन्धि कर ली। सन् १७७९ से हैदराबाद दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया। इसी समय मद्रास सरकार ने निजाम के भाई बसालतजंग से मिलकर गंदूर पर अधिकार कर लिया। इससे निजाम बहुत चिढ़ गया।

युद्ध के पहले के कर्नाटक का वर्णन करते हुए स्कैफ्टन लिखता है कि राज्य की ओर से बड़े-बड़े तालाब बनवा दिये गये थे, कर देने पर जिनसे सिंचाई के लिए पानी मिलता था। डाकुओं से देश ऐसा शून्य था कि वहाँ के लोगों की याद में भी कोई डकैती नहीं हुई थी। जवाहरात के व्यापारी, जो प्रायः इस देश से आते-जाते थे, अपनी रक्षा के लिए कोई हथियार तक नहीं रखते थे। यहाँ यह नियम था कि जिस जगह लूट होती थी, वहाँ के हाकिम को या तो लूट का माल ढूँढ़कर निकालना पड़ता था, या हरजाना देना पड़ता था। हर एक गाँव या नगर के किनारे पर वृक्षों का बड़ा बगीचा होता था जहाँ जुलाहे काम करते थे। अच्छा शासन होने का इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता था कि देश से कितना अधिक कर वसूल होता था। कई एक प्रान्त यूरोप के सब से धनी देशों के बराबर रुपया देते थे। वहाँ हमारे देश की सी खानें न थीं, वहाँ के लोग अपने हाथों के बल धन कमाते थे।^१

परन्तु फ्रांसीसी और अँगरेजों के युद्ध से थोड़े ही दिनों में कर्नाटक तबाह हो गया। सन् १७६७ की सन्धि से निजाम ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का स्वतंत्र नवाब मान लिया। उसकी यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। कम्पनी की ओर से रुपये की माँग बराबर बढ़ती जाती थी, जिसे देने के लिए उसको अँगरेज महाजनों से कर्जा लेना पड़ता था। इन महाजनों के तंग करने पर उसने मालगुजारी वसूल करने का अधिकार इनको दे दिया। ये लोग प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगे। फुलर्टन लिखता है कि इनकी लूट से दरबार का खर्चा बढ़ गया।^२ जार्ज स्मिथ का कहना है कि

१ स्कैफ्टन, रिफ्लेक्शन्स, पृ० १३-१४।

२ फुलर्टन, ए व्यू ऑफ दि इंग्लिश इंटरेस्ट इन इंडिया, पृ० २७८।

चार ही पाँच वर्ष में खेती की बुरी दशा हो गई, आबादी घट गई और व्यापार चौपट हो गया।^१

तंजोर के साथ अन्याय—तंजोर के राज्य को शिवाजी के भाई ने स्थापित किया था। मराठा राज-मंडल से अलग होने के कारण मराठों के लिए इसकी रक्षा करना बड़ा मुश्किल था। यहाँ की अतुल सम्पत्ति देखकर दक्षिण के सभी राज्यों की इस पर इष्टि लगी रहती थी। सन् १७४९ से इसका सम्बन्ध अँगरेजों से हुआ। इस अवसर पर राजा शाहू और प्रतापसिंह में गद्दी के लिए झगड़ा चल रहा था। अँगरेजों ने शाहू का पक्ष लेकर उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी, पर अन्त में शाहू का पक्ष निर्बल देखकर प्रतापसिंह से समझौता कर लिया और देवीकोट पर अपना अधिकार जमा लिया। इस तरह सहायता का वचन देकर अन्त में शाहू को धोखा दिया गया। सन् १७६९ में हैदरअली के साथ जो सन्धि हुई उसमें तंजोर का राजा अँगरेजों का मित्र मान लिया गया। परन्तु सन् १७७१ में मुहम्मदअली के कहने पर तंजोर घेर लिया गया और ४ लाख पौंड दंड लिया गया। इतने ही से सन्तोष न हुआ, सन् १७७३ में फिर आक्रमण किया गया। राजा ने अँगरेजों को बहुत कुछ समझाया। उसका कहना था कि “मेरे ऊपर आक्रमण करने के पूर्व मेरा अपराध बतलाना चाहिए, इस राज्य के दान से लाखों मनुष्यों का पालन होता है, इसकी रक्षा करने से अँगरेजों की कीर्ति बढ़ेगी।”^२ परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा, राजा को कैद करके तंजोर नवाब के राज्य में मिला लिया गया। इस घटना का समाचार इंग्लैंड पहुँचने पर मद्रास के प्रेसीडेंट की बड़ी निन्दा की गई और उसकी जगह पर तंजोर वापस करने की आज्ञा देकर दूसरा प्रेसीडेंट भेजा गया।

पेट्री का कहना है कि जब मैंने सन् १७६९ में तंजोर देखा था, तब इसकी बड़ी अच्छी दशा थी। खूब व्यापार होता था। बम्बई तथा सूरत से रुई,

१ नाथ रिपोर्ट, अप्रैलिस, पृ० १२०, द०, पृ० १००।

२ बल्लेंडर आफ परशियन करस्पोंडेंस, जि० ४, पृ० १४।

बङ्गाल से रेशम, पीगू से सोना, हाथी तथा घोड़े, और चीन से बहुत सा माल आता था। तंजेव, छीट, रूमाल तथा छपे मोटे कपड़े अफ्रिका और दक्षिणी अमरीका तक जाते थे। सन् १७७१ तक इसकी अच्छी दशा थी। पर चार ही पाँच वर्ष में जब यह नवाब के अधीन रहा, यहाँ की दशा बदल गई। क्युएँ नष्ट हो गई, व्यापार मन्दा पड़ गया, खेती की अवनति हो गई और हजारों आदमी राज्य छोड़कर चले गये।^१ इस तरह यह 'दक्षिण का बाग' थोड़े ही दिनों में उजाड़ हो गया।

जनता की स्थिति—इस समय भी जनता की ऐसी शोचनीय दशा न थी, जैसी कि प्रायः दिखलाई जाती है। मुगल साम्राज्य का पतन हो गया था, पर साथ ही साथ भिन्न-भिन्न प्रान्तों में ऐसे शासक उत्पन्न हो गये थे, जो अपना पक्ष प्रबल बनाने के लिए बराबर लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का सामाजिक संगठन ऐसा था कि जिसके कारण राजनैतिक विप्लवों का जनता पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। भारतवर्ष की अधिकांश जनता प्राचीन समय से गाँवों में रहती है। उन दिनों इनका संगठन ऐसा था कि जिम्मे वहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। भारतीय शासक यथासम्भव इस संगठन में हस्तक्षेप न करते थे। सर चार्ल्स मेटकाफ की राय में राजनैतिक अशान्ति के समय में भी जनता की दशा अच्छी रहने का यह सब से मुख्य कारण था। वह लिखता है कि राजवंश नष्ट हो गये, साम्राज्यों का पतन हो गया, पर इन गाँवों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।^२

यह बात ठीक है कि कभी-कभी निष्ठुर स्वार्थी शासक की क्रूरता का जनता शिकार अवश्य बनती थी, पर साधारणतः इस समय के शासकों को भी उसका ध्यान रहता था। इन दिनों की अराजकता का जो मर्मस्पर्शी चित्र प्रायः खींचा जाता है, उसकी सत्यता में तत्कालीन अँगरेजों के ही दिये

१ फोर्थ रिपोर्ट, सन् १७८२, अपेंडिक्स नं० २२, दत्ता, पृ० १०५-१०६।

२ के, लाइफ ऑफ सर चार्ल्स मेटकाफ, जि० २, पृ० १९१-९२।

हुए विवरण से सन्देह होने लगता है। अँगरेजों के हस्तक्षेप के पहले कर्नाटक तथा बंगाल की जो दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। महाराष्ट्र देश का वर्णन करते हुए, सन् १७६२ में, पेरां लिखता है कि यहाँ सतयुग की सादगी और सुख का अनुभव होता है। युद्ध के कष्ट दिखलाई नहीं देते हैं। सब लोग प्रसन्न, फुर्तिले और खूब तन्दुरुस्त हैं।^१ मैसूर के सम्बन्ध में फुलर्टन लिखता है कि हैदरअली के शासनकाल में प्रजा की जैसी कुछ उन्नति हुई वैसी किसी हिन्दुस्तानी शासक के समय में नहीं हुई। उसके राज्य के सभी भागों में किसान, कारीगर तथा व्यापारी धनी बन गये। खेती बढ़ गई, बहुत सी नई चीजें बनने लगीं और राज्य में धन भर गया।^२ परन्तु जहाँ-जहाँ अँगरेजों का हस्तक्षेप होने लगा वहाँ कलाएँ नष्ट होने लगीं, लगान कड़ाई से लिया जाने लगा, गाँवों का संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा और धन बाहर जाने लगा।

सामाजिक जीवन—शताब्दियों से साथ रहने, कबीर तथा नानक के उपदेश और अकबर की उदार नीति के कारण हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। औरंगजेब की उल्टी नीति होने पर भी एकता के भाव सर्वथा नष्ट न हो गये थे। कट्टर हिन्दू तथा मुसलमान शासक कभी-कभी अपनी हार्दिक संकीर्णता का परिचय अवश्य देते थे, पर इसका प्रभाव गाँवों में बहुत कम दिखलाई देता था। वहाँ दोनों का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन बहुत कुछ एक था। हिन्दू घरानों से सूत कतकर मुसलमान जुलाहों के पास जाता था, खेती-बारी का काम साथ-साथ होता था। मुसलमान गाँव की विरादरी में शामिल थे। दोनों जातियाँ एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा त्योहारों में भाग लेती थीं। इस समय भी मुसलमान राज्यों में बड़े-बड़े पदों पर हिन्दू और हिन्दू राज्यों में मुसलमान काम करते थे। परन्तु इस परस्पर के सम्बन्ध में भी राजनैतिक क्षेत्र में एक नई

१ जेंटिलमेन्स मेगजीन, सन् १७६२, रिफार्म ट्रेक्टर।

२ फुलर्टन, ए. व्यू ऑफ दि इंग्लिश इम्पेस्ट इन इंडिया, पृ० ६२

शक्ति के आ जाने से बाधा पड़ने लगी। हिल लिखता है कि इस समय बंगाल में हिन्दू भावों की फिर से जागृति हो रही थी और हिन्दू, यूरोपियन लोगों की सहायता से मुसलमानों की शक्ति नष्ट करना चाहते थे।^१ परन्तु अली-बर्दीख़ाँ के समय तक बंगाल में इसका पता नहीं लगता। उसके शासन का काम जगतसेठ के धन से चलता था। सिराजुद्दौला के समय से अमीरचन्द ऐसे लोग धन का लालच देकर अवश्य फोड़े जाने लगे। तब तक यूरोपियन लोग भी भारतवासियों से बिलकुल अलग न रहते थे। राजकीय भाषा फारसी थी। अँगरेजों को राजदरबारों के साथ इसी भाषा में पत्रव्यवहार करना पड़ता था, पर प्रान्तों में धीरे-धीरे प्रान्तीय भाषाओं का प्रचार बढ़ रहा था।

उस समय तक हिन्दू समाज में सती-प्रथा भी जारी थी। पर सती न होने के लिए घरवाले स्त्रियों को बहुत समझाते थे और ब्राह्मण भी इस पर अधिक जोर न देते थे।^२ ऊर्म, हालवेल, हाजेज तथा अन्य तत्कालीन लेखकों ने अपनी आँखों देखे हुए दाह का वर्णन करते हुए स्त्रियों के साहस पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है। उस समय मध्य श्रेणी के लोगों को भी पढ़ाने-लिखाने का प्रवन्ध था। बालकों की शिक्षा कमरों में नहीं बल्कि खुली जगहों में होती थी। उसी समय के एक इतिहासकार का लिखना है कि “इन पाठशालाओं में, जहाँ विशाल भवनों के अभाव की पूर्ति स्वच्छ आकाश के चँदोआ से होती है, केवल कारबार की ही शिक्षा नहीं दी जाती है, बल्कि जीषन के कर्तव्य... माता पिता के लिए आदर, ज्येष्ठों के लिए सम्मान, मनुष्यमात्र के लिए न्याय तथा दया और सजातियों के लिए स्नेह के भाव सिखलाये जाते हैं।”^३

उसी का कहना है कि हिन्दू, मुसलमान तथा भारतवर्ष में बसनेवाले अन्य लोगों में जाति, धर्म, नियम और रीति-रिवाजों की भिन्नता होते हुए भी,

१ हिल, बंगाल इन १७५६-५७, जि० १, भूमिका।

२ मेम्बार्स ऑफ दि लेट वार इन एशिया, सन् १७८८, जि० २, पृ० २३४।

३ वही, पृ० २२८।

अतिथ्य-सत्कार सब में पाया जाता है। शिष्टाचार, रहन-सहन की सुन्दरता और बातचीत में हिन्दू किसी सुशिक्षित फ्रांसीसी से कम नहीं। “फ्रांसीसी



दीप-प्रवाह

अपनी प्रतिष्ठा का खयाल करके शायस्तागी का व्यवहार करते हैं, हिन्दु-स्तानी इसे अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि फ्रांसीसी अपना ध्यान रखकर, तो हिन्दुस्तानी दूसरे का खयाल करके शिष्टता दिखाते हैं।^१ भारतवर्ष में खाने-पहने का खर्च बहुत कम होता है। यहाँ रुपया उड़ानेवाले व्यसन अधिक नहीं पाये जाते। हिन्दुस्तानी मितव्ययी ओर परिश्रमी होते हैं।^२ हेस्टिंग्स का भी कहना है कि ये गुण सभी में पाये जाते हैं, उनका खाना बहुत सादा होता है और वे शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं से पूरा परहेज करते हैं।^३

१ मेम्बायर्स ऑफ दि लेट बार इन एशिया, जि० २, पृ० २२६।

२ वही, पृ० १६४।

३ लडलो, ब्रिटिश इंडिया ऐंड इट्स रेसेज, जि० २, पृ० ३०२।

बड़े घरानों में शराब का व्यसन अवश्य फैल रहा था, पर साधारण जनता उससे मुक्त थी।

हाजेज लिखता है कि गाँवों में खूब आगदी है, पर तब भी बड़ी सफाई रहती है। हिन्दुओं में सफाई का भाव देखकर आश्चर्य होता है। गाँवों की गलियाँ बराबर बटोरी और छिड़की जाती हैं।^१ फुलर्टन का कहना है कि हिन्दु-स्तानी सभ्य, चतुर तथा शिष्ट होते हैं। युद्ध का भी उन्हें अभ्यास है, साथ ही साथ कला, विज्ञान तथा शान्ति के समय के अन्य गुणों में भी वे प्रवीण हैं।^२

— — —

१ हाजेज, ट्रेवल्स इन इंडिया, सन् १७८०-८३, पृ० ३४, ३७।

२ फुलर्टन, सन् १७८७, पृ०, ५०।

परिच्छेद ५

नींव की दृढ़ता

बंगाल का शासन—क्लाइव के जाने के पश्चात् वेरेल्स्ट और कार्टियर ने कुछ काल तक गवर्नर के पद पर काम किया। इन दोनों के समय में कोई विशेष राजनैतिक घटना नहीं हुई, परन्तु क्लाइव के चलाये हुए शासन के दोष प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगे। मुगल शासन के दो मुख्य अंग थे, एक दीवानी और दूसरा निजामत। दीवानी विभाग कर वसूल करता था, और न्याय तथा शासन निजामत विभाग के हाथ में रहता था। सन् १७६५ में दीवानी अँगरेजों को मिल गई थी, पर अँगरेजों ने कर वसूल करने का काम नवाब के कर्मचारियों के हाथ में ही छोड़ रखा था, वे केवल इसका निरीक्षण करते थे। सन् १७६९ में हिन्दुस्तानी आमिलों को हटाकर अँगरेज 'अमीन' रख दिये गये थे और इनका काम देखने के लिए सन् १७७० में पटना और मुर्शिदाबाद में दो बोर्ड बना दिये गये थे। इस तरह जो कुछ आमदनी होती थी, उसमें से सम्राट् और नवाब को देकर जो रुपया बच रहता था उससे कम्पनी का खर्च चलता था। कर वसूल करनेवाले गुमास्ता और फौजदार होते थे, जो बहुत सा रुपया खा जाते थे। इसलिए कम्पनी की आमदनी दिन प्रतिदिन घटती जाती थी। नवाब केवल नाम के लिए नाजिम था, सेना अँगरेजों के हाथ में थी। बिना सेना की सहायता के शासन और न्याय करना असम्भव था। न्यायालय के निर्णयों की किसी को भी परवाह न थी। अँगरेज

गुमास्ता जानते थे कि उनको दंड देने में नवाब असमर्थ है, इसीलिए वे मनमाना अत्याचार करते थे।

इस प्रथा में जिसके हाथ में शक्ति थी, उसकी कोई जिम्मेदारी न थी, और जिसकी जिम्मेदारी थी, उसके हाथ में कोई शक्ति न थी। इसका फल यह होता था कि दोनों के बीच बेचारी प्रजा पिसती थी। उसकी कहीं भी मुनवाई न थी। गुमास्तों की शिकायत करने पर अंगरेज कहते थे कि न्याय नवाब के हाथ में है, और दूसरी ओर नवाब कहता था कि वह दंड देने में असमर्थ है। इस तरह इन दिनों प्रजा एक प्रकार से अनाथ थी।

भीषण दुर्भिक्ष—सन् १७७० में बंगाल में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इससे वहाँ की तिहाई आबादी नष्ट हो गई। मनुष्य मनुष्य को खाने लगे और सड़कों पर लाशों के ढेर लगा गये। कई साल तक इस दुर्भिक्ष के कारण बंगाल की दशा न सुधर सकी। प्रजा के कष्ट-निवारण के लिए कोई विशेष उपाय नहीं किया गया। इन दिनों सर्वत्र अन्न पहुँचाने के लिए आजकल की तरह रेलें न थीं। राज्य की ओर से किसी प्रकार का प्रयत्न न था। व्यक्तिगत दान और उदारता-से, जिसकी उन दिनों कोई कमी न थी, इतनी बड़ी आपत्ति का सामना करना सम्भव नहीं था। राजकर्मचारियों की निष्ठुरता का इसीसे पता चलता है कि उस दुर्भिक्ष के समय में भी उन्होंने सरकारी आमदनी में कोई कमी नहीं आने दी। कम्पनी के गुमास्तों ने चावल खरीद लिया और उसे मनमाने दाम पर बेचा, जिसका फल यह हुआ कि वे मालामाल हो गये।

हेस्टिंग्स की नियुक्ति—बंगाल की शोचनीय दशा देखकर सन् १७७२ में कम्पनी के संचालकों ने वारेन हेस्टिंग्स को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। सन् १७६० में वह लेखक होकर भारतवर्ष आया था। सिराजुद्दौला ने जब कासिमबाजार की कोठी को छीन लिया था, तब वह कैद कर लिया गया था, परन्तु पीछे से भाग निकल था। बृजव्रज के युद्ध में वह नवाब के विरुद्ध लड़ा था। उसकी योग्यता देखकर क्लाइव ने उसको मीरजापुर के दरबार में रेजीडेंट बना दिया था। उसी के परामर्श से बाद को मीरकासिम

नवाव बनाया गया था। क्लाइव के लौटने पर सन् १७६१ में वह, २९ वर्ष की अवस्था में, कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर हो गया। सन् १७६४ में वह इंग्लैंड वापस चला गया। वहाँ उसकी योग्यता और भारतवर्ष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलने पर सन् १७६९ में कम्पनी के संचालकों ने उसको मद्रास कौंसिल का मेम्बर बनाकर फिर से भेजा। सन् १७७२ में बंगाल की दशा सुधारने के लिए उन्होंने उसे फोर्ट विलियम की कौंसिल का सभापति और बंगाल का गवर्नर बना दिया। इस समय उसकी अवस्था ४० वर्ष की थी और कम्पनी के संचालकों को उस पर पूरा भरोसा था।



वारेन हेस्टिंग्स

नया प्रबन्ध—हेस्टिंग्स जब कलकत्ता पहुँचा तब वहाँ की दशा देखकर हैरान हो गया। सब विभागों में पिछला काम पड़ा हुआ था। किस विभाग का क्या काम है और उसकी क्या जिम्मेदारी है, इसकी कोई व्यवस्था न थी। बड़े-बड़े कर्मचारी अपनी मनमानी करते थे और कोई भी किसी की न सुनता था। हेस्टिंग्स दोहरे शासन के दोषों को अच्छी तरह समझता था।

उसने निश्चित कर लिया कि जब तक कम्पनी खुले तौर पर अपनी जिम्मेदारी नहीं लेगी तब तक किसी प्रकार का मुधार होना असम्भव है। इसलिए उसने धीरे-धीरे दोहरे शासन को हटाना प्रारम्भ कर दिया।

नवाब नजमुद्दौला के समय में उसकी इच्छा के विरुद्ध नन्दकुमार को हटाकर मुहम्मद रिजाखाँ नायब नाजीम और राजा शिताबराय नायब दीवान बनाये गये थे। हेस्टिंग्स ने इन दोनों को निकाल दिया और उनकी जगह पर नन्दकुमार के लड़के राजा गुरुदास तथा राजवल्लभ को रखा। मुहम्मद रिजाखाँ और शिताबराय के ऊपर नवाब का धन खा जाने का अभियोग चलाया गया परन्तु अन्त में वे दोनों निर्दोष सिद्ध हुए। नवाब इन दिनों नाबालिग था। हेस्टिंग्स ने मुन्नी बेगम को उसकी संरक्षिका बनाया। यह पहले एक वेश्या थी, जो बाद में नवाब मीरजाफर की बेगम बन गई थी। नवाब की पेंशन घटाकर १२ लाख कर दी गई। शाहआलम को भी २६ लाख रुपया सालाना भेजना बन्द कर दिया गया, क्योंकि वह अब मराठों के हाथ में चला गया था। शाहआलम ने कम्पनी को दीवान बनाया था, यह रुपया कर के स्वरूप में उसको दिया जाता था। ऐसी दशा में इसका बन्द कर देना कहाँ तक न्याय-सङ्गत था? यह चाहे जो हो, पर इससे कम्पनी का खर्च अवश्य घट गया।

मालगुजारी का निरीक्षण करने के लिए सन् १७६९ में जो अँग्रेज अमीन रखे गये थे, उनको हेस्टिंग्स ने 'क्लेक्टर' बना दिया और मालगुजारी वसूल करने के अधिकार उनको दे दिये। कुल प्रान्त को उसने कई एक जिलों में बाँट दिया और प्रत्येक जिले में एक क्लेक्टर रख दिया। इस तरह कम्पनी ने दीवानी का काम खुले तौर पर अपने हाथ में ले लिया। इस समय तक मालगुजारी का बन्दोबस्त सालाना होता था। हेस्टिंग्स ने हर पाँचवें साल बन्दोबस्त करने का नियम बना दिया और सब से अधिक देनेवालों के नाम उसके ठेके दे दिये। इस प्रबन्ध से बहुत से पुराने जमीन्दारों के हाथ से जमीन निकल गई, जिसके लिए उनको थोड़ा बहुत हरजाना दिया गया। उनकी जगह पर ठेका लेनेवाले नये जमीन्दार हो गये, जिनका रैयत

के साथ पहले से कोई सम्बन्ध न था। किसानों को नया पट्टा लिखवा दिया गया और कई एक अनुचित कर हटा दिये गये। परन्तु इन सुधारों से किसानों की दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नीलाम में बहुत से नये तथा पुराने जमीन्दारों ने बड़ी-बड़ी बोलियाँ बोलकर के ले लिये। मालगुजारी के लिए रुपया वसूल करने में वे रैयत पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगे। माल-विभाग का मुख्य दफ्तर मुर्शिदाबाद और पटना से हटाकर कलकत्ते में खोला गया और उसका निरीक्षण एक बोर्ड को सौंप दिया गया।

न्याय-विभाग की दशा सुधारने के लिए हर एक जिले में दीवानी और फौजदारी अदालतें खोली गईं। ये दोनों अदालतें कलेक्टर के अधीन थीं। दीवानी में वह प्रान्तीय दीवान की सहायता से फैसला करता था और फौजदारी में उसके साथ जिले के काजी तथा मुफ्ती भी बैठते थे। इस तरह कलेक्टर को दीवानी और फौजदारी दोनों अधिकार दिये गये। दीवानी अदालत में मुसलमानों का न्याय 'हदीस' के अनुसार होता था। औरंगजेब के समय में उनके सब नियमों का एक संग्रह बन गया था, परन्तु हिन्दू नियमों का कोई ऐसा संग्रह न था। हेस्टिंग्स ने दस पण्डितों की सहायता से हिन्दू नियमों का एक संग्रह तैयार करवाया। फौजदारी अदालत के फैसले प्रायः मुसलमानों का न्याय के अनुसार होते थे। अंगरेज कलेक्टरों को इसका ज्ञान न था, इस लिए हर एक फौजदारी अदालत में दो मौलवी रख दिये गये थे।

इन जिला अदालतों की अपील के लिए कलकत्ता में दो बड़ी अदालतें खोली गईं, जो 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निजामत अदालत' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। 'सदर दीवानी अदालत' में खालसा के दीवान, कौंसिल के दो मेम्बर और कुछ हिन्दुस्तानी जजों की सहायता से गवर्नर फैसल करता था। 'सदर निजामत अदालत' का अध्यक्ष 'दारोगा अदालत' कहलाता था और उसकी सहायता के लिए प्रधान काजी, प्रधान मुफ्ती और दो मौलवी रहते थे।

संन्यासियों का दमन—इस तरह न्याय की व्यवस्था करके उसने देश में शान्ति स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। इन दिनों कुछ लोगों का,

जो अपने को संन्यासी कहते थे, एक दल बन गया था। कहा जाता है कि ये लूट-मार किया करते थे। इनका वर्णन स्वयं हेस्टिंग्स इस प्रकार करता है—“ये लोग तिब्बत की पहाड़ियों के दक्षिण भाग में रहते हैं। ये अधिकांश नंगे रहते हैं। इनके न कोई गाँव है, न कोई घर या कुटुम्ब। ये एक स्थान से दूसरे स्थानों में फिरा करते हैं। जिस देश में जाते वहाँ से मोटे-ताजे बालकों को चुराकर अपनी संख्या बढ़ाया करते हैं। इस तरह भारत-वर्ष के मनुष्यों में ये सब से अधिक दृष्ट-पुष्ट और फुर्तीले हैं। इनमें से कुछ व्यापार भी करते हैं। संन्यासियों के भेष में रहने के कारण हिन्दू इनका बड़ा आदर करते हैं। इसीलिए इनके रहने का पता लगाना बड़ा मुश्किल हो जाता है और इनके विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती है। कड़ी आज्ञाओं के प्रकाशित करने पर भी कभी-कभी ये प्रान्त के किसी स्थान पर सहसा ऐसे दूट पड़ते हैं, मानो आकाश से कूद पड़े हों। ये लोग कितने दृढ़, वीर और उत्साही होते हैं, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता।” इनकी लूट से कम्पनी को बड़ी हानि पहुँचती थी, इसलिए इनका दमन करने के लिए एक सेना भेजी गई और फौजदारों को इन्हें दंड देने के लिए विशेषाधिकार दिये गये। इनमें भय फैलाने की दृष्टि से बड़े कठोर दंड दिये गये। जहाँ कहीं ये लोग मिले फाँसी पर लटका दिये गये, कुल माल असबाब छीन लिया गया और स्त्रियाँ तथा बच्चे गुलाम बना लिये गये।^१ इस तरह दो वर्ष में इनका अच्छी तरह दमन कर दिया गया।^२

व्यापार—हेस्टिंग्स को पता लगा कि जिले के अमीन और कलेक्टर अपना निजी व्यापार खूब करते हैं। वे जिले का अब सस्ते दाम पर खरीदकर बनियों द्वारा बड़ा मँहगा बेंचते हैं और प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। चुंगी न देने के कारण उनका माल हिन्दुस्तानी

१ कलेंडर आफ परशियन करस्पॉन्स. जि० ४, भूमिका, पृ० १०।

२ इन्हीं दिनों की एक घटना लेकर श्री बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ‘आनन्दमठ’ नाम का उन्म्यास लिखा है, जिसमें सुप्रसिद्ध ‘बन्दे मातरम्’ गीत है।

व्यापारियों से सस्ता पड़ता है, जिससे जुलाहों और कारीगरों का बड़ा नुकसान होता है। इसको दूर करने के लिए सन् १७७३ में अँगरेजों को जिलों में बसने की मनाही कर दी गई और गुमास्तों को आज्ञा दी गई कि वे जुलाहों को दादनी देकर कम्पनी के हाथ माल बेचने के लिए मजबूर न किया करें। दस्तकों की प्रथा बिल्कुल उठा दी गई। नमक, सुपारी और तमाखू को छोड़कर सब पर महसूल घटा दिया गया और अँगरेज तथा हिन्दुस्तानी दोनों से यद्द महसूल लिया जाने लगा। नमक तथा अफीम का व्यापार कम्पनी के ही हाथ में रखा गया और उनके ठेके भी नीलाम किये जाने लगे। भारतवर्ष से बहुत सा माल तुर्की, मिस्र और बसरा जाया करता था, परन्तु तुर्की में राजनैतिक अशान्ति होने के कारण यह व्यापार बन्द सा हो गया था। हेस्टिंग्स ने एक जहाज हिन्दुस्तानी माल से भरवाकर मिस्र भेजा और फिर से व्यापार का सम्बन्ध जारी किया। भूयान और तिब्बत से भी व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने का उसने प्रयत्न किया। 'सिका रुपया' भी उसी ने चलाया।

रुहेलों के साथ युद्ध—सन् १७७२ में रुहेलों ने नवाब वजीर के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार मराठों के आक्रमण करने पर उनको "युद्ध या समझा बुझाकर" हटा देने के लिए उन्होंने नवाब वजीर को ४० लाख रुपया देने का वचन दिया। इस सन्धि पर अँगरेज सेनापति बार्कर ने सही की। सन् १७७३ में बनारस में नवाब वजीर की अँगरेजों के साथ भी एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा हेस्टिंग्स ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले ५० लाख रुपये में नवाब वजीर के हाथ बेच दिये। नवाब वजीर ने इस रकम को तीन वर्ष में अदा करने का वचन दिया और सहायता करने के लिए अपने खर्च से कम्पनी की कुछ सेना रखना स्वीकार किया। यह प्रबन्ध भी हेस्टिंग्स की चाल से खाली न था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि इससे वजीर और मराठों में एक झगड़ा खड़ा हो जायगा, जिसके कारण वजीर को अँगरेजों की सहायता पर अधिक निर्भर रहना पड़ेगा।^१ इसी अवसर पर हेस्टिंग्स ने ४० लाख रुपये के बदले में

रहेलों के विरुद्ध नवाब वजीर की सहायता करने का भी वचन दे दिया और नवाब ने सेना का खर्च भी देना स्वीकार कर लिया। सन् १७७३ में मराठों



रहेला सिपाही

ज्ञान था और जिस साहस के साथ वे लड़े उसका वर्णन करना असम्भव है।^१ नवाब वजीर के सैनिकों ने रहेलों को खूब लूटा। लूट में भाग लेने से गोरे सिपाहियों को मनाही थी, इसलिए वे बड़े असन्तुष्ट थे। परन्तु नवाब वजीर ने ६ महीने में ७ लाख रुपया देने का वादा करके उनको सन्तुष्ट किया। कहा जाता है कि सेना के अत्याचार से लगभग २० हजार

ने रहेलों पर आक्रमण किया, परन्तु पूना में गड़बड़ होने के कारण और नवाब वजीर तथा अंगरेजों को रहेलों की सहायता के लिए तुले देखकर वे बिना लड़े ही वापस चले गये। इस पर नवाब वजीर ने रहेलों से ४० लाख रुपया माँगा। जब उन्होंने देने में हीला-हवाला किया, तब उसने रहेलखंड पर आक्रमण कर दिया और बनारस के सम-झौते के अनुसार अंगरेजों से सहायता माँगी। कर्नल चैम्पियन की अध्यक्षता में एक अंगरेजी सेना भेजी गई। अप्रैल सन् १७७४ में मीरनपुर कशरा में रहेलों के साथ घोर युद्ध हुआ, जिसमें रहेला सरदार हाफिज रहमतख़ाँ मारा गया और नवाब वजीर की विजय हुई। रहेले बड़ी वीरता के साथ लड़े, इसका वर्णन करते हुए स्वयं चैम्पियन लिखता है कि रहेलों को युद्ध-विद्या का अच्छा

रहेला को अपना देश छोड़कर भागना पड़ा। इन अत्याचारों का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है और नवाब वजीर को न रोकने के लिए अँगरेजों को भी दोष दिया गया है। कुछ दिन बाद नवाब वजीर और रहेलों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार रहेला सरदार फैजुल्लाखाँ को रामपुर का इलाका दे दिया गया, जो अब भी मौजूद है और बाकी रहेलखंड अवध में मिला लिया गया।

इस युद्ध के सम्बन्ध में हेस्टिंग्स की नीति की बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। कहा जाता है कि बनारस के समझौते की सब बातें हेस्टिंग्स ने काँसिल को नहीं बतलायी थीं।^१ कम्पनी के संचालकों की आज्ञा थी कि आत्मरक्षा के अतिरिक्त और किसी प्रकार के युद्ध में भाग न लिया जाय। हेस्टिंग्स ने इस आज्ञा के विरुद्ध रहेलों के साथ युद्ध किया। अँगरेजों से रहेलों की कोई शत्रुता न थी। झगड़ा नवाब वजीर और रहेलों के बीच था। उसमें हेस्टिंग्स का पड़ना बेजा था। रहेलों के साथ जो अत्याचार हुए उनके रोकने का कोई प्रयत्न हेस्टिंग्स ने नहीं किया।

इन आक्षेपों के उत्तर में हेस्टिंग्स का कहना है कि उसने बनारस के समझौते का सब हाल काँसिल के सदस्यों को जगानी बतला दिया था। इन दिनों उत्तरी भारत में मराठों का जोर बढ़ रहा था। उनके साथ रहेलों का सम्बन्ध सन्देहजनक था। वे नवाब वजीर के विरुद्ध उनकी सहायता करते थे और नवाब वजीर को खोखा देते थे। यदि रहेलों के साथ मराठे अवध पर धावा करते तो वे बंगाल की सीमा तक पहुँच जाते। इसलिए उनको रोकने की दृष्टि से रहेलों के विरुद्ध नवाब वजीर की सहायता करना आवश्यक था। रहेलखंड के अवध में मिल जाने से नवाब वजीर के राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा गंगा और पहाड़ों के कारण दृढ़ हो गई। इसमें उसने संचालकों की आज्ञा का वास्तव में उल्लंघन नहीं किया। इसके अतिरिक्त इन

१ कुछ लोगों को सन्देह है कि इस अवसर पर उसने नवाब से एक अच्छी रकम ली थी। होलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३८२-८३।

दिनों कम्पनी को रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। इस युद्ध से उसके लिए ४० लाख रुपये का ठिकाना हो गया और सेना के खर्च का कुछ भार नवाब वजीर के मत्थे चला गया।

हेस्टिग्स की नीति का यह समर्थन ठीक नहीं जँचता। नवाब वजीर की निर्बलता वह अच्छी तरह जानता था। बिना अँगरेजों की सहायता के उसको अपनी रक्षा करना कठिन हो रहा था। अवध और मराठों के बीच रहेलो का राज्य एक प्रकार की आड़ था। उसके नष्ट हो जाने से अब नवाब वजीर को मराठों का सामना करना पड़ा, जिसके लिए वह सर्वथा अयोग्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब वजीर अँगरेजों के और भी अधीन हो गया। इस युद्ध में हेस्टिग्स का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ था, इसीलिए वह नवाब को बढ़ावा दे रहा था, इसको उसने स्वयं माना है। परन्तु जब उसका यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि नवाब वजीर उतनी बड़ी रकम को न दे सका, तब वह कहने लगा कि उसका मुख्य उद्देश्य अवध की पश्चिमोत्तर सीमा दृढ़ करके बंगाल की मराठों से रक्षा करना था। ऐसी दशा में यह कहना पड़ता है कि अँगरेजों का इस युद्ध में पड़ना न्याय-सगत नहीं था। रहेलखंड की प्रजा का भी इससे कोई लाभ नहीं हुआ। रहमतख़ाँ के उदार शासन के स्थान पर, जिससे प्रजा सन्तुष्ट थी, नवाब वजीर का शासन हो गया, जिसमें प्रजा पर अधिक अत्याचार ही हुआ।

इंग्लैंड-सरकार का हस्तक्षेप—बंगाल में कम्पनी का प्रभाव देखकर इंग्लैंड सरकार को चिन्ता हो रही थी। कम्पनी के कर्मचारी मालामाल होकर अपने देश को लौटते थे और वहाँ नवाबों की तरह रहते थे। इस धन में इंग्लैंड सरकार ने भी अपना हिस्सा लगाना चाहा और सन् १७६७ में दो साल तक ४ लाख पौंड सालाना देने के लिए कम्पनी को मजबूर किया। बंगाल की अतुल सम्पत्ति देखकर कम्पनी को भी खूब धन मिलने की आशा हो रही थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। पिछले दुर्भिक्ष से प्रान्त की आर्थिक दशा खिड़ गई, निजी व्यापार के कारण बहुत सा धन उसके कर्मचारियों की जेब में चला गया। व्यापार मन्दा पड़ गया और बराबर

नींव को दृढ़ता

लड़ाई रहने के कारण सेना का खर्च ब्रेहद बढ़ गया। क्लाइव और हेस्टिंग्स के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी उसकी आर्थिक दशा न सुधर सकी और सन् १७७२ में एक बड़ी रकम कर्ज लेने के लिए उसको इंग्लैंड-सरकार से प्रार्थना करनी पड़ी। कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर सरकार के हाथ में आया और उसने पूरी जाँच करने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त कीं। इन कमेटियों की रिपोर्ट मिलने पर पार्लामेंट ने सन् १७७३ में दो कानून पास किये। पहले कानून के अनुसार यह निश्चित हुआ कि कम्पनी अपना लगायी हिसाब इंग्लैंड-सरकार को दिखलाया करे और दूसरे कानून से भारतीय शासन-व्यवस्था में बहुत कुछ हेर-फेर किया गया। यह दूसरा कानून 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—इस नई शासन-व्यवस्था के अनुसार बंगाल का गवर्नर, 'गवर्नर-जनरल' बनाया गया और चार मेम्बरों की उसकी एक कौंसिल बनाई गई। गवर्नर-जनरल कौंसिल का सभापति रखा गया और उसको इस हैसियत से एक वोट अधिक देने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल इस कौंसिल के सर्वार्थी अधीन बना दिया गया और उसे इसके विरुद्ध कोई काम करने की अनुमति नहीं दी गई। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल की अवधि ५ साल की रखी गई और इनकी पहली नियुक्ति का अधिकार इंग्लैंड-सरकार को दिया गया। बाद को भी बिना सरकार की अनुमति के कम्पनी के संचालकों को इन पदाधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार न रखा गया।

बंगाल के गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों के निरीक्षण का भी भार दिया गया। इन प्रान्तों के गवर्नरों से युद्ध तथा सन्धि के अधिकार ले लिये गये और अपने-अपने प्रान्तों का कुल हाल गवर्नर-जनरल को लिखने और बराबर उसकी सलाह से काम करने के लिए उन्हें आज्ञा दी गई। कलकत्ते में 'सुप्रीम कोर्ट' नाम की एक बड़ी सरकारी अदालत भी खोली गई। इसमें प्रधान न्यायाधीश को मिलकर चार जज रखे गये। बङ्गाल, बिहार तथा उड़ीसा में बसनेवाली ब्रिटिश प्रजा तथा कम्पनी के कर्मचारियों के न्याय का अधिकार इस अदालत को दिया गया।

भारतवर्ष सम्बन्धी कुल पत्रव्यवहार कम्पनी ने इंग्लैंड-सरकार को दिखलाना स्वीकार किया। उसके सभी कर्मचारियों को नजरांना लेने या निजी व्यापार करने की मनाही कर दी गई।

इस कानून से भारतीय शासन-व्यवस्था में बड़ा हेर-फेर हो गया। कम्पनी के बहुत से अधिकार जाते रहे और वह इंग्लैंड-सरकार के अधीन हो गई। विना पार्लियमेंट की अनुमति के उसको किसी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार न रहा। परन्तु इस कानून में कई एक दोष थे, जिनके कारण आगे चलकर बड़े उपद्रव हुए और इसको फिर से बदलना पड़ा। जिन लोगों ने इसे बनाया था, उन्हें भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति का ज्ञान न था। गवर्नर-जनरल को कौंसिल के अधीन बना देने में साम्राज्य की दृष्टि से भूल की गई। उस समय की राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी कि बिना पूरे अधिकार के गवर्नर-जनरल का काम न चल सकता था। मदरास और बम्बई की सरकारों से 'युद्ध तथा सन्धि' के अधिकार तो ले लिये गये, परन्तु साथ ही साथ आवश्यकता पड़ने पर या इंग्लैंड से आज्ञा मिलने पर बंगाल की सरकार से बिना पूछे हुए भी काम करने की स्वतंत्रता दे दी गई। सुप्रीम कोर्ट की न तो कोई अधिकार-सीमाएँ ही निश्चित की गईं, न यही बतलाया गया कि उसको किस कानून के अनुसार निर्णय करना होगा और न उसका कौंसिल के साथ सम्बन्ध ही स्पष्ट किया गया।

कौंसिल से भगड़ा—रेग्युलेटिंग ऐक्ट के अनुसार हेस्टिंग्स पहला गवर्नर-जनरल बनाया गया और क्लेवरिंग, मानसन, फ्रांसिस तथा ब्रावेल कौंसिल के मेम्बर नियुक्त किये गये। इनमें से पहले तीन मेम्बर तो सीधे इंग्लैंड से आये थे, परन्तु ब्रावेल कम्पनी का नौकर था और बहुत दिनों से भारतवर्ष में रहता था। सर एलाइजा डम्पी, जो हेस्टिंग्स का सहपाठी था, सुप्रीम कोर्ट का प्रधान जज बनाकर भेजा गया। ये सब लोग अक्टूबर सन् १७७४ में भारतवर्ष पहुँचे। कौंसिल के नये मेम्बरों ने आते ही हेस्टिंग्स के शासन की जाँच करनी शुरू कर दी। कहा जाता है कि फ्रांसिस स्वयं गवर्नर-जनरल बनना चाहता था, इसीलिए वह हेस्टिंग्स की हर एक बात

का विरोध करता था। उसका साथ क्लेवरिंग और मानसन भी देते थे। इस तरह कौंसिल में फ्रांसिस के दल की अधिकता थी और ~~हेस्टिंग्स~~ को, नये कानून के अनुसार, उसकी बात माननी पड़ती थी। इन नये मेम्बरों को भारतवर्ष की परिस्थिति का पूरा ज्ञान न था, इसलिए वे प्रायः हेस्टिंग्स की नीति का, बिना अच्छी तरह समझे हुए,

विरोध करने लगते थे।

उन्होंने हेस्टिंग्स के

नियुक्त किये हुए कई

अफसरों को निकाल

दिया और उसकी बहुत

सी कार्रवाइयों को उलट

दिया। यह समझा

दो साल तक बराबर

चलता रहा। सन्

१७७६ में मानसन के

मरने पर फ्रांसिस के

दल की अधिकता नष्ट

हो गई और हेस्टिंग्स

को कुछ शान्ति मिली।

फ्रांसिस और हेस्टिंग्स

की शत्रुता इतनी बढ़

गई कि सन् १७८० में

दोनों में एक द्वन्द्व युद्ध हुआ,

जिसमें फ्रांसिस घायल होकर इंग्लैंड वापस चला गया। तब से हेस्टिंग्स को निर्विघ्न काम करने का अवसर मिला।

नन्दकुमार को फाँसी—अपना काम निकालने के लिए, संचालकों की इच्छा से, पहले हेस्टिंग्स ने ही नन्दकुमार को बढ़ावा दिया था, पर मतलब सिद्ध हो जाने के बाद से वह उसका विरोधी हो गया था। कौंसिल



फिलिप फ्रांसिस

में हेस्टिंग्स के विरोधी दल को प्रबल देखकर नन्दकुमार ने भी बदला लेना निश्चित किया। कौंसिल से उसने हेस्टिंग्स की कई एक शिकायतें कीं। इन शिकायतों में मुख्य बात यह थी कि हेस्टिंग्स ने मुन्नी बेगम से साढ़े तीन लाख रुपया घूस में लिया है, और १४ लाख रुपया मुहम्मद रिजावाँ तथा शिताब राय से लेकर उनको अदालत से छुड़वा दिया है। इन अपराधों को सिद्ध करने के लिए कौंसिल की एक बैठक में नन्दकुमार बुलाया गया। हेस्टिंग्स गवर्नर-जनरल और कौंसिल का सभापति था। वह इस अपमान को न सह सका और बारवेल के साथ कौंसिल से उठकर चला गया। बाकी मेम्बरों ने नन्दकुमार की सब बातें सुनकर हेस्टिंग्स को दोषी ठहराया और सब कागजात कम्पनी के वकील को देकर हेस्टिंग्स से कुल रुपया वापस लेने की आज्ञा दे दी। हेस्टिंग्स ने डेढ़ लाख रुपया मुन्नी बेगम से लिया था, यह बात ठीक है। इसको उसके समर्थक सर जेम्स स्टिफन ने भी उचित नहीं माना।^१ इस तरह नन्दकुमार की शिकायतें निराधार न थीं। इधर हेस्टिंग्स और बारवेल ने सुप्रीम कोर्ट में नन्दकुमार तथा उसके कुछ साथियों पर, दोनों के विरुद्ध, षडयन्त्र रचने का अभियोग चलाया। सुप्रीम कोर्ट ने केवल नन्दकुमार को बारवेल के विरुद्ध दोषी ठहराया। इसी अवसर पर मोहन-प्रसाद नाम के एक व्यक्ति ने नन्दकुमार पर जालसाजी का मुकदमा चलाया। कहा जाता है कि किसी दीवानी के मामले में नन्दकुमार ने एक जाली दस्तावेज बनाई थी। अदालत की सहायता के लिए १२ अंगरेजों की जुरी बनाई गई, जो एक सप्ताह तक मुकदमे को सुनती रही। अन्त में अदालत ने नन्दकुमार को दोषी पाया और उन दिनों के कानून के अनुसार उसको फाँसी देने की आज्ञा दी। नन्दकुमार बड़े धैर्य और साहस के साथ फाँसी पर चढ़ा।^२

१ जेम्स स्टिफन, दि स्टोरी ऑफ नन्दकुमार, जि० १, पृ० ७२। हेस्टिंग्स का कहना है कि यह रकम भत्ते की थी, जो मुर्शिदाबाद जाने पर गवर्नरों को नवाब के खजाने से मिला करती थी और हिसाब में दर्ज रहती थी।

२ कौंसिल के नाम अपने अन्तिम पत्र में नन्दकुमार का कहना था कि मैं अब मरने

कहा जाता है कि इस मामले में नन्दकुमार के साथ न्याय नहीं किया गया। सुप्रीम कोर्ट को यह मुकदमा सुनने का अधिकार ही न था। जालसाजी का मामला बदला लेने के लिए हेस्टिंग्स ने चलवाया और अँगरेजी अदालत ने निष्पक्ष भाव से निर्णय नहीं किया। प्रधान जज हम्पी हेस्टिंग्स का सहपाठी था, उसने हेस्टिंग्स का पक्षपात किया। इस तरह “न्याय के नाम में नन्दकुमार की हत्या की गई”। कौंसिल में हेस्टिंग्स के विरुद्ध शिकायत करने के बाद ही, यह पुराना गढ़ा हुआ मुकदमा खोदकर निकाला गया था, इससे हेस्टिंग्स पर सन्देह अवश्य होता है। पर हेस्टिंग्स शपथ लेकर अपने को इस मामले में निर्दोष बतलाता है। इसको छेड़ने में देरी होने का कारण यह बतलाया जाता है कि जालसाजी का पूरा सबूत तब तक न मिल सका था। अदालत की निष्पक्षता का प्रश्न बड़ा जटिल है। मुकदमा सुनने में जज स्वयं ही गवाहों से जिरह करने लगते थे। अदालत में सब अँगरेज थे, नन्दकुमार अँगरेजों का घोर शत्रु था, बंगाल के नवाबों को उनके पंजे से मुक्त करने का वह बराबर प्रयत्न करता था। इसी दोष के पीछे अँगरेजों ने उसको हटाकर मुहम्मद रिजाखाँ को न्याय बनवाया था। गवर्नर-जनरल पर भी उसने घूस खाने के अपराध लगाने की धृष्टता की थी। उन दिनों की राजनैतिक परिस्थिति में ऐसे भयानक मनुष्य के साथ शुद्ध न्याय कहाँ तक किया जा सकता था, यह कहना बड़ा कठिन है। इस पर भी यदि अदालत की निष्पक्षता स्वीकार कर ली जाय, तब भी यह कहना पड़ेगा कि नन्दकुमार को जो दंड दिया गया वह सर्वथा अनुचित था। यह दंड इंग्लैंड के कानून के अनुसार दिया गया था। अपराध सिद्ध हो जाने पर यह दंड देने के लिए अदालत मजबूर थी, यह बात ठीक है। परन्तु यह जानते हुए कि भारतवर्ष में ऐसा निष्ठुर दंडविधान नहीं है, उसका कम से

जा रहा हूँ। इस लोक के लिए मैं परलोक को न बिगाड़ूँगा। मैं सत्य कहता हूँ कि जालसाजी के मामले में मैं निर्दोष हूँ। केवल बदला लेने के लिए यह मुकदमा मुझ पर चलाया गया है। फारेस्ट, सेलेक्शन्स, जि० १, पृ० १३०-३१।

कम इतना कर्तव्य अवश्य था कि वह नन्दकुमार पर दया दिखलाने की सिफारिश करती।

कौंसिल और कोर्ट—रेग्युलेशन ऐक्ट में ~~कौंसिल और कोर्ट~~ के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या न की गई थी, इसका फल यह हुआ कि दोनों में झगड़ा होने लगा। कोर्ट के हस्तक्षेप से शासन में बड़ी बाधाएँ पड़ने लगीं। इसके जज अपने को इंग्लैंड-सरकार के अधीन समझते थे और कौंसिल की कुछ भी परवाह न करते थे। पटना के एक मुसलमान जमीन्दार के मरने पर उसकी सम्पत्ति के विषय में उसकी विधवा स्त्री और भतीजे में झगड़ा हुआ। कोर्ट ने यह कहकर कि जमीन्दार कम्पनी के नौकर हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध के मामले उसके अधीन हैं, प्रान्तीय कौंसिल के निर्णय को रद्द कर दिया। एक दूसरे मामले में और भी तमाशा हुआ। कोसीजुरा के जमीन्दार के विरुद्ध किसी ने दावा किया। सम्मन देने में जमीन्दार के साथ बड़ी जबरदस्ती की गई। इस पर हेस्टिंग्स की कौंसिल ने कोर्ट के जमादार और सिपाहियों को गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। स्विफन लिखता है कि कौंसिल का यह कार्य सर्वथा अनुचित था। इसको इतिहासकार स्मिथ भी मानता है, पर साथ ही साथ वह लिखता है कि परिस्थिति बड़ी कठिन थी। कोर्ट के इन बनावटी अधिकारों को रोके बिना शासन-व्यवस्था का जारी रखना असम्भव था। शासक को कभी-कभी कानून के विरुद्ध भी काम करना पड़ता है।^१ स्वयं हेस्टिंग्स ने भी माना है कि “शासन के मार्ग में कोर्ट बड़ा बाधक था।”

प्रधान जज इम्पी की हेस्टिंग्स से भिन्नता होने के कारण यह झगड़ा आगे न बढ़ने पाया। उसने इसे मिटाने के लिए सन् १७८० में इम्पी को ‘सदर-दीवानी अदालत’ का भी अध्यक्ष बना दिया। इस पद के वेतनस्वरूप इम्पी को ५ हजार रुपया माहवार अधिक मिलने लगा। लार्ड मैकाले का कहना है कि नन्दकुमार के मामले में सहायता करने का बदला इस तरह चुकाया

गया। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इम्पी ने इस वेतन को लिया न था। पार्लामेंट ने इस प्रबन्ध को अनुचित समझकर इम्पी को वापस बुला लिया। इम्पी और हेस्टिंग्स के मन के भाव चाहे जो कुछ रहे हों, यह मानना पड़ेगा कि उस पद पर थोड़े ही दिन रहकर इम्पी ने कई एक अच्छे सुधार किये। वह फारसी और बँगला दोनों भाषाएँ जानता था। उसने अदालत के नियमों का एक संग्रह तैयार किया और उसका फारसी तथा बँगला में अनुवाद कराया। कार्यवाही में यथासम्भव एकता और सुगमता लाने का भी प्रयत्न किया गया। बहुत दिनों तक भारत की अँग्रेजी अदालतों में इन्हीं नियमों के अनुसार काम होता रहा।



एलाइजा इम्पी

मराठों के साथ युद्ध—बङ्गाल और मदरास की देखा-देखी बम्बई-सरकार को भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने की धुन लगी हुई थी। मराठों की परस्पर फूट में इसके लिए उसको अच्छा अवसर मिल गया। यह बतलाया जा चुका है कि रघुनाथ राव, जो राघोबा के नाम से प्रसिद्ध था, पूना से भागकर अँग्रेजों की शरण में चला गया था। राघोबा ने बम्बई के निकट के दो स्थान—बेसीन और सालसट—देने का वचन देकर अँग्रेजों से सहायता माँगी। बम्बई-सरकार ने सहायता देना स्वीकार करके पहले ही से सालसट पर अधिकार कर लिया। सूरत की सन्धि से राघोबा को यह अधिकार मानना पड़ा। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार सूरत की सन्धि के लिए गवर्नर-जनरल की अनुमति

लेनी आवश्यक थी, परन्तु बम्बई-सरकार को नई शासन-व्यवस्था का पता भी न था। हेस्टिंग्स को जब यह समाचार मिला तब उसने बम्बई-सरकार के इस कार्य को “असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध” बतलाया। उसका कहना था कि राघोबा के अधिक पक्षपाती नहीं हैं। स्वयं बम्बई-सरकार के पास मराठा ऐसे प्रबल शत्रुओं के साथ लड़ने के लिए न तो काफी सेना है और न धन। मराठों का राज्य स्वतंत्र है, उसमें हस्तक्षेप करना अनुचित है। इस निर्णय के अनुसार बम्बई-सरकार को राघोबा की सहायता करने के लिए मना कर दिया गया। साथ ही साथ कर्नेल अप्टन को पूना भेजकर, पुरन्दर नामक स्थान पर, एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार अंगरेजों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया। इधर बम्बई-सरकार सालसट और बेसीन को न छोड़ना चाहती थी, इसलिए उसने कम्पनी के संचालकों से लिखा-पढ़ी करके सूरत की सन्धि को स्वीकर करवा लिया और राघोबा की सहायता करने के लिए आज्ञा ले ली। पूना-सरकार के विरोध करते रहने पर भी मास्टिन फिर प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। इसके पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद मंत्रियों में फूट हो गई और दीवान सखाराम बापू राघोबा के पक्ष में हो गया।

इस पर हेस्टिंग्स भी उस युद्ध का समर्थन करने लगा, जिसको स्वयं उसने “असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध” बतलाया था। फ्रांसिस ने इस तरह पुरन्दर की सन्धि के प्रतिकूल जाने का घोर विरोध किया। उसकी तथा हीलर की राय में बम्बई-सरकार का निर्णय “नियम, नीति तथा न्याय के विरुद्ध” था। हेस्टिंग्स का अपने समर्थन में कहना था कि नाना फड़नवीस अंगरेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों के एक दूत के साथ बातचीत कर रहा था। इसके अतिरिक्त पूना के स्वयं प्रधान सचिव ने राघोबा को गद्दी पर बैठलाने की प्रार्थना की थी। कम्पनी के संचालकों ने भी सूरत की सन्धि को मान लिया था। इसलिए बम्बई-सरकार की अब सहायता करना अनुचित न था। बहुमत से कौंसिल ने हेस्टिंग्स की सलाह मानकर बम्बई सेना भेजने की आज्ञा दे दी।

वड़गाँव का समझौता—इस लिखा-पढ़ी और वाद-विवाद के समय में भी युद्ध बराबर जारी रहा। बम्बई-सरकार पहले से ही राघोबा की

सहायता करने के लिए एक सेना भेज चुकी थी। इस सेना का सामना करने के लिए नाना फड़नवीस तैयार था, होलकर और सिन्धिया अपनी बड़ी-बड़ी सेनाएँ लिये हुए पड़े थे। नाना फड़नवीस को अपने जासूसों से बम्बई-सरकार की सब बातों का पता मिल जाता था। उसने ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि अँगरेजी सेना को कोई रसद न मिले। राघोबा को लेकर जो अँगरेजी सेना आई थी उसको, मराठों के बराबर आक्रमण और रसद न मिलने के कारण, विवश होकर उनके साथ जनवरी सन् १७७९ में वडगाँव नामक स्थान पर समझौता करना पड़ा। इसके अनुसार अँगरेजी सेना ने राघोबा का साथ छोड़ दिया, जो भागकर सिन्धिया की शरण में चला गया और कौंकण के कई एक स्थानों को लौटाने तथा सिन्धिया को ४१ हजार रुपया देने का वादा किया। बम्बई-सरकार ने इस समझौते को नहीं माना। उसका कहना था कि बिना उसकी अनुमति के सेना को ऐसा समझौता करने का कोई अधिकार न था। हेस्टिंग्स लिखता है कि इस समझौते के पढ़ने पर उसकी लजा का कोई ठिकाना न रहा।



राघोबा

इन्हीं दिनों नाना फड़नवीस ने पेसभा की ओर से इंग्लैंड के बादशाह को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने बड़ी योग्यता से यह दिखलाया कि शुरू से ही अँगरेजों ने मराठों के साथ अपने वचन का पालन नहीं किया। वह लिखता है कि बम्बई और बंगाल की सरकारों के साथ हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया, परन्तु उनका लिखना कुछ और कहना कुछ और है। बम्बई और कलकत्तावाले एक दूसरे के किये हुए इकरारों को नहीं मानते हैं। परन्तु मत-भेद होते हुए भी दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक जान पड़ती

है। मतलब की बात में भेद नहीं रहता है। राज्य में सब से बड़ी बात वचन पर दृढ़ रहना है। यदि उसमें भिन्न-भिन्न झगड़े खड़े हों और ठहरी हुई शर्तें न मानो जायँ, तो फिर लचारी है।^१

सालबाई की सन्धि—युद्ध का समाचार मिलने पर नाना फड़नवीस ने फिर मराठा सरदारों को एकत्र किया और निजाम तथा हैदरअली के साथ मिलकर अंगरेजों से लड़ने का प्रबन्ध किया। उधर बङ्गाल से अंगरेजों की एक मेना जनरल गोडाड की अध्यक्षता में गुजरात की ओर चली और उसने बड़ौदा के गायकवाड़ को अपने पक्ष में मिलाकर अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। दूसरी सेना ने मेजर पोफ़म की अध्यक्षता में मध्य भारत की ओर से आकर सिन्धिया के प्रसिद्ध दुर्ग ग्वालियर को छीन लिया। इस पर सिन्धिया ने हेस्टिंग्स से समझौता कर लिया। ग्वालियर वापस लेकर उसने पूना-सरकार से सन्धि कराने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इधर हैदरअली को मृत्यु हो गई और भोंसला को अंगरेजों ने फोड़ लिया। इस तरह नाना फड़नवीस का बना-बनाया काम बिगड़ गया और मई सन् १७८२ में सालबाई की सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार सवाई माधवराव पेशवा मान लिया गया, राघोबा को पेंशन दे दी गई और अंगरेजों को सालसट मिल गया।

ब्रिटिश भारत के इतिहास में यह सन्धि बड़े महत्व की है। जाहरा तौर पर एक तरह से मराठों की ही विजय रही, क्योंकि सवाई माधवराव पेशवा मान लिया गया, पर वास्तव में हेस्टिंग्स की नीति की यह सबसे बड़ी विजय थी। राघोबा को गद्दी पर बिठलाना अंगरेजों का कोई मुख्य उद्देश्य न था। मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए यह एक बहाना मात्र था। इसमें पड़कर हेस्टिंग्स ने मराठा-मंडल की शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसने 'मराठा साम्राज्य के दो स्तम्भ' गायकवाड़ तथा भोंसला को तोड़ लिया और शक्तिशाली सिन्धिया को उत्तरी भारत का लालच देकर शान्त कर दिया। इस अवसर पर सिन्धिया ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। मराठा साम्राज्य

का उसको इस समय ध्यान न था, वह दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए चिन्तित हो रहा था। नाना फड़नवीस की यह बात कि मराठा साम्राज्य के हित का सर्वनाश किये बिना भी सिन्धिया उत्तरी भारत में अपना उद्देश्य सफल बना सकता है, क्योंकि यदि मराठा आपस में मिलकर दृढ़ता के साथ काम करेंगे तो अंगरेजों का प्रभुत्व दिल्ली में कभी न जम सकेगा,^१ सिन्धिया की समझ में न आई। वह हेस्टिंग्स की नीति का गूढ़ रहस्य न समझ सका। उसके इस कार्य से मराठों की दृढ़ता नष्ट हो गई। हेस्टिंग्स की चतुरता से बंगाल की पश्चिमोत्तर सीमा दृढ़ हो गई और मराठा साम्राज्य में अंगरेजों का पैर जम गया।

चेतसिंह पर जुरमाना—बनारस का राजा पहले अवध के नवाबों के अधीन था। सन् १७७५ में अवध के नवाब ने बनारस का इलाका कम्पनी के हवाले कर दिया। राजा चेतसिंह ने कम्पनी को २३ लाख रुपया सालाना देना स्वीकार किया और कम्पनी ने इसके अतिरिक्त और किसी रकम के न माँगने का वचन दिया। सन् १७७८ में इंग्लैंड और फ्रांस में फिर लड़ाई छिड़ गई। इस पर हेस्टिंग्स ने चेतसिंह से नियत 'कर' के अतिरिक्त ५ लाख रुपया सालाना ३ वर्ष तक लेना निश्चित किया। पहले साल तो चेतसिंह ने रुपया दे दिया, परन्तु दूसरे साल रुपया देने में देरी होने के कारण हेस्टिंग्स ने उस पर जुरमाना कर दिया। तीसरे साल भी उसको एक लाख रुपया जुरमाना देना पड़ा। इस अवसर पर उसने अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं हेस्टिंग्स को २ लाख रुपया दिया। हेस्टिंग्स ने इसको कम्पनी के खजाने में अपने नाम में जमा करा दिया, पर चेतसिंह से वह बराबर तकाजा करता गया। दक्षिण में युद्ध छिड़ जाने के कारण इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। चेतसिंह से दो हजार सवार भी माँगे गये। बड़ी कोशिश से उसने ५०० सवार तैयार भी किये, पर हेस्टिंग्स को सन्तोष न हुआ। राजा को

१ नाना फड़नवीस का सिन्धिया के नाम पत्र, किंगेड और पारसनीस, हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, जि० ३, पृ० १४१।

सेना और रुपया भेजने में हील-हवाला करते देखकर हेस्टिंग्स ने उस पर ५० लाख रुपया जुरमाना करना निश्चित किया और उसको वसूल करने के लिए वह स्वयं बनारस आया। हेस्टिंग्स के पहुँचने पर राजा ने बहुत कुछ अनुनय-विनय की, पर उसकी एक भी न सुनी गई, और हेस्टिंग्स की आज्ञा से उसके महल पर गोरों का पहरा बैठा दिया गया। बनारस नगर में इस समाचार के फैलते ही उपद्रव मच गया। रामनगर से सैनिकों ने आकर गोरों को मार डाला। राजा चेतसिंह महल की एक खिड़की से कूदकर लतीफगढ़ की तरफ चला गया। हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को दमन करने के लिए एक सेना भेजी। रामनगर की तंग गलियों में सेना के दो दल नष्ट कर डाले गये। चेतसिंह के सिपाही बड़ी वीरता से लड़े। हेस्टिंग्स को अपने प्राण लेकर चुनार भागना पड़ा। इसके बाद पतीता में फिर युद्ध हुआ। यहाँ भी चेतसिंह के सिपाहियों ने बड़ी वीरता दिखाई। रामनगर की दली हुई तोपें और बारूद देखकर अंगरेज अफसर दंग रह गये।^१ सितम्बर सन् १७८१ में अंगरेजों ने लतीफगढ़ पर अधिकार कर लिया। खजाने में जो कुछ रुपया था, उसको सिपाहियों ने लूट लिया। चेतसिंह दक्षिण भाग गया। हेस्टिंग्स ने बनारस लौटकर उसके भानजे को राजा बना दिया, जिसने कम्पनी को ४० लाख रुपया सालाना कर देना स्वीकार किया।

हेस्टिंग्स का कहना है कि चेतसिंह कम्पनी का एक साधारण सनदयाफता जमीन्दार था। आपत्ति के समय पर अपने स्वामी की सहायता करना उसका कर्तव्य था। उसके पास धन और सेना की कमी न थी। वह मराठों और नवाब वजीर से मिलकर विद्रोह करना चाहता था। बनारस का उपद्रव इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह जान-बूझकर कम्पनी की सहायता करने में हील-हवाला करता था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चेतसिंह एक साधारण जमीन्दार न था। यह बात ठीक है कि कम्पनी ने उसको जमीन्दारी की सनद दी थी और उसने एक कबूलियत लिख दी थी। इस सनद

और कबूलियत में २३ लाख रुपया सालाना का नियत कर देने के अतिरिक्त और कोई बात स्पष्ट न की गई थी। किसी प्रकार का मुचलका लिखने से चेतसिंह ने साफ इनकार कर दिया था। सिक्का ढालने और अपने राज्य में न्याय तथा शासन करने के उसको पूर्ण अधिकार थे।। उसके दरबार में अँगरेजों का एक रेजीडेंट भी रहता था। इससे स्पष्ट है कि उसका पद साधारण जमीन्दारों से कहीं ऊँचा था और उसकी गणना राजाओं में थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि जुलाई ५, सन् १७७५ को चेतसिंह के साथ जो समझौता हुआ था, उसमें यह साफ कह दिया गया था कि जो रकम तय हुई है, उसे यदि चेतसिंह बराबर देता रहेगा, तो न तो उससे किसी रूप या "किसी बहाने से कम्पनी अधिक रुपया माँगेगी और न उसके अधिकारों में किसी को हस्तक्षेप या उसके राज्य की शान्ति भंग करने देगी।"१

फ्रांस और इंग्लैंड में युद्ध जरूर छिड़ गया था, परन्तु भारतवर्ष में फ्रांसीसियों का प्रभुत्व नष्ट हो चुका था। इसलिए कम्पनी पर कोई ऐसी बड़ी आपत्ति न थी, जिसके कारण चेतसिंह से असाधारण सहायता माँगनी उचित कही जा सके। रुपया देने में चेतसिंह जान-बूझकर बहाना न करता था। बनारस के रेजीडेंट मार्कहम ने इस बात को माना है कि वह ५० लाख जुरमाना देने में असमर्थ था। कुछ रियायत और मोहलत मिलने के लिए ही उसने २ लाख रुपया हेस्टिंग्स को भेंट किया था। इस रुपये को हेस्टिंग्स ने स्वयं नहीं लिया, पर साथ ही साथ जिस उद्देश्य के लिए रुपया दिया गया था, उसकी भी उसने पूर्ति नहीं की। उसे चेतसिंह को साफ जवाब दे देना चाहिए था। चेतसिंह विद्रोह की चेष्टा कर रहा था, यह हेस्टिंग्स की कल्पना मात्र थी। नवाब वजीर में कोई दम न था, मराठे अपने घरेलू झगड़ों ही में फँसे थे, अँगरेजों से मुकाबला करना चेतसिंह की शक्ति के बाहर था। बनारस का उपद्रव चेतसिंह के प्रति हेस्टिंग्स के कठोर व्यवहार का फल था। स्मिथ ने भी माना है कि उस अवसर पर हेस्टिंग्स

का व्यवहार सर्वथा अनुचित था।^१ लायल के मतानुसार हेस्टिंग्स ने इस मामले में बड़ी भूल की और उसने अपनी स्वाभाविक विचारशीलता से काम नहीं लिया।^२

यह बात ठीक है कि इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी पर साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हेस्टिंग्स राजा चेतसिंह से चिढ़ा हुआ था। उसके विरुद्ध कौंसिल के मेम्बरों से चेतसिंह की मित्रता थी। इसका वह बदला लेना चाहता था। कम्पनी की माँगों को पूरी करने के लिए चेतसिंह ने यथाशक्ति प्रयत्न किया था। बंगाल तथा बिहार में कम्पनी के मातहत और भी तो कई राजा तथा जमीन्दार थे, विपत्ति के समय में उनसे सहायता क्यों नहीं माँगी गई? “चेतसिंह की लूट” से कम्पनी के हाथ एक पैसा तक नहीं लगा। यदि उसके साथ नरमी का बर्ताव किया जाता तो कुछ सहायता मिल भी जाती। वह २२ लाख रुपया देने के लिए तैयार था परन्तु हेस्टिंग्स ५० लाख पर ही डटा रहा। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि इस मामले में हेस्टिंग्स ने अधिकतर अपने व्यक्तिगत भावों से ही काम लिया।

श्रवण के साथ व्यवहार—सन् १७७५ में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई। फ्रैंकलिन का कहना है कि अपने समय को देखते हुए वह एक योग्य शासक था। विपत्ति के समय में भी उसका धैर्य न छूटता था। कभी कभी निष्ठुर होते हुए भी उसे न्याय से प्रेम था और राज्य की उन्नति के लिए बराबर चिन्ता रहती थी। अपने योग्य अफसरों की सहायता से उसने राज्य में शान्ति स्थापित रखने की बड़ी चेष्टा की।^३ नये नवाब आसफुद्दौला के साथ दूसरी सन्धि की गई, जिसके अनुसार सेना का माहवारी खर्च बढ़ा दिया गया, बनारस का इलाका ले लिया गया और अँगरेजों के अतिरिक्त यूरोप के

१ रिमथ, पृ० ५३८।

२ सर एल्फ्रेड लायल, वरिन हेस्टिंग्स, पृ० १२५-२७।

३ फ्रैंकलिन, हिस्ट्री ऑफ दि रेन ऑफ शाहआलम, पाणिनि आफिस संस्करण, पृ० ६४।

किसी अन्य निवासी को नौकर रखने की मनाही कर दी गई। मालगुजारी वसूल करने में भी वह कम्पनी की सेना से सहायता लेने लगा और उसने कई एक अंगरेज अफसरों को भी रख लिया। इसका फल यह हुआ कि खर्च बहुत बढ़ गया और सन् १७८१ में कम्पनी का कर्ज बढ़ते-बढ़ते ढेढ़ करोड़ तक पहुँच गया। इन्हीं दिनों हेस्टिंग्स बनारस से भागकर चुनार आया। उसने नवाब का खर्च घटाने के लिए कुछ सेना वापस बुला ली और कई अंगरेज अफसरों को निकाल दिया। कम्पनी का रुपया वसूल करने के लिए यहीं पर नवाब के साथ एक खास प्रबन्ध किया गया।

बेगमों की दुर्दशा—कहा जाता है कि नवाब की माँ और दादी के पास बड़ा धन था। कम्पनी का कर्ज चुकाने के लिए आसफुद्दौला इस धन को लेना चाहता था। बेगमों ने २६ लाख रुपया उसे दिया भी था, जिसके बदले में उन्हें एक जागीर दी गई थी। सन् १७७५ में अंगरेज रेजीडेंट तथा बंगाल कौंसिल के यह विश्वास दिलाने पर कि फिर उनसे रुपया न माँगा जायगा और उनकी जागीर न छीनी जायगी, बेगमों ने ३० लाख रुपया और देने का वचन दिया था। इसका कुछ भी ध्यान न रखकर अब हेस्टिंग्स ने बेगमों से धन छीनने तथा जागीर ज़ब्त करने की अनुमति नवाब को दे दी।^१ रेजीडेंट को हेस्टिंग्स ने लिख भेजा कि बेगमों के प्रति क्षमा दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर अंगरेजी सेना के साथ नवाब की सेना फैजाबाद पहुँच गई और उसने बेगमों के साथ बड़ा कठोर बर्ताव किया। उनके दो विश्वासपात्र खोजे गिरफ्तार कर लिये गये और कहा जाता है कि उनके कोड़े तक लगाये गये।—इस तरह बेगमों से बलात् रुपया छीनकर कम्पनी का कर्ज चुकाया गया।

१ इस अवसर पर हेस्टिंग्स को नवाब से दस लाख रुपया मिला था, जिसे वह अपने ही लिए रखना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसने तारीख २० जनवरी सन् १७८२ के पत्र में संचालकों को लिखा भी पर उन्होंने अनुमति नहीं दी। बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० २, पृ० ५४७।

हेस्टिंग्स का कहना है कि बेगमों का धन राज्य की सम्पत्ति थी। उस पर उनका कोई निजी अधिकार न था। कर्ज चुकाने के लिए नवाब उसको ले सकता था। यह बात ठीक है कि रुहेलों की लूट से बेगमों को यह धन मिला था, परन्तु विपत्ति के समय पर उन्होंने शुजाउद्दौला की सहायता करने में कोई कसर उठा न रखी थी। अँगरेजों को रुपया देने के लिए इलाहाबाद की सन्धि के समय पर बहू बेगम ने अपनी नाक की नथनी तक निकालकर उसको दे दी थी। ऐसी दशा में शुजाउद्दौला से बाद को जो कुछ धन उसको मिला था उसे यदि वह निज की सम्पत्ति समझती थी, तो इसमें उसका क्या दोष था ? दूसरे एक बार ३० लाख रुपया लेकर और बेगमों को यह विश्वास दिलाकर कि उनसे और रुपया न माँगा जायगा, फिर इस तरह बलात् रुपया लेना किसी तरह उचित न था। यदि यह मान भी लिया जाय कि बिना रुपये के काम न चलता था, तब भी जिन उपायों से रुपया लिया गया, वे सर्वथा निन्दनीय थे। हेस्टिंग्स कलकत्ता में रहता था, लखनऊ और फैजाबाद में क्या हो रहा था इसका उसे कुछ पता न था, ऐसा कहने से हेस्टिंग्स अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो सकता। रेजीडेंट मिडिलटन के यह लिखने पर भी कि “इस देश की स्त्रियों के साथ जितना कड़ा वर्ताव किया जा सकता है, किया जा चुका है” वह मिडिलटन को और सख्ती के साथ काम लेने के लिए बराबर लिखता रहा। लगभग साल भर तक बेगमों के खोजे कैद रहे, मिडिलटन और ब्रिस्टो कुल हाल कलकत्ता लिखते रहे, परन्तु हेस्टिंग्स ने उनकी करतूतों की निन्दा में कभी मुँह से एक शब्द भी नहीं निकाला, उल्टे नरमी दिखाने के लिए उन्हीं को डाँटता रहा। अपनी माता और दादी के साथ कुत्सित व्यवहार का जब स्वयं नवाब को पश्चात्ताप हुआ, तब हेस्टिंग्स थिगड़कर कहने लगा कि वह अपने वजीर के प्रभाव में पड़कर मेरी अनुमति से किये हुए कार्यों का, क्रोध और घृणापूर्ण अनुचित शब्दों में, विरोध कर रहा है।

अपनी नीति के समर्थन में हेस्टिंग्स का कहना था कि बेगमों अँगरेजों के विरुद्ध चेतसिंह का साथ दे रही थीं, इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। दूसरे, यदि ऐसा हो भी तो चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार

देखकर आत्म-रक्षा के लिए बेगमों का घबराकर उसका साथ देना कुछ अस्वाभाविक न था। इसको कम्पनी के संचालकों ने भी माना है। स्मिथ के यह कहने से कि बिना बल का प्रयोग किये हुए भासावर्ष में रुपया वपूल करना सहज न था, हेस्टिंग्स की नीति का समर्थन नहीं हो सकता। सर एल्फ्रेड लायल सरीखे हेस्टिंग्स के प्रशंसक को भी मानना पड़ा है कि अँगरेज अफसरों की अध्यक्षता में शारीरिक यातना पहुँचाकर स्त्रियों और उनके नौकरों से बलात् रुपया छीनना एक “घृणित कार्य” था। इकरार के विरुद्ध उनके साथ नवाब का मनमाना व्यवहार भले ही उचित हो, परन्तु उनके विरुद्ध नवाब को उत्तेजित करना और उसकी सहायता करना सर्वथा निन्दनीय था, जिसका कोई समर्थन नहीं हो सकता।^१

मैसूर के साथ दूसरा युद्ध—अमरीका के विद्रोही उपनिवेशों का साथ देने के कारण सन् १७७८ में इंग्लैंड और फ्रांस में फिर युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलने पर फ्रांसीसियों से पांडुचेरी छीन ली गई और मलबार तट पर माही का बन्दरगाह नष्ट कर डाला गया। यह बन्दरगाह हैदरअली के राज्य में था और यहाँ से उसकी रसद आती जाती थी इसलिए अँगरेजों का यह कार्य उसको बहुत बुरा लगा। मद्रास की सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने मराठों के आक्रमण करने पर हैदरअली की सहायता नहीं की थी, जिसके कारण वह पहले ही से अँगरेजों से चिढ़ा था। इस समय उनसे बदला निकालने का उसको अच्छा अवसर मिळ गया। मराठों से अँगरेजों का युद्ध हो रहा था, इसलिए वे लोग भी साथ देने के लिए तैयार थे। इधर निजाम भी अपने मित्र अँगरेजों से चिढ़ा हुआ था। राघोबा के आक्रमण करने पर अँगरेजों ने उसका भी साथ नहीं दिया था, दूसरे बिना उसकी अनुमति के उत्तरी सरकार में गंदूर का जिला अपने अधीन कर लिया था। इसलिए हैदरअली, निजाम और मराठा तीनों मिलकर अँगरेजों के विरुद्ध लड़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

सन् १७८० में हैदरअली अपने बेटे टीपू के साथ एक बड़ी भारी सेना लेकर कर्नाटक पर टूट पड़ा। उसने सारा देश उजाड़ दिया। मदरास के निकट कुछ गाँवों को रात में जलते देखकर अँगरेजों को उसके आ जाने का पता लगा। बक्सर-विजयी सेनापति हेक्टर मनरो के उसने छक्के छुड़ा दिये। कर्नल बेली के दल को टीपू ने घेरकर नष्ट कर डाला और उसको गिरफ्तार कर लिया। इस लड़ाई में अँगरेजों के पाँच हजार सिपाही तथा सात सौ गोरे मारे गये और लगभग दो हजार गोरे कैद कर लिये गये। हेस्टिंग्स को जब यह समाचार मिला तब उसने मदरास के गवर्नर को अयोग्यता के कारण पद से हटा दिया और आयरकूट को सेनापति बनाकर दक्षिण की ओर भेजा। इस अवसर पर धैर्य न छोड़कर उसने बड़ी नीति से काम लिया। एक ओर मराठा राज-मंडल में फूट फैलकर सिन्धिया से सन्धि का प्रस्ताव किया और मराठों को हैदरअली के विरुद्ध उत्तेजित कर दिया।^१ दूसरी ओर गंदूर वापस करके निजाम को शान्त कर दिया और हैदरअली मुगल सम्राट् से दक्षिण की सूबेदारी के लिए लिखा-पढ़ी कर रहा है, ऐसा सुझाकर निजाम को भी उसके विरुद्ध कर दिया। इस तरह इस समय का एक बड़ा भारी राजनैतिक गुट, जिसका परिणाम अँगरेजों के लिए बड़ा भयानक होता, हेस्टिंग्स की चतुर नीति से टूट गया और हैदरअली फिर अकेला रह गया। इतने पर भी उसका साहस न छूटा और वह डच तथा फ्रांसीसियों की सहायता से बराबर लड़ता रहा।

हैदरअली की मृत्यु—बड़ी कठिनाता से आयरकूट की अध्यक्षता में अँगरेजी सेना ने उसको पोर्टेनोबो, शालिंगाद और पालीलूर की लड़ाइयों में हराया। परन्तु दूसरी ओर टीपू ने कर्नल ब्रेथवेट के दल को फिर नष्ट कर डाला और बेली की तरह उसको भी पकड़ लिया। इस तरह जब युद्ध चल ही रहा था, दिसम्बर सन् १७८२ में हैदरअली का सहसा देहान्त हो गया। मरने के पूर्व वह अच्छी तरह जानता था कि अँगरेजों पर विजय पाना सहज

नहीं है, और उसने अपने मंत्री पुर्णिया से स्रष्ट शब्दों में कह दिया था कि "मैं अँगरेजों की शक्ति को भूमि पर नष्ट कर सकता हूँ, पर समुद्र को नहीं सुखा सकता हूँ।"

फ्रांसीसी और मराठों ने उसका साथ नहीं दिया, इसका उसे बड़ा दुःख था। मराठों के विषय में यह कह देना उचित है कि इस समय स्वयं मराठा-मंडल में फूट फैल रही थी और वे हैदरअली की सहायता करने में असमर्थ थे।



हैदरअली

नाना फड़नवीस विवश था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जब तक हैदरअली की मृत्यु का समाचार नाना फड़नवीस को नहीं मिला, तब तक उसने सालबाई की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

हैदरअली ने अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और साहस से थोड़े ही काल में मैसूर को दक्षिण का सबसे प्रबल राज्य बना दिया था। निजाम और अँगरेज दोनों ही उसकी शक्ति से डरते थे। कई बार हराकर भी मराठे उससे सदा सचेत रहते थे। उसको किसी प्रकार का अभिमान न था। साधारण से भी साधारण प्रजा को भी अपना दुःख स्वयं निवेदन करने का अधिकार प्राप्त था। उसमें धार्मिक पक्षपात बिल्कुल न था। उसके बड़े-बड़े अफसर और मंत्री हिन्दू थे। कहा जाता है कि सन् १७६१ में त्रिघनापल्ली पर आक्रमण करने के समय पर उसने श्रीरंगजी के मन्दिर के लिए बहुत सा धन

दिया था।^१ किसी प्रकार की अड़चन को वह सहन न कर सकता था। अपने बड़े-बड़े अफसरों तथा बेटे टीपू तक की चाबुक से खबर लेता था। शासन के सभी विभागों को वह अपने आप देखता था। प्रजा के सुख का उसे बराबर ध्यान रहता था। अपनी सेना को उसने बड़े अच्छे ढंग से संगठित किया था। वह कुछ भी पढ़ा-लिखा न था, पर अकबर और रणजीतसिंह की तरह उसको सभी बातों का ज्ञान था। उसकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। वह बड़े लम्बे-चौड़े हिसाब जवानी ही बतला देता था। वह पाँच भाषाओं में बोल सकता था। अपने दिमाग पर उसका ऐसा अधिकार था कि वह कई एक काम एक साथ ही करता था। कहा जाता है कि वह महफिल में बैठकर नाच देखता था, मंत्रियों से गूढ़ विषयों पर परामर्श भी करता था और चार-चार पाँच-पाँच पत्र एक साथ ही लिखवाता था। फारेस्ट का कहना है कि उसमें कुछ ऐसे गुण थे, जिनका अँगरेज आदर करते हैं।

इतिहासकार स्मिथ की राय है कि “हैदरअली का न कोई धर्म था, न कोई नीति और न उसमें दया का कोई भाव था।”^२ इसके प्रतिकूल उसके जीवन-चरित्र के लेखक बावरिंग का कहना है कि “एक पूर्वीय होते हुए भी वह अपने कौल का पक्का था। अँगरेजों के प्रति उसकी नीति निष्कपट थी। शासन में वह कठोर था, उसके नाम से भय उत्पन्न होता था, इतने पर भी यदि प्रशंसा से नहीं तो आदर के साथ उसका नाम मैसूर में लिया जाता है। उसकी समय-समय पर की कठोरताएँ भूल गईं, पर उसकी शक्ति और सफलता को जनता की स्मृति में सदा स्थान प्राप्त रहेगा।”^३

मंगलोर की सन्धि—कहा जाता है कि मरने पर हैदरअली की पगड़ी में एक पर्चा मिला था, जिसमें उसने टीपू को अँगरेजों से सन्धि करने की सलाह

१ फुलर्टन, ए व्यू ऑफ दि इंग्लिश इंटरेस्ट इन इंडिया, पृ० ७।

२ स्मिथ, पृ० ५४५।

३ बावरिंग, हैदर ऐंड टीपू, (रूलर्स ऑफ इंडिया) पृ० ११३।

दी थी।^१ परन्तु टीपू अपने पिता की इस अन्तिम आज्ञा के विरुद्ध अँगरेजों से लड़ता रहा। आयरकूट के मर जाने से टीपू का साहस बढ़ गया और उसने कई एक स्थान अँगरेजों से छीन लिये। मदरास के गवर्नर ने घबराकर जल्दी में सन्धि का प्रस्ताव कर दिया। यूरोप में सन्धि हो जाने पर फ्रांसीसियों ने टीपू का साथ छोड़ दिया। मराठों और अँगरेजों में भी सालबाई की सन्धि हो गई। ऐसी दशा में टीपू ने भी सन्धि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना उचित समझा। मार्च सन् १७८४ में मँगलौर नगर में सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार दोनों के जीते हुए देश लौटा दिये गये और कैदी छोड़ दिये गये। इस अवसर पर टीपू के यहाँ से २६८० गोरे तथा हिन्दुस्तानी कैदियों को छुटकारा मिला। कुछ गोरे उसके हाथ में रह गये जिनकी उसने खूब खबर ली।

हेस्टिंग्स को जब इस सन्धि का समाचार मिला तब उसके क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। उसका कहना था कि मदरास का गवर्नर कर्नाटक को भी हाथ से खो बैठेगा। इंग्लैंड-सरकार सन्धि के पक्ष में थी, इसलिए अपनी इच्छा के विरुद्ध हेस्टिंग्स को यह “निन्दनीय तथा अपमानजनक” सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। इस सन्धि में पेशवा और सिन्धिया की सहायता का कोई उल्लेख नहीं किया गया था, जिसके कारण वे बहुत चिढ़ गये। उन दोनों को एक पत्र लिखकर हेस्टिंग्स ने जैसे तैसे शान्त किया।

हेस्टिंग्स के अन्य सुधार—युद्ध में बराबर लगे रहने पर भी हेस्टिंग्स का ध्यान सब ओर रहता था। सन् १७७७ में पाँच सालवाला मालगुजारी का बन्दोबस्त समाप्त हुआ। अगले बन्दोबस्त के विषय में हेस्टिंग्स और फ्रांसिस में बहुत वाद-विवाद हुआ। फ्रांसिस इस्तमरारी बन्दोबस्त के पक्ष में था। अन्त में सालाना बन्दोबस्त फिर जारी किया गया, परन्तु भूमि नीलाम करने की प्रथा उठा दी गई और यथासम्भव मौरूसी जमींदारों की जमीन उन्हीं के हाथ में ही देना निश्चित किया गया। कम्पनी के कर्मचारियों

को भूमि लेने से मना कर दिया गया। प्रान्तीय बोर्डों की जगह कलकत्ता में एक बोर्ड बना दिया गया। कलेक्टरों के हाथ में माल और न्याय दोनों विभाग रहने से कभी-कभी प्रजा पर बड़ा अत्याचार होता था, इसलिए इन दोनों विभागों को अलग करने का भी प्रयत्न किया गया और न्याय के लिए नई अदालतें खोली गईं। सन् १७८१ में फौजदारी अदालतों में भी कुछ सुधार किये गये। दीवानी अदालतों के अँगरेज़ जजों को दारोगा के पास अपराधियों के चालान करने के अधिकार दिये गये और अंग-भंग के कई कठोर दंड उठा दिये गये। सुप्रीम कोर्ट की अधिकार-सीमाएँ कलकत्ता भर में ही परिमित कर दी गईं।

हेस्टिंग्स को पूर्वीय साहित्य से बड़ा प्रेम था। उसको अरबी तथा फारसी का ज्ञान था और वह हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था। सन् १७८१ में



सर विलियम जोन्स

उसने 'कलकत्ता मदरसा' खोला, जो आजकल एक बड़ा मुसलमानी कालेज है। बंगाल की सुप्रसिद्ध 'एशियाटिक सोसायटी' के स्थापित करने में उसने सर विलियम जोन्स की बड़ी सहायता की। जोन्स ने संस्कृत के कई एक ग्रन्थों का अँगरेज़ी में अनुवाद किया। इस सोसायटी से पूर्वीय साहित्य का बड़ा उपकार हो रहा है। हेस्टिंग्स ने कई एक संस्कृत पंडितों को कलकत्ते में बसाया था और वह उनकी बराबर सहायता करता था।

सन् १७८१ में उसने मेजर रेनल के द्वारा बंगाल का पहला 'अटलस' तैयार करवाया। रेनल सन् १७६४ से ही बंगाल में पैमायश का काम करता था। उसका

भौगोलिक ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि 'वह भारतीय भूगोल का जन्म-दाता' माना गया है।

पिट का इंडिया ऐक्ट—फ्रांसिस जब से इंग्लैंड वापस गया था, तभी से हेस्टिंग्स के विरुद्ध मंत्रियों के कान भर रहा था। सन् १७८० से पार्लामेंट में भारतवर्ष का प्रश्न फिर छिड़ गया। इसी साल बंगाल के शासन और कर्नाटक-युद्ध के कारणों की जाँच करने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त की गईं। इन कमेटियों के रिपोर्ट करने पर कामन्स सभा ने बम्बई के गवर्नर और हेस्टिंग्स को वापस बुलाने का निश्चय किया। परन्तु कम्पनी के संचालकों ने इसको न माना। इस पर फाक्स ने एक बिल पेश किया, जिसके अनुसार वह कम्पनी के सब राजनैतिक अधिकार इंग्लैंड-सरकार के हाथ में देना चाहता था। कई कारणों से यह बिल पास न हो सका। सन् १७८४ में पिट ने एक नया कानून पास करवाया, जिसके अनुसार ६ सदस्यों की एक 'निरीक्षण समिति' बनाई गई, जो 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। भारतवर्ष में कम्पनी के शासन की सब देख-भाल इस बोर्ड को सौंप दी गई। आगे चलकर बोर्ड नाम मात्र को रह गया और कुल अधिकार इसके सभापति के हाथ में चले गये। बोर्ड की आज्ञाओं को भारतवर्ष भेजने और वहाँ के सब कागजात बोर्ड के सामने पेश करने के लिए कम्पनी के तीन संचालकों की एक 'गुप्त कमेटी' भी बनाई गई। अन्य संचालकों का अब राजनैतिक मामलों से कोई सम्बन्ध न रह गया, परन्तु कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने और निकालने का अधिकार 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' के हाथ में ही छोड़ दिया गया। 'कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स' के अधिकार कम कर दिये गये और बोर्ड की कार्यवाही से उसका कोई सम्बन्ध न रह गया। भारतवर्ष में राज्य की वृद्धि के लिए युद्ध करना "राष्ट्र की नीति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा के विरुद्ध" बतलाया गया और संचालकों की बिना अनुमति के अपनी-या अपने अधीन राज्यों की रक्षा के अतिरिक्त किसी प्रकार के युद्ध या सन्धि करने के लिए गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को स्पष्ट रूप से मना कर दिया गया। भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल की

कौंसिल के मेम्बरों की संख्या चार से तीन कर दी गई, और मदरास तथा बम्बई प्रान्त, युद्ध, मालगुजारी तथा राजनीति के विषय में उसके पूर्ण रूप से, अधीन बना दिये गये। इस तरह भारतवर्ष में कम्पनी के नाम से इंग्लैंड-सरकार का शासन प्रारम्भ हुआ।

हेस्टिंग्स का इस्तीफा—इस कानून से हेस्टिंग्स को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी नीति का अब इंग्लैंड-सरकार समर्थन नहीं कर सकती। उसकी राय थी कि “पचासों बर्क, फाक्स और फ्रांसिस” इससे खराब कानून नहीं बना सकते थे। इंग्लैंड-सरकार की निगाह फिरी हुई देखकर, उसके अधीन अफसर भी उसकी पत्राह न करते थे। मदरास के गवर्नर ने उसकी इच्छा के प्रतिकूल मंगलौर की “अपमानजनक” सन्धि कर ली थी। इन सब बातों से दुखी होकर उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और फरवरी सन् १७८५ में वह भारतवर्ष से वापस चला गया।

पार्लामेंट का अभियोग—इंग्लैंड पहुँचने पर भी उसको शान्ति न मिली। सन् १७८६ में बर्क के प्रस्ताव पर उसके शासन की जाँच फिर से प्रारम्भ की गई। पार्लामेंट की कामन्स सभा ने रुहेला और मराठा युद्ध के सम्बन्ध में उसको निर्दोष पाया, पर चेतसिंह और अवध की बेगमों के प्रति उसके व्यवहार की बड़ी तीव्र आलोचनों की। इस पर सन् १७८८ में पार्लामेंट की लार्ड्स सभा में उस पर अभियोग चलाया गया। इस अभियोग में नवाब वजीर के साथ सन्धि तोड़ने, उसके शासन में हस्तक्षेप करने, उसकी सेना को बढ़ा देने, बेगमों और चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा कई मामलों में घूस खाने के बीस अपराध लगाये गये। इसमें फ्रांसिस की सहायता से—बर्क, फाक्स और शेरिडन—इंग्लैंड के तीन सुप्रसिद्ध वक्ताओं ने बड़े जोरों से बहस की। हेस्टिंग्स ने बड़े साहस और धैर्य के साथ अपनी नीति का समर्थन किया। यह अभियोग सात वर्ष तक चलता रहा। इतने दिनों में बहुत से परिवर्तन हो गये और अन्त में हेस्टिंग्स निर्दोष प्रमाणित होकर छोड़ दिया गया।

इस अभियोग का एक फल अवश्य हुआ । जिस शासन-यंत्र का संचालन हेस्टिंग्स कर रहा था, वह कितना अधूरा था यह सिद्ध हो गया और अफसरों को पूरी चेतावनी मिल गई । साथ ही साथ बर्क के उदार विचारों का आगे चलकर भारतीय शिक्षित समाज पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा । अभियोग के भारी खर्च से हेस्टिंग्स निर्धन हो गया । इंग्लैंड-सरकार ने कम्पनी के संचालकों को उसकी यथेष्ट सहायता न करने दी । वह निर्दोष सिद्ध हो गया, हेस्टिंग्स को यही बड़ा भारी सन्तोष था । सन् १८१८ में उसकी मृत्यु हो गई ।



एडमंड बर्क

हेस्टिंग्स की नीति—हेस्टिंग्स ने जब शासन-भार ग्रहण किया था, तब तक कम्पनी एक व्यापारिक संस्था ही थी । हेस्टिंग्स ने उसको भारतवर्ष का एक प्रबल राज्य बना दिया । पहले नवाब वजीर की सहायता करके, फिर उसको अपने अधीन बनाकर और उत्तरी भारत के सब से शक्तिशाली व्यक्ति माहादजी सिन्धिया के साथ मित्रता करके उसने बंगाल की पश्चिमोत्तर सीमा को दृढ़ कर दिया । कम्पनी के विरुद्ध भारतवर्ष की शक्तियों का कोई गुट्ट न बनने देना उसकी मुख्य नीति थी । उत्तरी भारत में उसने नवाब वजीर को मिलाकर सहेलों को नष्ट कर डाला । इस तरह इन दो शक्तियों के साथ मराठों के गुट्ट बनाने की कोई सम्भावना बाकी न रखी । मराठा-राजनीति में हस्तक्षेप करके उसने मराठा-मंडल में फूट फैला दी और गायकवाड़, भोंसला तथा सिन्धिया को अपने पक्ष में मिलाकर उस मंडल को

निर्बल बना दिया। मैसूर-युद्ध के समय पर निजाम, हैदरअली तथा मराठों के प्रबल गुट को उसने तोड़ डाला। जिन दिनों वह भारतवर्ष में था, अमरीका में अंगरेजों की बराबर हार हो रही थी। उसने इसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पड़ने दिया। उसके समय में भारतवर्ष की अधिक भूमि कम्पनी के हाथ नहीं लगी, यह ठीक है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि कम्पनी की शक्ति को उसने ऐसा बना दिया कि जिससे सभी डरने लगे।

अपनी पर-राष्ट्र नीति के समर्थन में, पार्लामेंट के प्रति उसका कहना था कि कम्पनी के राज्य की स्थापना दूसरों की वीरता से हुई, "मैंने उसकी वृद्धि की और उसको एक निश्चित स्वरूप दिया। मैंने उसको रक्षा की और थोड़े खर्च में उसकी सेनाओं को शत्रुओं के अज्ञात देश में भेजकर आपके अन्य अधिकृत स्थानों की सहायता की। एक (बम्बई) को मैंने अप्रतिष्ठा और अपमान से बचाया और दूसरे (मद्रास) की नष्ट तथा पराधीन हो जाने से रक्षा की। मैंने उन लड़ाइयों को जारी रखा, जिनको मैंने नहीं, पर आप या दूसरों ने छोड़ा था। मैंने प्रबल भारतीय गुट के एक सदस्य (निजाम) को (गंदूर) वापस करके फोड़ लिया, दूसरे (मौसला) के साथ गुप्त सम्बन्ध जारी रखकर उसको मित्र बना लिया, तीसरे (सिन्धिया) का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करके उसको सन्धि का साधन बना लिया। जब आप सन्धि के लिए चिन्ता रहे थे और वे लोग, जिनसे सन्धि करनी थी, सुन रहे थे, मैंने अपनी माँगों को बढ़ाकर अपने विरुद्ध जानेवाली बातों को रोका और ऐसी सन्धि की, जो मुझे आशा है, एक (मराठों के) राज्य के साथ स्थायी होगी। साथ ही साथ मैंने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये, जिनके द्वारा दूसरे (टीपू) के साथ, यदि इतनी स्थायी नहीं हो तो कम से कम समयोचित, सन्धि करना सम्भव हो गया।"

"मैंने आपको सब कुछ दिया, परन्तु आपने उसके इनाम में मेरा धन छीन लिया, मेरा अपमान किया और मुझ पर अभियोग चलाया।"

इस समर्थन की भाषा वैसी ही है, जैसी भाषा में उस पर अभियोग चलाया गया था। वह लिखता है कि देश को उस समय शान्ति की आवश्यकता थी, मैं स्वयं शान्ति चाहता था, परन्तु अपमान के साथ नहीं। मुझे बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ राज्य की रक्षा के लिए लड़नी पड़ीं।^१ यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों या रुहेल्ये ने कम्पनी के राज्य पर कभी आक्रमण नहीं किया था। उपायों के उचित या अनुचित होने की बात छोड़कर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने भारतवर्ष में अँगरेजी शक्ति को बड़ा प्रबल बना दिया।

उसका शासन और चरित्र—हेस्टिंग्स के समय में जिस ढंग से शासन किया जा रहा था, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। जमीन को नीलाम करने और थोड़े काल के लिए ठेके पर उठाने का फल यह हुआ कि प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार होने लगे। जमीन्दार और सरकारी कर्मचारियों को अपने मतलब के सिवा और किसी का ध्यान न रहा। सन् १७८८ के एक पत्र में कोलब्रुक लिखता है कि हेस्टिंग्स ने देश को कलेक्टर और जजों से भर दिया, जिनका एक मात्र उद्देश्य रुपया कमाना था। जहाँ ये पहुँच गये वहीं इन्होंने जनता को लूट लिया। न्याय की तो बिक्री होती थी। जो सब से अधिक धन देता था जज उसी की सुनते थे।^२ इनको रोकना तो दूर रहा, राबर्ट्स का कहना है कि मनुष्यों को अपने पक्ष में लाने के लिए कभी-कभी स्वयं हेस्टिंग्स खुले तौर पर ऐसे उपयों का प्रयोग करता था, जो बाद की नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते।^३ सर जान मालकम लिखता है कि उसके शासन-काल में घूस खूब चलती थी।^४ यह बात ठीक है कि इन दिनों ऐसे अत्याचारों का

१ हेस्टिंग्स, मेम्बायर्स रिलेटिव टु दि स्टेट ऑफ इण्डिया, सन् १७८६।

२ वामनदास बसु, राजज ऑफ दि क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया, जि० २, पृ० १५।

३ राबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, पृ० २२३।

४ मालकम, स्केच ऑफ दि पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४०।

रोकना सहज न था। शासन-व्यवस्था सुधारने का हेस्टिंग्स ने प्रयत्न अवश्य किया था।

खर्च करने में उसका हाथ खूब खुला हुआ था, इसी लिए उसे रुपये की हर समय आवश्यकता रहती थी। कानूनी सबूत न होने के कारण घूसखोरी के सम्बन्ध में लार्ड मैकाले भी उसे निर्दोष पाता है। पर मुन्नी बेगम, चेतसिंह तथा आसफुद्दौला से उसे जो रकमें मिलीं थीं, उन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। यह बात ठीक है कि चेतसिंह तथा नवाब की रकमें उसकी जेब में नहीं गईं, पर इससे वह निर्दोष नहीं माना जा सकता। चेतसिंह का रुपया अपने नाम से कम्पनी को देना 'सेलेक्ट कमेटी' की राय में एक प्रकार का धोखा था। नवाब की रकमवाले कुल मामले को लायल ने "हर तरह से दूरदर्शिता-रहित" बतलाया है।

हेस्टिंग्स की नीति तथा उसके कार्यों की बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। केवल मिल ने ही नहीं बल्कि मार्शमैन, थार्नटन, बेवरिज तथा अन्य इतिहासकारों ने भी उसके कई एक कार्यों की निन्दा की है। बेवरिज का कहना है कि वह बड़ा घमंडी था और प्रायः चालबाजी से काम लेता था।^१ हेस्टिंग्स के समर्थन में सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया जाता है कि उसे बड़ी कठिन परिस्थिति में काम करना पड़ा था। मिल ने भी इसको माना है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत सी कठिनाइयाँ स्वयं उसकी पैदा की हुईं थीं। इसमें सन्देह नहीं कि वह बड़ा नीतिनिपुण था। उसका दिमाग बड़ा तेज था। अवसर पड़ने पर उसको बड़ी दूर की सूझती थी। धैर्य और साहस की उसमें कमी न थी। विपत्ति-काल में वह कभी घबराता न था। कौंसिल के विरोध और इंग्लैंड-सरकार की घुड़कियों की उसने पर्वाह न की। अभियोग के समय उसको छेड़ने और उत्तेजित करने के लिए कोई बात उठा न रखी गई, पर वह बराबर गम्भीर तथा शान्त रहा।

उसके शासन में दोष थे, उसके उपाय निन्दनीय थे, उसके सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से उच्च न थे, इन सब बातों को मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि वह बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था। पग-पग पर बाधाएँ होते हुए भी उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को ऐसा दृढ़ बना दिया कि जिस पर आगे चलकर साम्राज्य का निर्माण हो सका।

सर जान मैकफर्सन—हेस्टिंग्स के जाने पर कौंसिल के बड़े मेम्बर मैकफर्सन को चार्ज मिला। यह पहले मदरास में काम करता था, पर वहाँ से निकाल दिया गया था। अर्काट के नवाब ने इसको अपना गुप्त दूत बनाकर इंग्लैंड-सरकार के पास भेजा था। बाद में कम्पनी के संचालकों ने इसको कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर बना दिया था। सेना का ५० लाख रुपया बाकी था, उसको इसने चुका दिया और खर्च कम करने के लिए बहुतों का वेतन घटा दिया। नवाब वजीर की भी यह कुछ सहायता करना चाहता था, पर हेस्टिंग्स के विचारों का ध्यान रखते हुए, उसने उसकी नीति में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। इसी समय मुगल सम्राट् के नाम से माहादजी सिन्धिया ने अँगरेजों से कर माँगा, पर मैकफर्सन ने साफ जवाब दे दिया। लार्ड कार्नवालिस का कहना है कि मैकफर्सन कमजोर तथा झूठा था और उसके जमाने में घूस ले-लेकर ऋणचारी रखे जाते थे। वह २० महीने तक गवर्नर-जनरल के पद पर रहा।

परिच्छेद ६

हस्तक्षेप न करने की नीति

कार्नवालिस की नियुक्ति—पिट के इंडिया ऐक्ट की नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। वह



एक उच्च श्रेणी का रईस था। अमरीका के स्वतंत्रता-युद्ध में हारकर इंग्लैंड वापस आया था। पहले दो बार वह गवर्नर-जनरल के पद को अस्वीकार कर चुका था। इंग्लैंड से चलने के पूर्व उसने 'रेग्यूलेंटिंग ऐक्ट' के एक बड़े दोष को दूर करवा लिया। उस ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल कौंसिल के सर्वथा अधीन था, जिससे शासन में बड़ी अड़चनें पड़ती थीं, जैसा कि हेस्टिंग्स के सम्बन्ध में दिखलाया

कार्नवालिस

जा चुका है। अब

आवश्यकता पड़ने पर कौंसिल के विरुद्ध भी काम करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को दे दिया गया। सन् १७८६ में कार्नवालिस भारतवर्ष पहुँचा।

नौकरियों का सुधार—भारतवर्ष पहुँचने पर कार्नवालिस ने देखा कि कम्पनी के कर्मचारियों में घूस खाने का बाजार गरम है। बनारस के रेजी-डेंट का मासिक वेतन तो एक हजार रुपया था, पर उसकी सालाना आमदनी चालीस हजार रुपये से भी अधिक थी। कहने के लिए तो कम्पनी के कर्म-चारियों का निजी व्यापार बन्द हो गया था, पर शायद ही कोई ऐसा कलेक्टर रहा होगा, जो अपने किसी मित्र या रिस्तेदार के नाम से व्यापार न करता हो। इस व्यापार में वे लोग, जज और शासक की हैसियत से, तरह-तरह के दबाव डालकर अनुचित लाभ उठाते थे। संचालक भी इस ओर अधिक ध्यान न देते थे। कर्मचारियों की सम्पत्ति से वे स्वयं लाभ उठाते थे। कार्न-वालिस लिखता है कि इसका रोकना तो दूर रहा, वे लूट में अपने मित्रों को हिस्सा दिलाने के लिए लड़ा करते थे। इन दिनों कर्मचारियों का वेतन बहुत कम था, पेंशन मिलने की प्रथा न थी, इसलिए जत्र तक वे भारत में रहते थे, उनको धन बटोरने की ही चिन्ता रहती थी। इस दोष को दूर करने के लिए कार्नवालिस ने कलेक्टरों तथा बड़े-बड़े अफसरों का वेतन बढ़ा देना ही उचित उपाय समझा। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद सञ्चालकों ने उसकी राय स्वीकार करके वेतन बढ़ाने की आज्ञा दे दी। नौकरी के सम्बन्ध में वह सिफारिशों का बड़ा विरोधी था। इस मामले में वह इंग्लैंड के राजकुमार तक की न सुनता था।

अदालतों का प्रबन्ध—कलेक्टर के हाथ में न्याय, शासन तथा माल तीनों विभागों के रहने के कारण अधिकारों का बड़ा दुरुपयोग होता था। माल और शासन के मामलों में कलेक्टर ही अपराधी होता था और वही न्याय करता था। ऐसी दशा में प्रजा के साथ क्या न्याय हो सकता था ? इस दोष को दूर करने के लिए उसने इन विभागों को अलग-अलग कर दिया। कलेक्टर के हाथ में केवल माल का महकमा रह गया, न्याय से उसका कोई सम्बन्ध न रहा। दीवानी विभाग में छोटे-छोटे मामलों को तय करने के लिए सदर अमीन और मुंसिफों की अदालतें खोली गईं। उनकी अपील के लिए जिला जज की अदालत रखी गई। यह जज अँगरेज होता था, जो 'असेसरों' की सहायता

से निर्णय करता था। इसकी अपील के लिए कलकत्ता, पटना, ढाका और मुर्शिदाबाद में चार प्रांतीय अदालतें स्थापित की गईं। इनके अंगरेज जजों के साथ भी हिन्दुस्तानी 'असेसर' रखे जाते थे। इन प्रांतीय अदालतों की अन्तिम अपील कलकत्ता की 'सदर दीवानी अदालत' में होती थी, जिसमें गवर्नर-जनरल और कौंसिल के मेम्बर बैठते थे।

फौजदारी का काम भी इन्हीं दीवानी अदालतों को सौंपा गया। नायब नाजिम को फौजदारी के मुकदमे करने का अधिकार नहीं रहा। अंगरेज जज दौरा करके ये मुकदमे सुनते थे। इनकी अपील 'सदर निजामत अदालत' में होती थी। मुसलमानी कानून से इन दिनों भी काम होता था, पर उसके कई एक कठोर दंड हटा दिये गये थे। कर्नवालिस ने अदालतों की सहायता के लिए नियमों का एक संग्रह भी तैयार करवाया था, जो 'कर्नवालिस कोड' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेस्टिंग्स ने पुलिस का काम फौजदारों और थानेदारों के हाथ में छोड़ रखा था, परन्तु शान्ति स्थापित रखने का भार अधिकतर जमीन्दारों के ही मत्थे था। कर्नवालिस ने इस काम को भी कम्पनी के अधीन कर लिया। इसके लिए कई एक थाने खोल दिये गये, जिनमें हिन्दुस्तानी दारोगा रख दिये गये। इन लोगों का वेतन २० या २५ रुपया मासिक से अधिक न होता था। इस वेतन के अतिरिक्त किसी चोर या डाकू के पकड़ने पर दस रुपया इनाम और चोरी का माल पकड़ने पर कुछ कमीशन मिलता था। तीन चार सौ मील में कहीं एक थाना होता था, जिसमें १५ या २० सिपाही रहते थे। इनके लिए इतने बड़े हल्के में पूरी देख-भाल करना असम्भव था। वेतन कम होने के कारण और इनाम के लालच में पड़कर दारोगा बदमाशों की अपेक्षा भले आदमियों को ही अधिक तंग करता था।

भारतवर्ष के लिए कर्नवालिस की न्याय-व्यवस्था बड़ी जटिल थी। साधारण प्रजा को प्राचीन पंचायत या देशी अदालतों का ही ढंग सीधा और सुगम जान पड़ता था। उसमें विशेष खर्च न था, वादी प्रतिवादी स्वयं अपनी बात न्यायाधीश को सहज में समझा सकते थे। परन्तु इन अदालतों के पेचीदा

कानून-कायदों का प्रजा को ज्ञान न था, दूसरी ओर अँगरेजी जजों को भारतीय रीति-रिवाजों का पता न था। इसलिए बिना वकील के काम चलाना असम्भव हो गया। वकीलों के मेहनताने के अतिरिक्त अदालतों में बहुत सी नई फीसें पड़ने लगीं। जिनसे मुकदमों का खर्च बढ़ गया और न्याय में भी अधिक समय लगने लगा। इन दोषों से कार्नवालिस अनभिज्ञ न था। कम्पनी का खर्च और समय बचाने के लिए उसने दूसरे ही कायदे बना दिये थे, जिनके अनुसार बिना किसी प्रकार के झगड़ों में पड़े हुए कम्पनी का काम सहज में निकल जाता था। इस पर इतिहासकार मिल ठीक पूछता है कि किस सिद्धान्त के अनुसार सुलभ और सुगम न्याय सरकार के लिए उचित, पर प्रजा के लिए अनुचित, समझा गया ?

क्लाइव और हेस्टिंग्स के समय में हिन्दुस्तानी बड़े-बड़े पदों पर काम करते थे, पर कार्नवालिस इसके पक्ष में न था। उसका मत था कि “प्रत्येक हिन्दुस्तानी घूस खाता है।”^१ वह लिखता है कि “मेरी समझ में जितने सुधार (फौजदारी विभाग में) किये गये हैं, वे सब व्यर्थ हो जायँगे, यदि उनका काम में लाना किसी हिन्दुस्तानी के हाथ में रहेगा।” क्या केवल हिन्दुस्तानी ही घूस खाते थे ? बनारस और लखनऊ के रेजीडेंट तो अँगरेज थे, पर उनकी क्या दशा थी ? यह दोष दूर करने के लिए अँगरेजों के वेतन बढ़ा दिये, पर हिन्दुस्तानियों के लिए यह क्यों उचित न समझा गया ? मार्शमैन ने इसको कार्नवालिस की “बड़ी भारी भूल” बतलाया है। उसका कहना है कि इससे हिन्दुस्तानियों के लिए बड़े-बड़े ओहदों का दर्वाजा बन्द हो गया। इस भूल का प्रभाव बहुत दिनों तक चलता रहा।

बंगाल के जमीन्दार—मुगलों के शासनकाल में किसान अपनी पैदावार का नियत भाग राज्य को लगान के रूप में देता था। यह लगान प्रायः गाँव के मुखिया या आमिलों द्वारा वसूल किया जाता था। इस तरह राजा और रैयत में सीधा सम्बन्ध था। लगान वसूल करने के लिए देश में अधिकतर इसी

१ कार्नवालिस, कार्पेण्टर्स, सं० राँस, जि० १, पृ० २८२।

प्रबन्ध से काम लिया जाता था। बड़ी-बड़ी जागीरों में किसानों से जागीरदार लगान वसूल करते थे और एक नियत रकम मालगुजारी के रूप में राज्य को देते थे। कहीं-कहीं लगान वसूल करने का ठेका भी दिया जाता था। ठेकेदारों को आमदनी पर एक नियत कमीशन मिलता था और उन्हें बाकी का हिसाब राज्य को देना पड़ता था। मुगल शासन-व्यवस्था बिगड़ने पर ठेकेदारी की ही प्रथा अधिक चल पड़ी। बहुत से ठेकेदार मौरूसी हो गये और वे भी जमीन्दार कहलाने लगे। ये लोग भी जागीरदारों की तरह राज्य को एक बँधी रकम देने लगे। इन दिनों 'जमीन्दार' शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ न था। जागीरदार और राजा, मौरूसी मुखिया, आमिल और नये तथा पुराने ठेकेदार सभी जमीन्दार कहलाते थे।

अँगरेजों को दीवानी मिलने पर सालाना बन्दोबस्त होने लगा और ठेके नीलाम होने लगे। जो सबसे अधिक देता था, उसी को ठेका मिलता था। रैयत से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं, इसका कोई विचार न होता था। कभी कभी अँगरेज भी ठेका ले लेते थे और जमीन्दार कहलाने लगते थे। ठेकेदारों को केवल धन वसूल करने की चिन्ता रहती थी, प्रजा की ओर उनका कभी ध्यान भी न जाता था। उनके गुमास्तों तथा कारिन्दों के अत्याचार से प्रजा पीड़ित हो रही थी और आमदनी बराबर घट रही थी।

इस्तमरारी बन्दोबस्त—कार्नवालिस जब भारतवर्ष आया तब उसने देखा कि मालगुजारी की बड़ी भारी रकम बाकी पड़ी हुई है। हेस्टिंग्स के समय में, नीलाम की बड़ी-बड़ी ज़ोलियाँ बोलकर, बहुतों ने ठेके अपने नाम ले लिये थे, पर वे उतना रुपया देने में असमर्थ थे। उनके कारिन्दे प्रजा के साथ बड़ा कठोर बर्ताव करते थे। खेती की बुरी दशा हो रही थी। इसकी जाँच करने के लिए उसने जान शोर को, जो एक योग्य और अनुभवी सिविलियन था, नियुक्त किया। जान शोर ने बड़े परिश्रम से जाँच-परताल करके दस वर्ष के लिए बन्दोबस्त करने की सलाह दी, परन्तु कार्नवालिस उससे सहमत न हुआ। वह मालगुजारी की एक रकम सदा के लिए निश्चित कर देना चाहता था। उसका कहना था कि मालगुजारी बढ़ जाने के भय से

जमीन्दार खेती की उन्नति का ध्यान नहीं रखते हैं। कम्पनी की एक तिहाई भूमि पर जंगल खड़े हैं। जमीन्दारों को यदि यह विश्वास हो जायगा कि मालगुजारी नहीं बढ़ेगी, तो वे जंगलों को कटवाकर उस भूमि पर खेती करवाने लेंगे। दस वर्ष के बन्दोबस्त से उनकी पूरी दिलजमयी न होगी। इसके अतिरिक्त सरकार को बार-बार बन्दोबस्त का झंझट न करना पड़ेगा और उसकी आमदनी सदा के लिए निश्चित हो जायगी। अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए जमीन्दार खेती की उन्नति करेंगे और प्रजा के सुख का ध्यान रखेंगे। इंग्लैंड-सरकार ने कार्नवालिस की राय मान ली और सन् १७९३ से बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में इस्तमरारी बन्दोबस्त करने की आज्ञा दे दी। दो वर्ष बाद बनारस के इलाके में भी यही बन्दोबस्त कर दिया गया। यह प्रबन्ध जमीन्दारों के साथ किया गया था, इसलिए इसको 'जमीन्दारी बन्दोबस्त' भी कहते हैं।

सरकार की हानि—इस्तमरारी बन्दोबस्त से सरकार की बड़ी हानि हुई। कुछ दिनों में बंगाल की दशा सुधर गई, खेती भी अधिक होने लगी, पर सरकार का उससे कोई लाभ नहीं हुआ। उसको अब तक वही बाँधी हुई रकम मिलती है। इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि इस बन्दोबस्त से सरकार को ३ करोड़ रुपया सालाना का घाटा सहना पड़ता है, जिसको भारतवर्ष के अन्य प्रान्त पूरा करते हैं। इस मामले में कार्नवालिस ने बड़ी जल्दी की। यदि जान शोर की सलाह मानकर दस साल तक इतना स्थायी प्रबन्ध न किया जाता, तो उतने समय में खेती की ठीक-ठीक दशा का पता लग जाता और जमीन्दारों की पूरी आमदनी मालूम हो जाती, जिससे सरकार को इतना बड़ा घाटा न सहना पड़ता। इस बन्दोबस्त से मालगुजारी में उसे एक पैसा भी बढ़ाने का अधिकार नहीं रहा।

जमीन्दारों का लाभ—इस बन्दोबस्त से सबसे अधिक लाभ जमीन्दारों का हुआ। वे अब जमीन के मालिक हो गये। जिस तखमीना पर मालगुजारी बाँधी गई थी, उससे कई गुनी आमदनी बढ़ गई। यह सब रुपया उन्हीं की जेबों में जाने लगा। परन्तु इस बन्दोबस्त से पहले उनका

भी नुकसान हुआ। कार्नवालिस ने यह नियम बना दिया था कि यदि समय पर मालगुजारी वसूल न हो, तो जमीन्दारी जब्त करके नीलाम कर दी जाय। यह बड़ा कठोर दण्ड था। मुगलों के समय में मालगुजारी अदा न करने के लिए कभी-कभी जमीन्दारों को कोड़े तक सहने पड़ते थे, पर उनकी रोजी न छीनी जाती थी। कार्नवालिस के इस कठोर नियम से राजशाही, दीनाजपुर और नदिया के प्राचीन राजघराने नष्ट हो गये। जमीन के मालिक हो जाने से जमीन्दारों को उसके रहन-बय करने का भी अधिकार मिल गया। इससे खर्च में उनका हाथ खुल गया और जमीन्दारियाँ कुर्क होकर नीलाम होने लगीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही काल में बंगाल के पुराने रईसों की श्रेणी नष्ट हो गई और उनकी जगह पर ऐसे लोग जमीन्दार बन गये, जिनका रैयत से कोई सम्बन्ध न था।

प्रजा पर प्रभाव—इस बन्दोबस्त से कार्नवालिस रैयत की दशा भी सुधारना चाहता था, पर वास्तव में इसका परिणाम उलटा हुआ। शताब्दियों के सम्बन्ध से पुराने जमीन्दारों को प्रजा से कुछ स्नेह था, पर नये जमीन्दारों में इसका पूरा अभाव था। ये लोग बड़े-बड़े शहरों में रहकर आनन्द में पड़ गये और इनके कारिन्दे प्रजा पर मन-माने अत्याचार करने लगे। काश्तकारों को बेदखल करने का अधिकार भी जमीन्दारों को दे दिया गया। इस अधिकार का बराबर दुरुपयोग होने लगा। इसका फल यह हुआ कि कितने ही काश्तकारों की जमीनें, जो बहुत दिनों से उनके पास थीं, और जिनमें एक प्रकार से उनका मौरूसी हक हो गया था, उनके हाथ से निकल गईं। लगान बाँधने के समय पर पैदावार का पता कानूनगो के कागजात से लगता था। अब यह पद भी तोड़ दिया गया और पटवारी जमीन्दारों के नौकर होकर उन्हीं का पक्ष करने लगे। जमीन्दारों के अत्याचार का बदला लेने के लिए काश्तकार कभी-कभी लगान देना बन्द कर देते थे। वे जानते थे कि समय पर मालगुजारी न दे सकने से जमीन्दारों को अपनी जमीन्दारी से हाथ धोना पड़ेगा। इसका फल यह होता था कि दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। जमी-

न्दार और काश्तकारों में 'पट्टा' और 'कबूलियत' का कोई ठीक प्रबन्ध न होने से काश्तकार की रक्षा का कोई उपाय न रह गया। सन् १८५९ में इनकी रक्षा के लिए एक नया कानून बनाना पड़ा। इस्तमरारी बन्दोबस्त का सिद्धान्त अवश्य ठीक है। पर कई बातों का ध्यान न रखने तथा जल्दी करने के कारण इस बन्दोबस्त में बहुत से दोष रह गये।

व्यापार की अवनति—कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार से पीड़ित होकर जुलाहे अपना काम छोड़ रहे थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इस समय कपड़े के व्यापार को एक और धक्का लगा। हिन्दुस्तानी कपड़े का व्यवहार इंग्लैंड में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बन्द कर दिया गया था, पर कम्पनी के द्वारा यह माल इंग्लैंड होकर यूरोप के अन्य देशों में जाता था। इंग्लैंड में तभी से सूती कपड़ा बनाने का प्रयत्न हो रहा था। इससे देश का ही काम न चलता था, बल्कि यह कपड़ा बाहर भी भेजा जाता था। सन् १७६४ तक बाहर जानेवाले कपड़े की तादाद अधिक न थी। अन्य देशों में भारतवर्ष का ही बढ़िया माल अधिक खपता था। इधर बीस-पचीस वर्षों में कई एक नई कलों का आविष्कार हो गया, जिनसे सूती कपड़ा बहुत अच्छा बनने लगा। सन् १७८३ में विलायती तंजैव का नमूना बंगाल भेजा गया। कम्पनी की आमदनी पूर्वीय व्यापार से होती थी, उसका हित भारतवर्ष में कपड़ा बनाने की कला की रक्षा करने में था, पर तब भी उसका ध्यान इसकी ओर नहीं गया। इसके कई एक कारण थे। वह अँगरेजों की संस्था थी, जिनको अपने देश के हित का सदा ध्यान रहता है। पार्लामेंट का उस पर पूर्ण अधिकार था। इंग्लैंड की जनता देश के व्यापार को बढ़ाना चाहती थी, उसके प्रतिकूल जाना कम्पनी की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी माल पर इंग्लैंड में बराबर चुंगी बढ़ती जाती थी, जिसके कारण इसको अन्य देशों में भी भेजने से कोई लाभ नहीं होता था। इन्हीं कारणों से हिन्दुस्तानी कपड़े की उन्नति के बजाय सन् १७८८ में कम्पनी के संचालकों ने मैचैस्टर के माल को खपाने के लिए लिख भेजा और अँगरेज कारीगरों की सहायता करने के लिए बंगाल, सूरत तथा भड़ौच से रुई भी मँगाना प्रारम्भ कर दिया।

फ्रांस में भी हिन्दुस्तानी माल बहुत चलता था। भारतवर्ष में फ्रांसीसियों का व्यापार चौपट ही हो गया था, इसलिए यह माल इंग्लैंड होकर जाता था। फ्रांस में क्रान्ति होने पर इंग्लैंड से उसका व्यापारिक सम्बन्ध टूट गया और वहाँ भी हिन्दुस्तानी कपड़ा जाना बन्द हो गया। नेपोलियन के साथ युद्ध छिड़ने पर इंग्लैंड में हिन्दुस्तानी कपड़े की चुंगी २७ पौंड सैकड़े से बढ़ाकर ६७ पौंड कर दी गई। इस तरह कपड़े का रोजगार बन्द होने लगा और विलायती माल की खपत बढ़ने लगी। सन् १७८६ में लाभदायक न होने तथा अन्य “कई आवश्यक कारणों” से सूत का भी विलायत भेजना बन्द कर दिया गया। इंग्लैंड में सूती कपड़ा इतना बढ़िया बनने लगा कि अँगरेज महिलाओं ने रेशमी कपड़ा पहनना छोड़ दिया, जिसका फल यह हुआ कि रेशम और रेशमी कपड़े का व्यापार भी मन्दा पड़ गया।

इस समय तक भारतवर्ष से बाहर माल भेजने और वहाँ से माल लाने का अधिकार केवल कम्पनी ही को था। सन् १७९३ के नये आज्ञापत्र से पार्लियमेंट ने अन्य व्यापारियों को भी थोड़ा बहुत व्यापार करने की आज्ञा दे दी। कलकत्ते में बैंक खुल जाने से अँगरेज व्यापारियों को बड़ी सुविधा हो गई। सन् १७८८ में कार्नवालिस ने भारतवर्ष में भी चुंगी उठा दी और चौकियों को तोड़ देने के लिए आज्ञा दे दी। सन् १७८७ में उसने जुलाहों को भी मुक्त कर दिया। दादनी देकर मुचलका लिखाने की प्रथा को बिलकुल उठा दिया और चाहे जिसके हाथ माल बेंचने की आज्ञा दे दी। देश का निजी व्यापार कम्पनी की नीति के कारण पहले ही चौपट हो चुका था, इसलिए इन सुधारों से इस समय कोई विशेष लाभ न हुआ।

मैसूर का तीसरा युद्ध—अँगरेजों से सन्धि हो जाने के बाद से टीपू का घमंड बहुत बढ़ गया। वह अपने को ‘सुलतान’ कहने लगा और मराठों से अकारण ही भिड़ गया। इस पर सन् १७८७ में मराठों ने निजाम से मिलकर टीपू को ऐसा दबाया कि उसे कुछ देश और ३० लाख रुपया देकर अपनी रक्षा करनी पड़ी। यद्यपि टीपू और अँगरेजों में सन्धि थी, तब भी दोनों एक दूसरे से जलते थे। इधर कार्नवालिस ने एक ऐसा काम किया

कि जिससे टीपू अँगरेजों से बहुत चिढ़ गया। सन् १७६८ में निजाम के साथ अँगरेजों की जो सन्धि हुई थी, उसमें हैदरअली विद्रोही ठहराया गया था और यह कहा गया था कि उससे यदि कर्नाटक बालघाट मिल जायगा तो वह अँगरेजों को दे दिया जायगा; उसके लिए उन्हें सात लाख साल का 'पेशकश' निजाम को देना पड़ेगा। निजाम के भाई बसालतजंग के मरने पर गंदूर का इलाका भी अँगरेजों को दे दिया जायगा और वे निजाम की सहायता करने के लिए कुछ सेना और तोपें भेजेंगे। कर्नाटक बालघाट मैसूर राज्य में था। सन् १७६९ में हैदरअली के साथ और सन् १७८५ में टीपू के साथ, अँगरेजों



टीपू

की जो सन्धियाँ हुई थीं, उनमें मान लिया गया था कि इस प्रान्त पर निजाम का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त मैसूर राज्य के साथ मित्रता कर ली गई थी। सन् १७८८ में कार्नवालिस ने चुपके से एक सेना भेजकर गंदूर पर फिर अधिकार कर लिया। इस पर निजाम सन् १७६८ की सन्धि के अनुसार सैनिक सहायता माँगने लगा और सन्धि की बाकी शर्तों को पूरा करने पर जोर देने लगा। कार्नवालिस बड़े चक्कर में पड़ गया। निजाम

अदा कर दिया। इस युद्ध के परिणाम के विषय में कार्नवालिस का लिखना है कि “बिना अपने मित्रों की शक्ति इतनी बढ़ाए हुए कि जिससे किसी प्रकार का भय हो, हमने अपने शत्रु को निर्बल बना दिया”।^१

कर्नाटक और अवध—कर्नाटक के नवाब पर कम्पनी का बहुत देना हो गया था। दोहरे शासन के कुफल यहाँ भी दिखलाई दे रहे थे। तलवार अँगरेजों के हाथ में थी और रुपया वसूल करना नवाब का काम था। अँगरेज अफसरों को बड़ी-बड़ी दावतें और बहुमूल्य भेंटें लेने में किसी प्रकार का संकोच न था। सेना का खर्च चलाने के लिए नवाब को बड़ी-बड़ी रकमें कर्ज लेनी पड़ती थीं। अँगरेज महाजन उससे मन-माना सूद खाते थे। पाल बेनफील्ड नामक एक अँगरेज ने तो राज्य की कुल आय को हड़प करने का ही विचार कर लिया था। उसका कम्पनी के संचालकों पर ऐसा प्रभाव था कि वह नवाब के कर्ज की जाँच कभी न करने देता था। कार्नवालिस के आने पर सन् १७८७ में नवाब के साथ फिर एक नई सन्धि की गई। उसकी रक्षा और शासन में सहायता करने के लिए अँगरेजी सेना बढ़ा दी गई। नवाब ने उसका कुल खर्चा देना स्वीकार किया। साथ ही साथ यह भी तय हुआ कि यदि नवाब समय पर रुपया न दे सके, तो मालगुजारी कम्पनी की निगरानी में वसूल की जाया करे। समय पर रुपया देना नवाब के लिए असम्भव था। मैसूर से लड़ाई छिड़ने पर सन् १७९० में कार्नवालिस ने कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में ले लिया। मालगुजारी वसूल करने के लिए अँगरेज अफसर रख दिये गये। नवाब को केवल हिसाब देखने का अधिकार रह गया। यह प्रबन्ध सन् १७८७ की सन्धि के विरुद्ध था, परन्तु कार्नवालिस का कहना था कि लड़ाई के समय में कर्नाटक का शासन विषयी नवाब और उसके अयोग्य अफसरों के हाथ में छोड़ना न उसी के लिए हितकर था और न कम्पनी ही के लिए। लड़ाई समाप्त होने पर यह तय कर दिया गया कि जब कभी युद्ध छिड़ेगा, कर्नाटक का इसी प्रकार से शासन किया जायगा।^२

१ कार्नवालिस, कार्स्टाडैस, जि० २, पृ० १५४।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ९२-१०१।

अवध के नवाब वजीर की दशा भी कर्नाटक के नवाब की तरह थी। उस पर भी कम्पनी का बहुत देना हो गया था। उसके राज्य की रक्षा के लिए अँगरेजों की एक बड़ी सेना रहती थी। इसके अतिरिक्त मालगुजारी वसूल करने में सहायता देने के लिए भी एक सेना रहती थी। अँगरेज अफसर नवाब से खूब बहुमूल्य भेंटें ऐंठते थे। कई एक अँगरेज, जो कम्पनी के नौकर नहीं थे, पर संचालकों और मंत्रियों के रिश्तेदार या मित्र थे, अवध में नाम मात्र के लिए नवाब की नौकरी कर लेते थे और थोड़े ही दिनों में माल-माल हो जाते थे। कभी-कभी अँगरेज अफसर मालगुजारी का ठेका ले लेते थे और प्रजा को मनमाना चूसते थे। 'गोरखपुर के अत्याचारी' हैने का नाम प्रसिद्ध है। कम्पनी का इस ओर कोई ध्यान न था और इन अँगरेजों को अवध से बाहर निकालना नवाब की शक्ति के बाहर था। नवाब की राज-नैतिक निर्बलता के कारण उसकी आर्थिक दशा न सुधर पाती थी और दिन प्रतिदिन अँगरेजों पर उसकी निर्भरता बढ़ती जाती थी। सन् १७८४ में हेस्टिंग्स के वचन देने पर भी फतहगढ़ से अँगरेजी सेना नहीं हटाई गई। कार्नवालिस के आने पर नवाब ने अपने विश्वासपात्र और योग्य सचिव हैदर-बेगवाँ को कलकत्ता भेजा, पर वहाँ से भी जवाब मिला कि नवाब तथा कम्पनी की रक्षा के लिए अवध में अँगरेजी सेना का रहना नितान्त आवश्यक है। हैदरबेगवाँ के बहुत कुछ कहने सुनने पर कार्नवालिस ने यह स्वीकार किया कि नवाब को ५० लाख रुपया साल से अधिक न देना पड़ेगा। रेजी-डेंट को शासन में अधिक हस्तक्षेप न करने के लिए लिख दिया गया और बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के किसी अँगरेज को अवध में रहने का अधिकार न रहा। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई, जिसके अनुसार कम्पनी को अवध में कोठियाँ खोलने का अधिकार भी मिल गया। इलाहाबाद की सन्धि के समय से यह प्रश्न टल रहा था, पर इस समय नवाब को विवश होकर अँगरेजों की बात माननी पड़ी।

कार्नवालिस की वापसी—सन् १७९३ में कार्नवालिस इंग्लैंड वापस चला गया। उसके जाने के पहले, इंग्लैंड और फ्रांस में लड़ाई छिड़

जाने के कारण, पांडुचेरी पर फिर अधिकार कर लिया गया। कार्नवालिस एक उच्च श्रेणी का रईस था। रुपये पैसे के मामले में वह बड़ा ईमानदार था। टीपू से जो ३० लाख रुपया 'दरबार-खर्च' के लिए मिला था, उसमें कार्नवालिस ने कोई हिस्सा नहीं लगाया था। उसकी इस ईमानदारी को मराठे तक मानते थे। तीन करोड़ हरजाने के रुपये का बटवारा और हिसाब-किताब उन्होंने कार्नवालिस के हाथ में ही छोड़ दिया था। वह सीधे स्वभाव का मनुष्य था और बहुत तड़क-भड़क तथा शान को पसन्द न करता था। उसकी योग्यता के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके सुधारों का सूत्रपात हेस्टिंग्स के समय में ही हो चुका था। इस्तमरारी बन्दोबस्त की योजना फ्रांसिस पहले ही बना चुका था। इस सम्बन्ध में जान शोर कार्नवालिस से कहीं अधिक अनुभवी और योग्य था। भारतवर्ष से लौटने पर भी वह भारतीय प्रश्नों में बराबर भाग लेता रहा। इंग्लैंड सरकार को उस पर बड़ा विश्वास था। मैसूर-युद्ध में पिट के इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत भावों के विरुद्ध काम करने के लिए उसकी कोई निन्दा नहीं की गई। उल्टे वह 'मार्कुइस' की उपाधि से विभूषित किया गया और सन् १८०५ में फिर से गवर्नर-जनरल बनाकर भारतवर्ष भेजा गया।

माहादजी सिन्धिया—सालबाई की सन्धि के बाद से सिन्धिया का अधिक समय उत्तरी भारत में ही व्यतीत हुआ। वहाँ उसने डीब्रोय की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना तैयार की। डीब्रोय एक चतुर फ्रांसीसी सैनिक था। उसने सिन्धिया की सेना का पाश्चात्य ढंग पर संगठन किया और तोपखाने में बहुत कुछ सुधार किये। दिल्ली में शाहआलम नाम मात्र का सम्राट् था, कुल शासन सिन्धिया के हाथ में था। उसके इस प्रभुत्व से कई एक सरदार जलते थे। सन् १७८८ में उसकी अतुपस्थिति में एक सहेला सरदार गुलाम कादिर ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसने शाही महल को खूब लूटा, बेगमों के कोड़े लगवाये और अभागे सम्राट् की आँखें निकाल लीं। यह समाचार मिलने पर सिन्धिया ने एक सेना भेजी। गुलाम कादिर पकड़ लिया गया और सम्राट् का बदला लेने के लिए अन्धा करके फाँसी पर लटका दिया गया।

इस्माईलबेग नाम का एक दूसरा सरदार, राजपूताना भागकर, वहाँ के राजाओं को सिन्धिया के विरुद्ध भड़का रहा था ! सन् १७९० में डीब्रोय की सेना ने उसको पाटन के युद्ध में हरा दिया। मिरथा के युद्ध में वीर राठौरों को भी हार माननी पड़ी। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजाओं को सिन्धिया का आधिपत्य मानकर चौथ देना स्वीकार करना पड़ा। राजपूतों के, विशेषकर उदयपुर के घराने के, मान का सिन्धिया को बराबर ध्यान रहता था। उदयपुर के महाराणा के साथ उसका मित्रता का व्यवहार था। कर्नल टाड का कहना है कि उद्दंड जागीरदारों के दमन करने में महाराणा को सिन्धिया के प्रसिद्ध सूबेदार अम्बाजी से बड़ी सहायता मिली। इस तरह उत्तरी भारत में सिन्धिया का आतंक पूर्ण रूप से जम गया। उद्दंड जागीरदारों की उसने जागीरें छीन लीं। मालगुजारी वसूल करने के लिए उसने गोपालराव को 'सरसूबा' बनाया और उसके नीचे डीब्रोय तथा तीन मराठा सरदारों को सूबेदार नियुक्त किया।

सिन्धिया को शाहआलम के सम्मान का बड़ा ध्यान रहता था। वह उसके 'मुल्तारुल्मुल्क' की हैसियत से उत्तरी भारत में शासन करता था। दिल्ली के तख्त को मराठे नष्ट न करना चाहते थे। देश की परिस्थिति को देखते हुए उनके लिए ऐसा करना सम्भव भी न था। मुगल सम्राटों की ओर से सारे देश में अपनी सत्ता स्थापित करना वास्तव में शुरु ही से उनकी 'बादशाही नीति' थी। दीवानी लेने में अँगरेजों ने भी उन्हीं की नीति का अनुकरण किया था।

अँगरेजों के साथ सम्बन्ध—हेस्टिंग्स को सिन्धिया बहुत मानता था। उसके चले जाने पर अँगरेजों के प्रति सिन्धिया का भाव कुछ बदल गया। सालबाई की सन्धि की भूल का उसको पता लग गया। उसके प्रभुत्व से अँगरेजों को भी चिन्ता हो रही थी। सन् १७८६ के एक पत्र में सिन्धिया-दरबार का अँगरेज प्रतिनिधि ऐंडर्सन कार्नवालिस को लिखता है कि उस पर पूरी देख-रेख रखनी चाहिए। सम्भव है किसी समय उसकी शक्ति को रोकने की आवश्यकता पड़ जाय। ऐसी दशा में बिना लड़े ही अपना काम निकाल

लेना चाहिए।^१ जब कार्नवालिस को यह पता चला कि सिन्धिया के कहने से शाहआलम कम्पनी से कर माँगना चाहता है, तब उसने रेजीडेंट को लिख दिया कि सिन्धिया को यह अच्छी तरह समझा देना चाहिए कि इसमें उसका हित नहीं है। सिन्धिया भी इसको जानता था। उसकी शक्ति बहुत कुछ डीबोय की सेना पर निर्भर थी और डीबोय ने नौकरी करते समय यह स्पष्ट कह दिया था कि मैं अँगरेजों के विरुद्ध कभी युद्ध न करूँगा।^२

पूना का दरबार—यद्यपि सिन्धिया उत्तरी भारत में रहने लगा था, पर उसका ध्यान दक्षिण की ओर बराबर रहता था। दिल्ली में वह अपने को सदा पेशवा का प्रतिनिधि कहता था। नाना फड़नवीस उसकी प्रकृति और स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था। वह जानता था कि किसी न किसी दिन सिन्धिया दक्षिण में भी अपना आतंक जमायेगा। इसी लिए उसने होलकर को उत्तरी भारत भेज रखा था। मैसूर-युद्ध के समय पर सिन्धिया दक्षिण आना चाहता था, परन्तु नाना फड़नवीस ने उस अवसर को टाल दिया। सन् १७९३ में होलकर की सेना को हराकर सिन्धिया पूना की ओर चल पड़ा।

पूना पहुँचकर सिन्धिया ने एक बड़ा भारी दरबार किया, जिसमें उसने पेशवा को सम्राट् शाहआलम की ओर से 'वकील मुतलक' की उपाधि प्रदान की। इसी अवसर पर सम्राट् का एक घोषणापत्र पढ़ा गया, जिसके द्वारा गोवध का निषेध किया गया। नाना फड़नवीस तथा कई मराठे सरदार नाम मात्र के सम्राट् की प्रदान की हुई 'वकील मुतलक' की उपाधि के विरुद्ध थे। उनका मत था कि शिवाजी के वंशजों के पेशवा को मुगल सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार करना शोभा नहीं देता। परन्तु युवक पेशवा पर सिन्धिया का ऐसा रंग जम गया था कि नाना फड़नवीस की एक भी न चली। पेशवा से मिलते समय सिन्धिया ने यह कहते हुए कि "मेरे बाप का यही पेशा था और यही मेरा है" अपने हाथ से पेशवा को जूतियाँ पहनाईं। इस अभिनय

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० ५३।

२ बर्वे, माह्यदजी सिन्धिया, पृ० १३३।

का पेशवा पर पूरा प्रभाव पड़ा। यह देखकर नाना फड़नवीस ने भी अपनी नीति बदल दी और उत्सव में सिन्धिया का पूरा साथ दिया।



माहादजी सिन्धिया

सिन्धिया और नाना—ये दोनों अपने समय के बड़े प्रतिभाशाली मनुष्य थे, जो पानीपत के युद्ध से जीवित बच गये थे। दोनों की शिक्षा पेशवा माधवराव बल्लाल के उच्च स्वदेश प्रेम के आदर्श में हुई थी। दोनों सारे देश में मराठा साम्राज्य का स्वप्न देखते थे। दोनों का जीवन सादा और धार्मिक था। यदि नाना फड़नवीस में चतुरता थी तो सिन्धिया में

साहस था। यदि एक में मस्तिष्क था तो दूसरे में बाहुबल था। यह मराठा साम्राज्य और देश का दुर्भाग्य था कि ये दोनों एक साथ मिलकर काम न कर सके। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों अपनी शक्ति में किसी का हस्तक्षेप सहन न कर सकते थे। सिन्धिया उत्तर से लेकर दक्षिण तक अपना अटल प्रभाव देखना चाहता था। वह पूना-दरबार का भी प्रधान सचिव बनना चाहता था। नाना फड़नवीस इसको कभी सहन न कर सकता था। पहले नाना फड़नवीस की सहायता से ही सिन्धिया की बढ़ती हुई थी, पर सालग्राई की सन्धि के समय से नाना को सिन्धिया का विश्वास न रहा था। सिन्धिया ने इस अविश्वास के हटाने की कई बार चेष्टा की। वह अपने एक पत्र में लिखता है कि “हम दोनों एक ही स्वामी के सेवक हैं, हम दोनों को अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए..... हिन्दुस्तान में मराठा जाति की उन्नति करके अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाना चाहिए।”^१ परन्तु इन शब्दों में पड़कर सिन्धिया पर विश्वास करना नाना फड़नवीस के लिए असम्भव था।

सिन्धिया की मृत्यु—इन दोनों के पारस्परिक मनमुटाव को मिटाने के लिए हरीपन्त तात्या ने बहुत प्रयत्न किया। इसमें कुछ सफलता भी हुई, परन्तु फरवरी सन् १७९४ में सिन्धिया की अचानक मृत्यु हो जाने के कारण देश इस मेल के लाभ से वंचित रह गया। सिन्धिया स्वयं बड़ी सादगी से रहता था। वह बड़ा हँसमुख और मिलनसार था। उसकी नम्रता और विनय बनावटी थी या स्वाभाविक, पेशवा के प्रति उसका व्यवहार केवल एक अभिनय था या उसमें कुछ सत्यता थी, यह कहना बड़ा कठिन है। उसकी महत्ता तथा योग्यता को सभी इतिहासकारों ने माना है।

सर जान शोर—सन् १७९३ में कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र दिया गया, जिसमें यह फिर स्पष्ट कर दिया गया कि भारतवर्ष में राज्य बढ़ाने के लिए युद्ध करना इस (अंगरेज) “राष्ट्र की नीति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा के

विरुद्ध" है। इस नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस की सलाह से सर जान शोर गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। सर जान शोर सन् १७६९ में आठ रुपया मासिक वेतन पर नौकर होकर भारतवर्ष आया था। हेस्टिंग्स के नीचे यह बहुत दिनों तक काम कर चुका था और इस्तमरारी बन्दोबस्त में कार्नवालिस को इससे बड़ी सहायता मिली थी। हेस्टिंग्स पर इन दिनों अभियोग चल रहा था। उसके कई एक मामलों से सर जान शोर का भी सम्बन्ध था। ऐसी दशा में, बर्क की राय में, उसको यह पद देना उचित न था। कम्पनी के किसी कर्मचारी को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करने के विरुद्ध कार्नवालिस भी था, परन्तु सर जान शोर से वह ऐसा



जान शोर

प्रसन्न था कि उसने स्वयं उसकी सिफारिश की। बहुत कहने सुनने पर सर जान शोर ने इस पद को स्वीकार किया। अक्टूबर सन् १७९३ में वह कलकत्ता पहुँचा।

मराठे और निजाम—इन दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। निजाम ने बहुत दिनों से मराठों को चौथ नहीं दी थी। इस पुराने हिसाब को साफ करने के लिए नाना फड़नवीस जोर देने लगा। निजाम का पहला दोवान रुकुनुद्दीन मराठों को किसी न किसी तरह समझाये रखता था, परन्तु यह बात नये 'मशीरुलमुल्क' में न थी। निजाम ने फ्रांसीसी रेमाँ की अध्यक्षता में एक सेना तैयार कर ली थी, इसलिए वह अब मराठों से दबता न था। नये दीवान की सलाह से उसने मराठों को एक पैसा तक देने से इनकार कर दिया और उलटे अपना बहुत सा हिसाब निकाल दिया। मशीरुलमुल्क ने खुले

दरबार में यहाँ तक कह डाला कि पेशवा को लँगोटी पहनाकर बिना बनारस भेजे हुए मैं चैन न लूँगा। इस अपमान को नाना फड़नवीस कब सहन करने-वाला था। उसने युद्ध के लिए तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। उसके उद्योग से सारे मराठा-मंडल की सेनाएँ एकत्र होने लगीं और टीपू ने भी सहायता करने का वचन दिया।

नाना फड़नवीस की तैयारी देखकर निजाम घबरा गया और उसने सर जान शोर से सहायता की प्रार्थना की। मैसूर-युद्ध के पश्चात् कार्नवालिस मराठों और निजाम के साथ परस्पर-रक्षा की सन्धि करना चाहता था। मराठों ने इसको अस्वीकार कर दिया था, पर निजाम को मराठों का सदा भय रहता था, इसलिए वह राजी था। ऐसी कोई सन्धि तो न हो सकी, पर निजाम को रक्षा का वचन देकर कार्नवालिस चला गया। सहायता की प्रार्थना करने पर सर जान शोर बड़े चक्कर में पड़ा। मराठे भी कम्पनी के मित्र थे, उनके विरुद्ध निजाम की सहायता करना पिट के इंडिया ऐक्ट के अनुसार जायज न था। कार्नवालिस की तरह चाल से काम लेना उसके स्वभाव में न था। कहा जाता है कि वह इस कानून का अक्षरशः पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। दूसरे मराठों की एकत्रित शक्ति से वह अच्छी तरह परिचित था। निर्बल निजाम का पक्ष लेकर मराठों और टीपू को कम्पनी का शत्रु बनाना उसकी राय में नीति-युक्त न था। अँगरेजी सेना में भी कुछ अशान्ति के लक्षण दिखलाई दे रहे थे। निजाम के साथ कोई ऐसी बाकायदा सन्धि न थी, जिसके अनुसार वह उसकी सहायता करने के लिए मजबूर हो। ऐसी दशा में उसने बहुत सोच-विचार-कर इस युद्ध में उदासीन रहने में ही कम्पनी का हित समझा और निजाम को सहायता देने से इनकार कर दिया।

सभी अँगरेज इतिहासकारों ने सर जान शोर की इस नीति की निन्दा की है। उनका कहना है कि यद्यपि निजाम के साथ कोई ऐसी सन्धि न थी, पर तब भी निजाम के घनिष्ठ सम्बन्ध का ध्यान रखना आवश्यक था। सर जान शोर के इस कार्य से देशी शक्तियों का कम्पनी पर से विश्वास उठ गया और मराठों की शक्ति बढ़ गई, जिसका परिणाम उसके उत्तराधिकारी वेलेजली को भुगतना पड़ा।

मराठों की विजय—अँगरेजों से निराश होकर निजाम को मराठों से अकेले ही युद्ध करना पड़ा। सन् १७५५ में अहमदनगर जिले के खर्दा नामक स्थान पर मराठों की पूर्ण विजय हुई। नाना फड़नवीस के चरणों पर अपनी तलवार रखकर निजाम को सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। उसने पेशवा के अपमान करनेवाले मशीरुलमुल्क को मराठों के हवाले कर दिया और दौलताबाद का किला, कुछ देश तथा बहुत-सा रुपया नकद देने का वचन दिया। यह अन्तिम समय था जब पेशवा की पताका के नीचे सिन्धिया, होलकर, भोंसला और गायक-वाड़ की सेनाएँ एकत्र हुई थीं। वास्तव में यह नाना फड़नवीस की नीति और योग्यता की विजय थी।

निजाम की रक्षा करने के लिए जो अँगरेज सेना रहती थी, उसने इस युद्ध में भाग नहीं लिया था। हैदराबाद लौटने पर निजाम ने अँगरेजी सेना को हटा दिया और फ्रांसीसी रेमां की सेना बढ़ाने लगा। हैदराबाद के दरबार से इस प्रकार अँगरेजों का प्रभुत्व उठते देखकर गवर्नर-जनरल को भी चिन्ता होने लगी। परन्तु निजाम में स्वतंत्र रहने का दम कहाँ था? इसी अवसर पर उसके एक लड़के ने बगावत कर दी, जिससे डरकर निजाम को अँगरेजी सेना फिर से वापस बुलानी पड़ी।

कर्नाटक और अवध—सन् १७९५ में कर्नाटक के वृद्ध नवाब मुहम्मदअली के मरने पर उसके बेटे उमदतुलउमरा के साथ अँगरेज एक नई सन्धि करना चाहते थे, जिसके अनुसार वे कर्नाटक के कुछ प्रसिद्ध किले, कुछ देश तथा मालगुजारी वसूल करनेवाले पालीगारों पर अधिकार चाहते थे। सर जान शोर के लिखने और मदरास के गवर्नर के बहुत कुछ समझाने पर भी नये नवाब ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज महाजनों का उस पर कर्ज बढ़ने लगा। लार्ड कार्नवालिस ने अवध के नवाब वजीर आसफुद्दौला को यह वचन दिया था कि ५० लाख रुपया सालाना से अधिक न माँगा जायगा और अँगरेजी सेना फिर न बढ़ाई जायगी। परन्तु सर जान शोर की राय में अवध में अँगरेजी सेना काफी न थी, इसलिए उसने सेना बढ़ा देना निश्चित किया और

उसके खर्च के लिए साढ़े पाँच लाख रुपया सालाना और माँगा। नवाब ने इस ज्यादती का विरोध किया। इस पर सन् १७९७ में स्वयं सर जान शोर



आसफुद्दौला

लखनऊ पहुँच गया। उसने नवाब के दीवान राजा झाऊलाल को निकाल दिया। नवाब को विवश होकर उसकी शर्तें माननी पड़ीं। इस घटना के कुछ ही दिन बाद आसफुद्दौला बीमार पड़ गया। उसका कहना था कि “भग्नहृदय की कोई औषध नहीं है।” आसफुद्दौला को इमारतों का बड़ा शौक था। इमामबाड़ा उसी का बनवाया हुआ है। लखनऊ में वह अपनी उदारता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। उसके मरने पर वजीर-अली, जिसको वह अपना लड़का बतलाता था, सर जान शोर की राय से गद्दी पर बैठा।

कुछ दिन बाद सर जान शोर को पता चला कि वजीरअली वास्तव में आसफुद्दौला का लड़का नहीं है। इस पर उसने आसफुद्दौला के भाई सादतअली को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया। सर जान शोर को फिर से एक बार लखनऊ जाना पड़ा और जनवरी सन् १७९८ में सादतअली गद्दी पर बिठला दिया गया। वजीरअली के सम्बन्ध में सर जान शोर को पहले ही पूरी जाँच कर लेनी चाहिए थी। लखनऊ के रेजीडेंट से उसको सब बातों का पता चल सकता था। वास्तव में बात यह थी कि वजीरअली अँगरेजों के हाथ का खेलौना बनकर न रहना चाहता था। सर जान शोर का यह कहना कि लखनऊ की जनता वजीरअली के विरुद्ध थी, ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि सर जान शोर को लखनऊ में अपनी रक्षा करना कठिन हो गया था।

सादतअली के साथ सब बातें पहले ही तय हो गई थीं। अब उसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार इलाहाबाद का किला अँगरेजों को मिल गया और उसकी मरम्मत के लिए आठ लाख रुपया भी लिया गया। गद्दी पर बिठलाने में सहायता करने के लिए कम्पनी ने १२ लाख रुपया लिया, वजीरअली को डेढ़ लाख की पेंशन दिलवाई और सालाना रकम को ५६ लाख से बढ़ाकर ७६ लाख कर दिया। नवाब वजीर की निजी सेना घटाकर ३५ हजार कर दी गई। किसी बाहरी शक्ति से सन्धि करने का उसे अधिकार न रहा।

सर हेनरी लॉरेंस का कहना है कि इस सन्धि में अवध की प्रजा का कुछ भी ध्यान न रखा गया, सबसे अधिक रुपया देनेवाले के हाथ वह बँच दी गई। 'अवध की मसनद' सर जान शोर के लिए एक प्रकार से कम्पनी की सम्पत्ति सी हो गई थी, जिसको वह चाहे जिसके हाथ बँच सकता था। नवाब वजीरअली के साथ व्यवहार करने में सर जान शोर ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उसका यह हस्तक्षेप पुरानी सन्धियों के सर्वथा विरुद्ध था। सर जान शोर का मत था कि अँगरेजों ने दया करके अवध का राज्य शुजाउद्दौला को लौटा दिया था। सन्धियों के अनुसार अवध का अँगरेजों के साथ चाहे जो कुछ सम्बन्ध हो, अवध की जनता और बाहरवालों की दृष्टि में अवध अँगरेजों ही के अधीन था।^१ इस अनुचित हस्तक्षेप के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि उन दिनों अफगानिस्तान के जमाँशाह ने, जो प्रसिद्ध अहमदशाह दुर्रानी का पोता था, भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। वह लाहौर तक पहुँच गया था। ऐसी दशा में कम्पनी के राज्य की रक्षा के लिए अवध का दृढ़ करना और उसमें अँगरेजी सेना बढ़ाना बड़ा आवश्यक था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सिख और मराठों के 'डबल ताले' को तोड़कर जमाँशाह का अवध तक पहुँचाना साधारण बात न थी। पश्चिमोत्तर सीमा के पहाड़ों से आक्रमण करके विजय करने के दिन व्यतीत हो चुके थे।

सेना में अशान्ति—कार्नवालिस के सुधारों से सेना में बड़ी अशान्ति फैल गई थी। कम्पनी और इंग्लैंड-सरकार की सेनाओं में आपस में न पटती थी। अफसर लोग दोहरा भत्ता और बहुत से अधिकार माँग रहे थे। सन् १७९५ के अन्त में इन लोगों ने इतना जोर बाँधा कि सर जान शोर को उनकी बहुत सी बातें माननी पड़ीं। यह समाचार इंग्लैंड पहुँचने पर कम्पनी के संचालकों ने सर जान शोर को वापस बुलाना निश्चित कर लिया। उसकी नीति के सम्बन्ध में जमाँशाह के आक्रमण का भय और सेना की अशान्ति का ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है। मराठों को सन्तुष्ट रखने और अवध के शासन में हस्तक्षेप करने के ये दो मुख्य कारण बतलाये जाते हैं। सर जान शोर ने कलकत्ता नगर की उन्नति करने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था। उसने सड़कों की सफाई, पुलिस तथा शराब की बिक्री के प्रबन्ध को देखने के लिए प्रतिष्ठित नगर-निवासियों को नियुक्त किया था, जो 'जस्टिस ऑफ दि पीस' कहलाते थे। सर जान शोर की व्यक्तिगत ईमानदारी में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु गवर्नर-जनरल के पद की जिम्मेदारी के लिए वह योग्य न था, इसको उसने स्वयं माना है।

हस्तक्षेप का समर्थन—अंगरेज इतिहासकारों का कहना है कि उन दिनों भिन्न-भिन्न राज्यों की सीमाएँ निश्चित न थीं। उनमें बराबर युद्ध हुआ करता था। ऐसी दशा में अंगरेजों का तटस्थ रहना सम्भव न था। अपनी रक्षा के लिए उन्हें मजबूरन दूसरों के झगड़ों में हस्तक्षेप करना पड़ता था। कार्नवालिस तथा सर जान शोर के समय की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति में उदासीनता की नीति का पालन असम्भव था। पर वास्तव में सबेरे हृदय से इसके पालन की चेष्टा ही कर की गई ? कार्नवालिस ने जिस ढंग से इसका पालन किया था, दिखलाया जा चुका है। सर जान शोर प्रबल मराठों के भय से निर्वैल निजाम की सहायता के लिए तैयार न था, पर बेचारे अवध का गला घोटने में उसे भी संकोच न था।

अहिल्याबाई की मृत्यु—सन् १७९५ में इन्दौर की रानी अहिल्या-बाई की मृत्यु हो गई। तीस वर्ष तक उसने बड़ी योग्यता से शासन किया।

वह किसी प्रकार का पर्दा न करती थी, दरबार में बैठकर स्वयं सब मामले सुनती थी।

उसका रहन-सहन सादा और स्वभाव धार्मिक था।

भारतवर्ष के प्रायः सभी बड़े-बड़े तीर्थों में उसके बनवाये हुए मन्दिर और धर्मशालाएँ अब तक मौजूद हैं।

उसके दरबार में खुशामदों की दाल न गलती थी।

सबके साथ न्याय करने और प्रजा को यथाशक्ति सुख पहुँचाने का वह बराबर प्रयत्न करती थी।

उसके विषय में सर जान मालकम लिखता है कि उसने राज्य का शासन बड़ी योग्यता से किया। उसके समय में बाहर से कोई आक्रमण नहीं हुआ। राज्य में पूर्ण शान्ति रही। प्रजा से लगान बहुत कम लिया जाता था और गाँवों के अधिकारों की बराबर रक्षा होती थी। अपने चारों ओर सबको सुख देना उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। “उसकी उदारता केवल अपने राज्य के लिए ही न थी—भूमि के पशु, आकाश के पक्षी और नदियों की मछलियाँ भी उसकी दया के पात्र थीं।” वह एक आदर्श हिन्दू विधवा की तरह अपना जीवन



अहिल्याबाई

व्यतीत करती थी। अपने राज्य में वह अवतार मानी जाती थी। निजाम और टीपू भी उसका आदर करते थे। धार्मिक जीवन में कट्टर होते हुए भी उसमें असहिष्णुता का नाम न था। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उसकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। “उसके चरित्र के विषय में खूब सोच-विचार करके भी यह कहना पड़ता है कि अपने परिमित क्षेत्र में सबसे पवित्र और आदर्श शासकों में से वह एक थी।”^१

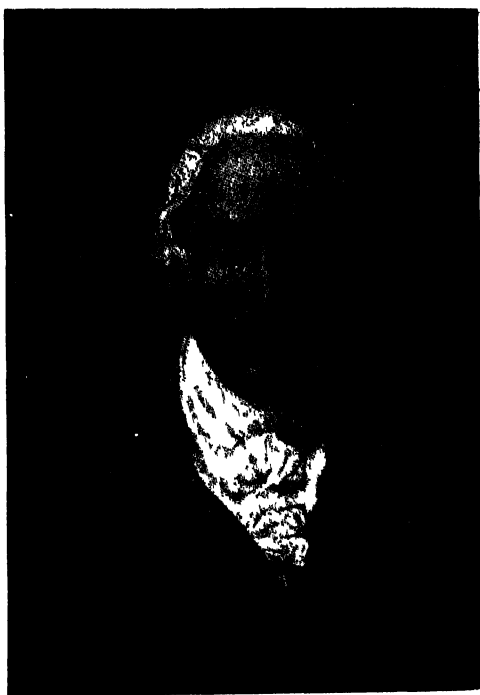
१ मालकम, ए मेम्बयर ऑफ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० १५७-१५।

परिच्छेद ७

साम्राज्य के लिए युद्ध

(१)

वेलेजली की नियुक्ति—सर जान शोर की नीति से असन्तुष्ट होकर इंग्लैंड-सरकार लार्ड कार्नवालिस को फिर से गवर्नर-जनरल बनाना चाहती थी, परन्तु लार्ड कार्नवालिस को, जिस तरह भारतीय सेना के अफसरों के साथ समझौता किया गया था, वह पसन्द न था। दूसरे इन दिनों आयरलैंड की दशा बिगड़ रही थी। फ्रांस की घोर राज्य-क्रान्ति का प्रभाव वहाँ भी पड़ रहा था। इसलिए इंग्लैंड-सरकार ने उसको आयरलैंड और वेलेजली को भारतवर्ष भेजना निश्चित किया। वेलेजली का जन्म आयर-



लार्ड वेलेजली

लैंड में हुआ था। सन् १७८७ से वह इंग्लैंड की पार्लियामेंट का मेम्बर

था। प्रधान सचिव पिट से उसकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। भारतवर्ष की राजनीति से वह अपरिचित न था। सन् १७९३ से वह 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' में काम करता था। वहाँ भारतवर्ष सम्बन्धी सभी बातों का उसने पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। बोर्ड के सभापति हुंडाज को उसकी योग्यता में बड़ा विश्वास था। अँगरेजी भाषा का वह अच्छा पंडित था। पार्लामेंट में उसके भाषण बड़े चाव से सुने जाते थे। वेलेजली की योग्यता देखकर पार्लामेंट के सभापति का कहना था कि वह यहाँ पिसा जाता है, उसके लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भारतवर्ष से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र कौन हो सकता था ?

इन दिनों इंग्लैंड की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी नाजुक हो रही थी। अमरीका के उपनिवेश उसके हाथ से जाते रहे थे। फ्रांस की भीषण राज्य-क्रान्ति ने सारे यूरोप में हलचल मचा दी थी। आयरलैंड में अशान्ति फैल रही थी। अँगरेजी शक्ति के इस हास को कहीं न कहीं पूरा करना था। कहा जाता है कि इंग्लैंड से चलने के पहले पिट ने वेलेजली को अच्छी तरह समझा दिया था कि पश्चिम में जो हानि हुई है उसकी पूर्ति पूर्व में ही हो सकती है। तेरह वर्ष पहले इण्डिया एक्ट में पिट ने ही यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि भारतवर्ष में राज्यवृद्धि के लिए युद्ध करना इस (अँगरेज) "राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है"। परन्तु वही पिट अब इस सिद्धान्त का अनुश्रयी न रहा था। फ्रांस से उठी हुई "स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता" की आवाज से अँगरेज राजनीतिज्ञों के मत में भारी परिवर्तन हो रहा था। क्रान्ति की विकराल मूर्ति से स्वतंत्रता का बर्क सरीखा उपासक भी भयभीत हो गया था।

भारतवर्ष की स्थिति—कहा जाता है कि सर जान शोर की नीति से भारतवर्ष में भी एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई थी। निजाम का अँगरेजों पर से विश्वास उठ गया था। वह फ्रांसीसी अफसरों की अध्यक्षता में अपनी सेना बढ़ा रहा था। मराठों से पराजित होकर और अँगरेजों से धोखा खाकर वह टीपू से नाता जोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। खर्दा की विजय से मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। आगरा और दिल्ली में सिन्धिया का दबदबा था।

बराबर से उड़ीसा तक भोंसला का राज्य फैला हुआ था। गायकवाड़ गुजरात को दबाये बैठा था। मालवा में होलकर का आतंक जमा हुआ था। पूना-दरबार में नाना फड़नवीस का बोलबाला था। इन सब मराठा राजाओं के यहाँ सेना के बहुत से अफसर फ्रांसीसी थे। इनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी सिपाहियों को पाश्चात्य रण-पद्धति की शिक्षा दी जा रही थी। पिछली हार से टीपू जल-भुन रहा था। उसके राज्य में फ्रांसीसी अफसरों की संख्या सबसे अधिक थी। उसके दूत फ्रांस, काबुल और कुस्तुनतुनियाँ दौड़ रहे थे। उत्तरी भारत में जमाँशाह के सहसा टूट पड़ने का भय हो रहा था। फ्रांस का सेनापति वीरवर नेपोलियन मिश्र की तरफ बढ़ रहा था। टीपू के साथ उसका पत्र-व्यवहार हो रहा था। भिन्न-भिन्न राज्यों के फ्रांसीसी अफसर बड़ी उत्सुकता से उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।



नेपोलियन

भारतवर्ष में फ्रांसीसियों के इस नये प्रभुत्व से इंग्लैंड-सरकार को बड़ी चिन्ता हो रही थी। इसको नष्ट करने के लिए वेलेजली पूर्ण रूप से उपयुक्त था। वह फ्रांसीसियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उनकी निन्दा में उसने कई एक कविताएँ रची थीं।

वेलेजली का आगमन—इस तरह भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य की वृद्धि और फ्रांसीसियों के नये प्रभुत्व का नाश ये दो मुख्य उद्देश्य पहले ही से निश्चित हो गये थे। इनकी प्राप्ति के लिए केवल उपाय सोचना बाकी था। नवम्बर सन् १७९७ में वेलेजली इंग्लैंड से रवाना होकर फरवरी सन् १७९८ में अन्तरीप 'गुडहोप' पहुँचा। यहाँ मदरास के भूतपूर्व गवर्नर तथा कुछ अँग-

रेज अफसरों से, जो टीपू के कैदी रह चुके थे, उसकी भेंट हुई, जिनसे उसको मैसूर का बहुत कुछ हाल मालूम हो गया। कर्क पैट्रिक पहले सिन्धिया और बाद को निजाम के दरबार में रेजीडेंट रह चुका था। वह इन दोनों दरबारों में फ्रांसीसियों के प्रभुत्व को अच्छी तरह जानता था। उससे भी वेलेजली को बहुत सहायता मिली और उसकी प्रसिद्ध 'सहायक प्रथा' के मुख्य अंश यहीं तय हो गये। मई सन् १७९८ में वह कलकत्ता पहुँचा। भारतवर्ष के मुख्य राजाओं में सबसे निर्बल निजाम ही था, इसलिए सबसे पहले वेलेजली ने उसी को सहायक प्रथा का शिकार बनाना निश्चित किया।

निजाम के साथ व्यवहार—खर्दा के युद्ध के समय से अँगरेजों पर से निजाम का विश्वास उठ गया था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। अपने बेटे के विद्रोह करने पर उसने अँगरेजी सेना को फिर से बुला लिया था, यह ठीक है, पर उसका ध्यान फ्रांसीसी अफसर रेमाँ की सेना को बढ़ाने की ओर ही अधिक था। रेमाँ की पल्टन में १४ हजार सिपाही और ३० तोपें थीं। इसका खर्च चलाने के लिए उसने कर्नाटक की सीमा के कुछ जिले दे रखे थे। लार्ड वेलेजली की दृष्टि में इस पल्टन से कम्पनी को बढ़ा भय था। कहा जाता है कि टीपू की ओर से फ्रांसीसी एक सेना एकत्र कर रहे थे। निजाम के फ्रांसीसी अफसर भी उनका साथ देना चाहते थे। ऐसी दशा में टीपू के साथ लड़ाई छिड़ने पर निजाम से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं की जा सकती थी। शान्ति के समय में भी फ्रांसीसी अफसर निजाम से फ्रांस की शक्ति तथा सफलता की प्रशंसा किया करते थे और "अँगरेजों के आचरण, शक्ति तथा नियत की हर तरह से बुराई करते थे।"

इसलिए उसने निजाम को समझा बुझाकर इस पल्टन का तोड़ना निश्चित किया। यह काम हैदराबाद के नये रेजीडेंट कर्नल कर्क पैट्रिक (मेजर कर्क पैट्रिक के भाई) और जान मालकम को सौंपा गया। दूसरी ओर मदरास के गवर्नर हैरिस को सेना तैयार रखने की आज्ञा दे दी गई।

निजाम जानता था कि रेमाँ की पल्टन तोड़ने का परिणाम यह होगा कि उसको सदा अँगरेजों के अधीन रहना पड़ेगा, परन्तु वह विवश था। उसको

मराठों का भय था। उनसे रक्षा करने का अब उसको विश्वास दिलाया जा रहा था। चतुर कर्क पैट्रिक ने उसके दीवान को अपने पक्ष में मिला लिया था। यह वही दीवान था जिसने निजाम को मराठों से भिड़ा दिया था। अन्त में लाचार होकर सितम्बर सन् १७९८ में निजाम को हैदराबाद की नई सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि अँगरेज अफसरों की अध्यक्षता में ६ हजार सिपाहियों की एक सेना निजाम की रक्षा के लिए रहा करेगी। इसका खर्च २४ लाख रुपया सालाना निजाम को देना पड़ेगा। इस सेना के पहुँचने पर निजाम फ्रांसीसी अफसरों को निकाल देगा और उनकी पल्टनों को इस तरह छिन्न-भिन्न कर देगा कि “उनके अस्तित्व का कोई निशान बाकी न रह जाय।” बिना कम्पनी की अनुमति के किसी फ्रांसीसी या यूरोप के अन्य निवासी को निजाम न तो नौकर रख सकेगा और न अपने राज्य में बसने की उन्हें आज्ञा दे सकेगा।

फ्रांसीसी पल्टन तोड़ने की आज्ञा देने से निजाम हिचकिचा रहा था, पर अन्त में उसको यह आज्ञा भी देनी पड़ी। अँगरेजी सेना ने पल्टन की छावनी को घेर लिया। रेमाँ मर चुका था। फ्रांसीसी अफसर आपस ही में लड़-झगड़ रहे थे। उन्होंने बिना लड़े-भिड़े अपने को अँगरेजों के हवाले कर दिया। सिपाहियों ने पहले तो विरोध किया, परन्तु मालकम के समझाने पर उन्होंने भी हथियार डाल दिये। वेलेजली की नीति की यह पहली विजय हुई। बात की बात में उसने १४ हजार सैनिकों की शक्ति को नष्ट कर डाला और निजाम को सदा के लिए अँगरेजों के अधीन बना लिया। इंग्लैंड-सरकार और कम्पनी के संचालकों ने इसके लिए उसकी बड़ी प्रशंसा की।

टीपू पर सन्देश—कलकत्ता पहुँचने पर, जून सन् १७९८ में, मारिशस (मिच के टापू) के फ्रांसीसी गवर्नर का एक घोषणा-पत्र वेलेजली के हाथ में पड़ा था। इसमें टीपू के दूतों के आने का उल्लेख करते हुए, अँगरेजों के विरुद्ध उसकी सेना में भरती होने का अनुरोध किया गया था। वेलेजली की दृष्टि में अँगरेजों के प्रति टीपू की शत्रुता का यह स्पष्ट प्रमाण था। उसका कहना था कि ‘फ्रांस के द्वीप’ में दूतों को भेजने का “भारतवर्ष से अँगरेज जाति को बाहर निकालने की

प्रबल इच्छा” के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य न था। इस पर इंग्लैंड से ‘गुप्त कमेटी’ ने लिख भेजा कि यदि वास्तव में यह बात ठीक है, तो टीपू की ओर से लड़ाई छिड़ने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही उस पर आक्रमण कर देना उचित है। पर इसका ध्यान रखना चाहिए कि बिना “नितान्त आवश्यकता” के युद्ध न छेड़ा जाय। यह पत्र उसको अक्टूबर में मिला, परन्तु वेलेजली इस समय तक लड़ाई के लिए तैयार न था, इसलिए वह चुप रहा।

फ्रांसीसी गवर्नर के घोषणा-पत्र मिलने पर ही वेलेजली ने मदरास-सरकार को सेना एकत्र करने के लिए लिख दिया था। वह मराठों से भी बराबर पत्र-व्यवहार कर रहा था और निजाम को नई सन्धि से जकड़ने के प्रयत्न में लगा था। जब उसको यह ज्ञात हो गया कि मराठे अपने आपस के झगड़ों के कारण उसके विरुद्ध टीपू का साथ न देंगे, जब निजाम के साथ नई सन्धि हो गई, बम्बई तथा मदरास की सेनाएँ पूर्ण रूप से तैयार होगईं और काफी रुपये का कर्ज द्वारा प्रबन्ध हो गया, तब टीपू से बेधड़क बातचीत करने में उसके लिए कोई रुकावट न रह गई। युद्ध की धमकी देते हुए उसने निजाम के दंग की सन्धि करने के लिए टीपू को लिख भेजा।

सेना का स्वयं निरीक्षण करने के लिए वह कलकत्ता से मदरास की ओर चल पड़ा। जनवरी सन् १७९९ में मदरास पहुँचने पर उसको टीपू का उत्तर मिला। इसमें उसने सेना की तैयारी और लड़ाई की धमकी पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा कि मैंने अपना कोई दूत मॉरिशस नहीं भेजा था। मैसूर के कुछ व्यापारी वहाँ गये थे। उसी समय पर वहाँ के गवर्नर ने अँगरेजों से झगड़ा कराने के लिए उस घोषणा-पत्र को निकाल दिया, जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँ से ४० फ्रांसीसी आये थे, जिनमें से कुछ मेरे यहाँ नौकर हो गये और बाकी चले गये। फ्रांसीसियों पर मुझे स्वयं विश्वास नहीं है, वे “बुराई और दगाबाजी से भरे हुए हैं”।^१ अपनी मित्रता का विश्वास दिलाते हुए, अन्त में उसने लिखा कि नई सन्धि की कोई आवश्यकता नहीं

जान पड़ती। इस उत्तर से वेलेजली को सन्तोष नहीं हुआ और ता० ३ फरवरी को उस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी गई।

मैसूर का अन्तिम युद्ध—सन् १७९२ की सन्धि के विरुद्ध टीपू ने कोई काम नहीं किया था। रुपये की बड़ी रकम को उसने समय से चुका दिया था। फ्रांसीसियों से उसका सम्बन्ध अवश्य था, पर इसमें अँगरेजों की सलाह लेने की उसके लिए आवश्यकता न थी। वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सम्बन्ध रख सकता था। वेलेजली का अनुमान था कि फ्रांसीसियों के साथ मिलकर टीपू अँगरेजों की शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इसके समर्थन में श्रीरंगपट्टन के किले में मिले हुए नेपोलियन के कुछ पत्रों पर वह जोर देता है। परन्तु जिस तरह अँगरेजों को टीपू का भय था, उसी तरह टीपू को अँगरेजों का भय हो सकता था। बंगाल, अवध और कर्नाटक का इतिहास उससे छिपा नहीं था। निजाम अँगरेजों के सर्वथा अधीन था। मराठों की नीति पर उसको विश्वास न था। ऐसी दशा में यदि वह फ्रांसीसियों से सम्बन्ध जोड़ता था, तो इसमें उसका कौन सा दोष था? किसी के साथ सन्धि हो जाने पर उसकी शक्तों के विरुद्ध जब कोई घटना होती है, तभी प्रायः युद्ध किया जाता है। केवल भय के अनुमान पर युद्ध नहीं किया जाता। यदि ऐसा होने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कभी स्थापित ही नहीं रह सकती।

यदि वेलेजली और उसके समर्थकों की यह बात मान भी ली जाय कि टीपू फ्रांसीसियों के साथ मिलकर अँगरेजों को निकालना चाहता था, तब भी यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसा होना सम्भव था? टीपू के पास सौ डेढ़ सौ से अधिक फ्रांसीसी अफसर न थे। फ्रांसीसी उसकी अधिक सहायता कर सकेंगे, इसमें स्वयं वेलेजली को सन्देह था। अक्टूबर सन् १७९८ के पत्र में वह लिखता है कि मुझे विश्वास है कि टीपू को जितनी फ्रांसीसी सहायता मिल रही है, उससे जब तक अधिक न मिलेगी, वह आक्रमण करने का साहस न करेगा। साथ ही साथ मुझे यह भी विश्वास है कि इंग्लैंड की सरकार और हमारा जहाजी बेड़ा फ्रांसीसियों को इस ओर न आने देने

का भरपूर प्रयत्न करेगा।^१ फिर इस समय फ्रांसीसी सहायता की तो कोई सम्भावना ही न थी। नेपोलियन की जहाजी सेना नाइल के युद्ध में हार चुकी थी और उसके बड़े को नेल्सन नष्ट कर चुका था। नेपोलियन का ध्यान इन दिनों यूरोप की तरफ था और एशियाई झगड़ों में पड़ने के लिए उसके पास समय न था।

रेमाँ की पल्टन टूटने से निजाम पंगु हो ही चुका था, मराठों को आपस के झगड़ों से ही छुट्टी न थी, अकेले टीपू में अँगरेजों का सामना करने की सामर्थ्य न थी। कर्नल बीटसन का अनुमान था कि “पिछली लड़ाई के समय से टीपू की सेना की संख्या कम हो गई है और व्यवस्था भी बिगड़ गई है। अब उस पर सेना को विश्वास नहीं है। उसकी आर्थिक दशा में भी बड़ा गड़बड़ है और मंत्रियों में दलबन्दी हो गई है। फ्रांसीसियों से सहायता मिलने की आशा न होने से, जमाँशाह के वापस चले जाने से, हैदराबाद तथा पूना के दरबारों में उसकी चालों की असफलता से और हमारे सेना-सम्बन्धी विस्तृत प्रबन्ध, तेजी तथा असामान्य जोर से, उसकी हिम्मत हार गई है।”^२ फिर भला ऐसे शत्रु से कौन सा भय था? यह अनुमान ठीक न हो तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस समय टीपू के साथ युद्ध “नितान्त आवश्यक” न था। वास्तव में बात यह थी कि अँगरेज हर तरह से प्रबल थे और टीपू को दबाने का यह “अच्छा अवसर” था। अपने “गुप्त भावों” को प्रकट करते हुए, ता० १३ दिसम्बर सन् १७९८ के पत्र में वेलेजली ने इसे स्वयं स्वीकार किया है।^३

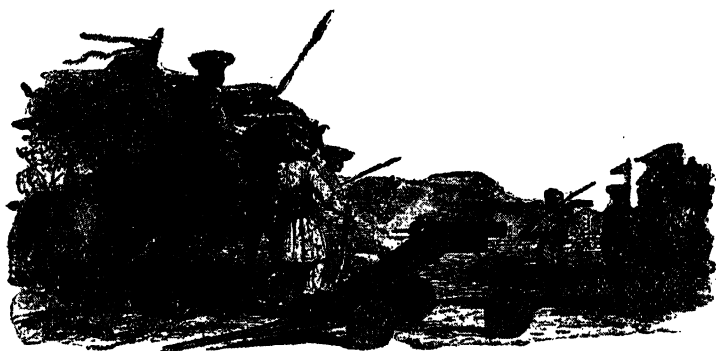
कहा जाता है कि वह वेलेजली की शर्तों पर सन्धि के लिए राजी न था, इसलिए युद्ध के सिवा और कोई चारा न था। ये वे ही शर्तें थीं, जिन पर निजाम के साथ सन्धि की गई थी। इनके अतिरिक्त हरजाने की एक बड़ी रकम और कुछ भूमि के बदले में कनाडा प्रान्त भी माँगा जाता था, जिसमें समुद्र

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० १, पृ० २७५।

२ बीटसन. वार विद टीपू सुल्तान, सन् १८००, पृ० ५७।

३ रेनियर के नाम पत्र, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ३६८-६९।

से टीपू का कोई सम्बन्ध न रह जाय। इन शक्तों को स्वीकार करके स्वाभिमानी टीपू जान-बूझकर अपने आप पैरों में बेड़ियाँ न डालना चाहता था।



टीपू का तोपखाना

इस तरह के समर्थन से तो यह स्पष्ट कह देना कहीं अच्छा था कि टीपू वेलेजली की आँखों में खटकता था। उसकी शक्ति को नष्ट करके कम्पनी के राज्य को दृढ़ और विस्तृत बनाना उसका मुख्य उद्देश्य था। यह केवल अनुमान ही नहीं है, कलकत्ता पहुँचते ही जितनी शीघ्रता से युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गई थीं, वे ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। टीपू को अपनी बात समझाने के लिए भी पूरा समय नहीं दिया गया और पहले से ही छिपे-छिपे युद्ध की तैयारियाँ की जाने लगीं। जिन अफसरों को कैद करके टीपू “बन्दर की तरह” नचाया करता था, उनकी सलाह से टीपू का नाश भारतवर्ष पहुँचते ही, वेलेजली ने निश्चित कर लिया था। श्रीरंगपट्टन के पतन पर वेलेजली को बधाई देते हुए, ता० १७ मई सन् १७९९ के पत्र में, सर ओलार्ड क्लार्क लिखता है कि इस तारीख के ठीक १२ महीने पूर्व शासनभार लेते समय, टीपू को नीचा दिखलानेवाली आपकी बात मुझे स्मरण है।^१ इन सब बातों

^१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ५९१।

को ध्यान में रखते हुए, वेलेजली सदश सिद्ध-हस्त लेखक के योग्यतापूर्ण और जोरदार समर्थन^१ में कितना तत्त्व है, इसको बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

टीपू का अन्त—लड़ाई दो ही महीने में समाप्त हो गई। अँगरेजों की पूरी तैयारी थी। टीपू की प्रजा, उसके अफसर तथा मैसूर के हिन्दू राज-घराने को भड़काने के लिए, गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेजली की अध्यक्षता में एक कमीशन पहले से ही काम कर रहा था।^२ टीपू अकेला था, बम्बई से बढ़ती हुई स्टुआर्ट की सेना को वह रोक न सका। मदरास की सेना ने उसके साथ मिलकर टीपू को मलवली नामक स्थान पर हराया। वहाँ से हटकर टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन में चला आया। अँगरेजी सेना ने इसका घेरा डाल दिया। टीपू ने एक बार फिर सन्धि का प्रयत्न किया, परन्तु अब वेलेजली पिछली शर्तों के अतिरिक्त आधा राज्य, दो करोड़ नकद और मुख्य अफसर तथा टीपू के चारों लड़कों को जमानत में माँगता था।^३ इस सन्धि के अपमान से टीपू ने युद्ध में प्राण देना ही उचित समझा। ता० ४ मई के युद्ध में अपने किले के फाटक पर बड़ी वीरता से लड़ते हुए वह मारा गया। इस तरह हैदर के राज्य का अन्त हो गया और अँगरेजों को पूर्ण विजय हुई।

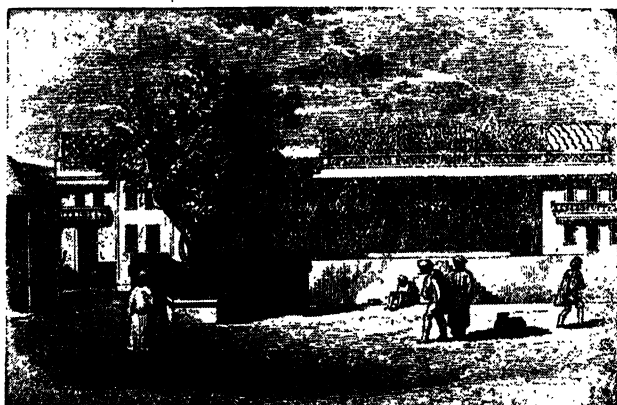
युद्ध के समय में प्रजा की रक्षा करने के लिए गवर्नर-जनरल ने घोषणा निकाली थी, परन्तु उसका कुछ भी ध्यान न रखकर सेना ने नगर को खूब लूटा। आर्थर वेलेजली ने सिपाहियों की कोढ़ों से खबर लेकर जैसे-तैसे शान्ति स्थापित की। किले में अँगरेजों को बहुत सी युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त एक करोड़ पौंड से अधिक का सामान मिला। श्रीरंगपट्टन का विशाल नगर आजकल उजाड़ है।

१ 'साक्रेट डिपार्टमेंट मिनिट' ता० १२ अगस्त सन् १७९८, डेसपैचेज, जि० १, पृ० १५९-२०८।

२ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ४४२-४८।

३ मालकम, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, जि० १, पृ० २२८।

टीपू का चरित्र—अपने पिता के प्रतिकूल वह फारसी का अच्छा विद्वान् था। उसको उर्दू और कनाड़ी का भी ज्ञान था। हस्तलिखित



टीपू का महल

पुस्तकों का उसके पास एक अच्छा संग्रह था। इसमें कला, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, साहित्य सभी विषयों के ग्रन्थ थे। यह पुस्तकालय कलकत्ता भेज दिया गया। वह अपने को सब विषयों का ज्ञाता मानता था। नये-नये नाम रखने का उसको बड़ा शौक था। कई स्थानों के नाम उसने बदल दिये थे। साल और महीनों के भी उसने नये नाम रखे थे। लिखने में उसका हाथ खूब चलता था। हर एक कागज पर वह अपने हाथ से बड़े-बड़े हुक्म लिखता था।

वह अच्छा घोड़सवार और निशानेबाज था। सेना के संगठन में उसको बड़ी रुचि थी। इस सम्बन्ध में उसने नियमों का एक संग्रह भी तैयार किया था, जिसमें सेना के भिन्न-भिन्न दलों और उनके कर्तव्यों का वर्णन किया गया था। जहाजी सेना की भी उसने एक योजना बनाई थी। इस वेड़े में २० जंगी जहाजों का रखना निश्चित किया गया था। इन जहाजों को बनाने के लिए उसने स्वयं बहुत सी हिदायतों को लिखा था। उसके मर जाने से

यह योजना कागज पर ही रह गई। हर एक काम को वह अपनी आँख से देखता था और सबेरे से शाम तक बराबर काम करता था। उस समय के अन्य मुसलमान शासकों की तरह वह अपना समय आरामतलबी में व्यतीत न करता था। उसके दफ्तर में सब कागजात ठीक ढंग से रखे जाते थे। हैदरअली की तरह उसका रहन-सहन तो सादा था, पर उसमें घमंड की मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। वह अपने को 'सुल्तान' कहता था और कुछ दिनों तक उसने एक नया सिक्का भी चलाया था।

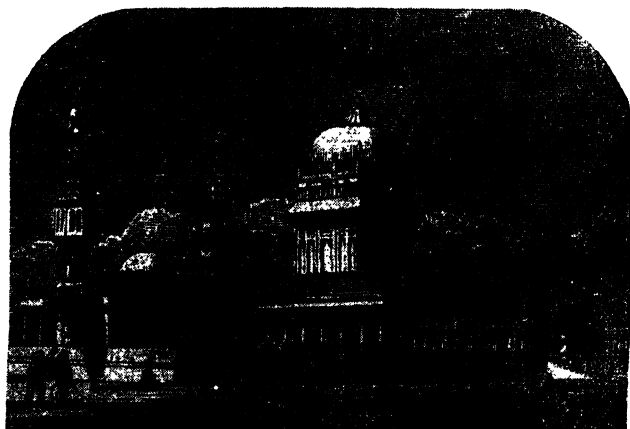
हिन्दू राजाओं के समय से जैसा कुछ शासन चल आ रहा था, उसमें उसने अधिक हस्तक्षेप नहीं किया था। समय पड़ने पर वह रुपया लेने में सख्ती जरूर करता था, पर साधारणतः प्रजा सुखी थी और राज्य में खेती का अच्छा प्रबन्ध था। शराब का बनाना और बेचना उसने अपने राज्य में बन्द कर दिया था। मलाबार में बहुपति-विवाह की प्रथा रोकने का भी उसने प्रयत्न किया था। मेजर डिरोम का कहना है कि उसका शासन कड़ा और मनमाना अवश्य था, पर वह एक योग्य शासक की तरह प्रजा का-पालन भी करता था। जिनको वह अपना शत्रु समझता था, उन्हीं के साथ उसका व्यवहार कठोर होता था।^१ मूर ने भी माना है कि उसके राज्य की दशा देखते हुए यह नहीं जान पड़ता था कि प्रजा पर अत्याचार हुआ है।^२

इस्लाम धर्म का वह पक्का अनुयायी था। अपने राज्य को वह 'खुदा-दाद' (ईश्वर-दत्त) कहा करता था। कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसका विश्वासपात्र दीवान पुर्णिया एक हिन्दू था। अपने पिता की तरह वह भी मन्दिरों को दान देता था। विपत्ति के समय पर पंडितों से प्रार्थना करवाने में भी उसको विश्वास था। ईसाइयों के साथ उसका व्यवहार कभी-कभी अवश्य कठोर होता था, परन्तु इसके कारण धार्मिक की अपेक्षा अधिकतर

१ मेजर डिरोम, कैम्पेन विद टीपू सुल्तान, सन् १७९३, पृ० २५०।

२ मूर, नैरेटिव, पृ० २०१।

राजनैतिक थे। अँगरेज इतिहासकारों ने उसकी निर्दयता और कठोरता को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। मुसलमानों की दृष्टि में वह 'शहीद' था। हैदरअली के सुन्दर मकबरे में वह भी दफन किया गया। उसकी कब्र पर मरने की तारीख



हैदर और टीपू का मकबरा

बतलाते हुए ये शब्द लिखे हुए हैं—“नूर इस्लाम व दीन अज दुनिया रफ्त” (दुनिया से इस्लाम और दीन का नूर उठ गया)।

राज्य का बटवारा—वेलेजली की राय में युद्ध के नियमों के अनुसार टीपू का राज्य विजेताओं का था और जिस तरह चाहें उसके बटवारा का उनको अधिकार था। निजाम और अँगरेज उसको बराबर-बराबर बाँट सकते थे, पर वेलेजली का कहना था कि ऐसा करने से निजाम की शक्ति बहुत बढ़ जाती। सन् १७९२ के समझौता के अनुसार मराठों को तिहाई भाग देना भी उसकी राय में उचित न था, क्योंकि मराठों ने युद्ध में कोई सहायता नहीं की थी। तब भी वे यदि नई सन्धि करने के लिए तैयार हों तो उनको कुछ जिले दे देने में कोई हानि न थी। इन सब बातों को सोच-

विचार कर वेलेजली ने मैसूर के एक छोटे राज्य को बनाये रखना निश्चित किया। बाकी राज्य के बटवारे में कनाड़ा, कोयमटूर, दारापुरम, वयनाड, श्रीरंगपट्टन और मलबार तट के कुछ जिले कम्पनी को मिले। इस तरह अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक कुल समुद्र-तट अँगरेजों के अधिकार में आ गया। कम्पनी से कुछ कम हिस्सा निजाम को मिला। इसमें मैसूर राज्य के उत्तर-पूर्व के जिले थे। निजाम से आधा हिस्सा सहायक सम्बन्ध स्वीकार करने पर मराठों को देना निश्चित हुआ, परन्तु इन गये बीते जिलों के बदले में मराठों ने अपनी स्वाधीनता बँचने से इनकार कर दिया। इस पर ये जिले भी निजाम और अँगरेजों ने आपस में बाँट लिये। सैनिक दृष्टि से प्रसिद्ध गढ़ और स्थान अँगरेजों के ही हाथ में रहें, बटवारे में वेलेजली ने इसका बड़ा ध्यान रखा।

मैसूर का राज्य—बचे हुए आधुनिक मैसूर राज्य के सम्बन्ध में टीपू के बेटों का कुछ भी ध्यान न रखा गया। वेलेजली की राय में अँगरेजों के साथ उनकी मित्रता असम्भव थी। उनको टीपू से शिक्षा मिली थी, जो अँगरेजों का घोर शत्रु था। वे टीपू की मृत्यु और पराजय के अपमान को कभी भूल न सकते थे। उनको राज्य देने से “मैसूर की शक्ति कमजोर हो जाती, पर नष्ट न होती”; वे सदा स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया करते। इसलिए उसने टीपू के बेटों को पेंशन देकर विल्लौर भेज दिया और मैसूर की गद्दी पर हिन्दू राज-घराने के एक पाँच वर्ष के बालक को बिठला दिया। इस सम्बन्ध में वह कम्पनी के संचालकों को लिखता है कि इससे उनकी “उदारता” का परिचय मिलेगा और मैसूर का घराना सदा उनका ऋणी तथा कृतज्ञ रहेगा। मैसूर के हिन्दू राजाओं को हैदर और टीपू के क्रूर व्यवहार और उनके अन्त का बराबर ध्यान रहेगा। “वे न कभी अपने शत्रुओं का साथ देंगे और न कभी अँगरेजों के विरुद्ध सिर उठावेंगे!”^१ अँगरेजों की इस “उदारता” के विषय में इतिहासकार ग्रिविल का कहना है कि मैसूर के इस हिन्दू राज्यनिर्माण द्वारा वेलेजली,

मराठों और निजाम को अधिक भूमि मिलने से, वंचित रखना चाहता था। यदि यह राज्य स्थापित न होता तो कम से कम निजाम को आधा हिस्सा अवश्य ही देना पड़ता।^१ इस प्रबन्ध से निजाम की शक्ति भी न बढ़ने पाई और मैसूर का राज्य अँगरेजों के सर्वथा अधीन हो गया।

नई सन्धि के अनुसार मैसूर राज्य को सहायक प्रथा की सब शर्तें माननी पड़ीं। वेलेजली दोहरे शासन के दोषों से अनभिज्ञ न था, इसलिए उसने मैसूर का शासन पुराने योग्य दीवान पुर्णिया के हाथ ही में छोड़ दिया। साथ ही साथ यह तय कर लिया कि शासन की देख-भाल और आवश्यकता पड़ने पर उसको अपने हाथ में ले लेने का अधिकार अँगरेजों को रहेगा। बन्दोबस्त के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसमें गवर्नर-जनरल के दोनों भाई आर्थर और हेनरी थे। इस कमीशन के टूटने पर मैसूर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया और सहायक सेना का आर्थर वेलेजली सेनापति बना दिया गया। सेना के खर्च के लिए कुछ भूमि अलग कर दी गई।



पुर्णिया

इस तरह सन्धि के नाम से मैसूर की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। पुर्णिया ने प्रजा की दशा सुधारने का अच्छा प्रयत्न किया। उसने बड़े-बड़े तालाबों की मरम्मत करवाई और लगान कम करके तथा कहीं-कहीं पेशगी दे करके गरीब किसानों की सहायता की।

हैदराबाद का सहायक सन्धि—मैसूर-युद्ध के पहले निजाम के साथ जो सन्धि की गई थी, उससे वेलेजली सन्तुष्ट न था। उसमें उसकी

१ ग्रिबिल, ए हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० ११३।

सहायक प्रथा का पूर्ण रूप से अनुसरण न किया गया था। इसलिए अक्टूबर सन् १८०० में एक नई सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार मैसूर के बटवारे से निजाम को जो कुछ भूमि मिली थी, वह सब सहायक सेना का खर्च चलाने के लिए ले ली गई। अन्य राज्यों के साथ बिना कम्पनी से पूछे हुए सम्बन्ध जोड़ने का अधिकार निजाम को न रहा और उनमें से किसी के साथ झगड़ा होने पर कम्पनी को पंच बनाना निजाम को स्वीकार करना पड़ा।

कर्नाटक का अन्त—कार्नावालिस के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी नवाब उमदतुलउमरा कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में देने के लिए राजी नहीं हुआ था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। टीपू से लड़ाई छिड़ने पर वेलेजली ने इसके लिए फिर से प्रयत्न किया। उसने बहुत समझाया कि कर्ज लेकर बराबर किस्त अदा करने में उसका राज्य नष्ट हो रहा है। कम्पनी के हाथ में शासन दे देने से वह सब झगड़ों से बच जायगा। परन्तु नवाब वेलेजली के पंजे में न आया, वह अपनी ही बात पर डट रहा। युद्ध समाप्त होने पर कहा जाता है कि टीपू के कागजात में उसके और उसके बाप मुहम्मद-अली के कई एक पत्र मिले, जिनसे पता चला कि वे दोनों अँगरेजों के विरुद्ध टीपू के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे। युद्ध में भी नवाब से किसी प्रकार की सहायता न मिली थी। इन बातों की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया। उसकी रिपोर्ट मिलने पर वेलेजली की राय में अँगरेजों के प्रति नवाब की शत्रुता सिद्ध हो गई और उसने “सम्भव हो तो सन्धि द्वारा नहीं तो घोषणा द्वारा” कर्नाटक का शासन ले लेना निश्चित कर लिया। इस कार्य के लिए वह स्वयं मदरास जाना चाहता था, परन्तु अवध के झगड़ों में फँसे होने के कारण यह काम मदरास के गवर्नर लार्ड क्लाइव को सौंपा गया।

इन दिनों नवाब उमदतुलउमरा बहुत बीमार था। उसकी हालत खराब होने पर महल में गोरों का पहरा कर दिया गया। मृत्युशय्या पर पड़े हुए नवाब ने इस अपमान का विरोध किया, परन्तु उसको समझा दिया गया कि गड़-

बढ़ होने का भय था, इसलिए ऐसा किया गया। नवाब के मरते ही, कर्नाटक के शासन का क्या प्रबन्ध होगा, इस पर परामर्श होने लगा। उसके १८ वर्ष के बेटे अलीहुसेन को नई सन्धि स्वीकार करने के लिए “एकान्त में” लार्ड क्लाइव ने कई बार बहुत कुछ फुसलाया, पर वह राजी न हुआ। इस पर उसके सिपाही गिरफ्तार कर लिये गये और उसका चचेरा भाई अजी-मुद्दौला मसनद पर बिठा दिया गया। नई सन्धि द्वारा कर्नाटक का कुल शासन कम्पनी के हाथ में आ गया और अजीमुद्दौला केवल नाम के लिए नवाब रह गया।

कर्नाटक का अँगरेजों से बहुत पुराना सम्बन्ध था। पहले पहल मुहम्मद-अली ही का साथ देकर अँगरेजों ने फ्रांसीसियों से अपनी रक्षा की थी। हैदर और टीपू नवाब के घोर शत्रु थे। अँगरेजों के विरुद्ध उनकी सहायता करना अधिक सम्भव नहीं था। यदि ऐसा हो भी, तो बेचारे अलीहुसेन का क्या दोष था? दोषी था उसका बाप उमदतुलउमरा, जिस पर कोई अभियोग नहीं चलाया गया था। गवर्नर-जनरल की राय में बाकायदा अभियोग चलाने की कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि शत्रुता का प्रमाण मिलने पर इस तरह के व्यवहार करने का राज्यों का स्वयंसिद्ध अधिकार है।^१ कमीशन की रिपोर्ट मिलने के पहले ही वेलेजली ने कर्नाटक के सम्बन्ध में अपनी राय कायम कर ली थी। नवाबों पर जो अपराध लगाये गये थे, उनकी पूरी तरह जाँच थी नहीं की गई भी। विल्सन को भी मानना पड़ा है कि टीपू के नाम उनके पत्रों से ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका “वास्तविक विश्वासघात” सिद्ध न होता था। तिस पर भी जो दंड दिया गया, वह तो हर तरह से कठोर था।^२

कर्नाटक के शासन में बहुत से दोष थे, प्रजा पर अत्याचार होता था, शासक व्यसनी थे, यह सब ठीक है। पर इसके लिए अधिकतर जिम्मेदार कौन था? नवाब के हाथ में कोई शक्ति न थी, सेना अँगरेजों की थी, जिसके खर्च की कोई

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० २, पृ० ५१५-२४।

२ मिल, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, जि० ६, फुटनोट पृ० ३२४, ३२९।

हद न थी। भेंटों और दावतों की भरमार थी। समय पर किस्त अदा न करने से शासनाधिकार छीन-लेने का भय दिखलाया जाता था, जिसके कारण तीन रुपया सैकड़ा माहवार तक के सूद पर नवाब को अँगरेज महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था।^१ महाजनों को सन्तुष्ट रखने के लिए मालगुजारी वसूल करने का ठेका उन्हीं को दिया जाता था। प्रजा से उनका कोई सम्बन्ध न था, इसलिए उनको तरह-तरह के अत्याचार करने में भी किसी प्रकार का संकोच न होता था। नवाब की ओर से जरा सी भी स्वतंत्रता कम्पनी की आँखों में खटकती थी। इंग्लैंड के राज-घराने के साथ नवाबों के पत्र-व्यवहार से वेलेजली बहुत चिढ़ता था। उनकी धृष्टता, अँगरेजों के प्रति शत्रुता और प्रजा के ऊपर अत्याचारों को दिखलाते हुए, उसने अपनी नीति का बड़े जोरों से समर्थन किया है। इस पर एक इतिहासकार का कहना है कि भेड़ का वध करने के लिए शेर अपना हर समय समर्थन कर सकता है।

तंजोर का झगड़ा—राजा तुलजाजी के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने सरफोजी नाम के एक लड़के को गोद लिया था। जिस ढंग से वह गोद लिया गया था, उसमें कुछ झगड़ा था, इसलिए अँगरेजों की सलाह से तुलजाजी का भाई अमरसिंह गद्दी पर बिठला दिया गया। उसके साथ सन् १७९३ की सन्धि करके अँगरेजों ने उसको तंजोर का राजा मान लिया। बाद में “पण्डितों की सलाह” से पता लगा कि गद्दी का अधिकारी वास्तव में तुलजाजी का दत्तक पुत्र सरफोजी है। इसके अतिरिक्त अमरसिंह का शासन भी ठीक नहीं है। इस “अन्याय” को दूर करने के लिए अब सरफोजी को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। सरफोजी की शिक्षा एक पादरी की निगरानी में हुई थी। वह वेलेजली की सब शर्तों को मानने के लिए तैयार था। कर्नल बेयर्ड की राय में राजा अमरसिंह एक योग्य शासक था और उसने अँगरेजों के विरुद्ध कोई काम नहीं किया था। वेलेजली की शर्तों को मान करके वह अपनी बची-खुची स्वतंत्रता को खोना न चाहता था, यही

उसका सबसे बड़ा अपराध था। बहुत दिनों से अँगरेज रेजीडेंट उसको हाथ में लाने के लिए साम, दान, दण्ड, भेद से काम ले रहा था। सफलता न होने पर उसको गद्दी से उतारने के सिवा और कोई उपाय न था। वेलेजली की राय में उसके शासन की जाँच करने के लिए किसी कमीशन के नियुक्त करने की आवश्यकता न थी। इस जाँच-पड़ताल से “तंजोर की प्रजा के सुख और समृद्धि में बड़ी बाधा पड़ती।” इस तरह राजा अमरसिंह गद्दी से उतार दिया गया। सरफोजी के साथ नई सन्धि कर ली गई, जिसके अनुसार पेंशन देकर वह तंजोर के किले में रख दिया गया और राज्य का शासन अँगरेजों के हाथ में आ गया।

अवध के साथ जबरदस्ती—वेलेजली की राय में अवध सुरक्षित न था। नवाब वजीर की सेना किसी काम की न थी। उसको स्वयं अपनी रक्षा के लिए अँगरेजों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। अवध की निर्बलता से कम्पनी को अपने राज्य की रक्षा के लिए भय हो रहा था। अवध की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों की शक्ति बढ़ रही थी। जमाँशाह आक्रमण करने की बराबर धमकी दे रहा था। बनारस से भागकर वजीरअली उधम मचा रहा था। इन शत्रुओं को रोकने के लिए अवध में काफी अँगरेजी सेना न थी। जो सेना थी भी उसी का खर्च चलाना नवाब के लिए कठिन हो रहा था। शासन-व्यवस्था ठीक न होने से नवाब वजीर की आमदनी घट रही थी। किस्तों के बराबर मिलने की उससे आशा न थी। अँगरेज महाजन धन चूस रहे थे। शासन में सुधार करने के लिए नवाब अशक्त था। दिसम्बर सन् १७९८ के एक निजी पत्र में इन दोषों को दूर करने के उपाय बतलाते हुए वेलेजली लिखता है कि मराठों और जमाँशाह से रक्षा करने के लिए “दोआब पर अधिकार कर लेना चाहिए।” नवाब की निकम्मी सेना को, जिससे स्वयं नवाब को भय रहता है, तोड़ देना चाहिए और उसकी जगह पर कम्पनी की घोड़-सवार तथा पैदल सेना बढ़ा देनी चाहिए।^१

इस तरह टीपू से युद्ध छिड़ने के पूर्व ही अवध के विषय में वेलेजली की राय निश्चित हो गई थी। युद्ध से निश्चित होने पर नवम्बर सन् १७९९ में उसने नवाब को अपनी सेना तोड़ने और अँगरेजी सेना बढ़ाने के लिए लिख भेजा। नवाब की स्वीकृति बिना मिले ही अवध में अँगरेजी सेना बढ़ा दी गई और उसका खर्च नवाब से माँगा जाने लगा। वेलेजली की राय में नवाब की स्वीकृति की कोई आवश्यकता न थी; क्योंकि सर जान शोर के साथ जो सन्धि हुई थी, उससे अवध की रक्षा का भार कम्पनी ने ले लिया था। इसलिए भय की आशंका होने पर कम्पनी को अपनी सेना बढ़ा देने का अधिकार था और उसका खर्च देने के लिए नवाब मजबूर था।

नवाब वजीर का कहना था कि मैं किस्तों को बराबर अदा कर रहा हूँ, सेना बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी निज की सेना तोड़ देने से मेरा बड़ा अपमान होगा। पिछली सन्धि में यह वचन दिया गया था कि “मौरूसी राज्य, सेना तथा प्रजा पर मेरा पूरा अधिकार रहेगा” परन्तु सेना का प्रबन्ध छीन लेने से मेरा क्या अधिकार रह जायगा? वेलेजली की दृष्टि में नवाब का यह उत्तर “धृष्टता-पूर्ण” था। उसका कहना था कि सेना बढ़ाने की आवश्यकता है या नहीं, इसका निर्णय गवर्नर-जनरल कर सकता है न कि नवाब। उसने स्वयं माना है कि वह शासन में सुधार करने के अयोग्य है, ऐसी दशा में समय पर किस्तों का अदा होना असम्भव है।

“जाल में फँसी हुई चिड़िया की तरह नवाब फटफटा रहा था।” मस-नद से उतरकर देश से बाहर चले जाने तक की नवाब ने धमकी दी, परन्तु गवर्नर-जनरल पर इसका भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। कई महीनों तक आपस में पत्र-व्यवहार होता रहा। नवाब को अपमानित करने और बुरा-भला कहने में वेलेजली ने अपने पत्रों में कोई बात उठा न रखी। अब केवल अँगरेजी सेना बढ़ाने से ही वेलेजली को सन्तोष न था, प्रत्युत अवध के सम्पूर्ण शासन को कम्पनी के हाथ में लेना उसका मुख्य उद्देश्य था। इसकी प्राप्ति में वह किसी प्रकार की बाधा को सहन न कर सकता था।^१ जनवरी सन् १८०१ में नवाब

को लिखा गया कि या तो वह तंजोर के राजा की तरह पेंशन स्वीकार करके चुपचाप अलग पड़ा रहे, या अँगरेजी सेना का यहाँ तक का खर्च देकर आगे के लिए अपना आधा राज्य कम्पनी को दे देवे। अप्रैल में रेजीडेंट कर्नल स्काट को लिख दिया गया कि यदि इन शर्तों के मानने में नवाब हीला-हवाला करे, तो दोआब और रुहेलखण्ड पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया जाय।^१ नवाब के विरोध की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया, उल्टे उसको चेतावनी दी गई कि इन शर्तों के न मानने का परिणाम “उसके राज्य, तथा उसके वंशजों के लिए अच्छा न होगा।”

लखनऊ की सन्धि—जुलाई सन् १८०१ में शर्तों को मंजूर कराने के लिए गवर्नर-जनरल का भाई हेनरी लखनऊ भेजा गया। थोड़े दिन बाद स्वयं गवर्नर-जनरल भी कलकत्ता से चल पड़ा। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर नवम्बर सन् १८०१ में नवाब को सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि से दोआब और रुहेलखंड के कुछ जिले कम्पनी को मिल गये। वेलेजली ने छोटकर अवध की सीमा पर के जिलों को लिया। इन जिलों के निकल जाने से मराठा या अन्य किसी बाहरी शक्ति से अवध के राज्य का सम्बन्ध न रह गया। चारों ओर के जिलों पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। नवाब की सेना घटा दी गई और आवश्यकता पड़ने पर बिना खर्च लिए हुए नवाब की सैनिक सहायता करने के लिए वचन दिया गया। अँगरेज अफसरों की सलाह से नवाब ने इस बचे-खुचे राज्य का शासन करना स्वीकार किया।

अवध में अँगरेजी सेना बढ़ाने की कोई आवश्यकता न थी। जमाँशाह अपने ही झगड़ों में फँसा हुआ था, उसके भारतवर्ष लौटने की कोई सम्भावना न थी। वजीरअली से कोई ऐसा भय न था। सिन्धिया को पूना के झगड़ों से ही फुरसत न थी, उसका ध्यान उत्तर की अपेक्षा दक्षिण की ओर ही अधिक था। नवाब की निजी सेना के घटाने का प्रस्ताव पिछली सन्धियों के सर्वथा विरुद्ध था। नवाब के जिम्मे कोई क्रिस्त बाकी न थी।

कम्पनी की माँग बराबर बढ़ती जाती थी। बीस-पचीस लाख रुपया सालाना से बढ़ते-बढ़ते यह रकम एक करोड़ पैंतीस लाख तक पहुँच गई थी। जब नवाब ने इतनी बड़ी रकम देने में अपनी असमर्थता प्रकट की तब उसका आधा राज्य छीन लिया गया। सन् १७८७ में कार्नवालिस ने और सन् १७९८ में सर जान शोर ने शासन में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था। परन्तु इसका कुछ भी ध्यान न रखकर अँगरेज अफसरों की सलाह से शासन करने के लिए नवाब से कहा गया। ईंग्लैंड लौटने पर, पाल नामक एक अँगरेज की सहायता से, जो बहुत दिनों तक अवध में रह चुका था, इस सम्बन्ध में वेलेजली पर भी पार्लियामेंट में अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता न हुई।

अवध का शासन—नवाब से छीने हुए जिलों का हेनरी वेलेजली लेफ्टिनेंट-गवर्नर बनाया गया। यह गवर्नर-जनरल का छोटा भाई था और उसके प्राइवेट सेक्रेटरी का काम करता था। हेनरी वेलेजली कम्पनी का नौकर न था। उसकी नियुक्ति से कम्पनी के संचालक वेलेजली से बहुत चिढ़ गये। अन्त में उनकी आज्ञा से हेनरी को यह पद छोड़ना पड़ा। इन जिलों में अँगरेजी कानून-कायदे जारी कर दिये गये। जनता के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अदालतों द्वारा न्याय की अपेक्षा अधिकतर अत्याचार होने लगा। मनमाना लगान लिया जाने लगा, जिससे थोड़े ही दिनों में इन जिलों की आमदनी बहुत बढ़ गई। नवाब से जितना रुपया नकद मिलता था, उससे कहीं अधिक इन जिलों से मिलने लगा। नवाब सादतअली ने भी सुधार का प्रयत्न किया। उसने मालगुजारी वसूल करने के लिए राज्य को 'चकलों' और 'इलाकों' में बाँट दिया और उनको ठेके पर उठा दिया। हेनरी लारेंस का कहना है कि वह एक योग्य शासक था। यदि उसके साथ अच्छा बर्ताव किया जाता तो बहुत कुछ सुधार होने की सम्भावना थी। अँगरेज रेजीडेंट बराबर उसके शासन में बाधा डालते थे और किसी प्रकार की उन्नति न होने देते थे। तिस पर भी थोड़े ही काल में उसने खजाने को धन से भर दिया था।

सूरत का अपहरण—भारतवर्ष आने पर अँगरेजों ने पहले पहल सूरत में ही पैर जमाया था। सन् १७५९ में उन्होंने जैसे-तैसे किले पर कब्जा कर लिया और नवाब के साथ सन्धि करके दोहरा शासन चला दिया। इस सम्बन्ध में एक डच यात्री का कहना है कि कानून-कायदे सब अँगरेजों के हाथ में थे, तिसपर भी नवाब को गद्दी पर बिठलाये रखने का ढोंग दिखलाया जाता था। अँगरेजों की माँगें बराबर बढ़ती जाती थीं। वेलेजली की राय में नवाब का शासन ठीक न था और रक्षा के लिए सेना बढ़ाने की आवश्यकता थी। नवाब के मरने पर अँगरेजी सेना सूरत पहुँच गई और उसके भाई को पेंशन स्वीकार करके सूरत का शासन अँगरेजों के हाथ में छोड़ देना पड़ा। वह एक लाख रुपया सालाना देने के लिए तैयार था, पर वेलेजली को उतने से सन्तोष न था। सूरत के अँगरेज प्रतिनिधि की राय में अधिक रुपया देना नवाब के लिए सम्भव न था, उससे राज्य छीन लेना सरासर विश्वासघात था।^१ वेलेजली का कहना था कि शासन और सैनिक प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में आ जाने से ही सूरत की दशा सुधर सकती थी, इसलिए उसको ले लेना कम्पनी का “कर्तव्य और अधिकार” था। इस मामले में एक लेखक का कहना है कि न्याय तो बेचारे नवाब की ओर था, अँगरेजों की तरफ केवल चालबाजी और धीगाधीरी थी।^२

फोर्ट विलियम कालेज—कम्पनी के नौकर इंग्लैंड से आते थे। उनको भारतवर्ष का कुछ भी ज्ञान न होता था। उनकी शिक्षा और योग्यता की ओर भी विशेष ध्यान न दिया जाता था। इन दोषों को दूर करने के लिए सन् १८०० में वेलेजली ने कलकत्ता में एक कालेज खोलने की योजना तैयार की। उसका कहना था कि सोलह-सत्रह वर्ष के लड़के इंग्लैंड से भेज दिये जाते हैं, भारतवर्ष में उन पर कोई देख-रेख नहीं रहती है, वे मनमाने ढंग से रहने लगते हैं। वे केवल एक व्यापारिक संस्था के ही नौकर नहीं हैं। अब

१ मिल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० ६, पृ० २९५।

२ कलकत्ता, रेव्यू, जि० ९, पृ० ११५।

उनको राजदूत, मंत्री, जज और शासकों का काम करना पड़ता है। जब तक उनकी शिक्षा, योग्यता और आचरण का ध्यान नहीं रखा जायगा, शासन में सफलता होना असम्भव है। इन लोगों के लिए पाश्चात्य राजनीति, विज्ञान और साहित्य के साथ-साथ पूर्वीय इतिहास, भारतवर्ष सम्बन्धी कानून-कायदों और देशी भाषाओं का ज्ञान बढ़ा आवश्यक है।^१ संचालकों की स्वीकृति बिना मिले हुए ही उसने यह कालेज बड़ी धूम-धाम से खोल दिया।

इसमें बहुत से अँगरेज अफसर और पादड़ी अध्यापक नियुक्त किये गये। देशी भाषाएँ सिखलाने तथा रीति-रिवाजों को बतलाने के लिए पंडित और मौलवी रखे गये। इंग्लैंड से आने पर कम्पनी के साधारण कर्मचारियों को इस कालेज में तीन वर्ष पढ़ने के लिए नियम बना दिया गया। कम्पनी के संचालक वेलेजली से सहमत न थे, कर्मचारियों की शिक्षा के लिए वे अपने को जिम्मेदार न मानते थे। इसके अतिरिक्त कालेज के चलाने में बड़ा खर्च पड़ता था। उनकी आज्ञा के विरुद्ध दो वर्ष तक इस्तीफे की धमकी देकर जैसे-तैसे वह इस कालेज को चलाता रहा। अन्त में उसे उनकी आज्ञा मानकर इसको तोड़ना पड़ा। अँगरेज लेखकों को, जो कहते हैं कि भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार के लिए इस कालेज की स्थापना की गई थी, ध्यान रखना चाहिए कि यह कालेज कम्पनी के केवल अँगरेज कर्मचारियों के लिए खोला गया था। हिन्दुस्तानियों को पढ़ाने की इसमें कोई व्यवस्था न थी। उनकी शिक्षा के लिए वेलेजली को कुछ भी चिन्ता न थी। इसमें सन्देह नहीं कि कालेज की योजना से वेलेजली की दूरदर्शिता और योग्यता का परिचय मिलता है। इससे कर्मचारियों की शिक्षा की ओर संचालकों का ध्यान भी आकर्षित हो गया। कुछ दिनों बाद इसी ढंग का एक कालेज इंग्लैंड में खोला गया, जो बहुत दिनों तक चलता रहा।

धार्मिक नीति—वेलेजली भारतवर्ष में ईसाई मत की उन्नति और प्रचार के लिए उत्सुक था। भारतवर्ष में अँगरेजों को पथ-भ्रष्ट होते

हुए देखकर उसको बड़ी चिन्ता हो रही थी। इस दोष को दूर करने के लिए फोर्ट विलियम कालेज में धार्मिक शिक्षा का खास प्रबन्ध किया गया था। कालेज का अध्यक्ष नियमानुसार एक पादरी ही हो सकता था। इस कालेज से हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने में भी सहायता ली गई। वेलेजली की आज्ञा से बाइबिल का सात देशी भाषाओं में अनुवाद किया गया। परन्तु धर्म के प्रचार में वह पुर्तगालियों की सी भूल करनेवाला न था। इस सम्बन्ध में वह आधुनिक ढंग से काम लेना चाहता था। खुले तौर पर जबरदस्ती ईसाई बनाना उसकी नीति के विरुद्ध था। लंका के गवर्नर को स्पष्ट शब्दों में इसके लिए मना कर दिया गया था। उसकी राय में धर्म-प्रचार के लिए उसने जो कुछ किया, उससे कोई “ईसाई गवर्नर” कम न कर सकता था और न किसी “ब्रिटिश गवर्नर” को उससे अधिक करना ही वाजिब था।^१ सन् १८०२ में उसकी आज्ञा से बाल-हत्या बन्द कर दी गई। सती-प्रथा की जाँच करने और रोकने का भी प्रयत्न किया गया, परन्तु अधिक सफलता न हुई।

मिस्र और फारस—भारतवर्ष की सीमाओं को सुरक्षित रखने की चिन्ता वेलेजली को हर समय रहती थी। इसी दृष्टि से उसने मालक्कम को सन् १७९९ में फारस भेजा। शाह के साथ मित्रता की सन्धि हो जाने से स्थल के मार्ग से फ्रांसीसी या रूसियों के भारतवर्ष आने की विशेष सम्भावना न रही, दूसरे जमाँशाह को रोकने का भी अवसर मिल गया। व्यापारिक सम्बन्ध हो जाने से फारस की खाड़ी में भी अँगरेजों का पैर जम गया। फ्रांसीसियों की शक्ति तोड़ने के लिए सन् १८०१ में उसने एक हिन्दुस्तानी सेना मिस्र भेजी। यह पहला ही अवसर था जब हिन्दुस्तानी सेना अँगरेजों की सहायता के लिए भारतवर्ष से बाहर भेजी गई। इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, यह ठीक है, पर इससे वेलेजली की दूरदर्शिता का परिचय अवश्य मिलता है। यूरोपीय युद्ध के समय में पूर्वीय देशों पर आक्रमण करने तथा हिन्दुस्तानी सेना बाहर भेजने की प्रथा को उसने चला दिया।

परिच्छेद ८

साम्राज्य के लिए युद्ध

(२)

मराठों की स्थिति—खर्दा की विजय मराठों की अन्तिम विजय थी ।



सवाई माधवराव

परन्तु इससे यदि किसी को भ्रम नहीं हुआ था, तो वह युवक पेशवा था । विजय की बधाई मिलने पर उसका कहना था कि बिना लड़े-भिड़े मुगलों की बेटव हार और मराठों के गर्व को देखकर मुझे दोनों की पतित अवस्था पर दुख हो रहा है ।^१ मराठों की इस अवस्था का प्रमाण उस समय का इतिहास है । इस अवसर पर नाना फड़नवीस ने

१ मैकडोनाल्ड, मेम्बायर ऑफ नाना फड़नवीस, पृ० ९७ ।

मराठा-मंडल में जो एकता स्थापित की थी वह एक दुर्घटना के कारण थोड़े ही काल में छिन्न-भिन्न हो गई।

राघोबा के मरने पर नाना फड़नवीस ने उसके बेटे बाजीराव को कैद कर रखा था। वह जानता था कि देशद्रोही राघोबा की सन्तान से मराठा-मंडल का हित होना असम्भव है। बाजीराव संस्कृत का अच्छा विद्वान् था और उसको मीठी-मीठी बातें बनाना खूब आता था। वह गुप्त रीति से पेशवा के साथ पत्र-व्यवहार करने लगा। पेशवा तो भावुक था ही, थोड़े ही काल में उस पर बाजीराव का रंग जम गया। इसके लिए नाना फड़नवीस को कई बार पेशवा की भर्त्सना करनी पड़ी। इधर कुछ दिनों से उसका स्वास्थ्य बिगड़ रहा था और वह बराबर उदास रहा करता था। अक्तूबर सन् १७९५ में वह छत पर से गिरकर मर गया।^१ यह माधवराव का गिरकर मरना ही न था वास्तव में पेशवाई का पतन था।

माधवराव के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने बाजीराव को गद्दी पर बिठलाने की इच्छा प्रकट की थी। नाना फड़नवीस इसका परिणाम जानता था। सिन्धिया और होलकर की सलाह से वह एक दत्तक पुत्र को गद्दी पर बिठलाना चाहता था, परन्तु बाजीराव के षड्यंत्र से नाना का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया और बाजीराव पेशवा हो गया। वह अपने कुटुम्ब के प्रति नाना फड़नवीस का व्यवहार भूल न सकता था। कभी वह उसके विरुद्ध सिन्धिया को भड़काता था, कभी सिन्धिया को दबाये रखने के लिए उससे नाता जोड़ता था। पूना में इन दिनों बड़ा हलचल मचा था। कितने ही राजनैतिक दल हो गये थे। सबको अपने स्वार्थ-साधन की सृज्न रही थी, मराठा-

१ ग्रांट डफ की राय के आधार पर अंगरेज इतिहासकारों का कहना है कि नाना के कठिन नियंत्रण से तंग आकर पेशवा ने छत से कूदकर आत्महत्या कर ली। इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं। तुकोजी होलकर, अंगरेज नायब रेजिडेंट के पत्रों तथा मराठी कागजात से यह बात सिद्ध नहीं होती है। बिकेड, हिस्ट्री ऑफ दि मराठा पीपुल, जि० ३, पृ० १७८-८०।

साम्राज्य या देश के हित का ध्यान किसी को भी न था। उधर तुकोजी होलकर की भी मृत्यु हो गई। वह सीधे स्वभाव का योद्धा था और उसने

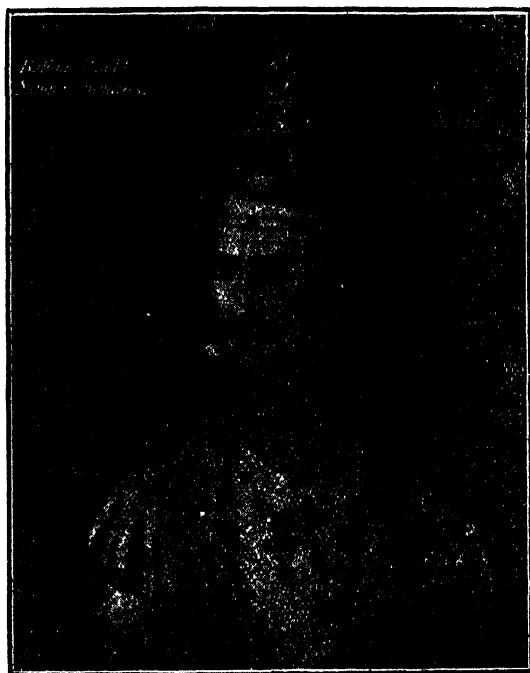


बड़ी योग्यता से अहिल्याबाई की आज्ञाओं का पालन किया था। इन दिनों उसके बेटों में भी युद्ध हो रहा था। सिन्धिया और होलकर में पुराना वैर था। होलकर घुराने में फूट देखकर सिन्धिया अपना मतलब सिद्ध करना चाहता था।

नाना फड़नवीस की मृत्यु—इन झगड़ों में नाना फड़नवीस को कुछ दिनों के लिए अहमदनगर के किले में कैद भी रहना पड़ा। सिन्धिया से तंग आकर बाजीगव ने उसको फिर एक बार प्रधान सचिव बनाया।

परन्तु मराठों की दुर्दशा और अपने अपमान को, नाना बहुत दिन तक सहन न कर सका। मार्च सन् १८०० में उसकी मृत्यु हो गई। कर्नल पामर के शब्दों में उसके साथ मराठा सरकार की “बुद्धि और नम्रता” का भी अन्त हो गया। मैकडोनाल्ड की राय में नाना फड़नवीस निस्सन्देह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसके मुख्य दोषों की उत्पत्ति, व्यक्तिगत साहस के अभाव तथा उसकी महत्वाकांक्षा से, जिस पर कभी-कभी सिद्धान्तों की रोक-टोक न रहती थी, हुई थी। अपने जीवन के दुःखमय अन्तिम समय में भी उसने एक सच्चे देशभक्त के भावों से काम लिया, इसको मराठा तथा अँगरेज दोनों ही ने माना है। इसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। अपने लिए क्या परिणाम होगा इसका बिना कुछ ध्यान किये हुए

उसने अपने विश्वास के अनुसार बाजीराव को सदा उसके हित की सलाह दी। यदि मराठा शासन बिना अँगरेजों की सहायता के फिर अच्छी तरह चलाया जा सकता था, तो वह लार्ड वेलेजली के प्रस्ताव को मानकर अँगरेजी सेना बुलाने के सर्वथा विरुद्ध था। अँगरेजों का वह आदर करता था, उनके चरित्र की सत्यता तथा उनके शासन की दृढ़ता की वह प्रशंसा करता था। परन्तु



नाना फड़नवीस

राजनैतिक शत्रु की दृष्टि से अँगरेजों का भय और उनकी जलन उससे अधिक किसी को न थी। वह जानता था कि गवर्नर-जनरल के इच्छानुसार अँगरेजों को पैर जमाने की आज्ञा देने का अन्तिम परिणाम यह होगा कि उनका प्रभाव

सबको दबा लेगा। “व्यक्तिगत जीवन में वह बड़ा सत्यवादी, दयावान्, दानी और मितव्ययी था। अपने समय की पाबन्दी के लिए उसने बड़े कड़े नियम बना रखे थे। सब काम वह स्वयं कैसे करता था, इसका अनुमान करना कठिन है।”^१

बेसीन की सन्धि—मराठों की फूट में ही अँगरेजों का सबसे अधिक लाभ था, इसको वेलेजली अच्छी तरह जानता था। इसी लिए जब से वह आया था, इस फूट के फैलने में उसने कोई कसर उठा न रखी थी। कभी वह सिन्धिया के दबाने के लिए भोंसला से सन्धि का प्रस्ताव करता था,^२ कभी सिन्धिया को पूना से हटाने के लिए जमाँशाह का भय दिखलता था।^३ कभी वह पेशवा को नाना फड़नवीस और सिन्धिया के पंजे से छुड़ाने का विश्वास दिलाता था, कभी फिर से प्रधान सचिव बनवाने का वचन देकर नाना फड़नवीस को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करता था।^४ परन्तु इस समय तक कोई मराठा राजा या सरदार उसके जाल में न फँसा था। नाना के मरने से अँगरेजों के मार्ग का एक बड़ा भारी कंटक दूर हो गया। पूना में भी ऐसी घटनाएँ होने लगीं, जिनमें अपना मतलब सिद्ध करने के लिए वेलेजली को अच्छा अवसर मिल गया। यशवन्तराव होलकर की अनुपस्थिति में सिन्धिया ने उसके भाई को बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। बदला लेने के लिए होलकर ने पूना पर चढ़ाई कर दी, जिसमें सिन्धिया और पेशवा की हार हुई। बाजीराव भाग गया। होलकर ने राघोबा के दत्तक पुत्र अमृतराव के लड़के को गद्दी पर बिठला दिया।

^१ मैकडोनाल्ड, नाना फड़नवीस, पृ० १५६-५७

^२ इस सम्बन्ध में ता० ३ मार्च सन् १७९९ के एक पत्र में बरार के रेजीडेंट कोलमरूक को लिखा गया कि सन्धि के वास्तविक उद्देश्य को गुप्त रखकर यह दिखलाना चाहिए कि सन्धि टीपू के विरुद्ध की जा रही है। डेसपैचेज, जि० १, पृ० ४७९-८०।

^३ ग्रॉट डफ, पृ० ५४०।

^४ कर्नल पामर के नाम निजी पत्र, डेसपैचेज, जि० १, पृ० १११-१२।

जिस बात को नाना फड़नवीस और सिन्धिया चार वर्ष से टाल रहे थे, जिसके लिए वेलेजली ने कोई कसर उठा न रखी थी, वही बात अब आप ही आप सम्भव हो गई। पूना से भागकर बाजीराव ने अँगरेजों से सहायता माँगी। उसने उनकी सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और दिसम्बर सन् १८०२ में अँगरेजी जहाज पर बेसीन पहुँचकर सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। उसने अपने खर्च से अँगरेजी सेना को रखना स्वीकार किया और इसके लिए २६ लाख रुपया सालाना की आमदनी के जिलों को दे देने का वचन दिया। यूरोप के किसी अन्य निवासी को अपने यहाँ नौकर न रखने तथा किसी राज्य से ब्रिटिश सरकार की इच्छा बिना युद्ध या सन्धि न करने की भी प्रतिज्ञा की; और निजाम तथा गायकवाड़ सम्बन्धी झगड़ों में अँगरेजों को पंच मान लिया। अँगरेजों ने उसको फिर से गद्दी पर बिठला देने और बराबर उसकी रक्षा करने का वचन दिया। इस तरह गद्दी के लालच में पड़कर बाजीराव ने राष्ट्रीय सम्मान और स्वतन्त्रता को अँगरेजों के हाथ बँच दिया। राघोबा के बेटे से इसके अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती थी ?

कार्नवालिस के मैसूर-युद्ध की आलोचना करते हुए क्रासिस ने ठीक कहा था कि हिन्दुस्तानी राजा अपने तात्कालिक लाभ के लिए बच्चों की तरह उत्सुक रहते हैं। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए उपायों को ढूँढ़ निकालने में वे बड़े चतुर होते हैं। उनके चुनने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। सुदृढ़, स्थायी तथा दूरदर्शी लाभ का उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। यदि ऐसा न होता तो क्या यह सम्भव था कि बंगाल के नवाबों का नाश, अवध के नवाबों की अधीनता और स्वयं बादशाह तथा अन्य राजाओं को, जो ब्रिटिश मित्रता के शिकार बन चुके हैं, निगाह में रखते हुए भी वे ऐसी सन्धियाँ करते, जिनमें उनको हमारी सहायता माँगने की आवश्यकता पड़ती ?^१

सन्धि का परिणाम—पेशवा मराठों का नेता था। गवर्नर-जनरल की राय में उसके साथ सन्धि हो जाने से सारे मराठा-मंडल से सन्धि हो गई। उसे आशा थी कि इससे “देश भर में शान्ति स्थापित हो जायगी”। परन्तु परिणाम उल्टा हुआ, शान्ति की अपेक्षा घोर युद्ध छिड़ गया। ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ के सभापति कैसलरी को पहले ही से इसका भय था। आर्थर वेलेजली को भी ऐसी ही आशंका थी, यद्यपि इस समय वह सन्धि का पूरा समर्थन कर रहा था।^१ पेशवा मराठा-मंडल का नेता अवश्य था, पर इस समय वह निर्बल हो रहा था। ऐसी दशा में यह आशा नहीं की जा सकती थी कि मराठा-मंडल के अन्य सदस्य बेसीन की अपमानजनक सन्धि को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे। यह बात नीति-निपुण गवर्नर-जनरल की समझ में न आई हो, ऐसा अनुमान करना उसकी दूरदर्शिता में सन्देह करना है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। वास्तव में इसका परिणाम उससे भी छिपा न था, पर अगले युद्ध के समर्थन के लिए पहले शान्ति पर जोर देना आवश्यक था। युद्ध छिड़ जाने पर कहा जाने लगा कि चाहे यह सन्धि होती या न होती युद्ध अनिवार्य था। सन्धि कर लेने से युद्ध में भी सुगमता हो गई और विजय द्वारा शान्ति स्थापित हो गई। दोनों दंग से सन्धि का यह विचित्र समर्थन था।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि मराठे स्वतन्त्र थे, उनके झगड़ों में हस्तक्षेप करने की इस समय क्या आवश्यकता थी? उत्तर में कहा जाता है कि फ्रांसीसियों का भय था।^२ यह भय जैसा कुछ था दिखलाया जा चुका है। दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि सिन्धिया, भोंसला और होल्कर के पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं, जिनका खर्च चलाने के लिए वे प्रायः लूट-मार करते थे। कम्पनी तथा उसके मित्र निजाम और मैसूर के राज्यों पर उनके आक्रमण की

१ वेळिगटन, डेसपैचेज, सं० भोयन, भूमिका पृ० ४८-५०।

२ हटन, वेलेजली, पृ० ८९।

आशंका थी।^१ इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों को इन दिनों अपने ही झगड़ों से छुट्टी न थी, फिर अन्य राज्यों पर आक्रमण का कहना ही क्या था ? यह भी कहा जाता है कि पेशवा ने अँगरेजों से सहायता माँगी थी, उसको सहायता न देना केवल नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि “नीचता” थी।^२ परन्तु जब कम्पनी के परम मित्र निजाम पर संकट पड़ा था, तब यह उदारता कहाँ चली गई थी ? इसके अतिरिक्त होलकर को, जिसने बाजीराव को निकाल बाहर किया था, दंड देने की क्या व्यवस्था की गई थी ? मराठों के झगड़ों में पड़ने की आवश्यकता भले ही न रही हो, सन्धि का तात्कालिक परिणाम युद्ध ही हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस समय तक भारत में एक “ब्रिटिश साम्राज्य” था, परन्तु इससे कम्पनी के हाथ में “भारत का साम्राज्य” आ गया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व में अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित ही हो चुका था, अब पश्चिम के मराठा साम्राज्य में भी उनका आतंक जम गया।^३

बाजीराव की वापसी—अप्रैल सन् १८०३ में आर्थर वेलेजली ने एक बड़ी सेना के साथ पूना आकर बाजीराव को फिर से गद्दी पर बिठला दिया। बेसीन की सन्धि से चिढ़कर सिन्धिया और भोंसला ने बाजीराव का साथ नहीं दिया। होलकर भी चुपचाप रहा और बेचारे अमृतराव ने पेंशन स्वीकार कर ली। पेशवा की रक्षा के लिए पूना में अँगरेजी सेना रख दी गई। गवर्नर-जनरल लिखता है कि अधिकांश मराठा जागीरदार बाजीराव के पक्ष में थे और प्रजा उसको फिर से गद्दी पर बिठलाने में सहायता देने के लिए तैयार थी। यदि ऐसा न होता तो मैं उसको मसनद पर बिठलाने का प्रयत्न फौरन ही छोड़ देता। प्रजामत के प्रतिकूल मराठों पर किसी शासक का रखना “न्याय और

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० २४९।

२ हटन, वेलेजली, पृ० ९०।

३ वेलिंगटन, डेसपैचेज, भूमिका, पृ० ४६।

बुद्धि” के विरुद्ध था।^१ दक्षिण के जागीरदारों के सम्बन्ध में आर्थर वेलेजली लिखता है कि जब तक खूब सेना एकत्र करके उनको यह अच्छी तरह नहीं दिखला दिया जायगा कि हम बिना अपना मतलब सिद्ध किये हुए नहीं हटेंगे, तब तक वे हमारा साथ न देंगे।^२ यदि गवर्नर-जनरल के कथनानुसार अधिकांश जागीरदार बाजीराव के ही पक्ष में थे, तो फिर इस सैनिक भय के दिखलाने की क्या आवश्यकता थी? प्रजा उसके अत्याचार से पीड़ित थी, उसी की अनुमति से सिन्धिया ने पूना में लूट मचा रखी थी। फिर उसके साथ प्रजा की सहानुभूति कैसे हो सकती थी?

बाजीराव की अयोग्यता गवर्नर-जनरल से छिपी न थी। उसकी राय में वह निर्बल, कपटी और शासन के अयोग्य था। आर्थर का कहना था कि सार्वजनिक बातों का तो उसे कभी ध्यान ही न आता था। उसका व्यक्तिगत जीवन “भयंकर” था।^३ यदि प्रजा के हित का ही ध्यान था तो अमृतराव, जो आर्थर के शब्दों में “बड़ा योग्य” था, पेशवा क्यों न बनाया गया? उत्तर में आर्थर का, जो अपने भाई की तरह नीति-निपुण न था, स्पष्ट शब्दों में कहना है कि यदि वह विद्रोह करता तो अँगरेजों के मार्ग में बाजीराव से भी बढ़कर कंटक होता।^४ यह ठीक है कि शासक की अयोग्यता ही में अँगरेजों का हित था।

सिन्धिया और भोंसला—पूना दरबार से सिन्धिया को हटाने के लिए वेलेजली पहले ही से प्रयत्न कर रहा था। वह जानता था कि सिन्धिया की उपस्थिति में बाजीराव का फँसना असम्भव है। इसलिए पहले उसको उत्तरी भारत में जमाँशाह के आक्रमण का भय दिखलाया गया। इस पर भी जब वह नहीं हटा, तब उसके विरुद्ध निजाम और भोंसला के साथ गुप्त सन्धि का प्रयत्न किया गया। इसमें भी असफलता होने पर यह दिखलाया

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ० ४२-४३।

२ वेलेजली, डेसपैचेज, पृ० २००-२०१।

३ वही, पृ० ३६७।

४ वही, पृ० ३६७।

जाने लगा कि उत्तरी भारत में सिन्धिया के राज्य में अशान्ति फैली हुई है। सन् १७९९ में ही क्लार्क को अवध की सीमा पर सेना एकत्र करने के लिए आज्ञा दे दी गई थी। साथ ही साथ यह भी लिख दिया गया था कि सिन्धिया या उसके सूबेदार अम्बाजी के कारण पूछने पर यह कह देना चाहिए कि अवध का पदच्युत नवाब वजीरअली बनारस से भागकर जमाँशाह के पास जानेवाला था। उन दोनों के आक्रमण को रोकने के लिए ऐसा करना पड़ा। इतना ही नहीं यह भी कह दिया गया था कि लड़ाई छिड़ते ही राज-पूत राजाओं को अपने पक्ष में मिला लेना चाहिए और सिन्धिया के कुटुम्बियों तथा नौकरों को, जो उससे असन्तुष्ट हों, सहायता का वचन देकर भड़काना चाहिए।^१ इस तरह पहले ही से सिन्धिया के विरुद्ध तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं, परन्तु इस समय उनका गुप्त रखना आवश्यक था। सिन्धिया को विवश होकर कुछ काल के लिए पूना छोड़ना ही पड़ा, पर वह शीघ्र ही फिर लौट आया।

सिन्धिया के विरुद्ध भोंसला को हाथ में लाने का काम कोलब्रुक को सौंपा गया। परन्तु टीपू के पतन से अँगरेजों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि भोंसला मराठों की रक्षा के लिए चिन्तित हो रहा था। मई सन् १८०१ में निराश होकर कोलब्रुक वापस चला गया। भोंसला ने दो प्रतिनिधियों को पूना भेजा और सिन्धिया तथा होलकर के परस्पर वैर को मिटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बेसीन की सन्धि हो जाने से उसका बना बनाया काम बिगड़ गया।

मराठों का दूसरा युद्ध—बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में सिन्धिया या अन्य किसी मराठा राजा से कोई परामर्श नहीं किया गया था। उसकी क्या शर्तें थीं, इसका भी उनको ठीक-ठीक पता न था। सिन्धिया और भोंसला की राय में सन्धि के पूर्व अँगरेजों तथा पेशवा का उनके साथ परामर्श करना कर्तव्य था। जब सिन्धिया, होलकर और भोंसला को सन्धि के समाचार मिले, तब उन लोगों ने इस सम्बन्ध में परस्पर विचार करना आवश्यक

समझा। इसी उद्देश्य से सन् १८०३ में सिन्धिया उज्जैन से चलकर बरहानपुर पहुँचा। यहीं उसको अँगरेज रेजीडेंट कालिस मिला। मई में, नागपुर से भोंसला चल पड़ा। कालिस की राय में इन दोनों का उद्देश्य पूना की ओर बढ़ने का था। इन दोनों के मिलने में वह अँगरेजों का हित न समझता था। वह सिन्धिया का स्पष्ट मत जल्दी जानना चाहता था, इसी लिए निजाम की सीमा से सेना हटाने का आग्रह कर रहा था। ता० २७ मई को कालिस के बहुत जोर देने पर सिन्धिया की ओर से उसको विश्वास दिलाया गया कि अँगरेजों के मार्ग में वह किसी प्रकार की बाधा नहीं डालना चाहता। कहा जाता है कि इसी अवसर पर सिन्धिया ने यह भी कहा कि भोंसला से भेंट होने के बाद कहा जा सकता है कि “युद्ध होगा या सन्धि”।

बरार में मलकापुर नामक स्थान पर सिन्धिया और भोंसला की भेंट हुई।
 करने दोनों ने कालिस को विश्वास दिलाया कि निजाम के राज्य की सीमा पार करने या पूना की ओर बढ़ने का उनका कोई विचार नहीं है। बेसीन की सन्धि की रक्षा करने का वे गवर्नर-जनरल को वचन दे चुके हैं। परन्तु कालिस की राय में यह सब बहानाबाजी थी। उस स्थान से हटना ही मित्रता का केवल प्रमाण हो सकता था। इस पर ता० २८ जुलाई को सिन्धिया और भोंसला ने कहला भेजा कि यदि जनरल वेलेजली अपनी सेना लेकर हट जाय, तो वे भी बरहानपुर वापस चले जायँगे। ता० ३१ जुलाई के पत्र में सिन्धिया ने गवर्नर-जनरल को भी स्पष्ट लिख दिया कि इस समय तक पेशवा ने सन्धि के विषय में मुझे कुछ नहीं लिखा है, सब हाल जानने के लिए मैं पेशवा के यहाँ दूत भेज रहा हूँ। पेशवा, भोंसला तथा अन्य मराठा सरदारों के साथ मेरे जो परस्पर के प्राचीन सम्बन्ध हैं, यदि उनमें बेसीन की सन्धि से कोई रुकावट नहीं पड़ती है, तो उसके विरुद्ध जाने का मेरा कभी विचार नहीं है।^१ इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया गया, निजाम की सीमा से हटने के लिए कोई तारीख भी निश्चित नहीं की गई और न अँगरेजी सेना हटाने के विषय में

ही कुछ कहा गया। ता० ३ अगस्त को कालिस दरबार छोड़कर चला गया और ता० ६ अगस्त को अहमदनगर पर आक्रमण करके सेनाध्यक्ष आर्थर वेलेजली ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध पर विचार—सिन्धिया और भोंसला बेसीन की सन्धि से असन्तुष्ट अवश्य थे, पर इस युद्ध में पड़ने का न उनका विचार ही था और न वे तैयार ही थे। ता० १९ अप्रैल के पत्र में स्वयं गवर्नर-जनरल गुप्त कमेटी को लिखता है कि सिन्धिया बग़ावत अँगरेजों से झगड़ा बचा रहा है। भोंसला से बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका नहीं है। सिन्धिया, होलकर और भोंसला आत्मरक्षा के लिए एक गुट बनाना चाहते हैं, जिससे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शत्रुता का भाव सिद्ध नहीं होता है।^१ ता० २३ अप्रैल के पत्र में आर्थर वेलेजली ने भी स्टिवेंसन से ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।^२ ता० १५ मई के पत्र में पूना का रेजीडेंट कर्नल क्लोज भी गुप्त कमेटी को लिखता है कि किसी शत्रुता के भाव से सिन्धिया इस गुट में शामिल हो यह “बिल्कुल असम्भव” है। सिन्धिया और भोंसला ने कोई आक्रमण नहीं किया था। उनकी सेनाएँ उनके राज्य में थीं, तब भी आर्थर वेलेजली के हटने पर वे ब्रह्मपुर वापस जाने के लिए तैयार थे और गवर्नर-जनरल तथा रेजीडेंट कालिस को अपनी मित्रता का सब तरह से विश्वास दिला रहे थे। युद्ध की कोई तैयारी न थी। कालिस ही के शब्दों में सिन्धिया के पास पचास हजार से अधिक रुपया न था।

दूसरी ओर गवर्नर-जनरल ने सन् १७९९ में ही निश्चित कर लिया था कि अच्छा अवसर मिलने पर सिन्धिया की शक्ति को नष्ट कर डालना चाहिए। जनवरी सन् १८०३ में ही सेनापति लेकर सिन्धिया के राज्य की सीमा पर सेना एकत्र करने की आज्ञा दे दी गई थी। वेलेजली लिखता है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य केवल भय दिखलाना था। इस तरह भय दिखलाने

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ ७३-८३।

२ वेलिगटन, डेसपैचेज, पृ० २२५।

के बहाने से लड़ाई की पूरी तैयारी करने में कोई दोष न था, पर सिन्धिया और भोंसला का आत्मरक्षा के लिए भी आपस में मिलना घोर अपराध था। गवर्नर-जनरल ता० २० जून के पत्र में संचालकों को शान्ति की आशा दिला रहा था और दूसरी ओर ता० २७ जून के “अत्यन्त गुप्त” पत्र में अपने भाई आर्थर वेलेजली को लिख रहा था कि शत्रुता का प्रमाण मिलने पर सिन्धिया और भोंसला की शक्ति को नष्ट कर डालना चाहिए, तोपखाना छीन लेना चाहिए, यदि सम्भव हो तो दोनों को पकड़ लेना चाहिए। उनके यूरोपियन अफसरों को भी नौकरी छोड़ देने के लिए कहना चाहिए। इसमें चाहे जो कुछ खर्च हो, किसी को दूत बनाना पड़े, इसकी कोई पर्वाह नहीं है। गोहद के राजा और राजपूतों को मैं भी भड़काने का प्रयत्न करूँगा और तुम भी इसमें कोई कसर उठा न रखना। यशवन्तराव के विरुद्ध उसके भाई काशीगव को भी भड़काने का ध्यान रखना।^१

इतने पर भी अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि वेलेजली युद्ध नहीं चाहता था। वह बराबर शान्ति के लिए प्रयत्न कर रहा था, परन्तु मराठे अपनी तैयारी में लगे हुए थे और केवल समय को टाल रहे थे। यही बात अँगरेजों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे भी तैयारी में लगे थे और केवल समय को टाल रहे थे। जनरल वेलेजली जानता था कि मराठों पर आक्रमण करने का सबसे अधिक सुभीता बरसात में था, क्योंकि वर्षा होने पर घोड़सवार सेना, जिसका मराठों को बड़ा घमंड था, अधिक काम नहीं कर सकती थी। इसी लिए वह जैसे-तैसे बरसात की प्रतीक्षा कर रहा था। जान-बूझकर वह सिन्धिया के हटने के लिए कोई तारीख निश्चित न करना चाहता था। वह लिखता है कि इस बात को मैं गुप्त रखना चाहता हूँ, जिसमें समय आने पर मैं पहला प्रहार कर सकूँ।^२

फ्रांसिस का मत—इस युद्ध के सम्बन्ध में फ्रांसिस का कहना था कि भारतवर्ष में जितनी लड़ाइयाँ होती हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणों

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ० १५३-१५८।

२ वेलेगटन, डेसपैचेज, पृ० २६४।

का पार्लामेंट को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। हिंदुस्तानी राजाओं के दूत पार्लामेंट के सामने नहीं आते हैं। उन्हीं का देश लूटा जाता है, उन्हीं की सम्पत्ति अपहरण की जाती है और उन्हीं पर युद्ध छेड़ने तथा शान्ति-भंग करने का दोष लगाया जाता है। मराठा-युद्ध के जो कारण बतलाये जाते हैं, उनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। देशी राजाओं के दोष दिखलाना, उन्हें विषयी बतलाना एक साधारण बात है। वेलेजली की सरकार जिस भाषा का प्रयोग कर रही है, उसी से सन्देह होता है। सिन्धिया को जैसा बुरा-भला कहा गया है वह छिपा नहीं है। जिन फ्रांसीसियों के भय पर जोर दिया जाता है, सिन्धिया की सेना में उनके अफसरों की संख्या १२ से अधिक नहीं थी। सिन्धिया स्वयं विदेशियों को सेना में रखने का पक्षपाती नहीं है, यह सबको ज्ञात है। इस तरह मराठों के विरुद्ध युद्ध का किसी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता। बेसीन की सन्धि की उद्दंड शर्तों पर क्षोभ का होना स्वाभाविक था। यदि ऐसा न होता तो आश्चर्य की बात थी। मराठा साम्राज्य की राजधानी को विदेशियों के हाथ में देखकर कौन मराठा राजा, जिसमें किंचित् भी सम्मान था, चुप रह सकता था? इस कार्य में उनसे सहायता के लिए कहना निस्सन्देह अपमान करके लात मारना है। इस अवस्था का स्वयं अनुभव करना चाहिए। ऐसे मामलों में मनुष्य-स्वभाव सर्वत्र एक ही सा है।^१

युद्ध के उद्देश्य और क्षेत्र—इस युद्ध में वेलेजली के उद्देश्य पहले ही से निश्चित थे। फ्रांसीसी अफसरों की सेना को नष्ट करके वह गंगा और जमुना के बीच का सिन्धिया का कुल राज्य जीतना चाहता था और इस तरह कम्पनी के राज्य की सीमा को जमुना नदी तक पहुँचा देना चाहता था। दिल्ली तथा आगरा के किलों पर अधिकार करके वह इस सीमा को सुरक्षित रखना चाहता था। इसी विचार से वह वृद्ध मुगल सम्राट् शाहआलम को भी अपने हाथ में लाना चाहता था, जिसमें उसकी निर्बलता के कारण उस

ओर से किसी शत्रु के घुसने का भय न रहे और उसके नाम का भी पूरा लाभ उठाया जा सके। आगरा की रक्षा करने के लिए वह बुँदेल्खंड पर अपना अधिकार दृढ़ करना आवश्यक समझता था। गुजरात में भड़ौच नगर तथा जिले पर बम्बई-सरकार की बहुत दिनों से दृष्टि थी। उस पर अधिकार कर लेने के लिए भी यह अच्छा अवसर था। पूर्व में मद्रास और बंगाल के प्रान्तों को मिलाने के लिए कटक छीन लेने की आवश्यकता थी। इन उद्देश्यों



आर्थर वेलेजली

की प्राप्ति के लिए युद्ध का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रखा गया और ५० हजार सेना एकत्र करके दक्षिण, उत्तरी भारत, गुजरात, बुँदेल्खंड तथा उड़ीसा में एक ही साथ मराठों पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया।

५) दक्षिण की लड़ाइयाँ—

दक्षिण में गवर्नर-जनरल का भाई आर्थर वेलेजली प्रधान सेनापति बनाया गया और उसको युद्ध तथा सन्धि के पूर्ण अधिकार दिये गये। युद्ध छिड़ने के पहले ही उसने अपना पूरा प्रबन्ध कर लिया था। दक्षिणी मराठा जागीरदारों को काबू में

रखने के लिए मैसूर की सीमा पर एक सेना रख दी गई थी। अमृतराव द्वारा तरह-तरह के लालच देकर इस युद्ध में होलकर को उदासीन रखने के लिए भी प्रबन्ध कर लिया गया था। सिन्धिया के यूरोपियन अफसरों को भी मिलाने

साम्राज्य के लिए युद्ध

का प्रयत्न किया गया था। रेजीडेंट कालिस के सिन्धिया-दरबार छोड़ने पर आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर के किले पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर घूस से काम लिया गया।^१ सैनिक दृष्टि से यह किला बड़े महत्व का था। इससे निजाम-राज्य के पश्चिम-दक्षिण की सीमा सुरक्षित हो गई और पूना से सहायता आने का मार्ग साफ हो गया।^१ *(सिन्धिया)* *5th Nov 1818* में असेई और अरगाच—अहमदनगर के पतन का समाचार सुनकर सिन्धिया और भोंसला निजाम के राज्य में घुसे। उनका पीछा करते हुए आर्थर वेलेजली भी आ पहुँचा। ता० २३ सितम्बर को असेई का विख्यात युद्ध हुआ, जिसमें मराठों की हार हुई। सिन्धिया का कुल तोपखाना अँगरेजों के हाथ में आ गया और उसकी सेना खानदेश की ओर चली गई। इस युद्ध में सिन्धिया मौजूद न था, वह घोड़सवार सेना के साथ हैदराबाद की ओर बढ़ गया था। सिन्धिया की गोलबारी से अँगरेजों के बहुत सैनिक मारे गये। आर्थर वेलेजली ता० ३ अक्टूबर सन् १८०३ के एक पत्र में लिखता है कि सिन्धिया की पैदल सेना टीपू की सेना से कहीं अच्छी थी। उसका तोपखाना तो ऐसा था कि जिससे अपनी सेना में बहुत काम लिया जा सकता था। इस युद्ध में सिन्धिया के यूरोपियन अफसरों ने उसका पूरा साथ नहीं दिया। फॉर्टेस्कू का कहना है कि इस अवसर पर यदि पालमैन नामक जर्मन अफसर ने अपने कर्तव्य का पालन किया होता, तो आर्थर वेलेजली बड़ी मुश्किल में पड़ता।^२ इतिहासकार डफ लिखता है कि ब्रिटिश सरकार की एक घोषणा द्वारा सिन्धिया की नौकरी छोड़नेवाले अँगरेज तथा अन्य यूरोपियन अफसरों को पूरा वेतन देने का वचन दिया गया था। इस पर बहुतों ने नौकरी छोड़ दी थी।^३ ता० २४ अक्टूबर के एक पत्र में आर्थर वेलेजली ने ऐसे १६

१ अहमदनगर गजेदियर, पृ० ६९५।

२ फॉर्टेस्कू, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश आर्मी, जि० ५, पृ० ३२।

३ डफ, जि० ३, पृ० २४४।

अफ़्ग़ानों का उल्लेख किया है।^१ बेगम समरु की सेना भी सिन्धिया की ओर से लड़ी थी, परन्तु बेगम को अँगरेजों के पक्ष में मिलाने का प्रयत्न युद्ध छिड़ने के पहले ही से हो रहा था।^२

मराठों की सेना का पीछा करने के लिए स्टिवेंसन भेजा गया। परन्तु इसने बुरहानपुर छीनकर असीरगढ़ की घेरा डाल दिया। इसकी रक्षा करने के लिए भोंसला आगे बढ़ा, पर उसके पहुँचने के पहले ही किला अँगरेजों के हाथ में आ गया। भोंसला के अलग होने पर सिन्धिया को अकेले दवाने का अच्छा अवसर मिल गया। तोपखाना नष्ट हो जाने से सिन्धिया की शक्ति कम पड़ गई थी, उसके पड़ाव में रसद की भी बड़ी कमी थी। मजबूर होकर उसे सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा। आर्थर वेलेजली भी थका हुआ था। सिन्धिया की घुड़सवार सेना का बहुत दूर तक पीछा करना उसकी राय में उचित न था। इसलिए उसने सन्धि की शर्तों को तय करने लिए दस दिन तक युद्ध बन्द रखने का वचन दे दिया। यह समझौता ता० २३ नवम्बर को हुआ था, परन्तु दस दिन पूरे भी न होने पाये थे कि आर्थर वेलेजली ने अरगाँव नामक स्थान पर ता० २९ को सिन्धिया और भोंसला की सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में भी मराठों की पराजय हुई।

युद्ध बन्द रखने का वचन देकर बीच ही में आक्रमण कर देने का कारण वेलेजली यह बतलाता है कि समझौते के अनुसार सिन्धिया एलिचपुर से २० कोस पीछे न हटा था। ता० २९ तक १० दिन की अवधि पूरी नहीं हुई थी, फिर आक्रमण करना कहाँ तक उचित था? वास्तव में बात दूसरी ही थी। आर्थर वेलेजली सिन्धिया का पीछा करने में असमर्थ था। सेना को विश्राम देने और तैयारी करने के लिए कुछ समय की आवश्यकता थी।

^१ वेलेजली, डेसपेचेज, जि० ३, पृ० ४१६।

^२ जेनरल लेक, मेमोरेण्डम, ता० १८ जुलाई सन् १८०३। डेसपेचेज, जि० ३, पृ० १९२।

अकेले सिन्धिया के साथ सन्धि की बातचीत करके भोंसला से उसको अलग करना था। ये सब बातें इस समझौते से हो सकती थीं, परन्तु ग़ाबर इसकी पान्दी करने का विचार उसका कभी न था। इसको उसने स्वयं स्वीकार किया है। ता० २४ नवम्बर के पत्र में वह जनरल स्टुआर्ट को लिखता है कि मैं जब चाहूँ, इस समझौते को तोड़ सकता हूँ।^१

अरगाँव से बढ़कर अँगरेजी सेना ने भोंसला के प्रसिद्ध दुर्ग गाविलगढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही साथ दक्षिण का युद्ध समाप्त हो



गाविलगढ़

गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस युद्ध में आर्थर वेलेजली ने बड़ी चतुरता

से काम लिया। मराठों की हर एक बात का उसे पता रहता था, रसद का पूरा प्रबन्ध था, ऐसी तोपें साथ में थीं, जो आसानी से सेना के साथ जा सकती थीं। इस युद्ध ने उसको नेपोलियन के साथ युद्ध करने के योग्य बना दिया। बड़े कठिन समय में उसने स्पेन की रक्षा की और वाटरलू के युद्ध में स्वयं नेपोलियन को हराया। इंग्लैंड का वह प्रधान सचिव भी हुआ। इतिहास में वह 'ड्यूक आफ वेलिंगटन' के नाम से प्रसिद्ध है।

गुजरात और बुंदेलखंड—सालवाई की सन्धि से भड़ौच और गुजरात का कुछ भाग सिन्धिया के हिस्से में पड़ा था। व्यापार की दृष्टि से भड़ौच बड़े महत्व का स्थान था। बम्बई सरकार की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। बड़ौदा से भड़ौच पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया। गायकवाड़ ने इस पर कुछ आपत्ति की, परन्तु उसको स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया, कि अँगरेजों की सहायता करना उसका कर्तव्य है। मराठा राज्यों में सबसे पहले गायकवाड़ ही अँगरेजों की शरण में गया था, इसका उसे ध्यान रखना चाहिए था। भड़ौच के विजय करने में कोई कठिनता न हुई और थोड़े ही काल में गुजरात में सिन्धिया के अन्य स्थानों पर भी अँगरेजों का अधिकार हो गया।

बुंदेलखंड पर पहले पेशवा के समय में मराठों ने अधिकार कर लिया था। उसी के वंशज इस समय भी कई स्थानों में शासन कर रहे थे। बुंदेलखंड की सीमा कम्पनी के राज्य से मिली हुई थी, इसी लिए अँगरेज इसको बहुत दिनों से चाहते थे। यह देश पहाड़ियों के ऊँचे स्थल पर बसा हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से यह "भारतवर्ष का स्विट्जरलैंड" है। इन दिनों पेशवा का इस पर नाम मात्र के लिए अधिकार था, वास्तव में बहुत से सरदार स्वतंत्र थे। बेसीन की सन्धि से बाजीराव ने सहायक सेना के खर्च के लिए कुछ जिले अँगरेजों को दक्षिण में दिये थे। अब अँगरेजों ने उन जिलों के बदले में बुंदेलखंड ले लिया था, परन्तु बुंदेला सरदार अँगरेजों का आधिपत्य मानने के लिए तैयार न थे।

इन सरदारों को दबाने के लिए एक अँगरेजी सेना भेजी गई। मुख्य बुँदेला सरदार राजा हिम्मतबहादुर गोसाईं अँगरेजों से मिल गया। सिन्धिया का एक अँगरेज अफसर भी, जिसका नाम शेफर्ड था, अपनी पैदल सेना लेकर अँगरेजों की सहायता के लिए आ गया।^१ पहले कालपी पर आक्रमण किया गया। यह स्थान उन दिनों रुई के व्यापार के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। यहाँ के सूबेदार नाना गोविन्दराव को हार माननी पड़ी। इसी अवसर पर झाँसी के सूबेदार से भी सन्धि हो गई, और सिन्धिया का मुख्य सरदार अम्बाजी इंग्लिया भी अँगरेजों से मिल गया। महादजी के समय में उत्तरी भारत का यह मुख्य सूबेदार बनाया गया था। ग्वालियर का किला, उसके आसपास के जिले तथा गोहद का इलाका भी इसी के अधीन था। अम्बाजी ने बुँदेलाखंड का कुछ भाग अपने लिए लेकर ग्वालियर का किला और उसके आसपास की भूमि अँगरेजों को देना स्वीकार कर लिया।^२ सिन्धिया के साथ यह सबसे बड़ा विद्वासाघात किया गया।



बुँदेलाखंड के गोसाईं

उत्तरी भारत की रक्षा के लिए ग्वालियर सिन्धिया का मुख्य स्थान था। यहाँ उसका सबसे मजबूत किला था, जिसमें सब सैनिक सामग्री रहती थी। मुगलों के समय में उद्दंड राजकुमारों को कैद करने के लिए यह किला काम

१ थोर्न, मेम्बायर्स ऑफ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० २४४।

२ वही, पृ० २४५।

में लाया जाता था। नील और कपड़े का यहाँ अच्छा व्यापार होता था। वास्तव में दक्षिण की ओर से भारत का यह मुख्य द्वार था। विश्वासघाती अम्ब्राजी की आज्ञा न मानकर भी यहाँ के किलेदार ने इसकी रक्षा करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसकी क्या चल सकती थी। अन्त में यह किला भी अँगरेजों के हाथ में आ गया।

उड़ीसा पर अधिकार—इलाहाबाद की सन्धि से उड़ीसा की दीवानी अँगरेजों को मिल गई थी, परन्तु दो जिलों को छोड़कर बाकी प्रान्त भोंसला के हाथ में था। मराठों को न छोड़ना क्लाइव की नीति थी। सन् १७६७ में पूरा उड़ीसा मिल जाने पर कम्पनी ने १३ लाख रुपया चौथ देना भी स्वीकार किया था, परन्तु भोंसला के वकील उदयपुरी गोसाईं ने उड़ीसा देने से इनकार कर दिया था। उन दिनों उड़ीसा में विषय दुर्भिक्ष न पड़ा करते थे। गोहूँ रुपये का ७० सेर तक मिलता था।^१ मेजर थोर्न लिखता है कि खेती की दशा बहुत अच्छी थी। कटक प्रान्त में पगड़ियों के लिए बड़ी बढ़िया तंजेब बुनी जाती थी।^२ पूर्व की ओर बालासोर में अँगरेजों ने अपनी पहली कोठी खोली थी। बंगाल और मद्रास के प्रान्तों को एक में मिलाने तथा मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न रखने के लिए कटक का लेना बड़ा आवश्यक था। इसी उद्देश्य से इस अवसर पर बंगाल, मद्रास तथा समुद्र तीनों ओर से उड़ीसा पर आक्रमण किया गया। सबसे पहले जगन्नाथ जी के पंडों को मिलाकर पुरी पर अधिकार कर लिया गया। मन्दिर पर हिन्दू सिपाहियों का पहरा रख दिया गया और वहाँ के प्रबन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया गया। जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और अँगरेजी सेना को उससे बराबर सहायता मिलने लगी। बहुत से जमीन्दार भी अँगरेजों से मिल गये। बालासोर और कटक के जीतने में कोई विशेष

^१ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी बंगाल, जि० ५२ पृ० ३४८।

^२ थोर्न, मेम्बार्स, पृ० २५४-५६।

कठिनाई न हुई। उड़ीसा पर अधिकार हो जाने से उस ओर भोंसला के राज्य पर आक्रमण करने में भी सुभीता हो गया।

उत्तरी भारत की लड़ाइयाँ—महादजी सिन्धिया दक्षिण जाते समय दिल्ली और उसके आस-पास का राज्य फ्रांसीसी अफसर डीबोय को सौंप गया था। जब डीबोय चला गया तब उसकी जगह पर पेरों नियुक्त किया गया। सेना का खर्च चलाने के लिए दोआब के कुछ जिले पहले ही से दे दिये गये थे। पेरों यहाँ बड़े ठाट-बाट से रहता था। राजाओं और सरदारों से सन्धि तथा युद्ध करने के उसे पूरे अधिकार थे। दौलतराव सिन्धिया को दक्षिण के झगड़ों से ही छुट्टी न थी, इसलिए उत्तर का राज्य उसने बिल्कुल पेरों के हाथ ही में छोड़ रखा था। उसकी कुछ सेना दिल्ली में बृद्ध शाहआलम की रक्षा के लिए रहती थी, कुछ सेना सिन्धिया के साथ थी और बाकी सेना का पड़ाव अलीगढ़ में था। पेरों की जागीर को वेलेजली जमुना-तट पर “फ्रांसीसियों का राज्य” कहा करता था। इससे उसको सदा भय रहता था और जब से वह भारतवर्ष आया था, इसके नष्ट करने के प्रयत्न में लगा था।

कोयल और अलीगढ़—युद्ध छिड़ने के पहले ही वेलेजली ने उत्तरी भारत में पूरा प्रबन्ध कर लिया था। अन्धे बादशाह को तरह-तरह की आशाएँ दिलाई गईं, सिखों को उदासीन रखने के लिए चेष्टा की गई और राजपूतों तथा गूजरोँ को अपने पक्ष में मिलाने के लिए भी बड़ा उद्योग किया गया। सिन्धिया के विदेशी सैनिक अफसरों को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। नौकरी छोड़कर अपने देश को वापस जाने के लिए पेरों को बहुत से लालच दिखलाये गये। इन सब बातों की सफलता से वेलेजली को उत्तरी भारत के युद्ध में बहुत कुछ सहायता मिली। लड़ाई छिड़ने के समाचार मिलने पर सेनापति लेक कानपुर से आगे बढ़ा। कोयल जीतने में उसको कोई विशेष कठिनाता न हुई। ता० २९ अगस्त के पत्र में वह गवर्नर-जनरल को लिखता है कि पेरों की एक पल्टन के कुछ अफसर पहले ही से,

आकर मिल गये थे और जाट तथा सिख जागीरदारों ने सिन्धिया का साथ छोड़ दिया था।^१

इस तरह कोयल जीतकर लेक अलीगढ़ पहुँच गया। वहाँ उसने बिना लड़े हुए किला खाली कर देने के लिए सिपाहियों को बहुत लालच दिखलाया। वह लिखता है कि धन खर्च करके मैं लड़ाई और हत्या से बचना चाहता था।^२ परन्तु इन सिपाहियों की प्रशंसा में कहना पड़ता है कि इन लोगों ने विश्वासघात करके कलंक का टीका अपने मत्थे नहीं लगाया। जिस समय पर सिन्धिया के बड़े-बड़े अफसर उसका साथ छोड़ रहे थे, इन मुठी भर सिपाहियों ने अपनी अद्भुत स्वामिभक्ति का परिचय दिया। अपने मनोरथ में विफल होने पर लेक ने आक्रमण किया। लूकन नाम के अँगरेज अफसर से जो सिन्धिया की नौकरी छोड़कर लेक से मिल गया था, किले के भीतरी मार्ग जानने में बड़ी सहायता मिली और किला अँगरेजों के हाथ में आ गया।^३ लेक का कहना है कि सिन्धिया के सिपाही बड़ी वीरता से लड़े।^४

दिल्ली और आगरा—अलीगढ़ से लेक दिल्ली की ओर बढ़ा। यहाँ शाहआलम उसका साथ देने के लिए पहले ही से तैयार था। इलाहाबाद में अँगरेजों ने उसके साथ जैसा व्यवहार किया था और गुलामकादिर की निष्ठुरता का सिन्धिया ने जैसा कुछ बदला लिया था, वह सब इस समय अन्धे शाहआलम को भूल गया था। फ्रांसीसी अफसर लुई की अध्यक्षता में सिन्धिया की सेना को हराकर लेक मुगलों की राजधानी दिल्ली में पहुँच गया। अपना काम निकालने के लिए नाम मात्र के बादशाह का सब-तरह से सम्मान करने में लेक ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उसकी रक्षा के लिए आक्टरलोनी की अध्यक्षता में एक सेना छोड़कर वह आगरा पहुँचा। इसी

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ० २८४-८५।

२ वही, पृ० २८७।

३ वही, पृ० २९२।

४ वही, पृ० २९३।

अक्सर पर सिन्धिया की टाई हजार सेना उससे मिल गई।^१ आगरा का किला जीतने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

लासवाड़ी की लड़ाई—सिन्धिया की बची-खुची सेना आगरा से कुछ दूर लासवाड़ी नामक स्थान पर पड़ी हुई थी। बिना योग्य नेताओं के इसकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी। परन्तु जब लेक ने इस पर आक्रमण किया, तब यह बड़ी वीरता से लड़ी। स्वयं लेक लिखता है कि ये सैनिक “भूतों की तरह” लड़े, यदि इनका कोई फ्रांसीसी सेनानायक होता तो जीतना कठिन हो जाता। जीवन भर में मुझे कभी ऐसी लड़ाई लड़नी नहीं पड़ी थी।^२ इस लड़ाई से उत्तरी भारत का युद्ध समाप्त हो गया। लासवाड़ी की विजय के लिए बधाई देते हुए शाहआलम ने लेक को खिलत भेजी, जिसको उसने एक दरबार में सम्मान के साथ ग्रहण किया। इसी के बाद अलवर, जयपुर और जोधपुर के राजाओं के साथ सन्धियाँ की गईं, जिनमें अँगरेजों ने उनकी रक्षा करने का वचन दिया। बेगम समरू की सेना भी सिन्धिया का साथ छोड़कर दक्षिण से लौट आ गई। उसके साथ भी सन्धि कर ली गई।

देवगाँव और अर्जुनगाँव का सन्धिया—इस तरह सैनिक शक्ति नष्ट हो जाने पर भोसला और सिन्धिया ने दिसम्बर सन् १८०३ में सन्धि करना स्वीकार कर लिया। देवगाँव की सन्धि से भोसला ने कटक तथा अन्य कई स्थान अँगरेजों को दे दिये और बरार के कुछ जिलों पर निजाम का अधिकार मान लिया। अँगरेजों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को नौकर न रखने का भी उसने वचन दिया। अर्जुनगाँव की सन्धि से सिन्धिया को दोआब के सब जिले अँगरेजों को देने पड़े। शाहआलम और राजपूत राजाओं पर भी उसका किसी प्रकार का अधिकार न रहा। गुजरात में भड़ौच और दक्षिण में अहमदनगर तथा अन्य कुछ स्थान अँगरेजों को मिल गये। सिन्धिया ने भी अँगरेजों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को

^१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ० ४००।

^२ वही, पृ० ४४५-४६।

नौकर न रखने का वचन दिया और पेशवा तथा निजाम के साथ कोई झगड़ा होने में अँगरेजों को पंच मान लिया।

गवर्नर-जनरल इन दोनों को भी सहायक सम्बन्ध के जाल में बाँधना चाहता था, परन्तु आर्थर वेलेजली इसके विरुद्ध था। उसने अच्छी तरह समझ लिया था कि सिन्धिया का अधिक दबाना असम्भव है। गवर्नर-जनरल को इन सिन्धियों से सन्तोष न था। वह इनकी शक्तों का मनमाना अर्थ लगाकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहता था। उसकी इस नीति से आर्थर वेलेजली भी तंग आ गया था। ग्वालियर का वापस न करना और देवगाँव की सन्धि के पहले छोटे-छोटे जमींदारों के साथ जो जवानी समझौते हुए थे, उन पर जोर देना उसकी राय में गवर्नर-जनरल की सरासर जबरदस्ती थी। वह स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि गवर्नर-जनरल जिसको “नम्रता” कह रहा है, दूसरों की दृष्टि में उसी का नाम “महत्वाकांक्षी” है। उसको अपने ऊपर विश्वास बहुत बढ़ गया है। कलकत्ते में डर की वजह से उसको कोई उचित सलाह देनेवाला नहीं है। देशी राजाओं के साथ नम्रता का व्यवहार करने ही से हित हो सकता है।^१ वेलेजली इन बातों को कब सुनने वाला था? जब तक फरवरी सन् १८०४ में सिन्धिया के साथ दूसरी सन्धि नहीं हो गई, उसको सन्तोष नहीं हुआ। भोंसला के दरबार में भी रेजीडेंट रख दिया गया और घूस देकर सब भेदों का पता लगाये रखने की उसको पूरी ताक़ीद कर दी गई।^२

मराठों की हार के कारण—इन दिनों आपस ही में फूट थी, पहले से युद्ध की कोई तैयारी न थी, विदेशी अफसरों ने धोखा दिया था, इन सब का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि मराठों ने अपनी युद्ध-पद्धति छोड़कर कवायदी ढंग से काम लेने और पैदल सेना पर अधिक जोर देने में बड़ी भूल की। एक मराठा लेखक का कहना

१ वेलेगटन, डेसपैचेज, पृ० ३६९-७०, ३९७, ३९९ पृ० ८
२ वही, पृ० ३५८-६०।

~~होलकर~~ जिस दिन मराठों ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला गया"। आर्थर वेलेजली का भी कुछ ऐसा ही मत था, वह अपने भाई गवर्नर-जनरल की इस बात को पसन्द न करता था कि मराठा यूरोपियन अफसर न रखें। उसका कहना था कि पुराने दंग की घोड़सवार मराठी सेना से लड़ना सहज नहीं है।^१ किसी अंश में यह बात ठीक है। परन्तु अपने दंग से लड़ाई लड़कर अन्त में मराठों की विजय हुई होती, इसमें बहुत सन्देह है। युद्ध के नये साधनों को स्वीकार करने में भूल न थी, वास्तव में भूल थी विदेशी सरदारों के रखने में। महादजी के समय में डिबोय का जो प्रभाव और उपयोग था, वह दौलतराव सिन्धिया के समय में न रहा था।

होलकर के साथ युद्ध—यदि होलकर ने पूना पर आक्रमण न किया होता, तो बहुत सम्भव था कि पेशवा अँगरेजों की शरण में न जाता। होलकर को इसका कुछ सन्देह भी न था। वह आक्रमण के पहले और बाद में भी पेशवा को अपनी मित्रता का विश्वास दिला रहा था और उसकी रक्षा करने के लिए तैयार था। उसको जलन केवल सिन्धिया से थी, जिसका पेशवा खुले तौर पर पक्षपात करता था। बेसीन की सन्धि हो जाने पर भोंसला इन दोनों में मेल कराना चाहता था, परन्तु अँगरेजों की कुटिल नीति के सामने उसकी कुछ भी न चली। मराठों के परस्पर वैर से स्वयं उठना वेलेजली की मुख्य नीति थी। वह पहले ही से सिन्धिया को दबाये रखने के लिए होलकर को जिस तरह सम्भव हो मिलाने रखने का प्रयत्न कर रहा था। पेशवा अँगरेजों का मित्र था। जिस समय होलकर ने पूना पर आक्रमण किया, अँगरेज रेजिडेंट वहीं मौजूद था, परन्तु उसने किसी तरह का विरोध प्रकट नहीं किया। त्रावणकोर राज्य पर आक्रमण करने के लिए दीपू के साथ युद्ध छेड़ दिया गया था, परन्तु कम्पनी के परम मित्र निजाम के राज्य में औरंगाबाद छूटने के लिए होलकर को दंड देना तो दर रहा। स्पष्ट रीति से विरोध तक

नहीं किया गया। इस तरह एक ओर तो होलकर को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर गुप्त रीति से उसके मुख्य सेनानायक अमीरखाँ को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। होलकर अँगरेजों की इन चालों को समझ न सका। वह किसी न किसी तरह सिन्धिया का नाश देखना चाहता था, इसी लिए वह युद्ध में चुपचाप रहा।

होलकर की यह बड़ी भूल थी। यदि इस अवसर पर उसने सिन्धिया और भोंसला का साथ दिया होता, तो अँगरेजों का इस तरह विजय पाना सहज न था। उन दोनों के हारने पर उसकी आँखें खुलीं। अँगरेजों की विजय से उसका कोई लाभ भी नहीं हुआ और मराठों की शक्ति नष्ट हो गई। जिस तरह अब सिन्धिया, भोंसला और पेशवा के साथ व्यवहार किया जा रहा था, उसे देखकर होलकर को अपने लिए भी चिन्ता होने लगी। अपना सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए वह कुछ प्रश्नों को समझौता द्वारा निपटाना चाहता था। उसका कहना था कि चौथे वसूल करना मेरा पुराना अधिकार है, उसमें अँगरेजों को हस्तक्षेप न करना चाहिए और दोआब, बुँदेल्खण्ड तथा दक्षिण की कुछ भूमि को, जो मेरे पूर्वजों के पास थी, वापस कर देना चाहिए। ऐसा करने से वह सिन्धिया के ढंग की सन्धि करने के लिए तैयार था।

परन्तु विजय की उमंग में अँगरेज उसकी इन बातों को कब सुननेवाले थे? अपना काम निकल जाने पर यह कहा जाने लगा कि वह तो गद्दी का अधिकारी तक नहीं वास्तव में गद्दी उसके भाई काशीराव को मिलनी चाहिए। अँगरेजों के अधीन जयपुर के राजा पर वह आक्रमण करने का विचार कर रहा है, समरू बैगम तथा रुहेलों को अपने पक्ष में मिलाने के प्रयत्न में लगा हुआ है और हिन्दू तथा मुसलमानों को अँगरेजों के विरुद्ध भड़का रहा है। जब होलकर ने देखा कि समझौते की कोई आशा नहीं है, तब उसने अपनी सेना के तीन अँगरेज अफसरों को, जो उसकी नौकरी छोड़कर सेनापति लेक से मिलना चाहते थे, मरवा डाला। वह सिन्धिया की सी भूल करनेवाला न था, उसको विदेशियों पर कभी विश्वास न था। उसका यह कार्य भी अँगरेजों के प्रति शत्रुता के भावों का प्रमाण समझा जाने लगा।

युद्ध के लिए समय उपयुक्त न था। इसके अतिरिक्त अपनी ओर से लड़ाई छेड़ने के दोषारोपण से भी गवर्नर-जनरल बचना चाहता था। इसलिए कुछ दिनों तक सन्धि की बातचीत होती रही। परन्तु सेनापति लेकर तो लड़ाई के लिए कमर कसे बैठा था। वह लिखता है कि “मुझे किसी ने इतना परेशान नहीं किया जितना कि यह शैतान कर रहा है।” जब तक इस “लुटेरे” की शक्ति नष्ट नहीं की जायगी, भारतवर्ष में शान्ति स्थापित होना असम्भव है।^१ उसकी बात मानकर, अप्रैल सन् १८०४ में, गवर्नर-जनरल ने होलकर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

आर्थर वेलेजली का मत—आर्थर वेलेजली की दृष्टि में भी होलकर केवल एक “लुटेरा सरदार” ही था, परन्तु इस अवसर पर उसके साथ युद्ध करने का वह पक्षपाती न था। उसकी राय में होलकर “मराठों में सबसे अधिक शक्तिशाली” था। अँगरेजों की सेना पिछले युद्ध से थकी हुई थी, होलकर की सेना में सिन्धिया और भोंसला के बहुत से सिपाही मिल गये थे। धन की भी कमी थी, सब रूपया युद्ध में खर्च हो जाने से कम्पनी के संचालक वेलेजली की नीति में असन्तुष्ट हो रहे थे। सिन्धिया तथा भोंसला पिछली हार से छटपटा रहे थे और बद्राज निकालने के लिए अवसर ताक रहे थे। गवर्नर-जनरल सन्धियों का मनमाना अर्थ लगाकर इन दोनों के साथ ऐसा व्यवहार कर रहा था कि जिससे उन दोनों से किसी प्रकार की सहायता मिलने की सम्भावना न थी। उल्टे होलकर के पक्ष में उन दोनों के मिल जाने का बराबर भय था। दक्षिण में दुर्भिक्ष पड़ रहा था। ऐसी दशा में देशी राजाओं के साथ नम्रता की नीति का अनुसरण करके उनको सन्तुष्ट रखना ही उचित था।^२ परन्तु सेनापति लेकर गवर्नर-जनरल को बराबर बढ़ावा दे रहा था। विजय के मद में वास्तविक स्थिति का उसको ज्ञान न था और न इस समय उसको कोई स्पष्ट सलाह दी देनेवाला था। आर्थर वेलेजली की उचित

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ४, पृ० ४६-४८

२ वेलिंगटन, डेसपैचेज, भूमिका, पृ० ६७-६८।

राय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। पिछली सन्धियों के समय से ही दोनों भाइयों में मतभेद था। युद्ध या सन्धि करने का पूरा अधिकार इस बार लेक को दिया गया। आर्थर वेलेजली की एक-एक बात सच निकली। यदि उसकी राय मानी गई होती, तो इस युद्ध में अँगरेजों की जैसी कुछ दुर्दशा हुई, न होने पाती।

युद्ध का प्रारम्भ—इस युद्ध में भी दक्षिण, गुजरात और उत्तरी भारत में तीनों ओर से होल्कर पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया। पूर्ण सहायता देने के लिए सिन्धिया को लिखा गया और पंजाब में सिखों को शान्त रखने का भी प्रयत्न किया गया। पहले तो कोई अड़चन न पड़ी और उत्तरी भारत में होल्कर के मुख्य स्थान रामपुरा पर अधिकार कर लिया गया। इस पर वह मालवा की ओर हटने लगा। उसका पीछा करने या बरसात भर आगे न बढ़ने की आर्थर वेलेजली ने सब्बह दी, पर सेनापति लेक ने, उसकी बात न मानकर, कर्नल मानसन को होल्कर का मार्ग रोकने के लिए भेज दिया। इतने ही में समाचार मिला कि बुँदेल्खंड की रक्षा के लिए जो अँगरेजी सेना थी, उसको अमीरखाँ ने लूट लिया और बहुत सी तोपें छीन लीं। अँगरेजों के बहुत कुछ लालच देने पर भी उसने होल्कर की नौकरी छोड़ी न थी। इस समय तक अँगरेजी सेना की बराबर विजय होती रही थी, यह एक ऐसा धक्का लगा, जिसकी गवर्नर-जनरल को कभी सम्भावना न थी। वह लिखता है कि ब्रिटिश सेना के लिए यह बड़ी लज्जा की बात थी, ऐसी दुर्घटना कभी नहीं हुई थी। इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा यह अनुमान करना कठिन है। दूसरी ओर कर्नल मानसन की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। वह एक सेना लेकर चम्बल की ओर इस आशा से बढ़ रहा था कि मालवा की तरफ से कर्नल मरे आ रहा होगा। परन्तु जब वह मुकुन्दरा पहुँचा तब उसको पता लगा कि होल्कर के पड़ाव का समाचार पाकर कर्नल मरे गुजरात लौट गया। होल्कर पर अकेले आक्रमण करने का मानसन को साहस न हुआ, रसद भी चुक गई, इट

पर वह पीछे हटने लगा। होलकर के सवार अवसर पाकर भागती हुई अँगरेजी सेना पर दूट पड़े। उन्होंने रसद लूट ली और सारी सेना को छिन्न-भिन्न कर



मुकुन्दरा

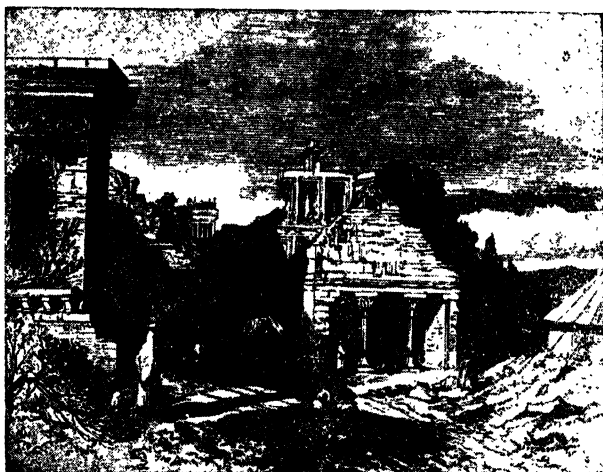
दिया। बची हुई सेना बेतहाशा भाग निकली। इतने ही में वर्षा प्रारम्भ हो गई और नदियों का पार करना मुश्किल हो गया। जैसे-तैसे मानसन रामपुरा पहुँचा। यहाँ उसको कुछ और सेना मिली पर तब भी उसको शत्रु पर आक्रमण करने का साहस न हुआ। वह एक महीने तक रामपुरा में पड़ा रहा, वहाँ से निकलने पर होलकर की सेना ने फिर उसका पीछा किया। बड़ी कठिनाता से वह बचे-खुचे सिपाहियों के साथ आगरा पहुँचा। लेक लिखता है कि इस सेना में उसके चुने हुए सिपाही थे। उनकी मृत्यु से जो हानि हुई, ईश्वर ही जानता है, उसकी पूर्ति कैसे होगी।^१ वेलेजली के शासन का तो इस घटना ने अन्त ही कर दिया।

^१ वेलेजली, डेसपैचेज, खि० ४, पृ० १९७-९८।

भरतपुर का घेरा—होलकर की सफलता देखकर उसका दल धीरे धीरे बढ़ने लगा। सिन्धिया और पेशवा को गवर्नर-जनरल अपने पक्ष में किसी न किसी तरह मिलाये रखना चाहता था। होलकर के जीते हुए राज्य को उसने उन्हीं दोनों में बाँट देने तक का वचन दे दिया था। पहले सिन्धिया ने भी अँगरेजों की सहायता के लिए एक सेना भेजी, परन्तु अब यह सेना होलकर से मिल गई। सिन्धिया ने अपने एक अँगरेज अफसर को कैद कर दिया और वह खुले तौर पर होलकर की सहायता करने का विचार करने लगा। मध्य भारत के कुछ राजा भी अँगरेजों के व्यवहार से असन्तुष्ट थे और होलकर का साथ देने के लिए तैयार थे। इनमें सबसे मुख्य भरतपुर का राजा रणजीतसिंह था। यह पहले सिन्धिया के अधीन था, परन्तु युद्ध छिड़ने पर इसने अँगरेजों के साथ सन्धि कर ली थी। अब वह अँगरेजों के व्यवहार से बहुत असन्तुष्ट हो रहा था। उसके शासन में किसी तरह का हस्तक्षेप न करने का वचन दिया गया था, पर अँगरेज इसके लिए बराबर प्रयत्न कर रहे थे और उसके राज्य में अपनी अदालतें खोलना चाहते थे। तीर्थस्थानों में भी गोवध करने में अँगरेजों को संकोच न होता था। इससे हिन्दू जनता बड़ी क्षुब्ध हो रही थी। अँगरेजों के विरुद्ध भरतपुर के राजा को यह बड़ी भारी शिकायत थी।^१

✓ होलकर ने पहले मथुरा पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली छीनने का भी प्रयत्न किया, पर लेक के बढ़ने का समाचार पाकर वह आगरे की तरफ हट गया। मानसून की हार से लेक हूँदला गया था और बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था। होलकर अपनी घोड़सवार सेना के साथ फतेहगढ़ के निकट पड़ा हुआ था। लेक ने उस पर सहसा आक्रमण कर दिया। उसको पहले से इसका कुछ पता भी न था। वहाँ से बढ़कर लेक ने डीग के किले पर, जहाँ पहले ही से युद्ध हो रहा था, अधिकार कर लिया। भरतपुर का पहला राजा सूरजमल डीग ही में रहता था। थॉर्न लिखता है कि यहाँ का

किला बड़ा दृढ़ बना हुआ था। उसके पास ही राजा का सुन्दर महल और विशाल उद्यान था।



डीग के खंडहर

डीग से भागकर अपनी सेना के साथ होलकर भरतपुर आया। इस परलेक ने भरतपुर को घेर लिया। इस किले का घेरा लगभग आठ मील के है; इसी के भीतर नगर बसा हुआ है। किले की दीवाल के चारों ओर एक बड़ी चौड़ी और गहरी खाई है, जो उन दिनों पानी से भरी हुई थी। इसको पार करके किले में जाने का मार्ग तक लेक को मालूम न था। परन्तु एक सिपाही भेष बदलकर और जाटों को धोखा देकर इसका पता लगा लाया।^१ लेक ने चार बार किले पर धावा किया, परन्तु किले की दीवाल पर से गोलियों की बौछार के कारण उसको बराबर पीछे हटना पड़ा। तीसरे धावे में अँगरेजों

^१ थॉर्न, मेम्वायर्स ऑफ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० ४२२।

की हिम्मत ऐसी दृढ़ी हुई थी कि उनसे आगे बढ़ा न जाता था, इस पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने आगे बढ़कर अपने साहस का परिचय दिया।^१ इन धारों में लगभग तीन हजार अँगरेजी सैनिक मारे गये। अन्त में लेक को इस किले के लेने का विचार छोड़ना पड़ा। सुरंग और तोपों से किलों को तोड़ने का जो ढंग है, उससे काम न लेकर बार-बार धावा करने में सेनापति लेक ने अपना हठ दिखलाया। यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भव था कि अँगरेजों की इतनी हानि न होती। इसके बाद ही सन्धि की बात-चीत होने लगी। एक छोटे से राज्य के लिए अँगरेजों की शक्ति से अधिक दिनों तक टक्कर लेना असम्भव था। दूसरे होलकर की भी हार हो रही थी। बीस लाख रुपया राजा से हरजाना माँगा गया, पर उसने तीन लाख से अधिक नहीं दिया। अँगरेजों ने उसको डींग भी वापस कर दिया और जैसे-तैसे इस मामले को, जिससे उनकी चारों ओर बदनामी हो रही थी, समाप्त किया।

वेलेजली की वापसी—कम्पनी के संचालकों और वेलेजली में बहुत दिनों से मतभेद चल रहा था। वे लोग रुपया चाहते थे, वेलेजली शान चाहता था। जहाँ वे बचत करना चाहते थे, वहाँ वह खर्च करना चाहता था। वे लोग प्रत्येक कार्य को आर्थिक लाभ की दृष्टि से देखते थे, पर वेलेजली को रुपये की पर्वाह न थी, उसे किसी न किसी तरह साम्राज्य का निर्माण करना था। इस मतभेद के कारण दोनों में जरा-जरा सी बात पर झगड़ा होता था। वेलेजली ने उनसे बिना पूछे ही अपने दोनों भाइयों को बड़े-बड़े ओहदे दे दिये थे, फोर्ट विलियम कालेज खोल दिया था, कलकत्ते में गवर्नर-जनरल के रहने के लिए शानदार कोठी बनवा ली थी और अवध का मामला भी अपने मनमाने ढंग से निपट लिया था। उसकी इन सब बातों से संचालक बहुत चिढ़ रहे थे। निजी व्यापार के सम्बन्ध में भी दोनों की राय एक न थी। इंग्लैंड की सरकार वेलेजली के पक्ष में रहती थी, इसलिए वह संचालकों की कुछ भी पर्वाह न करता था। खुले तौर पर वह उनकी आज्ञाओं

^१ थॉर्न, मेम्बायर्स ऑफ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० ४५२।

का उलंघन करता था और उनको “बनिया” कहकर सदा उनका तिरस्कार किया करता था ।

बेसिन की सन्धि से इंग्लैंड-सरकार को भी उसकी नीति में सन्देह होने लगा था । सिन्धिया और भोंसला के साथ युद्ध में विजय होने पर यह सन्देह कुछ काल के लिए दब गया और उसकी बड़ी प्रशंसा की गई । संचालकों ने भी उसको बधाई दी, पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के न्याय-संगत होने में उनको सन्देह है । उनकी इस “अनुदारता” से वेलेजली बहुत चिढ़ गया । वह पहले दो बार इस्तीफा दे चुका था, लेकिन कैसलरी के समझाने-बुझाने पर ठहरा हुआ था ।

परन्तु सन् १८०४ की दुर्घटनाओं से यह स्थिति एकदम बदल गई । अब इंग्लैंड-सरकार को भी उसका समर्थन करना कठिन हो गया । कम्पनी का कर्ज दुगुना हो गया था, खर्च का कोई अन्त न था, खजाना खाली था, युद्ध के शीघ्र समाप्त होने की आशा न थी, होलकर बराबर लड़ रहा था और सिन्धिया भी युद्ध की तैयारी कर रहा था । बेहद खर्च, मनमानी नियुक्ति और बार-बार आज्ञा उलंघन करने के लिए संचालक उसकी निन्दा कर रहे थे । कौंसिल की बैठकों में अनुपस्थित रहना ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ की राय में भी अनुचित था । आर्थर वेलेजली और जनरल स्टुआर्ट को सन्धि तथा युद्ध के पूर्ण अधिकार दे देना बहुतों की दृष्टि में नियम-विरुद्ध था । मानसून की दुर्दशा का समाचार मिलने पर संचालकों ने उसको वापस बुलाना निश्चित कर लिया । वेलेजली के सबसे बड़े समर्थक, इंग्लैंड के प्रधान सचिव, पिट की भी राय थी कि गवर्नर-जनरल “बिना कुछ सोचे-विचारे बिल्कुल नियम-विरुद्ध काम कर रहा है, अब उसके हाथ में शासन रखना ठीक नहीं ।” वेलेजली भी किसी तरह जाना चाहता था, इंग्लैंड-सरकार को वह लिख भी चुका था । परन्तु उसके पत्र पहुँचने के पहले ही लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिया गया । ता० ३० जुलाई सन् १८०५ को वह कलकत्ता पहुँचा और १५ अगस्त को वेलेजली इंग्लैंड वापस चला गया ।

सहायक प्रथा—देशी राज्यों के सम्बन्ध में वेलेजली की मुख्य नीति सहायक सन्धियों की थी। इसके अनुसार देशी राज्यों को अपनी रक्षा के लिए अँगरेजों की सेना रखनी पड़ती थी, जिसके खर्च के लिए कुछ भूमि देनी पड़ती थी। अँगरेजों के अतिरिक्त किसी विदेशी को नौकर न रखने, युद्ध या सन्धि के सम्बन्ध में कम्पनी की सलाह लेने तथा अन्य राज्यों के साथ झगड़ा होने पर उसको पञ्च मानने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। पहले देशी राजाओं की सहायता करने के लिए अँगरेज कुछ सेना रखते थे। जब उनका राज्य स्थापित हो गया और वे स्वयं लड़ने लग गये, तब देशी राज्यों से सहायता के लिए सन्धि करने लगे। परन्तु इन राज्यों की सेनाएँ किसी काम की न थीं, इसलिए उनसे रुपया लेकर अँगरेजी दंग की सेनाएँ रखी जाने लगीं। जब रुपया बंदूक करने में कठिनता होने लगी तब उसके बदले में भूमि ले लेने की शर्त जोड़ दी गई। इतिहासकार लायल के अनुसार इस तरह सहायक प्रथा का विकास हुआ।

अँगरेजों के पहले मराठे भी अन्य राज्यों से रुपया लेकर उनकी सहायता करते थे। ड्यूरे ने भी इसी नीति से काम लिया था। सन् १७७७ में वारेन हेस्टिंग्स ने अवध के साथ जो सन्धि की थी, उसमें नवाब वजीर की रक्षा के लिए अँगरेज अफसरों की अध्यक्षता में एक सेना रखने और उसके खर्च के लिए कुछ जिलों की आमदनी लेने की शर्त रखी गई थी। सर जान शोर ने सन् १७९७ की सन्धि से अवध के नवाब वजीर को बिना कम्पनी की अनुमति के किसी अन्य राज्य के साथ सम्बन्ध रखने के लिए मना कर दिया था। वेलेजली ने इन सब बातों को एक साथ रखकर स्पष्ट कर दिया।

वेलेजली का कहना था कि इन सन्धियों से देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार में ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिससे आपस में लड़ने झगड़ने की कोई सम्भावना न रही, देशी नरेशों की रक्षा का प्रबन्ध हो गया और उनको निश्चिन्तता के साथ अपने राज्यों में सुधार करने का अवसर मिल गया। परन्तु वास्तव में इन सन्धियों का परिणाम राजा या उनकी प्रजा किसी के लिए भी हितकर न हुआ, उल्टे ब्रिटिश सरकार का प्रभुत्व जम गया। सर

टामस मनरो, जो वेलेजली के समय में इस नीति का पक्षपाती था, सन् १८१७ में लिखता है कि जिस राज्य में रक्षा के लिए सहायक सेना रखी जाती है, उसका राजा निर्बल और अत्याचारी हो जाता है। समाज की उच्च श्रेणियों में आत्म-सम्मान के भाव नष्ट हो जाते हैं और साधारण प्रजा दरिद्र तथा पतित हो जाती है। पहले राजा को प्रजा का कुछ भय रहता था, परन्तु रक्षा के लिए अंगरेजी सेना मिल जाने से, वह निश्चिन्त होकर भोग-विलास में पड़ जाता है और प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगता है। इन सन्धियों में जो शर्तें रखी जाती हैं, उनका पूर्ण रूप से पालन करना असम्भव है। भारतवासियों में आत्म-सम्मान का भाव एकदम नष्ट नहीं हो गया है। वे चुपचाप अपमान को सहन न करेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि उनके राज्य कर्नाटक की तरह जब्त कर लिए जायेंगे। यह रक्षक नीति भक्षक का काम करेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इससे शान्ति स्थापित हो जायगी, तब भी यह कहना पड़ेगा कि इसके लिए स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चरित्र और मनुष्य को उच्च बनानेवाले सभी भावों का बलिदान करना पड़ेगा। इस तरह भीतरी फूट फैलाकर राज्यों के अपहरण करने से लड़कर जीत लेना कहीं अच्छा है।^१

सिडनी ओयन का भी ऐसा ही मत था। वह लिखता है कि राज-सत्ता के जो वास्तविक चिह्न हैं, उनके छीन लेने से किसी राजा में अच्छा शासन करने का उत्साह नहीं रह जाता है। वह विषयी हो जाता है और प्रजा भी उसी का अनुकरण करने लगती है। इस प्रथा से वास्तव में “राज्य की रीढ़ टूट जाती है” और राजनीतिक जीवन चला जाता है। ऐसी दशा में उनको ब्रिटिश राज्य में मिला लेने के अतिरिक्त शासन के सुधार का कोई उपाय नहीं रह जाता है।^२ केवल सेना हाथ में न होने से राजाओं में ये दोष क्यों आ जाते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में विलसन लिखता है कि “जब जिम्मेदारी नहीं रहती है और रक्षा

१ अर्बथनट, सेलेक्शन्स फ्रॉम दि मिनिट्स ऑफ सर टामस मनरो, पृ० ११४-१५।

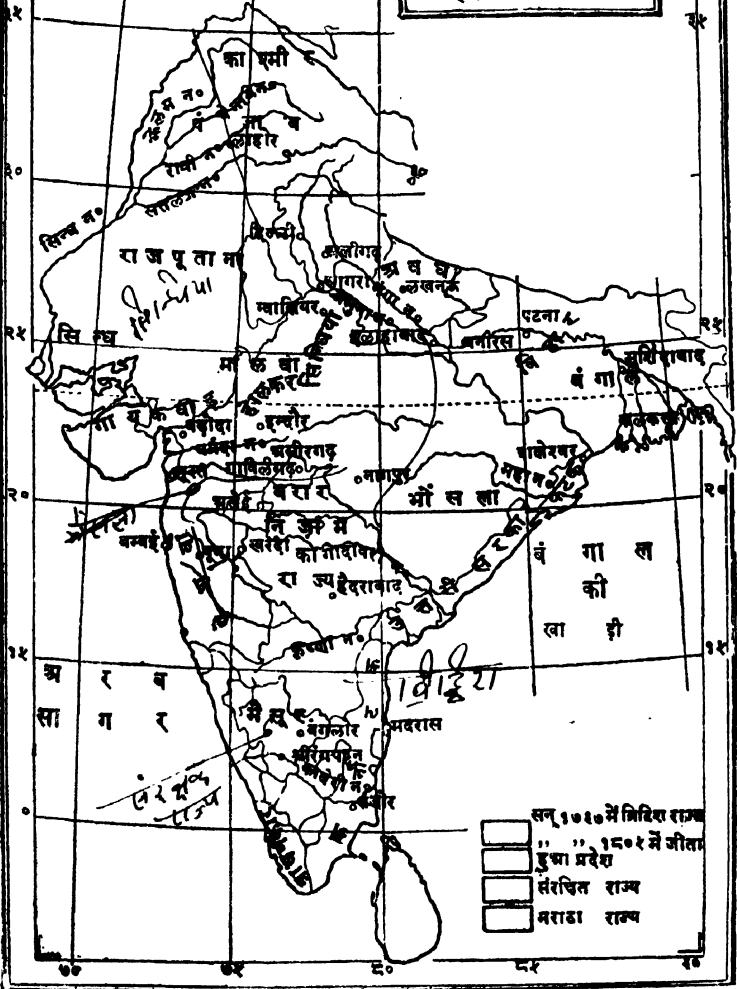
२ वेलेजली, डेसपैचेज़, सं० ओयन, भूमिका, पृ० २७-२८।

के लिए निश्चिन्तता हो जाती है, तब अच्छे काम करने की प्रवृत्ति निर्बल पड़ जाती है, या नष्ट हो जाती है और व्यक्तिगत सुख में ही सबसे अधिक रुचि उत्पन्न हो जाती है।”^१

आर्थर वेलेजली भी इन सन्धियों के पक्ष में न था। उसकी राय में इनका एक और बुरा परिणाम हुआ। राजाओं की निजी सेनाएँ टूट जाने से बहुत से सैनिक बेकाम हो गये और वे लूट-पाट मचाने लगे। उसने गवर्नर-जनरल को इसके समझाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर इन लोगों ने बड़ा उपद्रव मचाया।

वेलेजली का उद्देश्य—उसका उद्देश्य और उसकी नीति पहले से निश्चित थी। घटनाओं के अनुसार अपनी नीति स्थिर करने की उसके लिए कोई आवश्यकता न थी। उसे तो किसी न किसी तरह घटनाओं को खींच-तानकर अपनी नीति के अनुसार लाना था। जो अधीन राज्य थे, उनमें हस्तक्षेप करने के लिए शासन ठीक न होने का बहाना था। जो स्वतन्त्र राज्य थे, उनको अधीन बनाने के लिए जमाँशाह और फ्रांसीसियों के भय का दिखावा था। सारे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करना वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु इसको छिपाकर जत्र कहा जाता है कि भारत में शान्ति स्थापित करना और जनता की दशा सुधारना उसका उद्देश्य था, तब उसकी नीति की विस्तृत रूप से आलोचना करने की आवश्यकता होती है। जमाँशाह और फ्रांसीसियों के आक्रमण के भय में कितना तत्व था, यह दिखलाया जा चुका है। अवध और कर्नाटक में शासन की जो दशा थी, उसके भी कारण दिखलाये जा चुके हैं। टीपू और मराठों को किस तरह लड़ने के लिए मजबूर किया गया था, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। इतने पर भी हटन लिखता है कि उसको रुपये-पैसे की परवाह न थी। स्थायी शासन, अत्याचार से रक्षा, स्वतन्त्रता तथा उन्नति के लिए भारत व्याकुल हो रहा था। कोई भी हिन्दू या मुसल-

सन् १८०५ में भारत



मान शासक ऐसा न था, जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता। एक कम्पनी ही ऐसी थी, जिससे भारतवर्ष का उद्धार हो सकता था। वेलेजली इसको अच्छी तरह जानता था और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बराबर प्रयत्न करता था।^१ उसके भावों की उच्चता और शुद्धता पर अविश्वास करना असम्भव है।^२ एक दूसरे इतिहासकार ने तो उसको “कम्पनी का अकबर” तक बना डाला। परन्तु घटनाओं से इस समर्थन की पुष्टि नहीं होती। वह स्वतंत्र न था, पिट के इंडिया ऐक्ट से उसके हाथ बँधे हुए थे, उसे एक व्यापारिक संस्था को सन्तुष्ट रखना था, इसी लिए वह नीति की भाषा से काम लेता था। इस भाषा से उसके भावा का पता नहीं लग सकता।

मैसूर-विजय पर इंग्लैंड-सरकार की दी हुई उपाधि पर असन्तोष प्रकट करते हुए वह एक पत्र में लिखता है कि “मैं राज्यों पर राज्य, विजयों पर विजय, आय पर आय के ढेर लगा दूँगा। मैं इतनी शान, इतना धन और इतनी सत्ता एकत्र कर दूँगा कि मेरे मालिकों के लालच और महत्वाकांक्षा को भी दया के लिए चिल्लाना पड़ेगा।”^३ उसके लम्बे-लम्बे ‘खरीतों’ की अपेक्षा, जिनके लिखने में वह सिद्ध-हस्त था, इन वाक्यों से उसके वास्तविक भावों का कहीं अधिक पता लगता है।

उसका चरित्र—वेलेजली अपने समय का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने थोड़े ही समय में अँगरेजों की शक्ति को भारतवर्ष में सबसे प्रबल बना दिया। अँगरेजों के मार्ग में टीपू और मराठे सबसे बड़े बाधक थे। अवसर पाकर उसने पहले एक को नष्ट कर डाला फिर दूसरे को निर्बल बना दिया। निस्सन्देह इससे उसकी दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। उसकी दृष्टि से कोई बात छूटने न पाती थी। भारतवासियों के स्वभाव

१ हटन, वेलेजली, पृ० १०९।

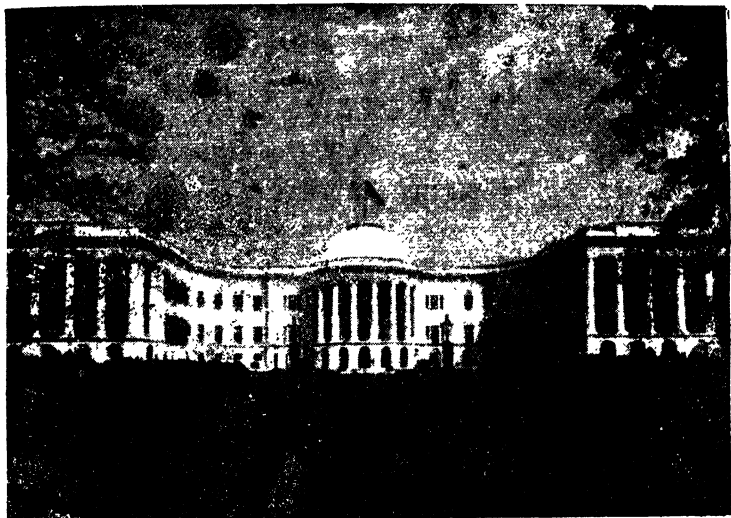
२ वही, पृ० १९२।

३ लेडी एन बर्नार्ड के नाम पत्र, ता० २ अक्टूबर सन् १८००, बसु; जि० २, पृ० २६७-६८।

और कमज़ोरियों को उसने थोड़े ही काल में अच्छी तरह समझ लिया था। संचालकों के प्रति उसकी धृष्टता की कई एक इतिहासकारों ने निन्दा की है। महत्वाकांक्षा की मात्रा उसमें कितनी अधिक थी, यह उसके कार्यों ही से प्रकट है। परन्तु इसमें व्यक्तिगत लाभ का उस पर दोष नहीं लगाया जा सकता। हाँ, अपने भाइयों की उसको अवश्य बड़ी चिन्ता रहती थी। यश और मान की उसमें एक बड़ी भारी कमजोरी थी। अपने पद का ध्यान रखते हुए उपाधियों पर असन्तोष प्रकट करना उसके लिए शोभा न देता था। वह अपने को एक व्यापारिक संस्था का सेवक न समझता था। उसको भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के शासक होने का अभिमान था। अपने बोल चाल, रहन-सहन, सभी में वह इस बात के दिखलाने की चेष्टा करता था। तड़क-भड़क को वह बहुत पसन्द करता था। उसको लोग ‘मुलतानी अँगरेज’ कहा करते थे।

साहित्य से उसको बहुत प्रेम था। अँगरेजी भाषा लिखने में वह बड़ा निपुण था। अपनी बात के समर्थन में वह दलीलों की भरमार करता था। बोलने-चालने में उसका मुकाबला करना सहज न था। व्यंग और हास्य की भी उसमें कमी न थी। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी वह काम से कभी घबराता न था। उसका कहना था कि काम करने में मुझे कुछ कठिनाई अवश्य होती है, पर ये कठिनाइयाँ ही मेरे प्रतिदिन का भोजन हैं, जिनसे मेरे शरीर का पालन होता है।^१ उसका ध्यान सभी ओर रहता था। भारतवर्ष के पशु-पक्षियों का अध्ययन करने के लिए उसने डाक्टर बुकानन को नियुक्त किया था। उसी की सहायता के लिए बारिकपुर में पशुओं का अजायबघर बनवाया गया। कलकत्ता नगर की शोभा बढ़ाने के लिए वेलेजली बराबर चिन्तित रहता था। शहर की सफाई और सड़कों के प्रबन्ध के लिए उसने एक योजना तैयार की थी। कलकत्ता का विशाल और सुन्दर ‘सरकारी भवन’ उसी का बनवाया हुआ है। इंग्लैंड जाकर वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। उस पर भी अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, पर सफ-

लता न हुई। बाद में कम्पनी के संचालकों ने भी उसकी योग्यता को स्वीकार किया। भारतवर्ष में उसकी एक मूर्ति स्थापित करने की आज्ञा दी



कलकत्ता का सरकारी भवन

गई और २० हजार पौंड उसको भेंट किये गये। सन् १८४२ में उसका देहान्त हुआ।

(

परिच्छेद १

मराठों का पतन^५

५.

नीति में परिवर्तन—इंग्लैंड की सरकार और कम्पनी के संचालक दोनों वेलेजली की नीति से तंग आ गये थे। खजाना खाली हो रहा था और लड़ाइयों का कोई अन्त न था। वे किसी न किसी तरह भारतवर्ष में शान्ति स्थापित करना चाहते थे। यह कार्य वृद्ध कार्नवालिस को सौंपा गया। ६७ वर्ष की अवस्था में वह दूसरी बार गवर्नर-जनरल होकर जुलाई सन् १८०५ के अन्त में भारतवर्ष पहुँचा। इस समय सिन्धिया को किसी तरह युद्ध से अलग रखना था। उसके साथ सबसे बड़ा झगड़ा ग्वालियर और गोहद का था। पिछले युद्ध में इन दोनों स्थानों पर अधिकार कर लिया गया था और अर्जुनगाँव की सन्धि हो जाने पर भी ये स्थान उसको वापस नहीं किये गये थे। आर्थर वेलेजली की राय में गवर्नर-जनरल की यह सरासर जबरदस्ती थी। सिन्धिया के कुछ सरदारों को १६ लाख रुपया साल की पेंशन देना भी निश्चित हुआ था। इसके हिसाब में भी झगड़ा पड़ रहा था। इन सब बातों से चिढ़कर सिन्धिया ने नायब रेजीडेंट को निगरानी में रख छोड़ा था और होलकर से मेल करने का प्रयत्न कर रहा था।

इन झगड़ों के मिटाने के लिए कार्नवालिस ने ग्वालियर और गोहद का वापस करना निश्चित कर लिया। सन्धि के लिए वह ऐसा उत्सुक था कि नायब रेजीडेंट को मुक्त करने की शर्त पर भी वह इस समय जोर देना उचित न समझता था। वह यमुना नदी को कम्पनी के राज्य की

पश्चिमी सीमा बनाना चाहता था। राजपूत राजाओं के झगड़ों में पड़ना उसकी राय में भूल थी। वह शाहआलम को दिल्ली में रखकर उसकी रक्षा का भार लेने का भी पक्षपाती न था। मछेरी (अलवर) और भरतपुर के साथ जो सन्धियाँ हुई थीं, उनको भी वह तोड़ देना चाहता था। उसका अनुमान था कि इस तरह कम्पनी उनकी रक्षा की जिम्मेदारी से बच जायगी और सिन्धिया उनके झगड़ों में पड़ जायगा। जीती हुई भूमि को लौटाकर वह होलकर के साथ भी सन्धि करने के लिए तैयार था। उसका कहना था कि पिछली घटनाओं से ब्रिटिश सरकार के “न्याय तथा नम्रता” पर से देशी राज्यों का विश्वास उठ गया है। मैं उसको फिर से स्थापित करना चाहता हूँ। मेरी राय में “कम्पनी के राज्य की रक्षा तथा शान्ति के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है।”^१

कार्नवालिस की मृत्यु—सेनापति लेक की राय में कार्नवालिस का यह प्रबन्ध राजपूत तथा अन्य छोटे-छोटे राजाओं के साथ सरासर “विश्वासघात” था। सिन्धिया के साथ युद्ध के समय पर उनको रक्षा का वचन दिया जा चुका था। अब उनको इस तरह छोड़ देना किसी तरह उचित न था। यह समझते लेक के ही किये हुए थे। अपनी बात को इस तरह जाते हुए देखकर उसे बड़ा दुःख हो रहा था और वह इस्तीफा देकर वापस जाना चाहता था। परन्तु कार्नवालिस अपनी बात पर तुल्य हुआ था। लेक का उसे पहले ही से अनुभव था। वेलेजली की तरह उसको पूर्ण स्वतंत्रता देकर वह युद्ध को बढ़ाना न चाहता था। उसकी राय में गवर्नर-जनरल और सेनापति के पदों को अलग-अलग रखना नीतियुक्त न था। इसी लिए वह सेनापति भी बनकर आया था। भारतवर्ष में पहुँचते ही उसने युद्ध स्थगित करने के लिए लिख दिया था। सब झगड़ों को निपटाने के लिए वह कलकत्ते से उत्तरी भारत के लिए स्वयं चल पड़ा, परन्तु ता० ५ अक्तूबर को गाजीपुर ही में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी अवस्था बहुत ही खराब थी; कर्तव्यवश उसने

^१ लार्ड लेक के नाम पत्र, ता० १९ सितम्बर सन् १८०५।

गवर्नर-जनरल के पद को स्वीकार किया था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। गाजीपुर में उसका मकबरा बना हुआ है।

कार्नवालिस का यह विश्वास था कि मराठों के साथ अन्याय किया गया है। वह लिखता है कि होलकर एक “योग्य और शक्तिशाली” शासक था। किसी न किसी तरह सिन्धिया और भोंसला के साथ युद्ध शान्त हो जाने पर उसके साथ मिढ़ना वेलेजली की बड़ी भूल थी। टीपू से वह स्वयं अकारण लड़ बैठा था, परन्तु बुढ़ापे में वह मराठों के साथ अन्याय को दूर करने के लिए चिन्तित था। आते ही उसने सिन्धिया और भोंसला को सहानुभूति-सूचक पत्र लिखे थे और उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए वचन दिया था। साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि कम्पनी की आर्थिक दशा देखते हुए अधिक दिनों तक युद्ध का चलना असम्भव था। वह लिखता है कि वास्तव में शासन का साधारण काम चलाने के लिए भी रुपया नहीं था। इसके लिए उसको मदरास से रुपया मँगाना पड़ा था और चीन को जो चाँदी जा रही थी, उसे रोक लेना पड़ा था। इस लड़ाई से कम्पनी को अधिक लाभ होने की भी उसे आशा नहीं थी क्योंकि जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका था। ऐसी दशा में उसने केवल “शान” के लिए धन का लुटाना और और नरहत्या करना उचित न समझा।

इस नीति के लिए प्रायः सभी अँगरेज इतिहासकारों ने उसको बहुत बुरा-भला कहा है। कुछ का तो कहना है कि बुढ़ापे में उसकी मति ठिकाने न थी। उन लोगों की राय में यदि वेलेजली कुछ दिन भारतवर्ष में और रह जाता, तो वह सबको ठीक कर देता। उन दिनों की स्थिति देखते हुए इसका विश्वास नहीं होता। होलकर पंजाब अवश्य भाग गया था, पर मराठों में धीरे-धीरे एका हो रहा था। वेलेजली के अकारण हस्तक्षेप से बहुत से राजा असन्तुष्ट हो रहे थे। फिर सबसे भारी बात तो यह थी कि कम्पनी का खजाना खाली था, २० लाख रुपया अवध के नवाब से लेकर युद्ध का खर्च चलाया जा रहा था। वेलेजली स्वयं इस समय जैसे-तैसे सन्धि करने के लिए चिन्तित हो रहा था। भारतवर्ष छोड़ते समय इस सम्बन्ध में बालों ने उससे

परामर्श भी किया था ।^१ दूसरी बात यह कही जाती है कि उन राजाओं का, जिनको रक्षा का वचन दिया गया था, कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया । इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि मराठों के लूटने पर लाखों करोड़ों गरीब किसानों की क्या दशा होगी, इसका कार्नवालिस ने कुछ भी विचार न किया ।^२ वचन का पालन न करना हर समय निन्दनीय है । परन्तु भारतवर्ष के इतिहास में अँगरेजों को इसका ध्यान ही कब रहा ? वेलेजली ने किस सन्धि का पालन किया ? जिस रीति से उसने सन्धियों का पददलन किया, शायद ही किसी दूसरे गवर्नर-जनरल ने किया हो । इसके लिए उसको दोष नहीं दिया जाता है, परन्तु उन सन्धियों को, जो केवल स्वार्थवश की गई थीं, तोड़ने के लिए कार्नवालिस बड़ा दोषी ठहराया जाता है ।

सर जार्ज बालों—कार्नवालिस के मरने पर कौंसिल का सबसे बड़ा मेम्बर बालों गवर्नर-जनरल हुआ । मराठों से युद्ध करने के लिए वेलेजली को सबसे अधिक परामर्श इसी ने दिया था । उसका मत था कि भारतवर्ष में एक भी ऐसे देशी राज्य को नहीं छोड़ना चाहिए, जिसकी रक्षा का भार और नीति का संचालन अँगरेजों के हाथ में न हो ।^३ परन्तु अपने मालिकों की निगाह फिरी हुई देखकर अब उसको अपनी बात बदलने में भी किसी प्रकार का संकोच न था । उसने भी कार्नवालिस की नीति का ही अनुसरण करना निश्चित कर लिया ।

युद्ध का अन्त—नवम्बर सन् १८०५ में सिन्धिया के साथ फिर से सन्धि की गई । ग्वालियर और गोहद उसको वापस कर दिये गये । “ब्रिटिश शान” को बनाये रखने के लिए यह कहा गया कि उसके “मित्रता के भावों का ध्यान रखकर” ऐसा किया गया । सिन्धिया के सरदारों को जो १६ लाख रुपये की पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और स्वयं

१ जान के, लाइफ ऑफ़ मेटकाफ, जि० १, पृ० १७२ ।

२ स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ६०८ ।

३ हटन, वेलेजली, पृ० ९१ ।

उसको ४ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया गया। इस चार लाख के बदले में बालों होलकर की मुख्य जागीर टोंक-रामपुरा सिन्धिया को देना चाहता था। मालकम लिखता है कि इस तरह से वह सिन्धिया और होलकर में परस्पर का वैर बराबर बनाये रखना चाहता था; परन्तु सिन्धिया ने उसकी इस चाल को समझकर उस जागीर को मुफ्त लेने से भी इनकार कर दिया।^१ सिन्धिया की स्त्री और लड़की के लिए उत्तरी भारत में ३ लाख रुपये की जागीरें दी गईं। उसके राज्य की चम्बल नदी उत्तरी सीमा मान ली गई। चम्बल के उत्तर या कोटा के पूर्व किसी राज्य से चौथ लेने का अधिकार सिन्धिया को न रहा। जयपुर के राजा के साथ जो सन्धि की गई थी, वह तोड़ दी गई। अपनी मित्रता का विश्वास दिलाने पर भी यह कहा गया कि वह शत्रुओं का साथ दे रहा था। उदयपुर, जोधपुर, कोटा तथा मालवा के कई राज्यों के साथ सन्धि न करने का अँगरेजों ने वचन दिया और यह मान लिया कि अपने अधीन राज्यों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करने का सिन्धिया को पूरा अधिकार है। इस तरह राजपूत राज्यों को जो रक्षा का वचन दिया गया था, वह तोड़ दिया गया। इन मनमानी शर्तों को पाकर सिन्धिया ने होलकर का साथ छोड़ दिया।

होलकर सिखों से सहायता लेने की आशा से पंजाब गया था। परन्तु सिखों के राजा रणजीतसिंह को पहले अपनी शक्ति दृढ़ करने की पड़ी थी, इन दिनों वह अँगरेजों से टक्कर न लेना चाहता था। इसके अतिरिक्त अँगरेजों ने कई एक सिख सरदारों को पहले से ही अपने पक्ष में मिला रखा था।^२ इस अवसर पर होलकर ने काबुल से भी सहायता लेने का विचार किया था। परन्तु फारस दूत भेजकर अँगरेजों ने अफगानिस्तान की सीमा पर भी युद्ध छिड़वा रखा था। इसलिए वहाँ से भी सहायता की आशा न थी। सिन्धिया

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ३६३।

२ कहा जाता है कि रणजीतसिंह होलकर की सहायता करने के लिए तैयार था, परन्तु झिन्द के राजा ने समझा-बुझाकर उसको मना कर दिया। इस राजा का अँगरेजों से मेल था।

ने साथ छोड़ ही दिया था। ऐसी दशा में होलकर ने भी सन्धि कर लेना उचित समझा। जनवरी सन् १८०६ में जो सन्धि की गई, उसके अनुसार दक्षिण में उसका जितना राज्य जीत लिया गया था, वापस कर दिया गया। चम्बल नदी के उत्तर की ओर उसका कुछ अधिकार न रहा, परन्तु उसके दक्षिण में उसको स्वतंत्रता दे दी गई। होलकर ने बिना अँगरेजों की सलाह के किसी यूरोपियन को नौकर न रखने का वचन दिया।

होलकर वंश के साथ अँगरेजों की यह पहली सन्धि थी। यशवन्तराव अपनी हार को सहन न कर सका। इन्दौर वापस आकर वह नई तोपें ढलवा रहा था और सेना का फिर से संगठन करने में लगा था। शासन में भी वह सुधार करना चाहता था। पर इतने ही में उसका दिमाग ठिकाने न रहा और वह पागल हो गया। बन्दूक की नली फटने से उसकी एक आँख जाती रही थी, इसी लिए वह 'एकचक्षुदौल' के नाम से प्रसिद्ध था। मालकम लिखता है कि उसकी शिक्षा अच्छी हुई थी। वह फार्सी समझ सकता था, पर लिख न सकता था। मराठी लिखने का उसको अच्छा अभ्यास था, हिसाब में भी वह बड़ा चतुर था। घोड़े की सवारी और भाला चलाने में वह अद्वितीय था। उसकी योग्यता के अनुसार उसका साहस भी था। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी बात में हिचकता न था। वह एक वीर योद्धा था, पर शासन की उसमें योग्यता न थी। वह मराठा युद्ध-प्रणाली के सहारे भारतवर्ष में फिर से मराठा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था।^१ यदि वह नीतिज्ञ हुआ होता और सिन्धिया तथा भोंसला के साथ मिलकर युद्ध करता, तो मराठा साम्राज्य का इतना शीघ्र पतन न होता।

निजाम और पेशवा—बालों यद्यपि हस्तक्षेप न करने की नीति का पक्षपाती था, पर जब मतलब का प्रश्न आ जाता था, तब वह भी न चूकता था। निजाम अपने दीवान मीरआलम को निकालकर उसकी जगह पर राजा महीपतराम को रखना चाहता था। मीरआलम कहने को तो निजाम का

दीवान था, पर वास्तव में वह अँगरेजों का नौकर था। निजाम की इच्छा के विरुद्ध वह दीवान बनाया गया था और उसको बराबर रुपया दिया जाता था। निजाम के दीवान को अपने हाथ में रखना अँगरेजों की नीति थी। अन्त में राजा चन्दूलाल नायब दीवान बनाया गया, जो बराबर अँगरेजों का कहना करता रहा और भोग-विलास में फूँकने के लिए निजाम को भी काफी रुपया देता रहा।^१ सहायक सन्धियों से देशी राजाओं को यही शासन की स्वतंत्रता दी गई थी।

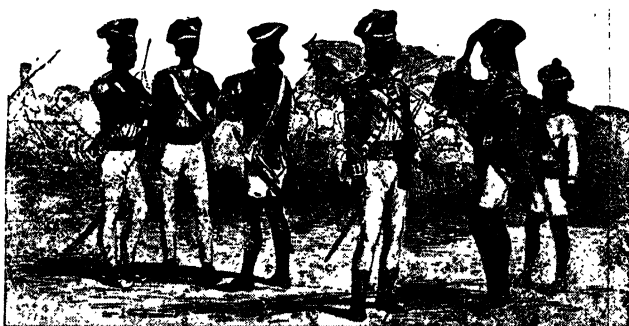
कम्पनी के संचालक बेसीन की सन्धि को भी, जिसके कारण मराठा युद्ध हुआ था, बदलना चाहते थे। यह सन्धि बालों की सलाह से हुई थी, इसका बदलना वह सहन न कर सकता था। परन्तु प्रकट रूप से अपने स्वामियों की आज्ञा का विरोध करने की अपेक्षा उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि स्वयं पेशवा सन्धि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता था।^२ यह बात सत्य नहीं जान पड़ती। सन्धि होने के बाद से ही वह स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी तरफ से जो चाहे कह दिया जाता था, अपने विचार प्रकट करने की उसको स्वतंत्रता ही कम दी जाती थी ?

विल्लौर का उपद्रव—टीपू के बेटे और रिश्तेदार विल्लौर में नजर-बन्द रहते थे। जुलाई सन् १८०६ में यहाँ एक बड़ा उपद्रव हो गया। मदरास के गवर्नर विलियम बेंटिंक की अनुमति से स्थानीय सेनापति ने एक आज्ञा निकाल दी कि सिपाहियों को एक नये ढंग की पगड़ी बाँधनी पड़ेगी, दाढ़ी मूछ भी एक खास ढंग से बनवानी पड़ेगी और माथे पर तिलक या अन्य कोई धार्मिक चिह्न न लगाया जायगा। इस “मूर्खता की आज्ञा” से सारी सेना में सनसनी फैल गई और सिपाही समझने लगे कि उनको ईसाई बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन्होंने किले पर कब्जा कर लिया और कुछ अँगरेजों को मार डाला। अर्काट से एक अँगरेजी सेना आ गई और

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १४६-४७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० ३८१-८३।

उपद्रव शीघ्र ही शान्त हो गया। सिपाहियों को बड़ा कड़ा दंड दिया गया और टीपू के बेटे कलकत्ता भेज दिये गये। वास्तव में उनका कोई दोष था, या



मदरास के सिपाही

नहीं, इसकी पूरी तरह से जाँच तक नहीं की गई। इस पर संचालकों ने मदरास के सेनापति तथा गवर्नर दोनों को वापस बुला लिया।

बालों ने खर्च घटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, इसी लिए कम्पनी को कुछ लाभ भी होने लगा। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि वह “सबसे नीच गवर्नर-जनरल” था। उसके समय में सिन्धिया और होलकर के साथ जो सन्धियाँ की गईं, उनसे “ब्रिटिश शान” पर धब्बा लग गया। वह नीच था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसकी नीचता इन सन्धियों के करने में न थी; इसका पता उसके दूसरे ही कामों में मिलता है। वह देशी राज्यों को आपस में लड़ाने का बराबर प्रयत्न किया करता था। मालकम लिखता है कि वह कुछ भूमि देकर के भी मछेरी और भरतपुर के साथ सन्धियाँ तोड़ देना चाहता था।^१ मेटकाफ का तो यहाँ तक कहना है कि गवर्नर-जनरल की राय में देशी राज्यों के झगड़ों ही में ब्रिटिश शासन की दृढ़ता थी, इसी लिए वह जान-बूझकर इन झगड़ों को

^१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ३७३।

बढ़ाया करता था।^१ अपने स्वामियों को प्रसन्न रखने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार था।



लार्ड मिंगो

लार्ड मिंगो—संचालक बालों को ही गवर्नर-जनरल रखना चाहते थे, परन्तु इंग्लैंड की सरकार एक दूसरे ही व्यक्ति को चाहती थी। अन्त में

^१ जान के, सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पेपर्स ऑफ मेटकाफ, पृ० ७।

दोनों की राय से, १८०७ में 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' का सभापति लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बनाया गया और बालों मदरास का गवर्नर बना दिया गया। मिंटो बर्क का मित्र था, हेस्टिंग्स पर अभियोग चलाने में भी उसने भाग लिया था, परन्तु फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से उसके विचारों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था।

महाराजा रणजीतसिंह—रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० में हुआ था। उसका पिता महानसिंह 'सुकर चकिया' नामक मिसल का मुख्य सरदार था। रणजीतसिंह बचपन से ही अपने पिता के साथ लड़ाइयों पर जाया करता था। अपने पिता के मरने पर वह बराबर लड़ता रहा और धीरे-धीरे उसने कई एक मिसलों को दबा लिया। सन् १७९९ में जमाँशाह ने उसको लाहौर का राजा बना दिया। लाहौर सिखों का मुख्य स्थान था, सन् १७९७ में इसको जमाँशाह ने छीन लिया था। सन् १८०२ में रणजीतसिंह ने अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। अब वह एक स्वतंत्र राजा हो गया और उसके नाम के सिक्के चलने लगे। रणजीतसिंह की उन्नति से सिख मिसलों की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। कई एक मिसलों का एक बड़ा राज्य बन गया और उसके भाग्य का निपटारा लाहौर के राजा के हाथ में आ गया।

खालसा दल—रणजीतसिंह के पहले मिसलों की सेनाएँ अलग अलग थीं, इनका आपस ही में युद्ध हुआ करता था। परन्तु रणजीतसिंह ने इन सबको मिलाकर एक बड़ी सेना तैयार की। मराठों की तरह उसने भी सिखों की युद्धप्रणाली को छोड़ दिया और सेना को कवायद सिखलाने के लिए कई एक यूरोपियन अफसरों को नौकर रखा। इनमें सब से मुख्य वेंचुरा था, यह महाराजा की 'फौज खास' का सेनापति था। रणजीतसिंह का इस पर बहुत विश्वास था। उसने इसको लाहौर का 'काजी' और 'हाकिम' भी बना दिया था। सिखों की सेना में भी घोड़सवार की अपेक्षा पैदल पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस पैदल सेना में ज्यादातर 'अकाली' थे, जो सदा लड़ने-मरने के लिए तैयार रहते थे। तीस-तीस मील का

बाबा यह पैदल सेना एक दिनों में लगाया करती थी। दीवान मोहकमचन्द प्रधान सेनापति था। उसके अधीन कई प्रसिद्ध सिख सरदार थे। तोपखाना का अध्यक्ष इलाहीबख्श नाम का एक मुसलमान था। सिपाही अँगरेजी ढंग की वर्दी पहनते थे। सेना में भर्ती होने का सिखों को ऐसा चाव था कि रणजीतसिंह को सिपाहियों का कभी अभाव न रहता था। इसी विशाल सेना के सहारे वह अपने राज्य की सीमा को बराबर बढ़ाया करता था।

अमृतसर की सन्धि—सिन्धिया के साथ जब युद्ध हो रहा था, तभी से अँगरेज सिखों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रणजीतसिंह ने पंजाब में होलकर का पीछा करने के लिए भी अँगरेजी सेना को आज्ञा दे दी थी। इस समय उसके राज्य का प्रारम्भ ही था, ऐसी दशा में वह अँगरेजों से कोई झगड़ा न करना चाहता था। परन्तु अब एक ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया, जिसके कारण उसको अँगरेजों का सामना करना पड़ा। सतलज और यमुना के बीच का देश पहले नाम मात्र को सिन्धिया के अधीन था। इसमें कई एक छोटे-छोटे सिखे राज्य भी थे, जिनमें मुख्य पटियाला, नाभा और झिन्द, 'फुलकिया मिसल' के राज्य थे। इन सबके राजा एक ही घराने के थे और बराबर आपस में लड़ा करते थे। सन् १८०६ में अपने चचा झिन्द के राजा के बुलाने पर रणजीतसिंह अपनी सेना लेकर पहुँच गया। लुधियाना पर उसका अधिकार हो गया और वह धीरे-धीरे इस ओर भी अपना राज्य बढ़ाने लगा।

इस पर इन राजाओं ने अँगरेजों से सहायता माँगी। लार्ड मिंटो ने हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर देखा। इधर फारस और अफगानिस्तान होकर फ्रांसिसियों के आक्रमण की खबर उड़ रही थी। यह भी एक बहाना मिल गया। रणजीतसिंह से कहा गया कि सिन्धिया पर विजय पाने से यह प्रदेश अँगरेजों के अधीन हो गया, उसकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है। ऐसी दशा में सेना लेकर रणजीतसिंह को सतलज नदी के उस पार चला जाना चाहिए। उसको समझाने का काम मेटकाफ को सौंपा गया। साथ ही साथ लुधियाने की ओर अँगरेजी सेना भी भेज दी गई। रणजीतसिंह ने

पहले तो बहुत विरोध किया, वह लड़ने तक के लिए तैयारी करने लगा, परन्तु अपने एक मंत्री अजीजुद्दीन के बहुत समझाने पर उसने सन्धि करना स्वीकार



अमृतसर

कर लिया। सन् १८०९ में अमृतसर की सन्धि हो गई। सतलज नदी दोनों राज्यों की सीमा मान ली गई। इसके उत्तर तथा पश्चिम में रणजीत-सिंह को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और इसके दक्षिण का देश अंगरेजों के अधीन मान लिया गया। इसके बाद से रणजीतसिंह अपने जीवन भर अंगरेजों से बराबर मित्रता का व्यवहार करता रहा।

सीमाओं की रक्षा—भारतवर्ष में कुछ शान्ति होने के कारण मिंटो का ध्यान अधिकतर राज्य की सीमाओं को सुरक्षित बनाने की ओर था। जब उसको पता लगा कि फ्रांस से एक दूत फारस भेजा गया है, तब उसने भी मालकम को फिर से फारस भेजा। वेलेजली के समय में यह एक बार फारस जा चुका था। तभी अफगानिस्तान की सीमा पर जमाँशाह को अरझाये रखने के लिए फारस के शाह को कुछ रुपया देने का भी वचन दिया गया था। इधर इंग्लैंड-सरकार का भी एक दूत तेहरान पहुँच गया। शाह ने

उसको फ्रांसीसियों की सहायता न करने का वचन दे दिया। उसके सामने मालकूम की कोई पूछ न हुई और वह वापस लौट आया। मिंटो इस प्रबन्ध से सन्तुष्ट न था। उसने मालकूम को दूसरी बार फिर से भेजा, परन्तु कोई लाभ न हुआ। सन् १८१० में लौटने पर मालकूम अपने रोजनामचे में लिखता है कि “शूठ, कपट और षड्यंत्रों” से मेरा पिंड छुटा।^१ जिस ढंग से उसको फारस में काम करना पड़ा था, उसका पता इसी से लगता है।

इसी उद्देश्य से एल्फिंस्टन काबुल भेजा गया, परन्तु उसे पेशावर ही में पता लगा कि अमीर शाहशुजा अफगानिस्तान से निकाल दिया गया है। यहीं अमीर के मंत्रियों से उसकी भेंट हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यदि फ्रांसीसियों के विरुद्ध हमसे सहायता चाहते हो, तो शत्रुओं के विरुद्ध हमारी सहायता करना तुम्हारा कर्तव्य है। एल्फिंस्टन के पास इसका कुछ उत्तर न था। अफगानिस्तान में झगड़ा बढ़ाये रखने के लिए फारस को रुपया दिया जा रहा था, काबुल पर आक्रमण करने के लिए रणजीतसिंह को स्वतंत्रता दे दी गई थी, तिस पर भी अफगानिस्तान के साथ मित्रता की सन्धि का प्रस्ताव किया जा रहा था। इस अवसर पर एक लाभ अवश्य हुआ, एल्फिंस्टन को कई एक सरदारों से अफगानिस्तान की बहुत सी बातों का पता लग गया।

सिन्ध के अमीरों के साथ भी फ्रांसीसियों के विरुद्ध एक सन्धि की गई। फ्रांसीसियों का जो कुछ भय था, वह तो था ही, पर सिन्ध में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। इस तरह लार्ड मिंटो की नीति से चार स्वतंत्र राज्यों में अँगरेजों का पैर जमने लगा।

समुद्री युद्ध—मिंटो ने केवल स्थल से ही भारत पर आक्रमण करने के मार्गों को नहीं रोका, बल्कि उसने समुद्र की ओर से भी किसी के आने की सम्भावना नहीं रखी। भारतवर्ष के निकट दो ऐसे स्थान थे, जहाँ से आक्रमण होने की आशंका थी। एक तो मारिशस और उसके निकटवर्ती टापू, जो

फ्रांसीसियों के अधीन थे और दूसरे जावा तथा मसाला के टापू, जो डच लोगों के पास थे। मारिशस से फ्रांसीसी अँगरेजों के व्यापार को बड़ी हानि पहुँचाया करते थे। दस वर्ष में उन्होंने लगभग ३० लाख रुपये का नुकसान किया था। मसाला के टापुओं पर अँगरेजों की पहले ही से दृष्टि थी। सन् १८१० में एक जहाजी बेड़ा भेजकर फ्रांसीसी टापू जीत लिये गये। उसी समय गवर्नर-जनरल ने स्वयं जाकर जावा तथा मसाला के टापुओं पर भी अधिकार कर लिया। सन् १८११ में वह जावा से लिखता है कि “गुडहोप अन्तरीप से लेकर हार्न अन्तरीप तक ब्रिटिश जाति का कोई शत्रु या सामना करनेवाला नहीं रह गया”। फ्रांस और हालैंड के साथ सन्धि हो जाने पर सब टापू वापस कर दिये गये, केवल मारिशस रख लिया गया। यही “मिर्च के टापू” के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ भारतवर्ष से कुली भेजे जाते हैं। यहाँ ऊख की खेती होती है और कुलियों से बड़ी निर्दयता के साथ काम लिया जाता है।

कृष्णाकुमारी का आत्मबलिदान—इस समय राजपूताने की बड़ी शोचनीय दशा थी। अँगरेजों ने रक्षा का विश्वास दिलाकर राजाओं का साथ छोड़ दिया था। होलकर सबसे मनमाना रुपया वसूल कर रहा था। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में बड़े झगड़े चल रहे थे। इसका मुख्य कारण उदयपुर के महाराणा की लड़की कृष्णाकुमारी थी। जयपुर तथा जोधपुर दोनों के राजा उसके साथ विवाह करना चाहते थे और होलकर की सहायता माँग रहे थे। इस पर अमीरखाँ ने राजकुमारी को मरवा डालने की महाराणा को सलाह दी। उस वीर बालिका ने सब झगड़ों को मिटाने के लिए सहर्ष विष-पान कर लिया।

ईसाई मत का प्रचार—वेलेजली की नीति से पादरियों का उत्साह बढ़ गया था और भारत में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा था। मिंटो को भारत आने पर पता लगा कि श्रीरामपुर के ‘मिशन’ से कई एक किताबें देशी भाषाओं में निकाली गई हैं, जिनमें हिन्दू और मुसलमानों के धर्मों पर अनुचित आक्षेप किये गये हैं। मिंटो ने ऐसी किताबों का छापना बन्द

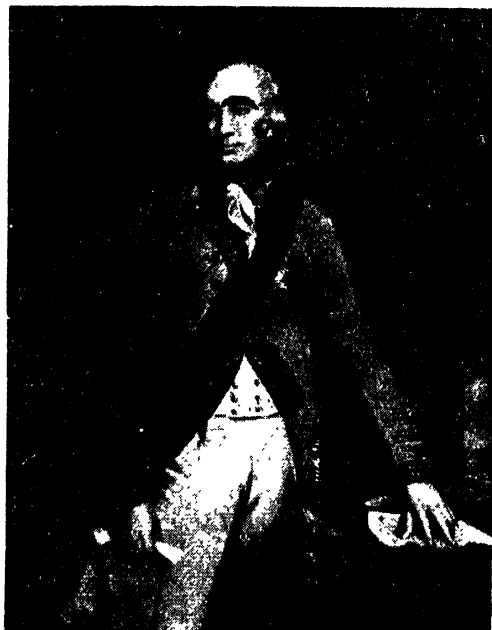
करवा दिया और कलकत्ते में प्रचार-कार्य के लिए देशी भाषाओं में व्याख्यान न देने की आज्ञा दे दी। उसका विश्वास था कि यदि लोगों को यह सन्देश हो जायगा कि सरकार उनके धर्म में हस्तक्षेप करना चाहती है, तो राज-विद्रोह फैलेगा।

लार्ड मिंटो की नीति—मिंटो हस्तक्षेप न करने की नीति का ही अनुयायी था, पर साथ ही साथ उसने इंग्लैंड सरकार और कम्पनी के संचालकों को यह दिखाने का भी प्रयत्न किया कि भारतवर्ष की तत्कालीन स्थिति में इस नीति का अनुसरण करना असम्भव है। वह लिखता है कि भारतवर्ष में 'शक्ति-सामंजस्य' के आधार पर शान्ति स्थापित रखना बड़ा मुश्किल है। लार्ड कार्नवालिस के समय में इसके लिए चेष्टा की गई थी, परन्तु निजाम की हार से मराठों की शक्ति बढ़ गई। वेलेजली की लड़ाइयों से स्थिति और भी बदल गई। बिना पीछे हटे हुए अब वैसा होना असम्भव है, परन्तु पीछे हटना "आगे बढ़ने से भी अधिक हानिकारक है"। मिंटो नम्रता और दृढ़ता दोनों से अच्छी तरह काम लेना जानता था। भारत की स्थिति को उसने खूब समझ लिया था। वह न अकारण झगड़ा ही उठाना चाहता था और न किसी से दबता ही था। उसके शासन-काल में देश में कुछ शान्ति रही। जनवरी सन् १८१४ में वापस जाने के लिए वह संचालकों को लिख चुका था। परन्तु अप्रैल सन् १८१३ ही में उसकी जगह पर लार्ड हेस्टिंग्स नियुक्त कर दिया गया।

कम्पनी का नया आज्ञापत्र—हर तीसवें साल कम्पनी को भारतवर्ष में व्यापार करने के लिए पार्लामेंट से आज्ञापत्र लेना पड़ता था। इसी रीति के अनुसार सन् १८१३ में उसको नया आज्ञापत्र मिला। इस अवसर पर उसके शासन की जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसने बहुत से तत्कालीन दोषों को दिखलाया। इस पर कुछ लोगों की राय थी कि कम्पनी के हाथ से शासन ले लेना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। शासन में सुधार करने के लिए उसे केवल चेतावनी दे दी गई और

भारतवासियों की शिक्षा के लिए पहले-पहल एक लाख रुपया सालाना मंजूर किया गया। नेपोलियन की नीति से यूरोप में अँगरेजों का व्यापार चौपट हो जाने के कारण इंग्लैंड के बहुत से व्यापारी अपना माल भारत में भेजना चाहते थे। उनका कहना था कि कम्पनी को अब राज्य मिल गया है, इसलिए व्यापार का ठेका उसके हाथ में रहना ठीक नहीं है। इस पर बहुत बहस हुई और अन्त में भारत के व्यापार का द्वार सब अँगरेजों के लिए खोल दिया गया। ईसाई मत के प्रचार के लिए लाइसेंस लेकर पादरियों को भारतवर्ष जाने की अनुमति दे दी गई। कलकत्ते में

एक 'बिशप' और चार पादरी भी नियुक्त कर दिये गये, जिनका वेतन भारतवर्ष की आय से देना निश्चित हुआ। सन् १७९३ के आज्ञापत्र में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारत में राज्य-वृद्धि के लिए युद्ध करना "इस राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा तथा नीति के विरुद्ध है"। परन्तु इस नये आज्ञापत्र में इसके दोहराने की आवश्यकता नहीं समझी गई।



लार्ड हेस्टिंग्स

लार्ड हेस्टिंग्स—यह पहले 'अर्ल ऑफ मोयरा' के नाम से प्रसिद्ध था। इस समय इसकी अवस्था ५९ वर्ष की थी। कार्नवालिस के साथ

यह भी स्वतंत्रता के आन्दोलन को दबाने के लिए अमरीका गया था। ईंग्लैंड के युवराज का यह बड़ा घनिष्ठ मित्र था और उसके साथ पड़कर अपनी बहुत सी सम्पत्ति उड़ा चुका था। उसी की सिफारिश से लार्ड मिंटो का बिना कुछ ध्यान किये हुए, यह भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल और सेनापति बना दिया गया। जब यह भारतवर्ष पहुँचा तब इसको “सात ऐसे झगड़े जान पड़े जिनमें युद्ध की सम्भावना थी।” इनमें सबसे पहला झगड़ा नैपाल राज्य के साथ था।

नैपाल का राज्य—इस राज्य में पहले राजपूत शासन करते थे, परन्तु सन् १७६८ से गोरखों का अधिकार हो गया था। सतलज नदी से लेकर भूटान तक हिमालय की दक्षिणी पहाड़ियों में यह राज्य फैला हुआ था। यही एक ऐसा राज्य रह गया था, जिसमें मुसलमान न पहुँच सके थे और जहाँ प्राचीन हिन्दू ढंग से शासन होता था। उत्तर में इसका चीन के साम्राज्य से सम्बन्ध था। दक्षिण का ढालू भाग, जो तराई के नाम से प्रसिद्ध है, अवध के राज्य से मिला हुआ था। सन् १७६५ में एक अँगरेजी सेना ने तराई में घुसने का प्रयत्न किया था, परन्तु गोरखों ने इसको निकाल बाहर किया था। सन् १७९१ में कर्नल कर्कपैट्रिक को भेजकर नैपाल के साथ एक व्यापारिक सन्धि की थी। इस राज्य का वर्णन करते हुए कर्कपैट्रिक लिखता है कि यहाँ परम्परा से चली आई हुई शासन-व्यवस्था इतनी दृढ़ हो गई थी कि किसी स्वेच्छाचारी राजा का उसके विरुद्ध जाना एक प्रकार से असम्भव था। शासन का कुल भार प्रधान सचिव के हाथ में रहता था। न्याय-विभाग का अध्यक्ष ‘धर्माधिकारी’ कहलाता था। इस विभाग का ऐसा उत्तम प्रबन्ध था कि चोरी का कहीं नाम तक न सुनाई देता था। यहाँ से भारत का माल तिब्बत और चीन जाता था। व्यर्थ की शान में बहुत रुपया न फूँका जाता था, इसी लिए खजाने में खूब धन था। संस्कृत विद्या का अच्छा प्रचार था। वृक्ष की छाल से, जो ‘कागजी-पाट’ कहलाती थी, कागज बनता था। भाटगाँव ‘नैपाल का बनारस’ समझा जाता था। यहाँ के केवल एक पुस्तकालय में उस समय भी १५ हजार से अधिक

ग्रन्थ थे। कर्कपेट्रिक सैनिक रहस्यों का भी पता लगाना चाहता था, परन्तु इसमें उसको सफलता नहीं हुई।^१

गोरखों का युद्ध—वेलेजली के समय में गोरखपुर का जिला कम्पनी के हाथ में आ जाने से उसके राज्य की सीमा नैपाल की तराई तक पहुँच गई। इस सीमा पर बराबर झगड़ा हुआ करता था। दोनों ओर से भूमि दबाने का प्रयत्न किया जाता था। इन दिनों श्यौराज और बुटवल के गाँवों पर झगड़ा था। कहा जाता है कि गोरखों ने इनको दबा लिया था। पहले समझौते से मामला निपटाने का प्रयत्न किया गया जिसमें सफलता न होने पर अँगरेजों की एक सेना ने कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। गोरखों ने इस समय तो विरोध नहीं किया पर बाद में अँगरेजी पुलिस के कुछ सिपाहियों को मार डाला। इसी पर गवर्नर-जनरल ने युद्ध की घोषणा कर दी।

अँगरेजों की ओर से चार स्थानों पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया। इसके लिए ३४ हजार सेना एकत्र की गई। परन्तु गोरखों से लड़ना सहज न था। नैपाल पहाड़ी देश है, गोरखा वीरता में भी किसी से कम नहीं हैं। उनकी सेना इस समय १२ हजार से अधिक न थी, तब भी उन्होंने अँगरेजों को अच्छी तरह छका दिया। बलभद्रसिंह ने केवल ६०० गोरखों को लेकर जनरल जिलेस्पी को हरा दिया और उसको युद्ध में मार डाला। विल्सन लिखता है कि इस युद्ध में जिलेस्पी के बहुत उत्तेजित करने पर भी गोरों की पल्टन आगे न बढ़ रही थी और अँगरेजी अफसर हताश हो रहे थे। लड़ाई में इस तरह असफल होते देखकर फूट फैलाने की नीति से काम लिया गया। नैपाल के सरहद्दी राजाओंको, जो गोरखों के शासन से सन्तुष्ट न थे, मिलाने का प्रयत्न किया गया। पश्चिम में हिन्दूर के राजा की सहायता से कर्नल आक्टरलोनी आगे बढ़ने लगा, पूर्व में शिकिम का राजा मिल लिया गया और एक सेना कमाऊँ की तरफ से भी घुस पड़ी। इस पर सन्धि की बातचीत होने लगी।

१ कर्कपेट्रिक, अकाउंट ऑफ दि किंगडम ऑफ नैपाल, सन् १८११।

गोरखों को ६०० मील की सीमा की रक्षा करनी थी, सरहद्दी राजा उनके साथ न थे, जल के मुख्य-मुख्य स्थानों पर अँगरेजों ने अधिकार कर लिया था। अँगरेज भी तंग आ गये थे, उन्हें पहाड़ी युद्ध का अभ्यास न था, इसलिए दोनों सन्धि चाहते थे।

सिगौली की सन्धि—सन् १८१६ में सिगौली नामक स्थान पर सन्धि हो गई। इससे अँगरेजों को कमाऊँ, गढ़वाळ तथा तराई का बहुत कुछ भाग मिल गया। यह प्रदेश मिल जाने से देहरादून, मसूरी, नैनीताल तथा अलमोड़ा अँगरेजों के अधिकार में आ गये। इस समय तक अँगरेजों के पास कोई पहाड़ी स्थान न थे। इनके मनोरम दृश्य और स्वच्छ जलवायु का बड़ा भारी लालच था। बहुत से अँगरेज इन सुन्दर तथा रमणीक पहाड़ियों में बसना चाहते थे। जान पड़ता है, शायद इसी लिए यह लड़ाई लड़ी गई थी, श्योराज और बुटवल का झगड़ा तो साधारण था। गोरखों ने अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज रेजीडेंट को भी रखना स्वीकार कर लिया। उस समय से दोनों राज्यों में मित्रता का सम्बन्ध है। अँगरेजों ने गोरखों के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लिया है। वे उनके वीरोचित गुणों का आदर करते हैं। अँगरेजी सेना में उनकी कई एक पलटनें हैं। सिपाही-विद्रोह के समय पर गोरखों ने अँगरेजों का पूरा साथ दिया और सन् १९१४ के यूरोपीय महायुद्ध में भी ये बड़ी वीरता से लड़े। ये स्वभाव से ही वीर, साहसी और बड़े स्वामिभक्त होते हैं। इन भोले-भाले वीरों से अब दूसरों की स्वतंत्रता अपहरण करने का काम लिया जाता है।

नैपाल राज्य को बिना ब्रिटिश सरकार की अनुमति के किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध जोड़ने या किसी यूरोपियन को नौकर रखने का अधिकार नहीं है। इस दृष्टि से वह अँगरेजों के अधीन हैं। पर शासन में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। रेजीडेंट को किंचित् भी हस्तक्षेप करने की आज्ञा नहीं है। नैपालियों से जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका था, पहाड़ों को विकट घाटियों में कुछ रखा न था। गोरखों का मान रखने से उनकी अमूल्य सहायता मिलती थी। यदि ऐसा न होता तो वहाँ के शासन में भी, किसी न किसी बहाने, हस्तक्षेप

अवश्य किया जाता। बिना विशेष आज्ञा के नैपाल में कोई जाने नहीं पाता है। गोरखों को विदेशियों पर बड़ा सन्देह रहता है। किसी राजनैतिक संकट के समय पर इनके सरदारों की एक सभा एकत्र होती है। सन् १८४६ में कई झगड़ों के कारण इस सभा ने तत्कालीन महाराजा को गद्दी से उतार दिया था।^१ तभी जंगबहादुर प्रधान सचिव बनाया गया। सन् १८५० में वह इंग्लैंड गया और वहाँ से लौटने पर उसने शासन में कई सुधार किये। सन् १८५७ के गद्दर में उसने अँगरेजों का साथ दिया। सन् १९२८ में दासता की प्रथा, जो बहुत दिनों से नैपाल में प्रचलित थी, उठा दी गई।

पिंडारियों का दमन—दक्षिण के कुछ पठानों ने अपना पेशा लड़ना-भिड़ना बना रखा था। राज्यों के परस्पर युद्ध में ये बराबर भाग लिया करते थे और शत्रुओं को लूटकर अपना काम चलाते थे। औरंगजेब के समय में इन्होंने शिवाजी का साथ दिया था और मुगल सेना को खूब लूटा था। नसरू नाम का इनका एक सरदार शिवाजी की सेना का जमादार था। इसी के वंशज गाजीउद्दीन की सहायता से पेशवा बाजीराव पहले ने मालवा पर आक्रमण किया था। तभी से ये लोग मालवा में बस गये थे। कुछ हिन्दुओं के शामिल हो जाने से इनका दल बहुत बढ़ गया था। इनमें धर्म या जाति का कुछ भी भेद न था। लड़ना इनका मुख्य काम था, तलवार और भाला इनके अस्त्र थे। घोड़े की सवारी में ये बड़े निपुण होते थे। एक दिन में चालीस-चालीस, पचास-पचास मील का धावा लगाते थे। ये सबके सब पिंडारी कहलाते थे। यह नाम कैसे पड़ा, इस पर मतभेद है। मालकम का कहना है कि ये 'पिंड' नाम की शराब बहुत पिया करते थे, इसी लिए पिंडारी कहलाते थे।

इनकी सेनाएँ बन गई थीं, जो हर समय लड़ाई के लिए तैयार रहती थीं। उनको वेतन देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, वे केवल शत्रु को

लूटने की आज्ञा चाहती थीं। सिन्धिया और होलकर दोनों पिंडारियों से सहायता लेते थे। इसलिए इनके दो दल बन गये थे, जो 'सिन्धियाशाही' और 'होलकरशाही' के नाम से प्रसिद्ध थे। पिछले मराठा युद्ध में आर्थर वेलेजली भी पिंडारियों से सहायता लेना चाहता था। शत्रुओं को ये खूब लूटते थे और उनके साथ कभी-कभी निर्दयता का भी व्यवहार करते थे, इसमें सन्देह नहीं है। पर केवल लूटना ही इनका पेशा न था जैसा कि अँगरेज इतिहासकारों का कहना है। मालकम लिखता है कि होलकर की सेना में इनका पड़ाव अलग रहता था और चार आना रोज के हिसाब से इनको भत्ता मिलता था। इसके अतिरिक्त अपने टट्टुओं और बैलों पर अनाज तथा लकड़ी लाद करके भी ये लोग कुछ कमा लेते थे। जब लूटने की आज्ञा मिलती थी तब यह भत्ता बन्द कर दिया जाता था। विल्सन का कहना है कि सिन्धिया और होलकर ने नर्मदा के निकट इनको जागीरें दे रखी थीं, जहाँ ये शान्ति के समय में रहते और लड़ाई छिड़ने पर अपने मालिकों का साथ देते थे।

वेलेजली की नीति से इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। निजाम, टीपू तथा मराठों के बहुत से बेकाम सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। आर्थर वेलेजली ने गवर्नर-जनरल को तभी सचेत किया था, परन्तु तब इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इन दिनों करीमख़ाँ, वासिल-मुहम्मद और चीतू इनके मुख्य सरदार थे। सिन्धिया के राज्य में करीमख़ाँ तथा चीतू की जागीरें थीं और ये दोनों नवाब कहलते थे। इन दिनों मालवा, राजपूताना और दक्षिण में पिंडारी ऊधम मचाये हुए थे। कर्नल टाड ने राजपूताने में इनके अत्याचारों का बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है। इधर कुछ दल बिहार की सीमा तक पहुँच गये थे और कुछ निजाम के राज्य में लूट-पाट मचाये हुए थे। सन् १८१५ में जब निजाम की अँगरेजी सेना ने इन पर आक्रमण किया तब ये उत्तरी सरकार के जिलों पर दूट पड़े। इस पर 'बोर्ड आफ कंट्रोल' की अनुमति से लार्ड हेस्टिंग्स ने इनका दमन करना निश्चित कर लिया।

अंगरेज इतिहासकारों ही के मतानुसार इनकी संख्या ३० हजार से अधिक न थी। पर इनके दमन करने के लिए १ लाख २० हजार सेना एकत्र की गई, जिसमें १३ हजार गोरे सिपाही थे। पहले नये समझौते करके मराठों की शक्ति अच्छी तरह जकड़ दी गई, जिसमें उनसे पिंडारियों को किसी प्रकार की सहायता न मिले। फिर यह सेना पिंडारियों पर टूट पड़ी। इतनी बड़ी सेना से लड़ने के लिए उनमें दम ही कितना था ? करीमख़ाँ ने हथियार डाल दिये, उसको गोरखपुर के जिले में एक जागीर दे दी गई। वासिल-मुहम्मद ने निराश होकर आत्मघात कर लिया। चीतू कुछ दिनों तक लड़ता रहा, पर जंगल में एक चीते ने उसको खा डाला। इनकी सेनाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं और सैनिक अन्य कामों में लग गये। इस तरह सन् १८१८ में पिंडारियों का अन्त हो गया।

मराठों का भय—पिंडारियों को दमन करने के लिए जैसी कुछ तैयारी की गई थी, उसे देखकर मराठे चिन्तित हो रहे थे। सर जान के लिखता है कि इस अवसर पर चारों ओर से जिस तरह सेना उमड़ रही थी, उससे यही जान पड़ता था कि घेरकर मराठा राजाओं का शिकार किया जायगा। उनका यह सोचना कि “फिरंगी अब काफी विश्राम कर चुके हैं, वे फिर से घोर युद्ध के लिए कम्बर कस रहे हैं और अपनी सारी सैनिक शक्ति को एकत्र करके इस बार भूमि पर से देशी राजाओं का नाम मिटा देना चाहते हैं”, स्वाभाविक था।^१ इतनी भारी सेना के आगे बढ़ने से वे डर रहे थे। उनको भय था कि अन्त में इसका वार मराठों पर अवश्य होगा। उनका यह सन्देह निराधार न था। पिंडारियों पर आक्रमण के परिणाम स्वरूप मराठा युद्ध की सम्भावना की चर्चा उन दिनों सरकारी कागजात में बड़े विस्तार के साथ हो रही थी। कौंसिल भवन में राजनीतिज्ञ बड़ी गम्भीरता से इस पर बहस कर रहे थे। मराठा राजाओं को पूर्ण रूप से अधीन बना लेने पर मेटकाफ जोर दे रहा था। उसका कहना था कि यदि पिंडारी-युद्ध में मराठे पूरा साथ न दें था

किसी प्रकार की बाधा डालें तो, शत्रु समझकर, उन पर आक्रमण कर देना चाहिए और उनके राज्यों को थोड़ा बहुत छीन लेना चाहिए। इससे युद्ध का खर्च भी चल जायगा और अधिक सेना रखने के लिए काफी रुपया भी मिल जायगा।^१ इन वाक्यों से पिंडारी-युद्ध का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। के लिखता है कि ऐसी दशा में भी यदि मराठों के साथ युद्ध न हुआ होता तो आश्चर्य्य था। जिस तरह भावी भय के लिए तैयारी करने का हमें अधिकार था उसी तरह उनको भी था। यदि उनकी तैयारी को, जिन्हें हमसे कहीं अधिक भय की आशंका थी, हम विद्रोह या मूर्खता कहते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय स्वार्थ से हम अन्धे हो रहे थे। जब हमारी तोपें भरी हुई हैं और हाथ में पलीता सुलग रहा है, तब निस्सन्देह हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि अन्य राज्य अपनी चढ़ी हुई तोपों को उतार लेंगे।^२

मराठों से इस समय कोई ऐसा भय न था। ब्रिटिश सरकार की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मनरो की राय में अब देशी राज्यों के किसी गुट से उसे कोई डर न था।^३ परन्तु अँगरेजों की नीति अब पलट चुकी थी। वास्तव में नेपाल का युद्ध नीति के परिवर्तन की घोषणा थी। वीर नेपोलियन, जिसके नाम से अँगरेज काँपते थे, कम्पनी के अधीन सेंट हेलेना के टापू में पड़ा सड़ रहा था। उसके साथ लड़ने में इंग्लैंड की जो क्षति हुई थी, उसकी किसी न किसी तरह पूर्ति करनी थी। पिंडारियों के दमन के बहाने से मराठों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का लार्ड हेस्टिंग्स को अच्छा अवसर मिल गया। भारत आते ही उसने निश्चित कर लिया था कि ब्रिटिश सरकार को 'सर्वोच्च' बना देना चाहिए और देशी राजाओं को नाम से भले ही नहीं पर वास्तव में उसके 'जागीरदार' बनाकर रखना चाहिए।^४

१ जान के, लाइफ ऑफ मेटकाफ, जि० १, पृ० ४३७।

२ जान के, लाइफ ऑफ सर जान मालकम, जि० २, पृ० १८९-९०।

३ ग्लोग, लाइफ ऑफ मनरो, पृ० २४६, २५०।

४ लार्ड हेस्टिंग्स, प्राइवेट जर्नल, (पाणिनि आफिस संस्करण) पृ० ३०।

भोंसलाओं की अवनति—मार्च सन् १८१६ में राघोजी भोंसला की मृत्यु हो गई। नागपुर का यह अन्तिम स्वतन्त्र राजा था। इसका पुत्र, जो अन्धा था, नाम मात्र के लिए राजा मान लिया गया, परन्तु शासन किसके हाथ में रहे, इस पर झगड़ा चल पड़ा। घुसने के लिए अँगरेजों को यह अच्छा अवसर मिल गया। लार्ड हेस्टिंग्स लिखता है कि “राघोजी भोंसला की अचानक मृत्यु से मैं उस कार्य को कर सका जिसके लिए बारह वर्ष से बराबर प्रयत्न किया जा रहा था।” इस मामले में तरह-तरह की चालें चली गईं और घूस से काम लिया गया।^१ राघोजी का भतीजा अप्पा साहब अँगरेजों की सहायता से राजा का संरक्षक बन गया। उसने गुप्त रीति से अँगरेजों के साथ सहायक सन्धि कर ली। जब तक नागपुर में अँगरेजी सेना पहुँच न गई, इसका किसी को पता भी न लगा। मालकूम लिखता है कि इस सन्धि का समाचार मिलने पर रनिवास तक में कोलाहल मच गया। “मराठा-मंडल की शक्ति पर यह भीषण आघात हुआ”।^२

फरवरी सन् १८१७ में नये राजा बाला साहब की भी मृत्यु हो गई, इस पर अप्पा साहब राजा बना दिया गया। अब स्वयं अप्पा साहब को अँगरेजों का हस्तक्षेप असह्य होने लगा। राज्य की आमदनी के एक तिहाई भाग से भी अधिक केवल सेना का खर्च माँगा जा रहा था और मन्त्रियों की नियुक्ति में भी बाधा डाली जा रही थी। भोंसला मराठा-मंडल का सेनापति माना जाता था, इसी लिए गद्दी पर बैठते समय पेशवा के यहाँ से खिलत आई थी। यह बात अँगरेजों को बहुत खटकी, क्योंकि एक तो इन दिनों पेशवा से उनकी चल रही थी, दूसरे मराठा-मंडल के अस्तित्व को जतानेवाले किसी रीति-रिवाज को वे मानने के लिए तैयार न थे। अप्पा साहब को हाथ में रखने के लिए रेजीडेंट ने अँगरेजी सेना को नागपुर बुला भेजा।^३ अप्पा साहब

१ लार्ड हेस्टिंग्स, प्राइवेट जर्नल, पृ० २५४।

२ मालकूम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ४९४-९५।

३ वही, पृ० ५०५।

की सेना इस अपमान को सहन न कर सकी और उसने सीताबूदी की छावनी पर आक्रमण कर दिया, पर सफलता न हुई। अप्पा साहब ने फिर समझौता कर लिया, जिससे सेना का प्रबन्ध और मुख्य गढ़ अँगरेजों के हाथ में आ गये। इस पर भी अँगरेजों को सन्तोष न हुआ। अब कहा जाने लगा कि वह सेना को भड़का रहा है और बाजीराव से पत्र-व्यवहार कर रहा है। इतने दिनों बाद वाला साहब की मृत्यु का दोष भी उसी के मथे मढ़ा जाने लगा। रेजीडेंट की आज्ञा से वह गिरफ्तार करके इलाहाबाद भेज दिया गया, जहाँ से वह भाग निकला। कुछ दिनों तक वह रणजीतसिंह के दरबार में रहा। वहाँ से हटाये जाने पर वह जोधपुर चला गया, जहाँ के राजा ने उसे अँगरेजों के हवाले करने से इनकार कर दिया। जून सन् १८१८ में राधोजी का नाती, जो बालक था, नाम मात्र के लिए राजा बना दिया गया। कुल शासन रेजीडेंट के निरीक्षण में होने लगा। नर्मदा नदी के उत्तर का प्रदेश, जिसमें सागर का जिला है, सेना का खर्च चलाने के लिए ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। इस तरह आधुनिक 'मध्यप्रान्त' की नींव पड़ी।

सिन्धिया के साथ नई सन्धि—इस समय तक सिन्धिया की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न हुई थी। पिछली सन्धि में अँगरेजों ने यह वचन दिया था कि राजपूत राज्यों के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उसमें वे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे। उसे निर्बल बनाने के लिए किसी न किसी तरह इस शर्त को बदलना था। अब उस पर यह अपराध लगाया कि वह गुप्त रीति से पिंडारियों की सहायता कर रहा है और अँगरेजों के विरुद्ध नैपाल के राजा से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इसी बात पर पिंडारियों को दमन करने के लिए जो सेना तैयार की गई थी, उसे लेकर स्वयं गवर्नर-जनरल ने सिन्धिया को इस तरह घेर लिया कि मजबूर होकर उसे अँगरेजों की सब शर्तें माननी पड़ीं। उसके दो मुख्य किले जमानत में ले लिये गये और राजपूत राज्यों के साथ सन्धियाँ करने के लिए अँगरेजों को स्वतन्त्रता मिल गई। लार्ड हेस्टिंग्स लिखता है कि मैंने सिन्धिया को ऐसा जकड़ दिया है कि अब

विश्वासघात के लिए उसमें दम नहीं रह गया। इस सन्धि से “वास्तव में मराठों का पतन हो गया”।^१

होलकर के राज्य की दुर्दशा—इस राज्य का कोई देखनेवाला न था। अमीरखाँ, जिस पर यशवन्तराव को बड़ा भरोसा था, उसके जीवन-काल से ही विश्वासघात कर रहा था। इस समय तो अँगरेजों ने होलकर के राज्य का ही एक भाग (टोंक) देकर उसको अपने पक्ष में मिला लिया था। नोलन नाम का एक अँगरेज अपने इतिहास में लिखता है कि “होलकर के राज्य की एकता नष्ट करने के लिए अमीरखाँ और अँगरेज जो चालें चल रहे थे, वे हमारे राष्ट्र के लिए प्रतिष्ठास्पद न थीं। उनके सम्बन्ध में, दरबार के सभी आदमी, राज्य के सभी दल, अँगरेजों के पक्ष में या उनके विरुद्ध और एक दूसरे के प्रतिकूल षडयंत्र रच रहे थे। झूठ, धोखेबाजी, अपहरण, वध, हत्या, लूट, विद्रोह और परस्पर के युद्ध से वह राज्य, जिस पर सुप्रसिद्ध होलकर कभी शासन करता था, छिन्न-भिन्न और कलुषित हो रहा था”।^२ रानी तुलसीबाई मार डाली जा चुकी थी। ऐसी दशा में भी यह सन्देह किया गया कि इस राज्य से भी पिंडारियों को सहायता मिल रही थी। दिसम्बर सन् १८१७ में महीदपुर में होलकर की सेना चारों ओर से घेर ली गई। बड़ी घोर लड़ाई हुई जिसमें अँगरेजों के बहुत से सैनिक मारे गये। रोशनबेग के तोपखाना ने बड़ा काम किया, परन्तु इतने ही में अब्दुलगफूर खाँ, जो होलकर का एक मुख्य सेनानायक था, अँगरेजों से मिल गया। इसी के सिपाहियों ने रानी तुलसीबाई का वध किया था। इस विश्वासघात के लिए उसके वंशजों को जावरा की जागीर दी गई।^३ जनवरी सन् १८१८ में सन्धि हो गई, तब से होलकर राज्य भी अँगरेजों के अधीन हो गया।

१ लार्ड हेस्टिंग्स, प्राइवेट जर्नल, पृ० ३०९।

२ नोलन, ब्रिटिश एम्पायर, जि० २, पृ० ५२१।

३ लुतफुल्ला, आटोबायोग्राफी, पृ० १०३-१०४।

पेशवाओंका अन्त—बाजीराव अपने को बड़ा नीति-निपुण समझता था, पर अँगरेजों से कूटनीति में पार पाना सहज न था। पिछले मराठा युद्ध के समय से ही अँगरेजों ने घूस देकर उसके मंत्रियों को फोड़ रखा था।^१ इन दिनों उसके दरबार में एल्फिंस्टन रेजीडेंट था। पेशवा पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। बाजीराव लिखता है कि वह किस दिन क्या खाता था, इसका भी पता रेजीडेंट को रहता था। इन्हीं दिनों गंगा-धर शास्त्री, जो बड़ोदा राज्य का कुछ हिसाबी झगड़ा निपटाने के लिए पूना आया था, मार डाला गया। रेजीडेंट का कहना था कि यह कार्य पेशवा की राय से उसके मंत्री त्र्यम्बकजी द्वारा किया गया। त्र्यम्बकजी अँगरेजों का बड़ा विरोधी था। रेजीडेंट के बहुत दबाने पर पेशवा ने उसको अँगरेजों के हवाले कर दिया, जिन्होंने उसे एक किले में कैद कर दिया। थोड़े दिन बाद वह किले से भाग निकला। रेजीडेंट की राय में इसमें भी पेशवा की साजिश थी। उसको यह भी सन्देह था कि पेशवा गुप्त रीति से युद्ध की तैयारी कर रहा था। इस पर गवर्नर-जनरल ने घोषणा कर दी कि बाजीराव 'शत्रु' है। अँगरेजी सेना भी पूना की ओर बढ़ने लगी। घबराकर बाजीराव ने सन् १८१७ में नई सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके अनुसार मराठा-मंडल नष्ट कर दिया गया। अन्य मराठा राज्यों पर पेशवा का कोई अधिकार न रहा और दंड स्वरूप उसे रायगढ़ तथा पुरन्दर के किले और मालवा तथा उत्तरी भारत के सब इलाके अँगरेजों को दे देने पड़े। लार्ड हेस्टिग्स ने भी माना है कि ये शर्तें बड़ी कड़ी थीं। पर उसका कहना है कि यदि बाजीराव को गद्दी पर बिठलाये रखना था और अपनी रक्षा का भी प्रबन्ध करना था, तो उसे इस तरह से "पंगु बना देने" के अतिरिक्त और कोई उपाय न था।^२ यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बाजीराव के गुप्त भाव चाहे जो कुछ रहे हों, इस समय तक उसने बेसीन की सन्धि को किसी तरह

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज, पृ० २७३-७६।

२ लार्ड हेस्टिग्स, प्राइवेट जर्नल, पृ० २९१

भंग नहीं किया था। शासन में भी वह थोड़े बहुत सुधार कर रहा था। इसको इतिहासकार मालकम ने भी माना है।^१

इस नई सन्धि के अपमान को भी यदि बाजीराव चुपचाप सहन कर लेता तो आश्चर्य था। परन्तु अब यह बात उसके हाथ की न थी। पेशवा की गद्दी का इस तरह अपमान देखकर उसकी सेना उत्तेजित हो रही थी। मुख्य सरदार गोखले, जो स्वयं पहले अँगरेजों का पक्षपाती था, उनकी ज्यादाती देखकर बिगड़ रहा था। इन दिनों कुछ अँगरेजी सेना पिंडारियों के साथ लड़ने के लिए बाहर गई हुई थी। अवसर पाकर गोखले ने नवम्बर सन् १८१७ में किरकी (खड़की) की छावनी पर आक्रमण कर दिया। मालकम के कथनानुसार पेशवा इस समय भी पहले अपनी तरफ से वार न करना चाहता था, परन्तु गोखले ने ऐसे स्वामी की बात न सुनना ही उचित समझा। रेजीडेंसी में आग लगाकर पेशवा की सेना ने घोर युद्ध किया। परन्तु अँगरेजी सेना अधिक आ जाने से उसे पीछे हटना पड़ा और पूना पर अँगरेजों का फिर से अधिकार हो गया। बाजीराव भाग निकला।



बापू गोखले

गोखले ने बराबर युद्ध जारी रखा, अन्त में वह बड़ी वीरता के साथ लड़ते हुए मारा गया। पेशवा का दल बढ़ रहा था। जिसके पूर्वजों ने “मलाबार से लेकर लाहोर” तक भगवा झंडा फहराया था, उसकी गद्दी का

इस तरह नष्ट होना मराठा सरदार सहन न कर सकते थे। इस भाव को दबाने के लिए मैसूरवाली चाल चली गई। शिवाजी के वंशज सतारा के राजा को पेशवा का बहुत सा राज्य देने की घोषणा की गई। इस चाल का भी कोई प्रभाव न पड़ा, अँगरेजों की नीति से बराबर असन्तोष फैलने लगा। परन्तु बाजीराव ने इस अवसर पर भी अपनी कायरता का परिचय दिया। उसने अपने को अँगरेजी सेनाध्यक्ष मालकम के हवाले कर दिया, जिसने उसको ८ लाख रुपये साल की पेंशन देकर ब्रिटूर भेज दिया, जहाँ वह बहुत दिनों तक जीवित रहा।

बाजीराव को इतनी बड़ी पेंशन देना गवर्नर-जनरल को राय में उचित न था। अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि पेशवा के साथ बड़ी उदारता की गई। परन्तु वास्तव में बात कुछ और ही थी। मालकम, जिसको



दूसरा बाजीराव

भी उसका साथ देने का विचार कर रहा था। मैसूर से लेकर मालवा तक सारा देश उसके लिए चिन्तित हो रहा था। पेशवा अपनी सेना के साथ असीरगढ़ की ओर बढ़ रहा था, जिसका बर्सात में जीतना कठिन था। ऐसी

तत्कालीन स्थिति का सबसे अधिक ज्ञान था और जिसने पेशवा को गद्दी छोड़ देने के लिए आठ लाख रुपया सालाना देने का लालच देकर राजी किया था, लिखता है कि पेशवा के पास इस समय भी चार पाँच हजार घोड़सवार बाकी थे, जो कुछ दिन विश्राम करके, फिर से लड़ने के लिए तैयार थे। उसके पास इतनी ही पैदल सेना थी, जिसमें बहुत से अरब लोग थे। “हम लोगों की दृष्टि में उसकी दशा चाहे जितनी गिरी हुई हो, पर उसके नाम से सहस्रों सैनिक एकत्र हो रहे थे।” सिन्धिया

दशा में किसी न किसी तरह समझा-बुझाकर बाजीराव को हाथ में लाने के सिवा और कोई उपाय न था ।^१

बाजीराव के प्रति जो राजभक्ति दिखलाई गई, उसके योग्य वह न था । उसमें व्यक्तिगत साहस का सर्वथा अभाव था, केवल धूर्तता में वह बड़ा निपुण था । संस्कृत का वह अच्छा विद्वान् था और पंडितों का सदा आदर करता था । ज्ञान का वह ऐसा मीठा था कि उसका सभी पर प्रभाव पड़ता था और उसके भावों का जानना कठिन हो जाता था । वह बड़ा व्यसनी और आलसी था, इसी लिए गंगा के तट पर आठ लाख रुपया सालाना से आनन्द करने के सामने उसको पेशवाओं का नाम मिटाने में भी संकोच नहीं हुआ ।

पेशवाई शासन—पेशवाओं के समय में शिवाजी की राज्य-व्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था । इन दिनों मराठों का साम्राज्य कई एक राज्यों का समूह था । इन राज्यों को शासन की स्वतंत्रता थी, पर तब भी इन सब की शासन-पद्धति में बहुत कुछ समानता थी । गाँव का मुखिया पटेल कहलाता था । इसका मुख्य काम लगान वसूल करना होता था । इसके नीचे एक 'कुलकर्णी' रहना था, जो प्रायः ब्राह्मण होता था । इसको गाँव का कुल हिसाब रखना पड़ता था । पटेल की ही अध्यक्षता में गाँव का काम करनेवाले पेशेवर रहते थे ।^२ इन सब का सालियाना बँधा होता था, जो गाँव की आमदनी से ही मिलता था । पटेलों की निगरानी के लिए सूत्रेदार और सर सूत्रेदार रहते थे, जिनके ऊपर राज्य के दीवान और मंत्री होते थे । पटेलों से रुपया वसूल करने के लिए कभी-कभी सूत्रेदार अपने नौकर रखते थे, जो मामलतदार और तहसीलदार कहलाते थे । शिवाजी के समय में मालगुजारी के लिए मलिक अम्बर का चलाया हुआ बन्दोबस्त था । बालाजी बाजीराव ने फिर से पैमा-

१ मालकम, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ५२१-२३ ।

२ बड़ई, लोहार, धोबी, नाई, कुम्हार, सोनार, पुजारी, भिस्ता, मोची, रस्ती बटनेवाला, चौकीदार और मुल्ला ये गाँव के 'बारह बलुते' कहलाते थे ।

यश कराकर कई साल के लिए नया बन्दोबस्त किया था, जिससे गाँवों की माल-गुजारी बहुत बढ़ गई थी। दूसरे बाजीराव ने अँगरेजों की देखा-देखी ठेके की प्रथा चला दी थी, जिससे प्रजा पर अत्याचार होने लग गया था।

पूना के न्यायाधीश के पद पर राम शास्त्री काम करते थे। न्यायाधीश राम-शास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध थी। प्रान्तों में इसी ढंग की छोटी छोटी अदालतें थीं। इनके अतिरिक्त पटेल, मामलतदार और तहसीलदारों को भी फौजदारी तथा दीवानी के कुछ अधिकार रहते थे। परन्तु अधिकतर न्याय पंचायतों द्वारा होता था। उनका फैसला मान्य न होने पर सरकारी अदालतों में अपील होती थी। दीवानी में स्मृति ग्रन्थों से कानून का काम लिया जाता था, पर अधिकतर देश, कुल तथा गाँव के रीति-रिवाजों ही पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजनैतिक अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था बहुत कठोर न थी। प्राणदंड तो बहुत ही कम दिया जाता था। जेल का अच्छा प्रबन्ध रहता था। कैदियों को बहुत कुछ स्वतंत्रता रहती थी और उनका अपमान कभी न किया जाता था। अपराधियों के साथ यथाशक्ति सौम्य व्यवहार किया जाता था।

जमीन के लगान के सिवा और भी बहुत से कर लिये जाते थे। परन्तु इनके वसूल करने में देनेवालों की स्थिति का बराबर ध्यान रखा जाता था।^१ पेशेवरों से जो कर लिया जाता था, वह 'मोहतरफा' कहलाता था। व्यापार पर चुंगी लगती थी, जो 'जकात' के नाम से प्रसिद्ध थी। लोकोपयोगी व्यापार पर 'जकात' माफ कर दी जाती थी। बिना माफी के परिवाने के पेशवा तक के माल पर जकात लो जाती थी। विदेशियों को बिना रोक टोक के व्यापार करने की आज्ञा थी और उन्हें सब तरह की सुविधाएँ दी जाती थीं। अनेक स्थानों पर सरकारी दूकानें रहती थीं, जिनके द्वारा विशेष वस्तुओं का व्यापार किया जाता था। इन दूकानों से किसानों को कभी-कभी कर्ज भी दिया जाता था। नये बाजार और हाट बसाने की ओर पेशवाओं

का बड़ा ध्यान रहता था। खाने-पीने की चीजें बहुत सस्ती बिकती थीं।^१ खेती की उन्नति के लिए भी प्रयत्न किया जाता था। पड़ती जमीन को तोड़कर चैनी बनाने के लिए किसानों को धन दिया जाता था और बहुत दिनों तक लगान वसूल न किया जाता था। दुर्भिक्ष या युद्ध के समय पर भी किसानों के साथ खास रियायत की जाती थी। सिंचाई के लिए नहरें और बड़े-बड़े तालाब खोदवाये जाते थे। खेतों को रहन या बय करने का अधिकार किसानों को न था।

उन दिनों गावों का जीवन ऐसा था कि गाँववाले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध आप ही कर लेते थे। इसलिए राज्य को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता न रहती थी। पर तब भी गरीबों के लिए चिकित्सालय खोलना, उनको अन्न देना, धर्मशालाएँ और मन्दिर बनवाना, सभी हिन्दू राजा अपना कर्तव्य समझते थे। राज्य की ओर से शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था, यह कार्य साधारणतः गाँव के शिक्षकों द्वारा ही होता था। बड़े-बड़े पंडितों को राज्य से दक्षिणा अवश्य मिलती थी। गाँवों की उन्नति के लिए आजकल की तरह न कोई अलग विभाग ही था और न उसके लिए अलग धन ही रखा जाता था। उनकी जो कुछ आमदनी होती थी, उसमें से इन कार्यों के लिए कुछ भाग अलग कर दिया जाता था। बाहरी आक्रमण से उनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था।

गाँव की रखवाली वहाँ का चौकीदार ही कर लेता था। विशेष अवसरों पर सरकार की ओर से इसका प्रबन्ध किया जाता था। तहसीलदार की मातृ-हती में पहेदेदार और सवार पुलिस का काम करते थे। बड़े-बड़े नगरों में कोतवाल भी रहते थे, जिन्हें वहाँ का सब हाल लिखकर रखना पड़ता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पूना की पुलिस बड़ी अच्छी समझी जाती थी।^२

१ माधवराव के समय में चावल एक रुपया चार आना मन, गेहूँ दो रुपया मन और धाँ एक रुपये का डेढ़ या दो सेर बिकता था। पेशवाओं का डायरी, जि० २, पृ० ३११-१४।

२ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ५, पृ० ३९३।

हिन्दुओं के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने का पेशवाओं को अधिकार था। मुसलमानों के हाथ में पड़कर जिनका धर्म भ्रष्ट हो जाता था, उनकी शुद्धि कर ली जाती थी।^१ बाजीराव ने सती प्रथा बन्द कर दी थी। अन्य मतावलम्बियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उनकी बराबर रक्षा की जाती थी। गाँवों में मुसलमानों के लिए मुल्ला का सालियाना बँधा रहता था। पुर्तगालियों के गिरजाघरों को भी सहायता मिलती थी। बहुत से इलाकों में शराब बनाने की मनाही थी, केवल यूरोपियन लोगों को भट्टी चढ़ाने की आज्ञा मिलती थी; उनको भी साधारण जनता में उसके बेचने का अधिकार न रहता था। बेगार और गुलामी की भी चाल थी, पर गुलामों के साथ निर्दयता का व्यवहार न होता था।

आवश्यकता पड़ने पर सरकार को साहूकारों से कर्ज भी लेना पड़ता था। पेशवा लोग बहुत कर्ज लिया करते थे। निजी खर्च और दरबारी खर्च बड़ा हुआ न था। मुगल बादशाहों की नकल करने में पेशवाओं का भी बहुत खर्च होता था। सिक्के अनेक प्रकार के चलते थे, जिनके बदलने में बट्टा लगता था और प्रायः बहुत झगड़ा होता था।

फड़नवीस की अध्यक्षता में पूना में पेशवा का 'हज़ूर दफ्तर' रहता था, जिसमें २०० कारकुन काम करते थे। इसमें सभी विषयों के कागजात रहते थे। आजकल यह दफ्तर पूना के इनाम कमांशन के अधिकार में है। 'डेकन वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसायटी' की ओर से इन कागजात की कई एक जिल्दें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें सेना, जहाजी बेड़ा, जमीन की पैमायश, गाँवों के झगड़े, कर्मचारियों और जागीरदारों के दुराचार तथा छलकपट, पुलिस और जेलकी व्यवस्था, सरकारी डाक, वैद्यक्रिया, शस्त्रक्रिया, ऋण, टकसाल, व्यापार, सामाजिक जीवन, बाजारदर तथा मजदूरी और उत्सव तथा अन्य बहुत सी बातों का बड़ा रोचक वर्णन दिया हुआ है।

नाना फड़नवीस के समय तक सब व्यवस्था अच्छे ढँग से चलती रही। पेशवा माधवराव बल्लाल के जीवनकाल में बड़े-बड़े सरदारों को भी इसके

विरुद्ध जाने का साहस न होता था। सिन्धिया और होलकर ने कई इलाकों से जबरदस्ती 'घात-दाना' वसूल कर लिया था, जिसके लिए उनको पेशवा की डाट सुननी पड़ी थी। परन्तु केन्द्रीय सरकार के निर्बल होने पर यह व्यवस्था भी त्रिगड़ गई। बाजीराव के समय में तो किसी की मुनवाई ही न होती थी। घासीराम कोतवाल का अत्याचार प्रसिद्ध था। दूसरे यह व्यवस्था केवल महाराष्ट्र देश के लिए ही थी। मराठों ने जो और बहुत सा देश जीत लिया था, वहाँ न तो किसी प्रकार का सुधार ही किया गया था और न प्रजा के हित की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया था। उन प्रांतों से केवल रुपया वसूल किया जाता था। यही कारण था कि उन्होंने अन्त में मराठों का साथ नहीं दिया।

इस शासन-व्यवस्था में बहुत से दोष भी थे। अधिकारी स्वेच्छाचारी होते थे, उनके निरीक्षण का अधिक प्रबन्ध न रहता था। आजकल की बहुत-सी सुविधाएँ उन दिनों न थीं। यह सब होते हुए भी यह व्यवस्था 'निन्दनीय' नहीं कही जा सकती, जैसा कि मुख्य अँगरेज इतिहासकारों का मत है। इसमें जो दोष थे, उनसे तत्कालीन यूरोप के बहुत से राज्य भी मुक्त न थे।

मराठों का पतन—पेशवाओं के अन्त के साथ ही साथ मराठों का भी वास्तव में पतन हो गया। अन्य मराठा राज्य अँगरेजों के अधीन हो गये। गायकवाड़, होलकर और सिन्धिया के राज्य अब भी हैं। भोसला का बचा-खुचा राज्य डलहौजी के समय में हड़प कर लिया गया। युद्ध में हारने के कुछ कारणों का वर्णन पहले किया जा चुका है, पर सबसे मुख्य बात इस समय आपस की फूट थी। शिवाजी के जीवनकाल में देशभक्ति का जो भाव उदय हुआ था, वह अब अस्त हो चुका था। पेशवाओं के समय में मराठों का साम्राज्य जागीरों का एक समूह बन गया था, जिसको एकता में बाँधनेवाला कोई दृढ़ बन्धन न था। नाना फड़नवीस के साथ नीति विदा हो गई थी। इस समय कोई योग्य नेता न रह गया था। संसार में क्या हो रहा है, इसका कुछ भी ज्ञान तत्कालीन मराठा राजाओं को न था।

अंगरेजों का राज्य स्थापित हो जाने से भारतवर्ष का सम्बन्ध यूरोप की राजनीति से हो गया था। उसी की चाल के साथ-साथ भारतवर्ष में अंगरेजों की नीति बदलती थी। अमरीका स्वतंत्र हो गया था। यूरोप में इन दिनों फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का जोर था। परन्तु मराठा राजाओं को इनकी खबर तक न थी। भूगोल और इतिहास तो वे जानते ही न थे। इस सम्बन्ध में दूतों को पेरिस भेजकर टीपू ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। शिवाजी के समय में मराठों के जीवन में जो सादगी थी, वह भी इस समय लुप्त हो गई थी और उसके स्थान पर कई एक दुर्गुण आ गये थे। अंगरेजों की गूढ़ नीति, उनका रहन-सहन, उनकी सभी बातें मराठों के लिए नई थीं, जिनको जानने का उन्होंने कभी प्रयत्न तक न किया था। एक ओर आपस की फूट, यह अज्ञानता, उदासीनता तथा शिथिलता थी और दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता, अद्भुत संगठन, सब बातों के जानने की उत्सुकता, कुटिल नीति, अदम्य उत्साह तथा बुद्धि की प्रखरता थी। ऐसी दशा में परिणाम वही हो सकता था, जो वास्तव में हुआ।

अवध के शाह—सन् १८१४ में नवाब सादतअली की मृत्यु हो गई। हेबर लिखता है कि वह एक योग्य शासक था, उसने सीमाओं को सुरक्षित बना दिया, राज्य की आमदनी बढ़ा दी और वह खजाने में बहुत सा धन छोड़ गया। वजीर हकीम मेहदी ने शासन में कई एक सुधार किये। उसके समय में प्रजा सन्तुष्ट थी। वह अंगरेजों को शासन में बहुत हस्तक्षेप न करने देता था। उसके बाद उसका लड़का गाजीउद्दीन गद्दी पर बैठा। इन दिनों कर्नल वेली रेजीडेंट था। वह नवाब की हर एक बात में हस्तक्षेप करता था। उसके विषय में स्वयं लार्ड हेस्टिंग्स लिखता है कि “वह छोटी-छोटी बातों में भी नवाब को दबाता था, बिना सूचना दिये हुए उसके महल में घुस पड़ता था, अपने आदमियों को बड़ी-बड़ी तनख्वाहें दिलवाता था, जो नवाब की सब बातों का उसको पता देते थे और सबसे भारी बात तो यह थी कि वह नवाब के साथ सदा शासक की भाषा का प्रयोग करता था, जिससे प्रजा और घरवालों की दृष्टि में नवाब का बड़ा अपमान होता

था”।^१ गोरखा युद्ध के समय पर नवाब ने कम्पनी को दो करोड़ रुपया कर्ज दिया था। शासन में अँगरेजों के हस्तक्षेप से प्रजा में भी बहुत अशान्ति फैल रही थी। प्राचीन रीति-रिवाजों का नये प्रबन्ध में कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। इन सब बातों का विचार करके गवर्नर-जनरल ने कर्नल बेली को रेजीडेंट के पद से हटा दिया और शासन में नवाब को कुछ स्वतंत्रता भी दे दी।

इस समय तक अवध के नवाब मुगल सम्राट् के वजीर कहलाते थे, परन्तु अब लार्ड हेस्टिंग्स की सलाह से गाजीउद्दीन हैदर ने ‘अवध के शाह’ की उपाधि धारण की। इससे अवध का कम्पनी के साथ जो सम्बन्ध था, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भोले नवाब को प्रसन्न करने के लिए यह केवल एक खेलवाड़ ही नहीं था, बल्कि लार्ड हेस्टिंग्स की इसमें भी नीति थी। वह नवाब के इस कार्य से मुसलमानों में फूट फैलाना चाहता था। इसको उसने अपने एक पत्र में स्वयं स्वीकार किया है।^२ इस समय तक उत्तरी भारत के मुसलमानों में दिल्ली सम्राट् के नाम का सम्मान था, परन्तु अब अवध के मुसलमानों का दल ही अलग हो गया। साथ ही साथ सबको यह भी दिखला दिया गया कि कम्पनी को भी बादशाह बनाने का अधिकार है। इस तरह मुगल सम्राट् का खुले तौर पर अपमान किया गया। अब दीवानी के दिन व्यतीत हो चुके थे, वह कम्पनी का वेतनभोगी था, फिर उसके नाम के मान रखने की आवश्यकता ही क्या थी ?

गोरखा युद्ध के समय पर जो रुपया लिया गया था, उसके बदले में खैरी-गढ़ और तराई का कुछ भाग अवध को दिया गया। सन् १८२५ में उससे डेढ़ करोड़ रुपया फिर कर्ज लिया गया। इस तरह अवध का खजाना कम्पनी की सहायता के लिए खाली किया जाता था और कुप्रबन्ध का दोष शासकों के मत्थे मढ़ा जाता था। गाजीउद्दीन तालुकदारों की मालगुजारी बढ़ाना

१ लार्ड हेस्टिंग्स, प्राइवेट जर्नल, पृ० ९७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ५३६।

चाहता था, यह उसका अन्याय बतलाया जाता था। पादरी हेबर लिखता है कि गाजीउद्दीन बराबर कहा करता था कि कम्पनी की मित्रता पर भरोसा करना ही मेरी सब कठिनाइयों का मुख्य कारण है। उस पर विश्वास करके मैंने अपनी सेना हटा दी, इसीलिए अब मुझे सैनिक सहायता के लिए कम्पनी को इतना रुपया देना पड़ता है। यदि यह रुपया बच जाता, तो मैं अपनी प्रजा का कुछ हित कर सकता।^१ गाजीउद्दीन अवध का अन्तिम शासक था, जिसको प्रजा का कुछ ध्यान था। उसके बाद भोग-विलास ही वहाँ के शासकों का मुख्य काम रह गया।

शासन-प्रबन्ध—लार्ड हेस्टिंग्स के समय में शासन में भी कुछ परिवर्तन किये गये। इन दिनों अँगरेजी अदालतें अन्याय और अत्याचार के लिए बदनाम हो रही थीं। एलफिंस्टन लिखता है कि अदालतों के भय से लोग गाँव छोड़कर भाग जाते थे।^२ जिनका मुख्य काम न्याय था, उनसे इतना भय हो रहा था। अदालतों के सुधारने का कुछ प्रबन्ध किया गया और उनकी संख्या बढ़ा दी गई। इनमें कुछ हिन्दुस्तानी भी रखे गये। कर्न-वालिस के समय से कलेक्टर के हाथ में केवल माल-विभाग ही रह गया था, अब उसको न्याय के अधिकार फिर से दिये गये। उड़ीसा में कर इतना बढ़ा हुआ था कि बड़े उपद्रव हो रहे थे। उसको शान्त करने के लिए एक कमिश्नर रखा गया, जिसको जनता के रीति-रिवाजों का ध्यान रखने की ताकीद की गई। आगरा प्रान्त में नया बन्दोबस्त करने के लिए फिर से पैमायश शुरू की गई। लार्ड हेस्टिंग्स के सौभाग्य से उसको बड़े योग्य अफसर मिल गये थे, जिनकी सहायता से वह शान्ति स्थापित कर सका।

सर टामस मनरो—यह मदरास का गवर्नर था। वेलेजली के समय में टीपू से जो राज्य छीना गया था, उसका बन्दोबस्त इसी ने किया

^१ हेबर, नैरेटिव ऑफ ए जरनल, जि० २, पृ० ८६-८७।

^२ कोलब्रुक, लाइफ ऑफ एलफिंस्टन, जि० २, पृ० १३१।

था। यह लार्ड कार्नवालिस के जमोन्दारी बन्दोबस्त का पक्षपाती न था। इसने मदरास में रैयतवारी बन्दोबस्त ही जारी रखा। इसका मत था कि प्राचीन समय से भारत-वर्ष में यही बन्दोबस्त था। इसके अनुसार किसानों से सरकारी तहसीलदारों द्वारा लगान वसूल किया जाता है। जब तक किसान बराबर लगान अदा करता रहता है, वह बेदखल नहीं किया जा सकता। अपने खेतों को रहन-बय करने का भी उसको कुछ अधिकार रहता है। छोटे-बड़े सभी किसानों को एक ही तरह के अधिकार प्राप्त रहते हैं। इस बन्दोबस्त से तभी लाभ हो सकता है, जब तहसीलदारों को किसानों के हित का बराबर



दामस मनरो

ध्यान रहे, जिसकी सदा आशा नहीं की जा सकती। यह दोष मनरो के समय में ही दिखाई देने लगा था और उसको कई एक तहसीलदार तथा कलेक्टरों की अच्छी तरह से खबर लेनी पड़ी थी। मनरो ने जो लगान बाँधा था, वह भी बहुत ज्यादा था। सन् १८५५ में उसके प्रबन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन किये गये, तब से मदरास प्रान्त में यह ढंग अच्छी तरह चल रहा है। मनरो पंचायतों का बड़ा पक्षपाती था। उसके बहुत अनुरोध करने पर मदरास में जजों के साथ पंचायतों को बिठलाने का प्रबन्ध किया गया। परन्तु 'जूरी' के ढंग की पंचायतों का देश में रिवाज न था, इसलिए विशेष सफलता न हुई।

हिन्दुस्तानियों को बड़े-बड़े ओहदे न देना उसकी राय में बड़ी भूल थी। वह लिखता है कि जब तक हिन्दुस्तानियों को प्रतिष्ठित पद देकर उनको उनकी जिम्मेदारी का ध्यान नहीं दिलाया जायगा, तब तक उनके चरित्र में सुधार करने की आशा व्यर्थ है। ऐसा न होने ही के कारण अँगरेजों के अधीन प्रान्तों में रहनेवाले हिन्दुस्तानी “सबसे अधिक गिरे हुए हैं।” केवल भारतवर्ष के ही लोग घूस नहीं खाते हैं, प्रत्युत सब देशों का यही हाल है। उस शिक्षा के लिए उत्साह ही क्या हो सकता है, जिसके प्राप्त करने पर केवल लेखक का पद मिल सकता है? उसका कहना था कि यदि इंग्लैंड में इसी ढंग से कोई विदेशी शासन करने लगे, तो थोड़े ही काल में वहाँ की भी वही दशा हो जायगी, जो भारत की है। केवल अँगरेजों द्वारा शासन करना नीति और न्याय दोनों के विरुद्ध है। दासता में रहने से राष्ट्रीयता के गुणों का ह्रास हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य केवल सार्वजनिक जीवन ही में नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी गिर जाता है। इससे तो यही अच्छा होता कि अँगरेज भारतवर्ष को एक-दम छोड़ देते। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो हिन्दुस्तानियों को शासन में पूरा हिस्सा देना चाहिए।^१

माउंट स्टुअर्ट एल्फिंस्टन—पेशवा से जो राज्य छीना गया, उसको पहले बंगाल सरकार के अधीन रखने का विचार था, पर अन्त में वह बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया और एल्फिंस्टन, जो पेशवा के यहाँ रेजीडेंट था, बम्बई का गवर्नर बनाया गया। वह अच्छी तरह जानता था कि जनता के लिए पूना का प्रभुत्व भूलना सहज नहीं है, इसीलिए वह बराबर उसके भावों का ध्यान रखता था। उसने वहाँ एक-दम से कोई नया प्रबन्ध नहीं किया। सरदारों के न्यायाधिकार छीने नहीं गये, कलेक्टरों को दीवानी मामलात में यथासम्भव पंचायतों द्वारा निर्णय कराने का आदेश दिया गया। यह प्रबन्ध अँगरेजी अदालतों को पसन्द न था। सन् १८२३ में

बम्बई में 'सुप्रीमकोर्ट' स्थापित हो गया था, वह अपनी अधिकार-सीमा बढ़ाना चाहता था। इसलिए थोड़े समय में अँगरेजी अदालतें खुल गईं और महाराष्ट्र देश से भी पचायतों का लोप हो गया। माल-गुजारी के लिए बाजीराव का चलाया हुआ ठेकेदारी का दंग उठा दिया गया और मदरास की तरह यहाँ भी, कुछ फेर-फार के साथ, रैयतवारी बन्दोबस्त किया गया। बाजीराव के पहले भी ऐसा ही प्रबन्ध था। बन्दोबस्त को स्थायी करने के लिए सन् १८२५ में पैमायश प्रारम्भ की गई। पट्टेजों से पुलिस के अधिकार ले लिये गये और कलेक्टर की अध्यक्षता में सवार तथा पैदल पुलिस रखी गई। इतिहासकार किंकेड लिखता है कि बहुत दिनों तक इस नई पुलिस के अफसरों को वह योग्यता प्राप्त नहीं हुई, जो पेशवाओं के समय में प्राप्त थी। एल-फिंस्टन को फारसी का अच्छा ज्ञान था। उसने भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है।

सर जान मालकम—एलफिंस्टन के बाद सर जान मालकम बम्बई का गवर्नर हुआ। यह भी बहुत दिनों से भारतवर्ष में काम करता था। लार्ड मिंटो के समय में यह फारस भी गया था। देशी राजाओं के स्वभाव को यह खूब पहचानता था और उनसे सहज ही में अपना मतलब निकाल लेता था। बाजीराव को इस पर बड़ा विश्वास था। इसने भी भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है। मध्य भारत पर भी इसका एक अच्छा ग्रन्थ है, जिसमें बहुत सी तत्कालीन बातों का बड़ा रोचक वर्णन है।

कर्नल जेम्स टाड—राजपूताना के सम्बन्ध में टाड साहब का नाम प्रसिद्ध है। इसी की सहायता से राजपूत राजाओं के साथ सन्धियाँ हुई थीं। मराठों के विरुद्ध इसने राजपूतों को अच्छी तरह भड़काया था। राजपूतों के लिए इसके हृदय में सच्चा आदर था। इसने बड़े परिश्रम और खोज के साथ राजपूताने के मुख्य राज्यों का इतिहास लिखा है, जो "टाड राज-

स्थान' के नाम से प्रसिद्ध है। बिना इस ग्रन्थ के हमको राजपूतों की बहुत सी बातों का पता ही न चलता।



जैन पंडित और कर्नल टाड

लार्ड हेस्टिंग्स का इस्तीफा—हैदराबाद में पामर कम्पनी महा-जनी का काम करती थी। निजाम पर उसका बहुत कर्जा हो गया था। धीरे धीरे कर्नाटक के नवाबवाला हाल निजाम का भी हो रहा था। इस कम्पनी

के एक हिस्सेदार से हेस्टिंग्स का भी कुछ सम्बन्ध था। कहा जाता है कि इसी लिए वह इस मामले में चुप रहता था। संचालकों को यह बात पसन्द न आई। इस पर जनवरी सन् १८२३ में उसने इस्तीफा दे दिया। नौ वर्ष के शासन-काल में उसने बहुत कुछ किया। भारतवर्ष की उत्तरी सीमा को उसने हिमालय तक पहुँचा दिया, पिंडारियों की बला को दबा दिया और मराठा-मंडल को तोड़-फोड़कर उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया। कम्पनी के राज्य में उसने बहुत सी भूमि बढ़ा दी। इन सब कामों के लिए संचालकों से उसको ८० हजार पौंड मिले। उसकी तुलना वारेन हेस्टिंग्स या वेलेजली से नहीं की जा सकती। उसमें न उतनी चतुरता ही थी और न उतनी योग्यता ही। शासन में उसको जो कुछ सफलता हुई, वह योग्य अफसरों के कारण हुई। यह बात अवश्य है कि भारतवर्ष में उसने ब्रिटिश सरकार को “वास्तव में सर्वोच्च” बना दिया, जैसा कि उसका उद्देश्य था।

विलायती माल—इस समय तक भारतवर्ष केवल ‘कृषिप्रधान’ देश न बना था। इस समय की दशा का वर्णन करते हुए मनरो का कहना था कि सभी आवश्यक वस्तुएँ यूरोप की अपेक्षा भारतवर्ष में कहीं सस्ती और अच्छी बनती हैं। इनमें सूती तथा रेशमी कपड़े, चमड़ा, कागज, लोहे तथा पीतल के बर्तन और खेती के औजार मुख्य हैं। मोटे ऊनी कपड़े, बहुत अच्छे तो नहीं, पर सस्ते अवश्य होते हैं। ब्रिटिश कम्बल, हमारे कम्बलों से कहीं अधिक गरम और टिकाऊ होते हैं। भारतवर्ष के लोग वैसे ही व्यापारी हैं, जैसे कि हम लोग। उनके जितने पवित्र स्थान और तीर्थ हैं, वास्तव में वे मेले हैं, जहाँ सब तरह का माल मिलता है। भारतवर्ष में धर्म और व्यापार एक साथ चलते हैं। व्यापार की ओर हिन्दुस्तानियों की प्रवृत्ति देखकर ऐसा जान पड़ता है कि अँगरेजों को वहाँ का व्यापार छोड़ना पड़ेगा। एक बात यह भी है कि हिन्दुस्तानियों का रहन-सहन इतना सादा और कम-खर्च है कि कोई यूरोपियन उनका मुकाबला नहीं कर सकता।^१

सन् १८१२ में पार्लियामेंट की कमेटी के सामने कहा गया था कि यदि भारतवर्ष का माल इंग्लैंड में बेचा जाय तो वहाँ के बने हुए माल से ५० से ६० सैकड़ा कमीशन और लाभ के साथ बिक सकता है। मिलवर्न के 'ओरियंटल कामर्स' नामक ग्रन्थ में भी इस समय की व्यापारिक स्थिति का अच्छा वर्णन मिलता है। डाक्टर बुकानन के 'जर्नल' में दिये हुए विवरण से पता लगता है कि केवल पटना, शाहाबाद, भागलपुर और गोरखपुर के जिलों में, जिनकी आबादी ८३९३१५४ थी, ८१५५२६ लोग कताई का काम करते थे। साल भर में ५३१८१२७ रुपये का सूत काता जाता था। इन जिलों में ४३६९३ करघे चलते थे, जिनसे ५४२७९०१ रुपये साल का कपड़ा बनता था।^१ दक्षिण भारत की भी यही दशा थी। मैसूर में ब्राह्मणों को छोड़कर सभी जाति की स्त्रियाँ कताई का काम करती थीं। केवल मदरास से ५३ लाख रुपये से अधिक का माल बाहर जाता था।^२ इस तरह कताई-बुनाई भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय था।

इस व्यवसाय को चौपट करने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। विदेशीय व्यापार को अपने हाथ में न रखकर हिन्दुस्तानियों ने बड़ी भूल की थी। इंग्लैंड ने इससे पूरा लाभ उठाया। अब वहाँ भारत से जानेवाले माल पर ७० से ८० सैकड़ा तक चुंगी बढ़ा दी गई और भारत में विलायती माल पर एकदम से चुंगी घटा दी गई। विल्सन लिखता है कि यदि ऐसा न किया जाता तो भाफ के जोर से भी पेसली और मैनचेस्टर के मिल न चल पाते। भारतवर्ष में भी विलायती कपड़े के प्रचार करने का भरपूर प्रयत्न किया गया। देश की अन्य कलाओं को भी नष्ट करने में कोई कसर न रखी गई। वेलेजली के समय तक बंगाल में जहाज खूब बनते थे।^३ बम्बई के बने हुए जहाज लन्दन या लिवरपूल के जहाजों से किसी तरह घटिया न होते थे।^४ अब इस बात का

१ पुन्ताम्बेकर और वरदाचारी, हाथ को कताई-बुनाई, (हिन्दी) पृ० ८५।

२ बुकानन, जर्नी फॉम मदरास थ्रू मैसूर, कनाडा एंड मञ्जारा, सन् १८०७।

३ वेलेजली, डेसपैचेज, स० ओयन, पृ० ७०५।

४ हेबर, जर्नल, जि० २, पृ० ३८२।

प्रयत्न किया गया कि भारतीय जहाजों पर अँगरेज व्यापारी माल न लादा करें। इससे इस कला को भी बढ़ा धक्का पहुँचा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भारत की मुख्य कलाएँ नष्ट होने लगीं और विलायती माल की खपत बढ़ने लगी। बने हुए माल के बजाय कच्चा माल अधिक बाहर जाने लगा और भारतवर्ष 'औद्योगिक' से 'कृषिप्रधान' देश बनने लगा।

आर्थिक जीवन—इंग्लैंड की नीति का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा विकट प्रभाव पड़ा। कपड़े की कला से बहुतों का निर्वाह होता था। औरत मर्द सभी इसमें काम करते थे। खेती के साथ-साथ यह काम हो सकता था। कताई से स्त्रियों को आजकल की दर से दस-तीस रुपया साल तक मिल जाता था। इसी तरह प्रति कर्घा २३ से ५३ रुपया तक लाभ होता था। पूरी मेहनत करनेवाले जुलाहे तो साल भर में आजकल की दर से पाँच सौ रुपये से भी अधिक कमा लेते थे।^१ उन दिनों सब चीजों का भाव भी सस्ता था। उस समय की दर से गेहूँ और चावल रुपये का मन भर मिलता था।^२ बुकानन लिखता है कि बहुत अच्छे ढँग से रहनेवाले पाँच आदमियों के कुटुम्ब के खाना-खुराक में ३३५ और कपड़े में २१० रुपया साल खर्च होता था। सबसे गरीब लोगों के इतने बड़े कुटुम्ब का खाने के लिए २१ और पहनने के लिए अढ़ाई रुपये में ही काम चल जाता था।^३ परन्तु एक ओर तो कपड़े का व्यापार नष्ट होने लगा और दूसरी ओर लगान ऐसा बढ़ा दिया गया कि खेती में भी अधिक लाभ न रह गया। फल यह हुआ कि बेचारी जनता हर तरह से पिसने लगी। बुकानन का कहना है कि गोरखपुर की दशा नवाबों के समय से भी गई बीती थी। जहाँ पहले खेती होती थी, वहाँ जमीन ऊसर पड़ी थी। मद्रास का इलाका, जो पचास वर्ष

१ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८६-८७।

२ मिलबर्न, ओरियंटल कामर्स, सन् १८१३, जि० २, पृ० १५७।

३ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८९।

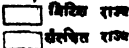
से कम्पनी के अधिकार में था, निर्धन हो रहा था। बहुत सी जमीन बिल्कुल जंगल हो गई थी। सिंचाई के लिए नहरों और तालाबों की मरम्मत का कुछ प्रबन्ध न था। कम्पनी के अधिकार में जो देश था, उससे मैसूर की दशा कहीं अच्छी थी।

राजनैतिक उदासीनता—इस समय के भी हिन्दुस्तानियों के सम्बन्ध में डाक्टर मरसर की राय थी कि वे स्वभाव में नम्र, आचार-व्यवहार में शिष्ट और घर के जीवन में बड़े स्नेही होते हैं। सर जान मालकम का कहना था कि उत्तरी भारत के हिन्दू वीर, उदार और दयालु होते हैं। उनमें सत्य और साहस की कमी नहीं है। मनरो का तो मत था कि खेती, दस्तकारी, गाँवों में शिक्षा-प्रबन्ध, आतिथ्य-सत्कार, दानशीलता और स्त्रियों के प्रति आदर में अँगरेज उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।^१ स्लीमैन ने भी माना है कि इस समय तक हिन्दुस्तानियों ने “श्रूठ के मूल्य का अनुभव न किया था।”^२ इन गुणों के होते हुए भी भारतवासियों के पराधीनता में पड़ने का एक मुख्य कारण उनकी राजनैतिक उदासीनता थी। गाँवों के प्राचीन संगठन में लाभ के साथ एक यह बड़ा दोष था कि उससे राष्ट्रीय भावों की जागृति नहीं होती थी। भारत में इतने राजनैतिक उथल-पुथल हो रहे थे, पर जनता का उस ओर ध्यान भी न जाता था। अँगरेजी शासन का प्रभाव देश के सारे जीवन पर पड़ रहा था। ऐसी दशा में राजनैतिक उदासीनता से बड़ी हानि हो रही थी।

१ मिनिट्स ऑफ एवार्डेन्स, सन् १८१३, दस, पृ० २५८-५९.

२ स्लीमैन, रेग्बल्स ऐंड रिकलेक्शन्स, जि० २, पृ० २०।

सन् १८२३ में भारत



परिच्छेद १०

सुधार और शिक्षा

जान ऐडम और अखबार—लार्ड हेस्टिंग्स के चले जाने पर, सात महीने तक, कौंसिल का बड़ा मेम्बर जान ऐडम गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। इसने 'कलकत्ता जनरल' नामक अँगरेजी पत्र के सम्पादक को, सरकारी अफसरों की तीव्र आलोचना करने के कारण, पकड़वा कर जबर-दस्ती इंग्लैंड भेजवा दिया। भारतवर्ष में सबसे पहला अँगरेजी पत्र सन् १७८० में निकला था। वारेन हेस्टिंग्स की स्त्री पर आक्षेप करने के कारण इसके सम्पादक को बहुत दिनों तक जेल में रहना पड़ा था। लार्ड कार्न-वालिस के समय में भी एक सम्पादक को देश-निष्कासन का दण्ड दिया गया था। लार्ड वेलेजली और मिंटो की भी समाचारपत्रों पर बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी। लार्ड हेस्टिंग्स सरकारी कार्यों की विचारपूर्ण आलोचना के विरुद्ध न था, इसी लिए उसके समय में समाचारपत्रों को कुछ स्वतंत्रता मिल गई थी। सन् १८१८ से 'समाचार दर्पण' नाम का एक बँगला साप्ताहिक पत्र भी निकलने लगा था। इस समय तक भारतवासियों का छापाखाना की ओर ध्यान ही न गया था। पहले-पहल पादरियों ने कुछ पुस्तकें छपवाई थीं। 'समाचार दर्पण' भी मार्शमैन नाम के एक पादरी का ही निकाला हुआ था। जान ऐडम को लार्ड हेस्टिंग्स की नीति पसन्द न थी। उसने यह नियम बना दिया कि बिना सरकारी लाईसेंस लिये हुए किसी को अखबार अछापने का अधिकार नहीं है।

लार्ड एमहर्स्ट—अगस्त सन् १८२३ में इंग्लैंड से लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल नियुक्त होकर आ गया। चीन में यह कुछ समय तक दूत रह

चुका था। इतने दिनों की लड़ाई से संचालकों की नीति में फिर परिवर्तन हो रहा था। उनका कोई निश्चित सिद्धान्त न था, उन्हें केवल रुपये की चिन्ता



एमहर्स्ट

रहती थी। यदि युद्ध से बराबर लाभ होता रहे, तो उसमें कोई दोष न था, पर ज्यों ही खर्च बढ़ने लगता था, उसको बन्द कर देने की पुकार मच जाती थी। लार्ड एमहर्स्ट से यह आशा थी कि उसके समय में कोई युद्ध न होगा, पर उसकी नीति ने कम्पनी को ऐसे युद्ध में भिड़ा दिया, जिसका खर्च गत पिंडारी तथा मराठा युद्धों से कई गुना अधिक था, जो बराबर दो वर्ष तक चलता रहा और जिसमें विजय होने पर भी ब्रिटिश सरकार की बहुत कुछ हानि हुई।

बर्मा का राज्य—जिस समय अंगरेज बंगाल में लड़ रहे थे, उन्हीं दिनों, सन् १७६० के लगभग, अलेग्सा नामक एक सरदार ने बर्मा में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वह पहले एक साधारण मनुष्य था, परन्तु उसने थोड़े ही दिनों में अपनी बुद्धि और बाहु-बल से सारे बर्मा को एक बना दिया। वह अधिकतर आवा नगर में रहता था। उसके वंशजों ने राज्य का और भी अधिक विस्तार किया। पहले पीगू पर अधिकार करके सन् १७६६ में स्याम राज्य से टेनासरिम छीन लिया गया। सन् १७८४ में आराकान भी जीत लिया गया। यह पहले एक स्वतंत्र राज्य था और इसकी सीमा पश्चिम में ढाका तक थी। सन् १८१३ में बर्मा के राजा ने मनीपुर पर अधिकार कर लिया और सन् १८२२ में उसने आसाम जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह बर्मा का राज्य बंगाल की पूर्वोत्तर सीमा तक पहुँच गया।

पहला युद्ध—यह सीमा स्पष्ट न होने के कारण दोनों राज्यों में बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। अराकान के बहुत से निवासी भागकर अंगरेजों के राज्य में चटगाँव के समीप बस गये थे। ये लोग बराबर अराकान की सीमा पर लूट-मार किया करते थे। इनके एक सरदार ने इन दिनों बड़ा ऊधम मचा रखा था। अराकान का बर्मी हाकिम इन लोगों को निकाल बाहर करने के लिए अंगरेजों से बराबर अनुरोध करता था, परन्तु ये लोग उसकी एक भी न सुनते थे और इधर-उधर की बातों ही में टाल करते थे। उसके शब्दों में इस स्थान पर “आग और बारूद” दोनों एकत्र हो रहे थे। समझौते से यह प्रश्न हल होते हुए न देखकर बर्मियों ने चटगाँव के निकट शाहपुरी नाम के टापू पर अधिकार कर लिया। उनका कहना था कि यह टापू बर्मा राज्य का है। चटगाँव और ढाका पर भी वे अपना हक दिखलाने लगे; क्योंकि किसी समय ये स्थान अराकान राज्य में शामिल थे।

दूसरी ओर असम में भी झगड़े चल रहे थे। वहाँ कई एक छोटे-छोटे राज्य थे, जो आपस में लड़ा करते थे। बर्मा के आधिपत्य से वे सन्तुष्ट न थे। मनीपुर के राज्य का सन् १७६२ से अंगरेजों के साथ सम्बन्ध था। दो तीन और राजा भी अंगरेजों की सहायता से बर्मियों को निकालना चाहते थे। इसके लिए अंगरेजों की कुछ सेना उधर पहुँच चुकी थी और कचार के राजा से सन्धि की बातचीत हो रही थी। बर्मियों की सेना भी दो तरफ से आगे बढ़ रही थी। विक्रमपुर के निकट दोनों की मुठभेड़ हो गई; जिसमें बर्मी ऐसी वीरता से लड़े कि अंगरेजी सिपाहियों को पीछे हटना पड़ा।^१ इस पर फरवरी सन् १८२४ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि बर्मियों ने अंगरेजों पर कोई आक्रमण नहीं किया था। वे कचार की तरफ बढ़ रहे थे, जिसके साथ अंगरेजों की इस समय तक सन्धि न हुई थी।

बर्मा के राजा ने महाबन्दूल की अभ्यक्षता में एक सेना बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भी भेजी। रामू के निकट अंगरेजी सेना के साथ

इसका युद्ध हुआ, जिसमें कप्तान नोटन मारा गया और अँगरेजी सेना भाग निकली। इस पर कलकत्ते में हलचल मच गयी और अँगरेजों को बड़ा भय होने लगा। परन्तु इतने ही में समुद्र के मार्ग से एक अँगरेजी सेना रंगून पहुँच गई। इस पर महाबन्दूला वापस बुला लिया गया। गवर्नर-जनरल को बाँध ले जाने के लिए वह सोने की जंजीरें लाया था, लेकिन उसको खाली हाथ ही लौटना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक दृष्टि से यह भूल की गई। उधर आसाम में भी कूटनीति से काम लिया गया और देशी राजाओं को अपने पक्ष में मिलाकर वर्मियों को वहाँ से हटाया गया।

बारिकपुर का विद्रोह—इस युद्ध के बीच ही में कलकत्ता के निकट बारिकपुर में एक बड़ा उपद्रव हो गया। यहाँ पर हिन्दुस्तानी सेना की एक बड़ी छावनी थी। उन दिनों बंगाल के हिन्दुस्तानी सैनिकों को कई एक शिकायतें थीं। बम्बई और मदरास के सिपाहियों से उनको भत्ता कम मिलता था। गोरों के लिए तम्बू लग जाते थे और उनका सामान लूट ले चलने का



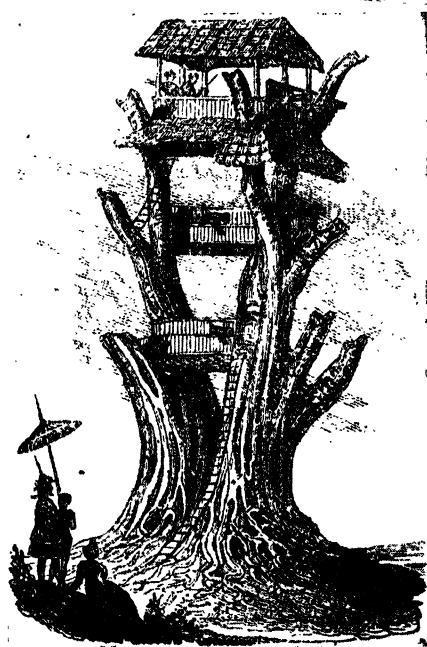
बारिकपुर की कोठी

सब प्रबन्ध कर दिया जाता था, पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों के कष्ट का कुछ भी ध्यान न रखा जाता था। रहने के लिए झोपड़े तक उन्हें स्वयं ही बनाने पड़ते

थे। बर्मा में युद्ध छिड़ने पर समुद्र के मार्ग से बंगाल की सेना को रंगून भेजना निश्चित किया गया था। इस सेना में बहुत से कुलीन थे, जो समुद्रयात्रा निषिद्ध मानते थे। कुछ लोग अलग-अलग अपने बर्तन ले जाना चाहते थे, जिनके दोने के लिए अफसर कोई प्रबन्ध नहीं कर रहे थे। उनकी इन सब शिकायतों पर कुछ भी ध्यान न दिया गया और कहा गया कि वे आज्ञा न मानकर विद्रोह करना चाहते हैं। कलकत्ता से गोरी सेना बुलाकर उनको घेर लिया गया और पहली नवम्बर सन् १८२४ को कवायद करने से इनकार करने पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई। इसमें बहुत से सिपाही मारे गये। कई एक नेताओं को फाँसी दी गई और बहुतों को जेल में रखकर सड़क पीटने का काम दिया गया। समझाने-बुझाने से ही यह उपद्रव शान्त हो सकता था। सिपाहियों की शिकायतों में बहुत कुछ सत्यता थी। किसी तरह की हानि पहुँचाना उनका उद्देश्य न था। पास की ही कोठी में लार्ड एमहर्स्ट ठहरा हुआ था। यदि वे लोग चाहते तो उस पर आक्रमण कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनकी जो बन्दूकें मिलीं, वे सब खाली थीं। ऐसी दशा में पहले उन पर गोली चलाना और फिर कठोर दंड देना उचित नहीं कहा जा सकता। अन्य सैनिकों पर भी उसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। बर्मा युद्ध की असफलता और इसका समाचार मिलने पर संचालकों ने एमहर्स्ट को वापस बुलाना निश्चित कर लिया, परन्तु यह पता लगने पर कि इसमें गर्वनर-जनरल का अधिक दोष नहीं था, ऐसा नहीं किया गया।

बर्मा में युद्ध—बंगाल से सेना को रंगून भेजने का विचार छोड़ दिया गया और सर आर्चीबाल्ड कैम्पबेल की अध्यक्षता में मदरास से सेना भेजी गई। इस सेना ने मई महीने में रंगून पर अधिकार कर लिया, परन्तु यहाँ इसको बड़ा कष्ट सहना पड़ा। बर्मियों ने सारा देश उजाड़ कर दिया था। रसद का कोई प्रबन्ध न था, बरसात शुरू हो गई थी, नदियाँ भरी हुई थीं, अँगरेजों को देश का अधिक ज्ञान न था और बीमारी भी फैल रही थी। ऐसी दशा में बहुत दिनों तक अँगरेजी सेना पड़ी रही। इतने में बंगाल से

महाबन्दूल भी आ पहुँचा और अच्छी तरह से युद्ध प्रारम्भ हो गया। रंगून से कुछ दूरी पर इसने अपने पड़ाव को बड़े यत्न से सुरक्षित बना रखा था।



एक अँगरेज लिखता है कि इस सम्बन्ध में उसकी योग्यता किसी वैज्ञानिक इंजीनियर से कम नहीं थी। यहीं पर अचानक गोली लग जानेसे उसकी मृत्यु हो गई। महाबन्दूल बड़ा योग्य और वीर सेन-पति था।^१ यदि वह जीवित रहता तो अँगरेजों के लिए इस युद्ध में विजय पाना सहज नहीं था। इधर अँगरेजी सेना ने अराकान और टेनासरिम पर अधिकार कर लिया। महाबन्दूल के मरने पर कैम्पबेल ने आगे बढ़कर प्रोम नगर भी जीत लिया। इस पर सन्धि की

बर्मियों का जंगी मचान

बातचीत होने लगी।

यांडबू की सन्धि—फरवरी सन् १८२६ को यांडबू नामक स्थान पर सन्धि हो गई। अँगरेजों को आसाम, असकान और टेनासरिम के सूत्रे मिल गये। आसाम में कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य बर्मा के आधिपत्य से स्वतंत्र हो गये। अँगरेजों को लड़ाई का खर्च भी मिला और

बर्मा के राजा ने अपने दरबार में अंगरेज रेजीडेण्ट भी रखना स्वीकार किया।
बर्मियों के हाथ से बहुत-सा समुद्र-तट निकल गया और बंगाल की पूर्वीय



सन्धि-सम्मेलन

सीमा सुरक्षित हो गई। इस युद्ध में बर्मी बड़ी वीरता से लड़े, उनके दूत मराठा राजाओं तक पहुँचना चाहते थे और भारतवासियों के साथ मिलकर

अँगरेजों को निकालना चाहते थे। उनके एक जासूस ने लार्ड एमहर्स्ट तक को चकमा दिया था।^१ परन्तु उनकी सेना सुसंगठित न थी, बारूद किसी काम की न थी, तोपें पुरानी थीं और सीमा पर के राज्य भी उनका साथ न दे रहे थे। इसीलिए अन्त में उनकी हार हुई। इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार की ओर में बड़ी शिथिलता रही। यदि सावधानी से प्रवन्ध किया जाता तो सम्भव था की इतनी क्षति न उठानी पड़ती। इसी युद्ध में हिन्द महासागर में स्टीमरों से पहले-पहल काम लिया गया।

भरतपुर का पतन—लेक की असफलता के समय से भरतपुर का किला अँगरेजों की आँखों में बराबर खटक रहा था। इससे उनकी सैनिक प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात लगा था और लोगों के मन में यह भाव आने लगा था कि इन दुर्गों से अँगरेजों की विशाल शक्ति का भी सामना किया जा सकता है। सन् १८२४ में चार्ल्स मेटकाफ लार्ड हेस्टिंग्स को लिखता है कि “हमारे शत्रुओं को निराश होकर और अपने दुर्गों को, जिनके सुरक्षित होने में उनका पूरा विश्वास है, छोड़कर भागने के लिए अब हर समय गोरे चमड़े और लाल वर्दी का दृश्य काफी नहीं है, जैसा कि पहले था”।^२ इस भाव को दूर करने तथा पिछली लज्जा को भिद्याने के लिए किसी न किसी तरह भरतपुर पर अधिकार करना था। सन् १८२५ में वहाँ जो झगड़ा चला, उसमें इसके लिए अच्छा अवसर मिल गया।

इसी साल अँगरेजों की सलाह से ६ वर्ष का एक बालक भरतपुर की गद्दी पर बिठलाया गया। उसका चचेरा भाई दुर्जनसाल संरक्षक बनना चाहता था; पर अँगरेजों का कहना है कि वह स्वयं गद्दी चाहता था। बालक की रक्षा के लिए अँगरेजों ने भरतपुर पर चढ़ाई कर दी। सन्धि के अनुसार भरतपुर के घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप करने का अँगरेजों को कोई अधिकार न था। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के कई मेम्बरों का पहले यही मत

^१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० ६५।

^२ जान के, सेलेक्शंस फ्रॉम दि पेर्स ऑफ चार्ल्स मेटकाफ, पृ० ८३।

था और आक्टरलोनी, जो सेना लेकर भरतपुर की ओर बढ़ रहा था, वापस बुला लिया गया था। 'गुप्त कमेटी' का भी कहना था कि हमारी शक्ति की वृद्धि से अन्य राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का हमारा अधिकार भी बढ़ गया, ऐसा कभी नहीं माना जा सकता। परन्तु मेटकाफ को दलीलों में पड़कर गवर्नर-जनरल को अपना मत बदलना पड़ा। उसका कहना था कि सन्धियों द्वारा हस्तक्षेप करने का अधिकार है या नहीं, इसका कोई प्रश्न नहीं है। "साधारण शान्ति, नियम और अधिकारों के सर्वोच्च संरक्षक" होने के कारण बालक को गद्दीपर बिठलाये रखना, हमारा कर्तव्य है।^१ इस पर "समझा-बुझाकर" या "बलात्" इस कर्तव्य को पूरा करने की आज्ञा दे दी गई।



भरतपुर का किला

मेटकाफ से, जिसका भरतपुर की पिछली हार के सम्बन्ध में मत दिखलाया जा चुका है, यह आशा करना व्यर्थ था कि वह "समझा-बुझाकर" अपना काम निकालेगा। दिसम्बर सन् १८२५ में २५ हजार सेना के साथ भरतपुर घेर लिया गया। इस बार लार्ड कम्बरमियर सेनापति था। सबसे पहले उस झील पर, जहाँ से किले के चारों ओर की खाई में पानी आता था, अधिकार

^१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० १३७।

कर लिया गया। जनवरी सन् १८२६ में एक सुरंग द्वारा किले में घुसने का मार्ग कर लिया गया। भरतपुर के कुछ सैनिकों ने “घड़ी वीरता और दृढ़ता के साथ रक्षा की, उनमें से कोई भी जीवित न बचा, सभी ने शरण लेने से इनकार किया”।^१ परन्तु अन्त में अँगरेजों की ही विजय हुई। पिछली हार का बदला लेने के लिए किले का कुछ भाग गिरवा दिया गया और नगर तथा जनता को खूब लूटा गया। इस लूट का लगभग ५० लाख रुपया सेना को बाँटा गया। मेटकाफ की राय में भी यह लूट अँगरेजों के लिए अपमानजनक थी और इस विजय के यश पर धब्बा लग गया।^२ दुर्जन-साल कैद करके इलाहाबाद भेज दिया गया और राजा की माता उसकी संरक्षिका बना दी गई।

उत्तरी भारत की यात्रा—लड़ाइयों से निश्चिन्त होकर लार्ड एम-हर्स्ट ने अपने कुटुम्ब सहित उत्तरी भारत की यात्रा की। आगरा में उसकी स्त्री से मिलने के लिए सिन्धिया के घराने की कुछ स्त्रियाँ आईं। उनके लिए स्त्रियों का एक दरबार किया गया। दिल्ली में लार्ड एमहर्स्ट की बादशाह से भेंट हुई। दरबार में सिवा युवराज के और किसी को बैठने की आज्ञा न रहती थी। इस अवसर पर गवर्नर-जनरल को बैठने के लिए कुरसी दी गई। बादशाह के ‘अदाब व अलकाब’ में भी बहुत कमी कर दी गई। पीटर ऑबर लिखता है कि लार्ड एमहर्स्ट ने सम्राट् के प्रति कम्पनी की नाम मात्र अधीनता का भी अन्त कर दिया। दिल्ली से लार्ड एमहर्स्ट शिमला गया। इस समय तक गवर्नर जनरल गर्मियों में पहाड़ों पर न जाते थे, परन्तु अब उनको इसका चस्का लगा गया। उन दिनों शिमला, जो आगे चलकर भारतवर्ष की ग्रीष्मकाल की राजधानी बन गया, एक साधारण स्थान था। इस यात्रा से लौटकर मार्च सन् १८२८ में लार्ड एमहर्स्ट इस्तीफा देकर इंग्लैंड वापस चला गया।

लार्ड एमहर्स्ट के समय में लड़ाइयों का खर्च चलाने के लिए देशी नरेशों से बहुत कर्ज लिया गया। अवध के शाह, सिन्धिया की रानी, बनारस के

१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिराज) पृ० १४४।

२ बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० ३, पृ० १८६।

राजा, नागपुर के भोंसल, यहाँ तक कि सिंहासनच्युत पेशवा भी न छोड़ा गया। लार्ड एमहर्स्ट, इतिहासकार स्मिथ के शब्दों में, गवर्नर-जनरल के उच्च पद के योग्य न था, इस पर उसका नियुक्त करना भूल थे। परन्तु तब भी बर्मा और भरतपुर के युद्ध में विजय के लिए पार्लामेंट की ओर से उसको बचाई दी गई और 'अल' की उपाधि प्रदान की गई।

दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु—सन् १८२७ में दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई। तीस वर्ष तक उसके नाम से भारतवर्ष के

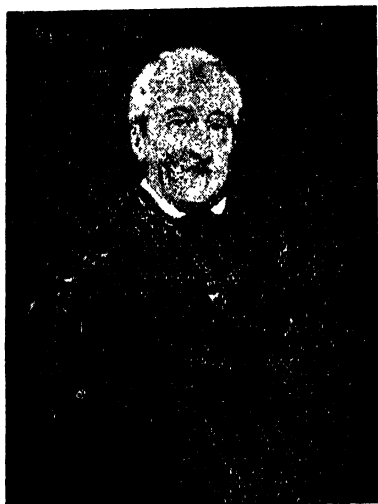
इतिहास में हलचल मची रही। किसी समय सारे उत्तरी भारत में उसका आतंक था, दिल्ली का बादशाह उसके हाथ में था, राज-पूत राजा उसके चौथ देते थे, पेशवा पर उसका पूरा अधिकार था और दोआब, बुँदेखंड तथा मालवा के अधिक भाग में उसका राज्य था। रेजीडेंट मेजर स्टिवार्ट के शब्दों में उसकी समझ में



किसी प्रकार की कमी न थी। उसका स्वभाव नम्र और सीधा था, परन्तु इससे उसके

साहस में सन्देह नहीं किया जा सकता। उदासीनता और आलस्य उसके मुख्य दोष थे।^१ वह कभी अपना मत निश्चित न कर सकता था, यही कारण था कि उसके हाथ से बड़े अच्छे-अच्छे अवसर निकल जाते थे। उसके कोई सन्तान न थी। एक बालक, जिसको बायजाबाई ने गोद लिया, गद्दी पर बिठलाया गया।

लार्ड विलियम बैंटिक—यह पहले मदरास का गवर्नर था और विल्लौर का विद्रोह होने पर वापस बुला लिया गया था। बैंटिक समझता



विलियम बैंटिक

था कि यह उसके साथ बड़ा अभ्यास किया गया, जिसका प्रतिकार उसको गवर्नर-जनरल बनाने से ही हो सकता था। लार्ड हेस्टिंग्स के बाद से ही वह इस पद पर आने का प्रयत्न कर रहा था। उसने इसके लिए स्वयं प्रार्थना-पत्र भी भेजा था। सुधारों की उसने एक योजना भी तैयार की थी, जिसको वह अपने शासन-काल में काम में लाना चाहता था और इस तरह दिखलाना चाहता था कि वह शासन करने के अयोग्य न था। बर्मा के युद्ध से सरकार का खजाना खाली हो

रहा था, संचालक किसी ऐसे व्यक्ति को गवर्नर-जनरल बनाने के लिए चिन्तित थे, जो खर्च में कमी कर सके। इसके अतिरिक्त इन दिनों इंग्लैंड का शासन 'लिवरल दल' के हाथ में था, जिसका बैंटिक सदस्य था। इसलिए अब वह

गवर्नर-जनरल बना दिया गया। जुलाई सन् १८२८ में वह कलकत्ता पहुँचा। तब तक कौंसिल का सदस्य बटरवर्थ बेली गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा।

शासन-सुधार—सबसे पहले आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया गया। इन दिनों खर्च और आमदनी में एक करोड़ रुपया साल का अन्तर पड़ रहा था। सैनिकों को शान्ति के समय में भी आधा भत्ता मिलता था। अन्य विभागों के अफसरों को भी बड़े-बड़े वेतन मिलते थे। संचालकों की आज्ञा से सैनिकों का भत्ता बन्द कर दिया गया, कुछ सेना भी घटा दी गई और अन्य विभागों में भी वेतन कम कर दिया गया। इस पर अंगरेजों में बड़ा असन्तोष फैला और बैंकिंग को बहुत कुछ बुरा-भला सुनना पड़ा। खर्च घटाने के साथ-साथ आमदनी बढ़ाने का भी प्रयत्न किया गया। आगरा प्रान्त में जमीन्दारों के साथ तीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया गया और इलाहाबाद में मालविभाग का बड़ा दफ्तर 'बोर्ड ऑफ रेविन्यू' खोल गया। इस प्रबन्ध से प्रान्त की मालगुजारी बहुत बढ़ गई। मालवा की अफीम कराची होकर चीन को जाती थी और वहाँ कम्पनी की बंगालवाली अफीम से सस्ती विकती थी, जिससे कम्पनी को बड़ा घाटा होता था। बैंकिंग ने यह नियम बना दिया कि मालवा की सब अफीम बम्बई होकर कम्पनी द्वारा चीन जाया करे। इससे मालवा के राज्यों और अफीम के कास्तकारों को बड़ा घाटा हुआ, पर कम्पनीका काम बन गया। बहुत से लोगों के पास 'लाखिराज' अर्थात् कर न देनेवाले इलाके थे। इनमें से कुछ लोगों के मरने पर, कोई लड़का न होने के कारण, उनके इलाके जब्त कर लिये गये और 'लाखिराज' इलाकों के उत्तराधिकार का निर्णय कलेक्टर के हाथ में छोड़ दिया गया। जान मालकम लिखता है कि यदि ऐसा करना था तो इलाके देना ही व्यर्थ था। इन जन्तियों से कम्पनी की आमदनी अवश्य बढ़ गई, पर साथ ही साथ कितने ही बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी घराने नष्ट हो गये।

न्याय के प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन किया गया। बहुत से मुकदमे पिछले पड़े हुए थे, अंगरेज जजों को रखने में बड़ा खर्च पड़ता था। इसलिए हिन्दु-

✓

स्तानियों को 'सब जज' और 'डिप्युटी कलेक्टर' बनाना निश्चित किया गया। कलेक्टर 'जिला मजिस्ट्रेट' भी बना दिये गये और उन्हें न्याय के अधिकार दिये गये। यह बड़ी भूल की गई, इससे निष्पक्ष न्याय में बाधा पड़ने लगी। कानूनी कानून की खोली हुई प्रान्तीय अदालतें तोड़ दी गईं। इलाहाबाद में एक 'सदर अदालत' खोली गई। कलेक्टरों पर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर नियुक्त किये गये। इस समय तक अदालतों का बहुत सा काम फारसी में होता था, अब सर्व-साधारण की सुविधा के लिए उर्दू का प्रयोग करना निश्चित किया गया। इसमें हिन्दी का कुछ भी ध्यान न रखा गया, जो अधिकांश जनता की भाषा थी।

५१ ठगों का दमन—इन दिनों भारतवर्ष में ठगी का बड़ा जोर था। बहुत लोगों का यह पेशा हो गया था। इनकी एक गुप्त संस्था बन गई थी,



ठगों का एक दल

जिसमें जाति-पाँति का कोई भेद न था और हिन्दू मुसलमान सभी शामिल रहते थे। इनके झुंड के झुंड देश भर में घूमा करते थे और यात्रियों को मारकर उनका माल छीन लेते थे। इनकी एक नई भाषा बन गई थी, जिसमें ये प्रायः इशारों से ही आपस में बातचीत कर लिया करते थे। ये ऐसे दंग से रहते थे कि इन पर किसी को कुछ भी सन्देह न होता था। ये

यात्रियों को अपनी बातों में फुसला लेते थे और जंगल में या किसी एकान्त स्थान में पहुँचने पर गले में रूमाल का फन्दा डालकर उनको मार डालते थे और सब माल-असबाब छीन लेते थे। फाँसी लगाने में ये बड़े निपुण होते थे, इनका वार कभी खाली नहीं जाता था, इसी लिए ये 'फाँसीगर' भी कहलाते थे। इनके सब काम गुप्त होते थे। लश्कों तक इस ढँग से छिपा दी जाती थी कि किसी को कुछ भी पता न लगता था। ये सभी जगह बने रहते थे और आवश्यकतानुसार भेज बदल करते थे। इनके किसी किसी दल में ३०० से भी अधिक मनुष्य रहते थे। ये काबू का पूजन करते थे और लड़कों को अपने दलों में भर्ती किया करते थे। ये प्रायः स्त्रियों को न मारते थे।

मुसलमानों के समय में भी ये बड़ा ऊधम मचाया करते थे। कहा जाता है कि अकबर ने केवल इटावा जिले में पाँच सौ ठगों को फाँसी लटकवा दिया था। औरंगजेब ने भी बहुतों को प्राणदंड दिया था। इधर राजनैतिक अशान्ति के कारण इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। बहुत से बेकार सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। कुछ जमीन्दार और व्यापारी भी इनकी गुप्त प्रीति से मदद करते थे और लूट का माल लेते थे। इनके दमन करने का काम कर्नल स्लीमैन को सौंपा गया। उसको फिरगिया नाम के एक मुखधिर से इनकी सब गुप्त बातों का पता लग गया। चारों ओर से इनकी खोज होने लगी, प्राण बचाने के लिए बहुत से मुखधिर हो गये और ६ वर्ष में लगभग ३२६६ ठग पकड़ लिये गये। इनमें बहुतों को फाँसी लगाई गई और बहुत से कालेपानी भेज दिये गये। मुखधिर जब्बलपुर में रख दिये गये और उनके लड़कों को खेती-बारी सिखलाने का प्रबन्ध कर दिया गया।

सती-प्रथा का अन्त—सती का अर्थ वास्तव में पतिभक्ता स्त्री है। पति की सहगामिनी बनने के लिए बहुत सी स्त्रियाँ उसके मरने पर चिता में जलकर प्राण त्याग देती थीं। इसी लिए इस तरह जल मरने का नाम 'सती होना' पड़ गया। प्राचीन समय से भारत में स्त्रियाँ बराबर सती हुआ करती थीं। परन्तु प्रत्येक स्त्री के लिए सती होना आवश्यक है, ऐसा किसी धर्म-शास्त्र में उल्लेख नहीं। सती होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर रहता था।

गर्भवती या छोटे बच्चों की माता के लिए तो सती होने का निषेध था। जो स्त्री हँसते हँसते जलती हुई आग में कूदकर अपने प्राण त्याग कर सकती है, उसके लिए प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आदर होना स्वाभाविक है। इसी लिए जो स्त्रियाँ सती होती थीं वे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। इसी से धीरे धीरे जनता में यह भाव फैल गया कि सती होना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। लोकप्रवाद के भय से बहुत सी स्त्रियों को इच्छा न होते हुए भी अपने प्राण त्याग करने पड़ते थे। बहुतों को घरवाले जबरदस्ती चिता में झोंक देते थे। बहुतों को नशा खिलाकर जोश दिलाया जाता था। इस तरह किसी समय जो एक उच्चादर्श था कालान्तर में अमानुषिक कार्य बन गया था।^१

अकबर के समय में इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया गया था, पर अधिक सफलता न हुई थी। पेशवा बाजीराव ने इसको अपने राज्य में बन्द कर दिया था, तंजौर में भी इसके लिए आज्ञा न थी। गोआ में पुर्तगालियों ने भी ऐसा ही नियम बना दिया था। चिन्नसुरा और चम्बनगर में भी इसके लिए मनाही थी। परन्तु धर्म में हस्तक्षेप न करना अँगरेजों की प्रारम्भ से ही नीति थी, इसलिए कम्पनी के राज्य में यह प्रथा इस समय भी जारी थी। किसी तरह की जबरदस्ती न हो, इसलिए पहले मजिस्ट्रेट से आज्ञा लेनी पड़ती थी और दाह पुलिस की निगरानी में होता था। परन्तु इस पर भी बड़ा अत्याचार होता था, जिसे रोकने के लिए इसको एकदम बन्द कर

१ इस समय भी कहीं कहीं सती होने के अद्भुत उदाहरण दिखलाई देते थे। सन् १८२९ को एक घटना का कर्नल स्लीमैन ने वर्णन किया है। दक्षिण की किसी स्त्री को उसने सती होने से मना कर दिया था। वह पाँच दिन तक नर्मदा के किनारे जहाँ पति का दाह हुआ था बिना अन्न-पानी के दिन-रात खुले मैदान में बैठी रही। बहुत कुछ लालच देने पर भी उसने अपना विचार नहीं छोड़ा। कोई उपाय न देखकर अन्त में रॉयमेन ने उसको सती होने की आज्ञा दे दी। उसके धैर्य और साहस को देखकर वह हैरान रह गया। रैम्बल्स एंड रिकलेक्शन्स, जि० १, पृ० २२-३७।

देने के अतिरिक्त, कोई उपाय न था। सन् १८१८ में अकेले कलकत्ता प्रान्त में ५४४ सतिया हुई थी। स्वयं हिन्दुओं में इसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। राजा राममोहन राय और दारकानाथ ठाकुर इसके रोकने के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे थे।

लार्ड बेंटिक को यह अच्छा अवसर मिल गया। उसने इस विषय की पूरी जाँच करवाई, बड़े बड़े अफसरों से सलाह ली, निजामत अदालत का मत लिया और इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तानी सेना तथा पुलिस की राय जानने का भी प्रयत्न किया। जब उसको यह मालूम हो गया कि अधिकांश लोगों का मत इस प्रथा के विरुद्ध है, तब उसने इसके लिए कानून बनाना निश्चित कर लिया। परन्तु बहुतों को सन्देह था कि कानून बनाने से बड़ा उपद्रव मचेगा। कुछ लोगों की राय में सेना में विद्रोह ही जाने का भय था। स्वयं राजा राममोहन राय का भी ऐसा ही अनुमान था। परन्तु सन् १८२९ में गवर्नर-जनरल ने बंगाल में इस प्रथा के बन्द करने का कानून पास ही कर दिया। इस पर कोई उपद्रव नहीं हुआ, इसी से सिद्ध है कि जनता इसके बन्द करने ही के पक्ष में थी। कुछ बंगालियों ने इस कानून को तोड़ने के लिए पार्लामेंट को लिखा और मुकदमे चलाये, परन्तु राममोहन राय की सहायता से यह आन्दोलन थोड़े ही दिनों में शान्त हो गया। सन् १८३० में बम्बई और मद्रास प्रांतों में भी यह कानून पास कर दिया गया। जो स्त्री पति की सहगामिनी बनना निश्चित कर लेती है, उसको रोकनेवाला अब भी कोई नहीं है। कानून और पुलिस होते हुए भी वह किसी न किसी तरह आत्म-बलिदान कर ही देती है। हिन्दू-धर्म में कानून द्वारा अँगरेजी सरकार का यह पहला हस्तक्षेप था।

देशी राज्य—इनके सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की कोई निश्चित नीति न थी। जिस नीति से अपना काम बनता था, उसी का किसी न किसी तरह समर्थन किया जाने लगता था। कहने के लिए तो बेंटिक 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का अनुयायी था, परन्तु अवसर मिलने पर वह भी न चूकता था। इन दिनों सिन्धिया के राज्य में कुछ गड़बड़ था। इस पर रेजीडेंट

को लिखा गया कि सिन्धिया को ~~समझा~~ बुझाकर गद्दी छोड़ देने के लिए राजी करना चाहिए और उसके राज्य को ले लेना चाहिए। इससे बम्बई प्रान्त के साथ आगरा का इलाका मिल जायगा। परन्तु रेजीडेंट ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।^१ इन्दौर की गद्दी के लिए भी झगड़ा चल रहा था। चुपचाप रहकर उसके परिणाम की प्रतीक्षा की जा रही थी। दीवान पुर्णिया के हटने पर कहा गया कि मैसूर राज्य का शासन बहुत बिगड़ रहा है। यह बात ठीक है कि इन दिनों प्रजा में असन्तोष था और कहीं कहीं कुछ उपद्रव भी हुए थे। सेना अँगरेजों के हाथ में थी। यदि वे चाहते तो शान्ति स्थापित कर सकते थे और प्रजा की रक्षा के लिए विशेष नियम बना सकते थे। परन्तु ऐसा न करके सारा दोष राजा के मत्थे मढ़ा गया और उसके हाथ से राज्य का शासन ले लिया गया। मैसूर से जो कुछ रुपया मिलता था, उसमें किसी प्रकार कमी नहीं हुई थी। यदि वास्तव में राजा का दोष था और उसको दंड देना ही था, तो पिछली सन्धि के अनुसार राज्य के 'कुछ भाग पर' अधिकार कर लेना चाहिए था, परन्तु इस तरह शासन के कुल अधिकार ले लेना मेजर बेल की राय में किसी तरह उचित न था।^२

कुर्ग अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। टीपू के विरुद्ध यहाँ के राजा से अँगरेजों को बड़ी सहायता मिली थी। सन् १७९० में उसके साथ जो सन्धि की गई थी, उसमें कम्पनी की मित्रता का उसे पूरा विश्वास दिलया गया था। अब वहाँ के नये राजा पर कितने ही अपराध लगाये गये। कहा गया कि उसने अपने कई कुटुम्बियों को मरवा डाला है और प्रजा उसके अत्याचार से पीड़ित है। उस पर आक्रमण करने के लिए एक सेना भेजी गई। राजा ने बिना लड़े-भिड़े अपने को उसके हवाले कर दिया। उसके कोई

१ चेम्बर ऑफ प्रिंसेज, ब्रिटिश क्राउन ऐंड दि इंडियन स्टेट्स, सन् १९२९, पृ० ४४-४६।

२ इवास बेल, मैसूर रिवर्जन, पृ० २१-२४।

लड़का न था, इसलिए “प्रजा की इच्छा” से कुर्ग अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया।^१ यहाँ बहुत से अँगरेज बस गये हैं, जो काफी की खेती कराते हैं। यहाँ का शासन एक कमिश्नर के हाथ में है, जो मैसूर के रेजीडेंट की निगरानी में काम करता है। पदच्युत राजा बनारस भेज दिया गया। सन् १८५२ में इंग्लैंड जाकर उसने कम्पनी पर दावा किया, परन्तु वह खारिज हो गया। उसकी लड़की ने ईसाई होकर एक अँगरेज से शादी कर ली।

कहने के लिए निजाम के साथ बराबरी का सम्बन्ध था। इस समय तक उसको पत्र लिखने में कम्पनी अपने लिए ‘न्याजमन्द’ (कृपापात्र) शब्द का प्रयोग करती थी। पर तब भी उसके शासन में हर तरह से बाधाएँ डाली जाती थीं। सहायक सेना के अतिरिक्त उसको एक अपनी सेना भी रखनी पड़ती थी, जिसके सब अफसर अँग्रेज होते थे। इनको केवल भत्ते में १४ लाख रुपया साल दिया जाता था। चार्ल्स मेटकाफ का कहना था कि हम उसके राज्य में ऐसा हस्तक्षेप कर रहे हैं, जो किसी सन्धि के अनुसार उचित नहीं कहा जा सकता। हमने एक ऐसे आदमी (राजा चन्दूलाल) को दीवान बना दिया है, जो हमारी सहायता के कारण राज्य का शासक बन बैठा है और अपने स्वामी की कुछ भी पर्वाह नहीं करता है। ऐसी दशा में शासन के दोषों के लिए हम निजाम को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकते। वास्तव में उनके जिम्मेदार हम हैं, क्योंकि उनके दूर करने का उपाय हमारे हाथ में है।^२ बेंटिंक ने निजाम के साथ पत्र-व्यवहार में ऐसे शब्दों का प्रयोग उठा दिया, जिनसे निजाम का बड़प्पन जाहिर होता था। परन्तु राज्य की दशा सुधारने की ओर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया; उल्टे निजाम और उसके दीवान को राज्य बरबाद करने की स्वतंत्रता दे दी।

१ इस अवसर पर कुर्ग-निवासियों ने राज्य के एक भाग में गोवध न होने देने का ब्रिटिश सरकार से वचन ले लिया। हॉलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, पृ० ५३४।

२ ग्रिविल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १७६-७९।

अवध के साथ भी इसी नीति से काम लिया गया। वहाँ के बादशाह नसीरुद्दीन हैदर को पाश्चात्य ढंग का रहन-सहन सिखलाया गया था। पाँच यूरोपियन उसको हर तरह से बरबाद कर रहे थे।^१ उसने अपने योग्य दीवान हकीम मेहदी को निकाल दिया, पर तब भी इस मामले में ब्रिटिश ने कोई हस्त-क्षेप नहीं किया। इस पर हकीम मेहदी ने ठीक कहा था कि यदि कोई आदमी किसी अन्धे को गड़हे की तरफ जाते देखकर उसे बचाता नहीं है, तो वह उसको गड़हे में गिराने का दोषी है।^२ परन्तु अवध के सम्बन्ध में अँगरेजों की नीति ही दूसरी थी। एक ओर तो शासन में पूरा हाथ होते हुए भी उसके सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा था और दूसरी ओर अवध की दुर्दशा खूब बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाई जा रही थी और संचालकों को उसके छीन लेने की सलाह दी जा रही थी। वास्तव में इस समय भी अवध की ऐसी दुर्दशा न थी। सन् १८३४ में जौनपुर के कलेक्टर ब्राउन का लिखना था कि फैजाबाद जिले में खेती की दशा बहुत अच्छी है, लगान भी अधिक नहीं है। लोगों को कुछ शिकायतें जरूर हैं, पर तब भी वे अँगरेजी राज्य में नहीं आना चाहते हैं।^३ सन् १८३५ में शोर लिखता है कि अवध की प्रजा पर जैसा शासन हो रहा है वह हमारे शासन से बुरा नहीं है।^४ नसीरुद्दीन भी बिलकुल गयाबीता शासक न था। उसने ३ लाख रुपया दीनों की सहायता के लिए रेजीडेंट के पास जमा करवा दिया था और 'लखनऊ कालेज' के छात्रों को भी वह ३ हजार रुपया माहवार देता था। उसने एक अस्पताल भी खोला था और डकैतियों के रोकने का भी प्रयत्न किया था।^५ यदि अवध की वैसी ही दशा होती जैसी कि दिखलाई गई है, तो कम्पनी को कर्ज देने के लिए उसके खजाने में करोड़ों रुपया न होता।

१ नाइटन, प्राइवेट लाइफ ऑफ़ ऐन ईस्टर्न किंग।

२ बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, जि० ३, पृ० २१५।

३ बर्नल लो, रिपोर्ट, सन् १८४१।

४ शोर, नोट्स ऑन इण्डियन अफेयर्स।

५ डकॉथेडो इन एक्सेलसिस, पृ० ७९-८०।

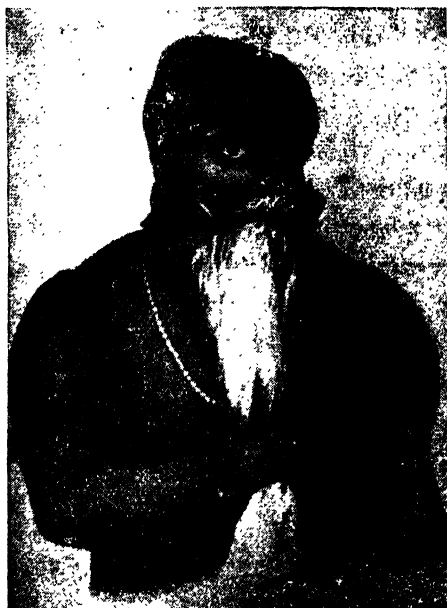
बर्मा-युद्ध के समय पर आसाम के कई एक राज्यों से सन्धियाँ की गई थीं। इनमें कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य मुख्य थे। कचार के राजा के मरने पर, कोई लड़का न होने के कारण, उसका राज्य “प्रजा की इच्छा” से जब्त कर लिया गया। जयन्तिया के राजा पर भी बहुत से अपराध लगाये गये। कहा गया कि उसके राज्य में तीन-चार अँगरेज मार डाले गये हैं। मार्च सन् १८३५ में उसका राज्य भी ले लिया गया। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था ऐसी बुरी न थी। जयन्तिया में बड़े-बड़े मामलों के निर्णय में राजमाता, मंत्री और बड़े बड़े सरदारों की राय लेना राजा के लिए आवश्यक था।

रूस का भय—फ्रांसीसियों के भय के कारण मराठों का राज्य हड़प कर लिया गया। अब कहा जाने लगा कि हेरात और कन्दहार होकर रूस भारत पर आक्रमण करना चाहता है। उससे रक्षा करने के लिए पंजाब, सिन्ध और अफगानिस्तान में अँगरेजी शक्ति दृढ़ करना आवश्यक है। इसी नीति के अनुसार सिन्ध के अमीरों को एक व्यापारिक सन्धि करने के लिए मजबूर किया गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। तब भी इसमें लिखा गया कि दोनों पक्ष “एक दूसरे के राज्य पर लालच की दृष्टि कभी न डालेंगे।” इस समय तक अँगरेजों को सिन्ध नदी का अधिक ज्ञान न था, इसके लिए भी एक चाल चली गई। गाड़ी और घोड़ों के उपहार महाराजा रणजीतसिंह को इस नदी के मार्ग से भेजे गये। सीधे-साधे अमीरों को इस चाल का पता भी न लगा। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह के दबाव के कारण वे कुछ कह भी न सकते थे। अफगानिस्तान से भागे हुए शाहशुजा को भी दोस्तमुहम्मद से राज्य छीनने के लिए उत्साहित किया गया। इसी के कारण आगे चलकर अफगानिस्तान से युद्ध हुआ। रणजीतसिंह से भी घनिष्ठ मित्रता करने का प्रयत्न किया गया। उन दिनों उस मार्ग से रूसियों का आना एक प्रकार से असम्भव सा था, पर कहा यह जाता था कि “भारतवर्ष में हम लोग बारूद की नली पर बैठे हैं, न जाने किस दिन वह फूट पड़े।” इसलिए पहले ही से प्रबन्ध कर लेना उचित है।

सिखों का राज्य—इतने दिनों में महाराजा रणजीतसिंह ने अपने राज्य को बहुत बढ़ा लिया था। दस वर्ष तक घोर युद्ध करके उसने सन् १८१६ में मुलतान ले लिया। यहाँ का नवाब मुजफ्फरखाँ बड़ी वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। सन् १८१९ में उसने काश्मीर भी जीत लिया, इससे उसका राज्य दुगुना हो गया। अहमदशाह दुर्रानी के समय से यहाँ अफगानियों का राज्य था। महाराज की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। सन् १८२९ के लगभग काँगड़ा का राजपूत राज्य भी ले लिया गया। पंजाब के जितने छोटे छोटे मुसलमानी राज्य थे, उन सबको उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १८२० में उसके राज्य की सीमा सतलज से लेकर सिन्ध नदी तक पहुँच गई। सन् १८२३ में उसने पेशावर पर भी अधिकार कर लिया। हजारों पहले ही से उसको मिल गया था। इस पर पश्चिमोत्तर सीमा के मुसलमानों ने 'जिहाद' छेड़ दी। कई वर्षों तक बराबर युद्ध होता रहा। दो एक नामी सिख सरदार काम आये, परन्तु अन्त में हरीसिंह नलवा की विजय हुई। सन् १८३३ में शाहशुजा ने पेशावर पर रणजीतसिंह का अधिकार मान लिया। यह काबुल से निकाल दिया गया था; और रणजीतसिंह की शरण में रहता था। इसी से रणजीतसिंह को प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा मिला था। हरीसिंह नलवा पेशावर का सेनापति बनाया गया। सन् १८३५ में खैबर घाटी की रक्षा के लिए उसने जमरूद में एक दुर्ग बनवाया। काबुल से दोस्तमुहम्मद ने इस पर दो बार आक्रमण किया, परन्तु हरीसिंह ने बड़ी वीरता से इसकी रक्षा की। दूसरे आक्रमण में वह स्वयं मारा गया, पर लाहोर से सिख सेना ने आकर अफगानियों को भगा दिया।

● **बैटिक और रणजीतसिंह**—सिखों के इस राज्य-विस्तार से अँगरेजों को बड़ा भय हो रहा था। अब वे किसी न किसी तरह सिन्ध नदी को अपनी पश्चिमोत्तर सीमा बनाने के लिए चिन्तित हो रहे थे। इसी लिए सिन्ध के अमीरों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा रहा था। सन् १८०९ की सन्धि से रणजीतसिंह को सतलज के पश्चिम ओर पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई थी,

तब भासिन्ध पर उसका अधिकार न जमने पावे, इसके लिए बराबर प्रयत्न किया जा रहा था। साथ ही साथ उसके सन्देह को दूर रखने के लिए मित्रता भी बढ़ाई जा रही थी। सन् १८३१ में सतलज नदी के तट पर रुपुर में लार्ड बैटिक ने उसके साथ भेंट की। इस अवसर पर दोनों ओर से एक दूसरे को अपनी अपनी सैनिक शक्ति दिखलाने का प्रयत्न किया गया। इंग्लैंड के राजा चौथे विलियम ने रणजीतसिंह को पत्र लिखा और अँगरेजी घोड़े उपहार में भेजे। यह मुलाकात राजनैतिक उद्देश्य से खाली न थी। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई और



रणजीतसिंह

शाहशुजा की सहायता करने के लिए भी उससे कहा गया। अँगरेजों की नीति को वह समझता था। वह जानता था कि सिन्ध और अफगानिस्तान की ओर से भी उसके राज्य को घेरने का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु केवल सन्देह के कारण अँगरेजों की प्रबल शक्ति से वह वैर न करना चाहता था, इसी लिए वह चुप रहा।

कम्पनी का आशापत्र—सन् १८३३ में कम्पनी का आशापत्र फिर दोहराया गया। सन् १८२९ से ही एक कमेटी द्वारा जाँच हो रही थी।

इसमें राजा राममोहन राय की भी गवाही हुई थी। उसने शासन के बहुत से दोषों को दिखलाया था। सन् १८३३ में पार्लामेंट में जो कानून पास किया गया, उसके अनुसार भारतवर्ष पर शासन करने के लिए कम्पनी को फिर से आज्ञा दे दी गई। केवल चीन के व्यापार का ठेका कम्पनी के हाथ में रह गया था। इस कानून से वह भी तोड़ दिया गया। इस तरह अब कम्पनी का व्यापार से कोई सम्बन्ध न रहा। इस समय तक गवर्नर-जनरल केवल 'बंगाल का गवर्नर-जनरल' कहलाता था, अब वह 'भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल' कहलाने लगा। कानून बनाने के उसके अधिकार भी बढ़ा दिये गये और कौंसिल में एक 'कानूनी मेम्बर' नियुक्त कर दिया गया। अँगरेजों को भारतवर्ष में बसने और जमीन खरीदने की भी स्वतंत्रता दे दी गई, जिसका फल यह हुआ कि नील की खेती अँगरेजों के हाथ में आ गई। पार्लामेंट के इस नये कानून की एक धारा में यह भी कहा गया कि देश का कोई निवासी केवल अपने धर्म, जन्मस्थान, वर्ण या इनमें से किसी एक के कारण, कम्पनी के अधीन किसी स्थान, पद या नौकरी के अयोग्य न समझा जायगा। तब से यह बात इंग्लैंड के शासकों द्वारा बराबर दोहराई जाती रही, पर व्यवहार इसके विपरीत ही होता रहा।

लार्ड मैकाले—कानूनी मेम्बर के पद पर मैकाले नियुक्त किया गया। यह अँगरेजी भाषा का बड़ा पंडित था। अपने एक निबन्ध में इसने वारेन हेस्टिंग्स की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की है। लार्ड क्लाइव पर भी इसका एक अच्छा निबन्ध है। इसमें हर एक बात को, खूब बढ़ा चढ़ाकर लिखने का बड़ा दोष था, इसका बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी की अध्यक्षता में 'भारतीय दंड-विधान' बनाने का प्रबन्ध किया गया।

शिक्षा का प्रश्न—प्राचीन समय से ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रबन्ध था। हिन्दुओं की शिक्षा पंडितों के और मुसलमानों की शिक्षा मौलवियों के हाथ में थी। उच्च शिक्षा के लिए मुख्य मुख्य स्थानों में विद्यापीठ, कोल तथा मदरसे बने हुए थे। इनमें धर्म, दर्शन तथा व्याकरण की

ही शिक्षा अधिक होती थी। साथ ही साथ जन साधारण की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी कुछ प्रबन्ध था। बड़े बड़े गाँवों और नगरों में इसके लिए पाठशाला और मकतब थे, जिनमें किसान तथा व्यापारियों के लड़कों को लिखना-पढ़ना सिखलाया जाता था। ऐडम लिखता है कि बंगाल में केवल ब्राह्मण ही नहीं बल्कि बहुत से कायस्थ तथा शूद्र भी पढ़ाते थे। “अछूत जातियों” के भी बहुत से लड़के पढ़ाये जाते थे। लड़कों को पढ़ाने के पहले लिखना सिखलाया जाता था, जो आधुनिक ‘मांटसोरी सिस्टम’ का मुख्य सिद्धान्त है। डाक्टर ऐंड्रूजवेल को स्कूलों में ‘मानीटर’ रखने के ढँग का पता भारत की पाठशालाओं से ही चला था।^१ उन दिनों राज्यों में कोई ‘शिक्षा-विभाग’ न थे, यह बात ठीक है, परन्तु जैसा कुछ समाज का संगठन था, उसमें इसकी कोई आवश्यकता ही न थी। हर एक गाँव में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध रहता था। गाँववाले प्रायः इसको स्वयं ही कर लेते थे, राज्य का उससे कोई विशेष सम्बन्ध न रहता था। मन्दिर तथा मसजिदों में ही पढ़ाई हुआ करती थी। शिक्षकों का पालन गाँववाले ही करते थे। कहीं-कहीं जमीन्दार या धनी व्यापारी भी अपनी बैठकों में पाठशालाएँ खोल देते थे। तीर्थों के बड़े बड़े विद्यापीठों को राज्यों की ओर से सहायता मिलती थी और विद्वानों के लिए दक्षिणा का प्रबन्ध रहता था। इन विद्यालयों के अतिरिक्त घरों पर भी पढ़ाई होती थी। स्त्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालय न थे, पर बहुत सी स्त्रियों को घर पर थोड़ी बहुत शिक्षा अवश्य दी जाती थी।

अंगरेजी शासन से गाँवों का प्राचीन संगठन और देशी राज्य दोनों नष्ट हो रहे थे। इसलिए देश की सभी बातों में बाधाएँ पड़ रही थीं; पर तब भी इस समय तक शिक्षा का प्रबन्ध था। गाँव के शिक्षकों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए सन् १८१४ के एक ‘खरीते’ में कम्पनी के संचालक लिखते हैं कि

भारतवर्ष में यह संस्था बड़ी प्राचीन है, सब लोग इसको आदर की दृष्टि से देखते हैं। यथासम्भव इसकी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। सन् १८२२ से सन् १८३८ तक इस विषय में जो जाँच हुई, उससे पता चलता है कि मद्रास प्रान्त में स्कूल जाने योग्य बालकों की संख्या का छठवाँ हिस्सा और बम्बई में आठवाँ हिस्सा शिक्षा प्राप्त कर रहा था। बंगाल के एक जिले में तो जनसंख्या के १३ सैकड़ा से भी अधिक लोगों को शिक्षा मिल रही थी। रेवरेंड केयी लिखता है कि ब्रिटिश शासन के पहले भी इस तरह देश भर में शिक्षा का प्रबन्ध था।^१ परन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह शिक्षा समयानुकूल न थी। इन दिनों भारतवर्ष की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन हो रहा था। अब वह हिमालय और सागरों से बन्द न था, उसका सम्बन्ध पाश्चात्य देशों से हो गया था, जहाँ विज्ञान की दिन प्रतिदिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल पुराण, कुरान या व्याकरण की शिक्षा से काम चलनेवाला न था, अब भूगोल, इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र और विज्ञान की आवश्यकता थी।

अँगरेजी भाषा का प्रचार—बहुत दिनों तक तो कम्पनी ने शिक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सन् १८१३ में पहले-पहल इसके लिए एक लाख रुपया मंजूर किया गया। अँगरेजी भाषा का प्रचार पहले पादरियों ने प्रारम्भ किया। कैरी, मार्शमैन और बार्ड के उद्योग से श्रीरामपुर में एक कालेज स्थापित हुआ। सन् १८१६ में कलकत्ता में डेविड हेअर और राजा राममोहन राय की सहायता से 'हिन्दू कालेज' खोला गया। सन् १८३० में डफ़ ने एक और कालेज खोला। इन सब कालेजों में अँगरेजी भाषा द्वारा शिक्षा होती थी। परन्तु इस समय तक इस सम्बन्ध में सरकार की कोई नीति निर्धारित न थी। लर्ड बेंटिंक के समय में यह प्रश्न छिड़ गया कि किस भाषा द्वारा और कैसी शिक्षा होनी चाहिए।

इस पर दो दल हो गये। एक का कहना था कि संस्कृत, अरबी तथा फारसी के साथ साथ देशी भाषाओं में सब विषयों की शिक्षा होनी चाहिए।

इसके नेता प्रिंसेप भाई और डाक्टर होरेस विल्सन थे। दूसरा दल अँगरेजी भाषा के पक्ष में था, जिसके लिए मैकाले, मेटकाफ और राममोहन राय आन्दोलन कर रहे थे। मैकाले, जिसको किसी पूर्वीय भाषा के एक अक्षर तक का ज्ञान नहीं था, सारे पूर्वी साहित्य की हँसी उड़ा रहा था। उसकी राय में भारतवर्ष और अरब का कुल साहित्य यूरोप के किसी अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी भर भी नहीं था। उसका कहना था कि हिन्दुओं की ज्योतिष पर अँगरेज लड़कियों को हँसी आयगी। इतिहास और भूगोल का तो कुछ कहना ही नहीं। पुराणों में राजाओं की हजारों वर्ष की आयु लिखी हुई है और क्षीरसागरो का वर्णन है। ऐसी शिक्षा में धन खर्च करना व्यर्थ है। अँगरेजी शासकों की भाषा है, व्यापार उसी के द्वारा होता है, वह ज्ञान का भांडार है। इसलिए अँगरेजी भाषा द्वारा ही शिक्षा होना आवश्यक है। अन्त में उसी के मत की विजय हुई और मार्च सन् १८३५ में गवर्नर-जनरल ने अपनी कौंसिल में यह निश्चित किया कि भारतवासियों में “यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार करना ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य है। ऐसी दशा में शिक्षा के लिए जो धन है उसका सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेजी शिक्षा में ही हो सकता है।”

अँगरेजी शिक्षा का प्रभाव—कहा जाता है कि लार्ड बेंटिंक ने भारतवर्ष के साथ यह बड़ा भारी उपकार किया, उसने देश को अज्ञानता के अन्धकार से बचा लिया। पर वास्तव में उन दिनों इसका उद्देश्य दूसरा ही था। उस समय छोटे-छोटे ओहदों पर अँगरेजी पढ़े हिन्दुस्तानियों की बड़ी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारतवासियों पर पाश्चात्य सभ्यता का आतंक जमाना था। अँगरेजी शिक्षा से कम्पनी को लेखकों की कमी न रही और अँगरेजी पढ़े हुए लोग बहुत सी बातों को भूलकर अपनी सभ्यता को तुच्छ समझने लगे। मैकाले ने तभी लिखा था कि इससे एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। इस तरह राजनैतिक विजय के साथ-साथ मानसिक विजय का भी प्रारम्भ हो गया। पहले बहुत दिनों तक इस शिक्षा का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।

परन्तु इससे कुछ लाभ भी हुआ। पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के विवेकपूर्ण अध्ययन से देश की बहुत सी बातों पर नया प्रकाश पड़ने लगा। धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का संचार होने लगा और राज-नैतिक उदासीनता दूर होने लगी। यदि अँगरेजी भाषा का अध्ययन अनिवार्य करके सब विषयों की शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा ही दी जाती, तो बिना किसी प्रकार की हानि के ये लाभ हो सकते थे। अँगरेजी की शिक्षा का माध्यम बनाकर भारतवर्ष का बड़ा अहित किया गया। यह प्रबन्ध बिलकुल अस्वाभाविक है। सच्ची शिक्षा केवल मातृभाषा द्वारा ही हो सकती है। दूसरी भाषा में शिक्षा मिलने के कारण भारत के अधिकांश विद्यार्थियों का पर्याप्त मानसिक विकास नहीं हो पाता है और न उनके विचारों में मौलिकता ही आती है। बहुत सा अमूल्य समय अँगरेजी सीखने में नष्ट हो जाता है। इस प्रबन्ध से देशी भाषाओं की उन्नति भी रुक गई। अनुवादों द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-भांडार का बहुत कुछ अंश देशी भाषाओं में आ सकता था, जैसा कि अन्य देशों में हुआ है। स्वयं अँगरेजी भाषा की इसी तरह उन्नति की गई है। ऐसा करने से बहुत कुछ लाभ हो सकता था। परन्तु उस समय तो उद्देश्य ही दूसरा था, जैसा कि मैकाले के शब्दों में दिखलाया जा चुका है।

बैटिक का इस्तीफा—लार्ड बैटिक के समय में कलकत्ता में एक डाक्टरी का कालेज भी खोला गया और गंगा में स्टीमर चलने लगे। सन् १८३५ में वह स्वयं इस्तीफा देकर इंग्लैंड वापस चला गया। उसके सम्बन्ध में अँगरेज इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। भत्ता और वेतन में कमी करने के कारण बहुत से अँगरेज उससे चिढ़े हुए थे, उन्होंने उसकी निन्दा की है। इतिहासकार थॉर्नटन की राय में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिसके लिए उसकी प्रशंसा की जाय। इसके प्रतिकूल मार्शमैन का मत है कि उसने शासन में नया जीवन डाल दिया। भारतवर्ष के इतिहास में उसका समय सुधारों के लिए सदा प्रसिद्ध रहेगा। मैकाले तो उसको शासकों में आदर्श समझता था। उसकी राय में 'प्रजाहित शासन का मुख्य उद्देश्य

है' इस सिद्धान्त को वह कभी न भूला। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसको प्रजाहित का भी कुछ ध्यान था। इन दिनों सारे देश में शान्ति थी, युद्ध का कोई भय न था, इसलिए वह कुछ सुधार कर सकता था। सती-प्रथा के रोकने में उसने अवश्य साहस दिखाया, पर इससे अँगरेजों का कुछ बनता बिगड़ता न था। प्रायः वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता था, जिससे जान पड़े कि उसको सदा प्रजा की चिन्ता रहती थी। लार्ड वेलेजली भी ऐसा ही करता था। यह गुण प्रायः सभी अँगरेज राजनीतिज्ञों में पाया जाता है। अफगान-युद्ध का बीज उसी के समय में बोया गया, जिसका उसके जाने के बाद ही भयंकर पारिणाम हुआ।

राजा राममोहन

राय—यदि उस समय कोई भारतवासी था, जो देश की नई परिस्थिति को समझ सका था, तो वह राजा राममोहन राय था। संस्कृत, अरबी तथा फारसी का वह बड़ा पंडित था। हिन्दू, ग्रीक, लैटिन तथा अँगरेजी का भी उसको अच्छा ज्ञान था। सूफी मत तथा वेदान्त का उस पर बड़ा



राजा राममोहन राय

प्रभाव पड़ा था। तिब्बत जाकर उसने बौद्धधर्म का भी अध्ययन किया था। अँगरेजों से उसका बड़ा मेल था और वह उनका रहन-सहन भी पसन्द

करता था। सर्वप्रथम उसी ने हिन्दूसमाज में पाश्चात्य ढंग का सुधार आरम्भ किया। अपनी भावज को सती होते देखकर, उसने इस प्रथा को बन्द करवाने का प्रण कर लिया था। स्त्रियों को वह शिक्षा देकर स्वतंत्र करना चाहता था। समाचारपत्रों और सभाओं द्वारा उसने बड़ा आन्दोलन मचा रखा था। कट्टर हिन्दू और ईसाई दोनों ने उसके मार्ग में बाधा डालने का बड़ा प्रयत्न किया, पर वह बराबर डटा रहा। सन् १८३० में दिल्ली सम्राट् का वकील बनकर वह इंग्लैंड गया, वहीं सन् १८३३ में उसका देहान्त हो गया।

ब्रह्मसमाज—उन दिनों भारतवर्ष में ईसाई मत के प्रचार के लिए बड़े जोरों से प्रयत्न हो रहा था। अँगरेजी शिक्षा मिलने पर हिन्दूधर्म की कुरीतियों को देखकर कुछ लोगों की उस ओर प्रवृत्ति हो जाती थी। राम-मोहन राय को इसका अनुभव हो रहा था। वह हिन्दूधर्म में सुधार करना चाहता था। साथ ही साथ वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर देकर मत-मतान्तरों के झगड़ों को हटाना चाहता और हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयों को एक करना चाहता था। इसी उद्देश्य से सन् १८२९ में उसने 'ब्रह्मसमाज' स्थापित किया। इसमें तीनों धर्मों के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का समावेश किया गया और सब भेद-भाव दूर कर दिये गये। नवयुवकों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और थोड़े ही दिनों में इसके सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गई। राममोहन राय के बाद इसमें भी कई एक दल हो गये और केशवचन्द्र सेन के समय से इसके एक दल पर पाश्चात्य रहन-सहन का बड़ा प्रभाव पड़ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस समाज ने वही काम किया, जो पन्द्रहवीं शताब्दी में गुरु नानक के सिख सम्प्रदाय ने किया था।

सर चार्ल्स मेटकाफ—लार्ड बेंटिंक के चले जाने पर मेटकाफ कुछ दिनों तक गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। ऐडम के समय में प्रेस का मुँह बन्द करने के लिए जो नियम बनाये गये थे, उन सबको इसने रद्द कर दिया और समाचारपत्रों को बहुत कुछ स्वतंत्रता दे दी। बेंटिंक

भी समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का पक्षपाती था, पर ऐडम के नियमों को रद्द करने का उसको साहस न हुआ था। मेटकाफ ने इस सम्बन्ध में किसी की भी परवाह न की। उसका यह कार्य संचालकों को पसन्द न आया। उसी को गवर्नर-जनरल बनाये रखने की बातचीत थी, वह छोड़ दी गई और वह मद्रास का गवर्नर तक न बनाया गया। नये गवर्नर-जनरल आकलैंड के आ जाने पर वह इस्तीफा देकर वापस चला गया।



चार्ल्स मेटकाफ

कुछ दिनों तक वह पश्चिमोत्तर प्रान्त का लेफ्टिनेंट-गवर्नर भी रहा था। वह एक योग्य शासक था और ३८ वर्ष तक उसने भारतवर्ष में काम किया था।

परिच्छेद ११

पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा

लार्ड आकलैंड—मार्च सन् १८३६ में लार्ड आकलैंड गवर्नर-जनरल होकर भारतवर्ष पहुँचा। उसने लार्ड बेंटिंक की नीति का ही



आकलैंड

अनुकरण करना निश्चित किया। उसके समय में बम्बई और मदरास में डाक्टरी कालेज खोले गये। जिन विद्यालयों में अँगरेजी भाषा की पढ़ाई नहीं होती थी, उनको भी कुछ सहायता देना निश्चित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओं में देने के लिए प्रवृन्ध किया गया। इस तरह बेंटिंक की शिक्षा-नीति की भूलों का कुछ सुधार किया गया। इस समय तक यूरोपियन लोग दीवानी के मुकदमों की अपील 'सुप्रीम कोर्ट' में करते थे। यह इंग्लैंड सरकार की अदालत थी।

अब कानूनी मेम्बर मैकाले ने यह प्रस्ताव किया कि सब अपीलें कम्पनी की 'सदर दीवानी अदालत' में हुआ करें। कलकत्ता के गोरे व्यापारियों को यह बात बड़ी खटकी। जो अदालत काले आदमियों का निर्णय करती थी, वह भला गोरे आदमियों के निर्णय के योग्य कैसे हो सकती थी? इस 'काले कानून' के विरुद्ध बड़ा घोर आन्दोलन किया गया और मैकाले को बहुत कुछ बुरा-

भला कहा गया, परन्तु वह अपनी बात पर डटा रहा। अन्त में यह कानून पास हो गया।

पश्चिमोत्तर प्रान्त का दुर्भिक्ष—सन् १८३७ में उत्तरी भारत में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इसमें आठ लाख आदमी मर गये। सरकार की ओर से सहायता करने का प्रयत्न किया गया, जिसमें ३८ लाख रुपया खर्च हुआ। जल का कष्ट दूर करने के लिए गंगाजी से एक नहर निकालने का भी विचार किया गया और उसकी नाप शुरू कर दी गई।

देशी राज्य—सन् १८३७ में नसीरुद्दीन हैदर के मरने पर अवध में पादशाह बेगम ने कुछ उपद्रव किया। वह अपने पोते मुन्नाजान को गद्दी पर बिठलाना चाहती थी, परन्तु रेजीडेंट ने दोनों को कैद करके चुनार भेज दिया और नसीरुद्दीन के चचा मुहम्मदअली को मसनद पर बिठला दिया। इसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिससे फौज बढ़ा दी गई और यह निश्चित किया गया कि यदि किसी जिले का प्रबन्ध ठीक न होगा तो उसमें शासन के लिए अँगरेज अफसर रख दिया जायगा, जो कुल हिसाब समझाया करेगा। अवध के साथ यह बड़ी ज्यादाती थी। लार्ड वेल्लेजली के समय में उसकी रक्षा का पूरा भार ग्रहण किया गया था और आधा राज्य लेकर यह स्पष्ट कह दिया गया था कि फिर अधिक रुपया न माँगा जायगा, तब भी उस पर १६ लाख रुपये साल का नया बोझ लाद दिया गया। संचालकों ने भी इसको अनुचित समझकर मंजूर नहीं किया। इस पर मुहम्मदअली को केवल इतना ही लिख दिया गया कि उससे अब रुपया न लिया जायगा। कप्तान बर्ड का कहना है कि मुहम्मदअली ने शासन-प्रबन्ध ठीक करने का प्रयत्न किया और खेती तथा व्यापार की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया।^१

हैदराबाद से सहायक सेना हटाने का विचार किया गया, क्योंकि इसके खर्च के लिए राज्य का काफी भाग मिल चुका था और निजाम से कहा गया कि वह अपनी सेना से ही शासन का प्रबन्ध करे। इस सेना के अँगरेज

अफसरों को उसे ३८ लाख रुपया साल वेतन देना पड़ता था। इस तरह हस्तक्षेप न करने की नीति का दिखलावा करके उससे रुपया लिया जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उस पर कर्ज बढ़ने लगा।^१ सन् १८४२ में कर्नूल के नवाब पर बहुत से दोष लगाये गये और उसका राज्य छीनकर कर्नूल का जिला बना दिया गया। सन् १८१९ में सतारा के राजा के साथ बड़ी उदारता दिखलाई गई थी और उसको पेशवा के राज्य का कुछ भाग दिया गया था। अब कहा जाने लगा कि राजा प्रतापसिंह अँगरेजों के विरुद्ध पुर्तगालियों से बातचीत कर रहा है, नागपुर के भागे हुए राजा अप्पा साहब को बुलाना चाहता है और सेना को भड़का रहा है। उसके शासन में भी बहुत से दोष दिखलाये गये। सन् १८३९ में वह गद्दी से उतार कर बनारस भेज दिया गया और उसका भाई राजा बना दिया गया। प्रतापसिंह एक योग्य शासक था। वह अँगरेजों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था। यही उसका अपराध था। उसके साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया गया।^२ हरीराव होलकर को भी धमकी दी गई कि यदि वह गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार शासन का प्रबन्ध न करेगा, तो उसका भी राज्य छीन लिया जायगा।

रूस की समस्या—लार्ड मिंटो के समय में फारस के साथ परस्पर रक्षा की सन्धि की गई थी, पर जब रूस ने फारस को दबाना शुरू किया, तब अँगरेजों ने सहायता देने से इनकार कर दिया। झगड़ों से बचने के लिए फारस के शाह को कुछ रुपया देकर सन्धि की वह शर्त ही हटा दी गई।^३ अफगानिस्तान की सीमा पर उपद्रव मचाये रखने के लिए फारस से मित्रता की गई थी, वह मतलब अब सिद्ध हो चुका था, इसलिए फारस को प्रसन्न रखने की विशेष आवश्यकता न थी। इस नीति का परिणाम यह

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १७८।

२ बसु, स्टोरी ऑफ सतारा।

३ ट्राटर, लांड आकलेंड (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० ३८-३९।

हुआ कि फारस ने रूस के साथ मेल कर लिया और उसकी सहायता से अफगानिस्तान की पश्चिमी सीमा पर हेरात का घेरा डाल दिया। इस पर इंग्लैंड के राजनीतिज्ञ घबरा उठे। उन्होंने समझा कि यह तो भारत पर आक्रमण करने की तैयारी हो रही है। पर वास्तव में यह भय निराधार था, क्योंकि अफगानिस्तान अँगरेजी राज्य से बिल्कुल अलग था। दोनों के बीच में पंजाब, भावलपुर, सिन्ध और राजपूताना के राज्य थे, जिनको लॉघर अँगरेजों के राज्य पर किसी का आक्रमण करना सम्भव न था। इसका कुछ भी ध्यान न किया गया और हेरात को “भारत की पश्चिमोत्तर सीमा का द्वार” मानकर अफगानिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप करना निश्चित कर लिया गया। लॉर्ड आकलैंड ने बिना अधिक सोच-विचार के इसी नीति पर काम करना प्रारम्भ कर दिया।

अफगानिस्तान में हस्तक्षेप—सन् १८०९ में अहमदशाह दुर्रानी का पोता शाहशुजा काबुल से निकाल दिया गया। कई वर्षों तक वहाँ आपस में बहुत झगड़ा चलता रहा। अन्त में सन् १८२६ से दोस्तमुहम्मदखाँ, जो एक ब्राकजई सरदार था, राज्य करने लगा। शाहशुजा पहले महाराजा रणजीतसिंह की निगरानी में रहा, फिर अँगरेजों की शरण में आकर लुधियाना में रहने लगा। यहाँ उसको पेंशन भी दी जाने लगी। इस बला को पालने की कोई आवश्यकता न थी, पर अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने के लिए यह अच्छा उपाय मिल गया और उसके लिए भारत के खजाने का रुपया खर्च किया जाने लगा। लॉर्ड आकलैंड के आने पर बर्न्स नाम का एक अँगरेज व्यापारिक सन्धि करने के लिए काबुल भेजा गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। उन दिनों अफगानिस्तान के साथ कोई व्यापार न था। बर्न्स स्वयं लिखता है कि वह केवल रंग-ढंग देखने के लिए बहाँ गया था। परन्तु दोस्तमुहम्मद को फाँसना सहज न था; वह भी बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था और बड़ी योग्यता के साथ उद्दंड काबुलियों पर शासन कर रहा था। उसने कहा कि जब तक रणजीतसिंह से उसको पेशावर नहीं दिला दिया जायगा, तब तक कोई सन्धि नहीं हो सकती। इसके उत्तर में

उससे कहा गया कि अन्य स्वतन्त्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करना ब्रिटिश सरकार का नियम नहीं है। अफगास्तान पर आक्रमण करने से रणजीत-

सिंह को रोकने का अवश्य प्रयत्न किया जायगा। दोस्त मुहम्मद के दरबार में इस उत्तर का बड़ा मजाक उड़ाया गया; क्योंकि सिखों के आक्रमण की कोई सम्भावना न थी।^१



बर्न्स

इन्हीं दिनों रूस का भी एक दूत काबुल पहुँच गया और दोस्त-मुहम्मद के भाई, जो कन्दहार में थे, फारस से मेल करने की बातचीत करने लगे। दोस्तमुहम्मद अँगरेजों से वैर न करना चाहता था। लार्ड आकलैंड के आने पर उसने लिखा था कि “आप मुझे और मेरे राज्य को अपना ही समझें।” बर्न्स भी उसकी योग्यता देखकर गवर्नर-जन-

रल को बराबर लिख रहा था कि उसके साथ मित्रता रखने ही में लाभ है। परन्तु लार्ड आकलैंड पर उसके सेक्रेटरी मैकनाटन और कालविन का रंग जमा हुआ था। इन दोनों की सलाह से बर्न्स की बात न मानकर शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। दोस्तमुहम्मद ऐसे चतुर शासक से पार पाना सहज न था, पर शाहशुजा कम्पनी का वेतनभोगी ही था, इसलिए उसके समय में खूब मनमानी हो सकती थी।

युद्ध की घोषणा—अँगरेजों से निराश होकर दोस्तमुहम्मद ने रूसी दूत की ओर ध्यान दिया। उसकी शत्रुता का यह अच्छा प्रमाण मिल

गया और युद्ध का प्रबन्ध होने लगा। मैकनाटन रणजीतसिंह के पास लाहौर भेजा गया। महाराजा का स्वास्थ्य इन दिनों बिल्कुल बिगड़ चुका था और उसकी अवस्था भी बहुत हो चुकी थी। पहले उसको इस बेमतलब के युद्ध में पड़ने में संकोच हुआ। वह जानता था कि काबुल में अँगरेजों का पैर जमाना उसके राज्य के लिए हितकर न होगा। पर जब उसने देखा कि अँगरेज बिना उसकी सहायता के भी शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाने के लिए तुले हुए हैं, तब उसने साथ देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद शाहशुजा समझा-बुझाकर राजी किया गया। उसको भी इस नीति की सफलता में बड़ा सन्देह था। वह जानता था कि अभिमानी अफगान विदेशियों का हस्तक्षेप कभी सहन न करेंगे। इस बात को उसने अच्छी तरह से स्पष्ट भी कर दिया था। इतने ही में फारस के शाह ने हेरात का घेरा उठा लिया और काबुल से रूसी दूत भी बिना किसी सफलता के बिदा हो गया। इस तरह युद्ध के जो दो मुख्य कारण थे जाते रहे, पर तब भी शिमला से अक्टूबर सन् १८३८ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इसमें कौंसिल से भी परामर्श नहीं किया गया।

इस घोषणा तथा पार्लामेंट के सामने जो कागजात रखे गये उनमें बहुत सी बातें बना-चुनाकर लिख दी गईं। कहा गया कि दोस्तमुहम्मद हमारे पुराने मित्र रणजीतसिंह पर सहसा आक्रमण करनेवाला है और वह पेशावर छीनना चाहता है। शाहशुजा अफगानिस्तान में बड़ा लोकप्रिय है और सब लोग उसी को गद्दी पर बिठलाना चाहते हैं। गर्वनर-जनरल की नीति बहुतों के समझ में न आ रही थी। लार्ड वेल्लेजली को ऐसे देश पर, जिसमें सिवा "चट्टान, बालू और बरफ" के कुछ भी नहीं है, अधिकार करने के विचार पर हँसी आ रही थी। वेल्लेजली का मत था कि एक बार सिन्ध नदी पार करके फिर अफगानिस्तान से पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जायगा। लार्ड बैटिक को आश्चर्य हो रहा था कि शान्तिप्रिय लार्ड आकलैंड ने युद्ध कैसे छेड़ दिया। भारत के प्रधान सेनापति फेन का कहना था कि भारतवर्ष में जो चाहे कर ले पर पश्चिम की ओर बढ़ना ठीक नहीं है। मेटकाफ

पहले ही से सिन्ध नदी पार करने की नीति के विरुद्ध था। उसका मत था कि यह जान-बूझकर भारतवर्ष की ओर रूसियों का ध्यान आकर्षित करना है। कम्पनी के संचालक भी इसके विरुद्ध थे। पर लार्ड आकलैंड को इन सबकी परवाह न थी। इंग्लैंड-सरकार उसका साथ दे रही थी, भारत की सेना युद्ध के लिए आतुर हो रही थी।

पहले शाहशुजा और सिक्खों को केवल आर्थिक सहायता देने का विचार था, अब उसके साथ अंगरेजी सेना भी भेजना निश्चित किया गया। फीरोजपुर में लार्ड आकलैंड और रणजीतसिंह की बड़े धूमधाम के साथ मेंट हुई और बङ्गाल तथा बम्बई की सेनाओं को काबुल की ओर बढ़ने की आज्ञा दे दी गई। पंजाब होकर अंगरेजी सेना जाने के लिए रणजीतसिंह की अनुमति न मिल सकती थी, इसलिए वह सेना सिन्ध होकर भेजी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि सिन्ध की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया।

सिन्ध के साथ पहले जो व्यापारिक सन्धि की गई थी, उसमें स्पष्ट कह दिया गया था कि सिन्ध नदी के द्वारा कोई सेना न जायगी और सिन्ध में कोई अंगरेज न बसने पावेगा। पर अब सिन्ध नदी के मार्ग से सेना भेजी गई और शिकारपुर तथा बक्खर पर भी जबरदस्ती अधिकार कर लिया गया। अमीरों पर बहुत से अपराध लगाये गये, उन्हें राज्य छीन लेने का भय दिखलाया गया और सन् १८३९ में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार ३ लाख रुपया सालाना सेना का खर्च देने के लिए अमीरों को मजबूर किया गया। भावलपुर के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया।

पहली विजय—मार्ग में सेना को बड़ा कष्ट हुआ। रसद का कोई प्रबन्ध न था, पानी की भी बड़ी कमी थी। परन्तु बोलन होती हुई जैसे-तैसे यह सेना कन्दहार पहुँची। वहाँ से गजनी पर अधिकार कर लिया गया। यह समाचार मिलने पर दोस्तमुहम्मद काबुल से भाग निकला और अगस्त सन् १८३९ में शाहशुजा गद्दी पर बिठला दिया गया। उसका नगर-प्रवेश एक “मातमी जलूस” जान पड़ता था, किसी ने भी उसका स्वागत नहीं किया। इस विजय के लिए इंग्लैंड-सरकार ने गवर्नर-जनरल और उसके अफसरों की

चड़ी प्रशंसा की। इस मामले में दोस्तमुहम्मद के साथ पूरा अन्याय किया गया। स्वयं मैकनाटन ने भी इसको माना है। वह लिखता है कि हमने दोस्तमुहम्मद को, जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं था, अपनी नीति का शिकार बनाकर निकाल दिया।^१

युद्ध की घोषणा में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाकर अँगरेजी सेना वापस चली आयगी, पर तब भी दस हजार सेना अफगानिस्तान में छोड़ दी गई। मैकनाटन शाहशुजा के दरबार में अँगरेजों का दूत बनाया गया, बर्न्स भी साथ ही था। इन दोनों ने अमीर के हरएक काम में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया।



शाहशुजा

अँगरेज अफसरों की सलाह से शासन होने लगा और गोरे सिपाही पुलिस का काम करने लगे। भारत का खजाना अफगानियों को सन्तुष्ट रखने के लिए लुट्टाया जाने लगा। सिखों को भी नाराज कर दिया गया। उनसे पेशावर छीन लेने का प्रयत्न किया जाने लगा और उन पर बहुत से अपराध लगाये जाने लगे। दोस्तमुहम्मद भी अँगरेजों की शरण में आ गया और वह शाहशुजा की जगह पर भारत में रहने लगा। अब अँगरेजों ने समझ लिया कि उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं रही और वे मनमानी करने लगे।

भीषण बदला—अफगानिस्तान भारतवर्ष न था। वहाँ के निवासी “काफिर फिरंगियों” का हस्तक्षेप सहन न कर सकें। दोस्तमुहम्मद के बेटे

अकबरखाँ की अध्यक्षता में वे सब बिगड़ पड़े। इधर अँगरेज अफसर आपस ही में लड़ रहे थे, बहुत से दुराचरण में पड़े थे, कोई भी किसी की न सुनता था। सैनिक व्यवस्था बिगड़ रही थी। सुरक्षित किला छोड़कर खुले मैदान में छावनी पड़ी थी। शाहशुजा बराबर सचेत कर रहा था, पर उसकी कौन सुनता था ? रसद की बड़ी कमी थी, बेटब ठंड पड़ रही थी, खजाना भी खाली था। इतने ही में दूसरी नवम्बर सन् १८४१ को बर्ख मार डाल गया, तब भी मैकनाटन की आँखें न खुलीं और रक्षा का कोई भी प्रबन्ध न किया गया।

विद्रोहियों का जोर बढ़ता गया। कोई उपाय न देखकर मैकनाटन ने अफगानिस्तान खाली कर देना स्वीकार कर लिया और दोस्तमुहम्मद



अकबरखाँ

को भी वापस भेज देने के लिए राजी हो गया। इस पर अकबरखाँ ने अँगरेजों की रक्षा करने का वचन दे दिया। परन्तु मैकनाटन अपनी बात पर कायम न रहा। वह छिपे छिपे अपने मुंशी मोहनलाल द्वारा अकबरखाँ के साथियों को फोड़ने लगा। पहले अकबरखाँ को इसका विश्वास न हुआ, परन्तु उसने

• एक चाल से सब बातों का पता लगा लिया और मैकनाटन को मुलाकात करने के लिए बुलाया। वह मैकनाटन को केवल कैद करना चाहता था, परन्तु मैक-

नाटन की बातों से उसको क्रोध आ गया। इतने ही में किसी ने कहा कि अँगरेजी सेना आ रही है। इस पर उसने मैकनाटन को गोली से मार

पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा

दिया ।^१ इसके बाद ता० १ जनवरी सन् १८४२ को जैसे-तैसे समझौता करके, तोप, बन्दूक, गोली, बारूद सब सामान छोड़-छाड़कर अँगरेजी सेना काबुल से निकल भागी । बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और नौकर-चाकर सब मिलाकर इस सेना में १६५०० मनुष्य थे । इनमें से ता० १३ जनवरी को केवल डाक्टर ब्राइडन बचकर जलालाबाद पहुँचा । बहुत से शीत और मार्ग के कष्ट से मर गये । बहुतों को, अकबरखाँ के मना करने पर भी, सीमा पर के उद्दंड अफगानियों ने पहाड़ों के तंग रास्तों में मार डाला । कई एक अफसर कैद कर लिये गये, बाल-बच्चे तथा स्त्रियाँ अकबरखाँ की निगरानी में छोड़ दी गईं । इस तरह काबुल की अँगरेजी सेना का अन्त हो गया ।

आकलैंड का दोष—इस युद्ध के लिए लार्ड आकलैंड को बहुत कुछ दोष दिया गया है, पर वह केवल इंग्लैंड-सरकार की आज्ञा का पालन कर रहा था । वास्तव में इसका बीज लार्ड बैटिक, जिसको अब आकलैंड की नीति पर आश्चर्य हो रहा था, बो गया था । इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड आकलैंड में स्वतंत्र विचार की शक्ति न थी, वह अपने मंत्रियों के हाथ में था । पर इसमें उसका या उसके सलाहकारों ही का क्या दोष था ? वे लार्ड वेलेजली और हेस्टिंग्स के बताये हुए मार्ग पर चल रहे थे । यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र राज्यों में हस्तक्षेप करना अनुचित न था, तो सिन्ध नदी पार उसी नीति के अनुसरण करने में क्या दोष था ? लोकमत की कुछ भी पर्वाह न करके अयोग्य शासक का पक्ष लेना, उसके राज्य में अपनी सेना रखकर शासन में हस्तक्षेप करना और अन्त में उसके मत्थे सब दोषों को मढ़कर राज्य छीन लेना अँगरेजों की मुख्य नीति रही है । लार्ड आकलैंड और उसके सलाहकार इसी नीति पर चल रहे थे । यदि उनकी कोई भूल थी, तो इतनी ही कि उन्होंने अफगानिस्तान को भी भारतवर्ष समझ लिया था । सफलता होने से लार्ड आकलैंड की भी गणना साम्राज्य के निर्माण करनेवालों में हुई होती, इसमें सन्देह नहीं है ।

लार्ड एलिनबरा—फरवरी सन् १८४२ में आकलैंड वापस चला गया और एलिनबरा गवर्नर-जनरल होकर आया। यह तीन बार 'बोर्ड



एलिनबरा

ऑफ कंट्रोल' का सभापति रह चुका था। ईंग्लैंड की रानी विक्टोरिया की इस पर बड़ी कृपा थी। अफगान-युद्ध की नीति का यह घोर विरोधी था। इसी लिए संचालकों ने इसको भारतवर्ष भेजा था। इस युद्ध में पानी की तरह धन खर्च हो रहा था और कोई अन्त न दिखलाई देता था। एलिनबरा पहले काबुल पर "एक सप्ताह" भर के लिए भी अधिकार करके अँगरेजी सेना की लज्जा मिटाना चाहता था। पर जब उसको गजनी छिन जाने का समाचार मिला, तब उसने अफगानिस्तान एकदम खाली कर देने की

आज्ञा दे दी। अंकवरखाँ के हाथ में बहुत से अँगरेज कैदी थे, उनका भी उसने कोई खयाल नहीं किया। यह बात अँगरेज अफसरों को बहुत खटकी। तब उसने जनरल पोलक और नाट को, जो अफगानिस्तान में थे, लिख दिया कि जैसा उचित जान पड़े वैसा करो। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि इस तरह एलिनबरा ने अपनी जिम्मेदारी टाल दी। एलिनबरा का अपने समर्थन में कहना है कि उसने स्थानीय अफसरों को केवल स्वतंत्रता दे दी।^१

युद्ध की समाप्ति—जनरल पोलक ने जलालाबाद की रक्षा की थी और जनरल नाट कन्दहार में डटा पड़ा था। अब ये दोनों काबुल की ओर

बढ़े। सिखों को जलालाबाद देने का लालच दिया गया और उनको खूब धार्मिक जोश दिलाया गया। पहले गजनी पर अधिकार कर लिया गया और वहाँ का किला तथा नगर नष्ट कर दिया गया। सितम्बर सन् १८४२ में काबुल पर भी अधिकार हो गया। वहाँ के निरपराध दूकानदारों को लूटकर और दो मस्जिदें तथा चार बाजारें, जो “एशिया में अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थीं,” नष्ट करके हार का बदला लिया गया।^१ जिन्होंने अँगरेजों की दुर्दशा की थी, उनका कुछ भी करते न बन पड़ा। उल्टे उनको बहुत सा रुपया देकर कैदियों को छुड़ाया गया। अकबरखाँ को, जिसने अँगरेज कैदियों को बड़ी अच्छी तरह रखा था, पकड़े जाने पर मैकनाटन की हत्या का दंड देने की आज्ञा थी। अब रूसी से समझौता किया गया और अफगानिस्तान खाली करके दोस्तमुहम्मद को वापस कर देने का वचन दिया गया। शाहशुजा को अपने प्राण गवाँकर अँगरेजों की सहायता से राज्य करने का फल पहले ही मिल चुका था। अफगानिस्तान में रहने का अब अँगरेजों को साहस न था।



दोस्तमुहम्मद

सोमनाथ का फाटक—
कहा जाता है कि महमूद सोमनाथ के मन्दिर में लगा हुआ चन्दन का फाटक गजनी ले गया था और यह वहाँ उसके मकबरे में लगा था। लार्ड एलिनबर्ग ने उस फाटक को भारतवर्ष लाने की आज्ञा दी, पर

^१ जान के, दि वार इन अफगानिस्तान, जि० २, पृ० ६३८-३९।

जो फाटक लाया गया वह दूसरा ही था। इतने दिनों की भूली हुई बात का स्मरण दिलाकर भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर भेदभाव को जाग्रत करने का यह प्रयत्न किया गया। लार्ड एनिनबरा इसको बड़ी धूमधाम से सोमनाथ ले जाना चाहता था, परन्तु इंग्लैंड में इसका बड़ा विरोध किया गया। इस पर यह विचार छोड़ दिया गया। यह फाटक आजकल आगरा के किले में पड़ा हुआ सड़ रहा है। अफगानिस्तान से लौटी हुई सेना का फीरोजपुर में बड़े समारोह के साथ स्वागत करने का प्रयत्न किया गया। लार्ड एलिनबरा इसमें दोस्तमुहम्मद को भी शामिल करना चाहता था। उस अभिमानि शासक पर इसका प्रभाव क्या होता, जब यह पता चला, तब यह विचार भी छोड़ दिया गया। स्वागत के लिए महीनों से हाथियों को सलामी करना सिखलाया गया था, पर ठीक समय पर उन्होंने इससे इनकार कर दिया, जिससे सारा मजा किरकिया हो गया। नाममात्र की विजय का इस अपमान-सूचक ढंग से मनाया जाना बहुतों ने पसन्द नहीं किया।

सिन्ध का शिकार—इस युद्ध में बहुत सा धन खर्च हुआ था, जिसकी पूर्ति करनी थी। अँगरेजों की बदनामी भी बहुत हुई थी, उसको किसी न किसी तरह मिटाना था। इसी लिए अब सिन्ध का शिकार करना निश्चित किया गया। इसमें एक यह भी लाभ देखा गया कि सिन्ध नदी पर, जो अकबर के शब्दों में “दिल्ली की खाई” थी, अधिकार हो जाने से पंजाब को भी दाना के अवसर मिल जायगा। सिन्ध के साथ पहले ही से अन्याय किया गया था। यहाँ ब्रिलोचियों का राज्य था, जिनमें हैदराबाद, मीरपुर और खैरपुर के मुख्य घराने थे, जो अमीर कहलाते थे। सन् १८०९ में इनसे केवल फ्रांसीसियों को अलग रखने के लिए कहा गया था। सन् १८३१ में इनकी इच्छा के विरुद्ध रणजीतसिंह को उपहार ले जाने का बहाना करके बर्न्स सिन्ध नदी के मार्ग से लाहौर भेजा गया। तभी एक ब्रिलोची ने कह दिया था कि “बस अब हो चुका, अँगरेजों ने हमारे देश के मार्ग को देख लिया।” परन्तु अँगरेजों के विश्वास दिलाने पर कि सिन्ध नदी से सिवा व्यापार के और कोई सैनिक लाभ न उठाया जायगा, अमीरों ने व्यापार करने की आज्ञा दे दी थी।

सन् १८३८ में शाहशुजा और रणजीतसिंह के साथ जो समझौता किया गया, उसमें सिन्ध का कुछ भी ध्यान न रखा गया और उन दोनों को सिन्ध से २० लाख रुपया दिलवा देने का वचन दे दिया गया। सन् १८३९ में पिछली सन्धि के विरुद्ध सिन्ध नदी से अफगानिस्तान सेना भेज दी गई, बक्सर पर अधिकार कर लिया गया और ३ लाख रुपया साल सेना का खर्च भी अमीरों के मत्थे मढ़ दिया गया। उनसे कहा गया कि आवश्यकता के लिए कोई नियम नहीं है। समय पड़ने पर मित्रों की सहायता करनी चाहिए। इस पर मीर नूरमुहम्मद ने ठीक ही कहा कि अँगरेजों के “मित्र” शब्द का अर्थ उसकी समझ में कभी न आयागा।^१ अफगानिस्तान में अँगरेजों पर विपत्ति पड़ने के समय में ये अमीर बराबर उनकी सहायता करते रहे थे। पर इसका भी कुछ विचार न किया गया और सर चार्ल्स नेपियर गवर्नर-जनरल का प्रतिनिधि बनाकर सिन्ध भेजा गया, जो हर एक बात में हस्तक्षेप करने लगा।

मियानी का युद्ध—अमीरों पर तरह-तरह के दोष लगाये गये और एक नई सन्धि करने के लिए उन्हें मजबूर किया गया। इसके अनुसार सैनिक खर्च के लिए कुछ स्थान ले लिये गये और सिन्ध में अँगरेजों का सिक्रा चला दिया गया। जिन स्थानों के लेने की बातचीत थी, सन्धि पर हस्ताक्षर होने के पहले ही उन पर अधिकार कर लिया गया, और अमीरों को डराने के लिए इमामगढ़ का प्रसिद्ध किला नष्ट कर डाला गया। अमीरों ने सन्धि पर तो हस्ताक्षर कर दिये परन्तु यह स्पष्ट कह दिया कि उद्दंड बिलोची इस अपमान को सहन न कर सकेंगे। उनकी वे जिम्मेदारी नहीं ले सकते। इस घटना के तीसरे ही दिन कुछ बिलोचियों ने बिगाड़कर रेजीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। फिर क्या था, तीन हजार सेना लेकर नेपियर पहुँच गया। अमीरों की बाईस हजार सेना थी, बिलोची बड़ी वीरता से लड़े, पर तब भी उनकी हार हुई। रिचर्ड बर्टन लिखता है कि यदि कभी इसकी जाँच की जाय कि गुप्त रीति

से कितना रुपया उनके अफसरों को दिया गया तो अँगरेजों की विजय के कारणों का पता लग सकता है।^१ लूट में कोई कसर न रखी गई। इसमें से ७० हजार पौंड नेपियर को मिले। बिलोचियों के विद्रोह में अमीरों का कितना दोष था, इसकी पूरी जाँच भी नहीं की गई और वे गिरफ्तार करके बम्बई भेज दिये गये। सिन्ध अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और चार्ल्स नेपियर वहाँ का शासक बना दिया गया।

इस तरह सिन्ध ले लेने का अँगरेजों को कोई अधिकार न था, इसको स्वयं नेपियर ने भी स्वीकार किया है। वह लिखता है कि “हमें सिन्ध लेने का कोई अधिकार नहीं है, तब भी हम ऐसा करेंगे” क्योंकि यह “बड़ा लाभदायक” होगा। इसमें “धूर्तता” की गई, इसको भी मानने की “वृष्टता” उसने की है।^२ संचालकों का भी ऐसा ही मत था। परन्तु यह सब होते हुए भी सिन्ध को लौटालने के लिए कोई भी तैयार न था। इस जबरदस्ती के समर्थन में कहा जाता है कि अन्ततः इससे वहाँ की प्रजा का लाभ ही हुआ। यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस मामले में अँगरेजों का उद्देश्य काबुल की लज्जा मिटाना न था। कई कारणों से सिन्ध को अँगरेजी राज्य में मिला लेना अनिवार्य हो गया था।^३

ग्वालियर का झगड़ा—सिन्धिया इस समय भी “थोड़ा बहुत स्वतंत्र था।” उसके साथ कोई सहायक सन्धि न थी और न उसके राज्य की गणना अधीन राज्यों में थी। मेजर क्लेज के शब्दों में “वह स्वाधीन था,” उसके साथ “कई एक सन्धियाँ थीं, पर उनसे उसकी स्वतंत्रता नष्ट न होती थी।” यह स्वतंत्रता गवर्नर-जनरल की आँखों में खटक रही थी। सिन्धिया के पास इस समय भी ४० हजार अच्छी सेना थी। गवर्नर-जनरल की राय में, सतलज नदी से थोड़ी दूर पर, जहाँ सिखों की ७० हजार सेना “विजय

१ लाइफ ऑफ रिचर्ड बर्टन, पृ० १४१। बसु, जि० ५, पृ० १०५।

२ लाइफ ऑफ जनरल नेपियर, जि० २, पृ० २१८।

३ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ५, पृ० ५३८-३९।

के मद में मस्त” और “लड़ाई तथा लूट के लिए उत्सुक” पड़ी थी, इस सेना का रहना उचित न था। उस तरह उसको दृष्टि पंजाब और ग्वालियर दोनों ही पर थी। ग्वालियर की शक्ति नष्ट करने का एक अच्छा अवसर मिल गया।

सन् १८४३ में जनकोजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई और एक नौ वर्ष का बालक गोद लेकर गद्दी पर बिठलाया गया। एलिनबरा ने दबाव डालकर मामा साहब को उसका संरक्षक बनवा दिया, पर ग्वालियरवालों ने थोड़े ही दिनों में उसे निकाल बाहर किया और दादा खासगीवाला को संरक्षक चुना। दरबारियों की इस धृष्टता को अभिमानी एलिनबरा सहन न कर सका। नये संरक्षक पर कितने ही अपराध लगाये गये। रेजीडेंट को गवर्नर-जनरल का यह अकारण हस्तक्षेप बहुत पसन्द न था, इसलिए वह अपने पद से हटा दिया गया और कर्नल स्लीमैन रेजीडेंट बनाया गया। अधिक दबाव डालने पर दरबार ने दादा साहब को भी गवर्नर-जनरल के हवाले कर दिया, पर तब भी वह सैना लेकर, चम्बल पार उतर आया। सिन्धिया की सेना ने इसको अपने राज्य पर आक्रमण समझा। महाराजपुर और पनियर नामक दो स्थानों पर एक ही दिन युद्ध हुआ। ऐसे युद्धों में जो परिणाम होता था वही हुआ। इन दिनों सिन्ध के सम्बन्ध में एलिनबरा की नीति का तीव्र आलोचना हो रही थी। यदि ऐसा न होता, तो शायद सिन्धिया का राज्य भी ले लिया जाता। अन्त में गवर्नर-जनरल ने “दया करके” राज्य वापस कर दिया। नई सन्धि से जो कुछ स्वतन्त्रता थी, वह सब जाती रही और सेना भी तोड़ दी गई।

पंजाब पर दृष्टि—एलिनबरा की पंजाब पर पूरी दृष्टि थी। रण-जीतसिंह के मरने से वहाँ की दशा त्रिगड़ रही थी। सिखों को जलालाबाद देकर वह उनकी सेना को पश्चिम की ओर हटाना चाहता था। काबुल की तरफ बढ़ने के लिए भी वह उनको भड़का रहा था। अपने पत्रों में वह लिखता है कि पंजाब मेरे पैरों तले है, पर अभी समय नहीं आया है। वहाँ आपस की फूट से वही हो रहा है जो हम चाहते हैं। यदि सन् १८४५

तक का मुझे समय मिल गया, तो फिर किसी बात का भय नहीं है।^१ इन वाक्यों से स्पष्ट है कि यदि वह भारतवर्ष में रह जाता तो उसी के समय में सखों के साथ भी युद्ध छिड़ जाता।

अन्य राज्य—निजाम की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ रही थी, उसको कर्ज देकर उसके हाथ से भी शासन ले लेने की बातचीत हो रही थी। दूसरी ओर अवध के शाह से दस लाख कर्ज लिया जा रहा था। जान पड़ता था कि अवध का खजाना कम्पनी ही का माल था। बेचारा शाह अँगरेजी पुस्तकों के अनुवाद में लगा था, जिसके लिए उसकी प्रशंसा को जा रही थी। राजाओं के कोई सन्तान न होने के कारण बुंदेलखंड के दो छोटे-छोटे राज्य जब्त कर लिये गये। बेचारे दिल्ली के बादशाह को नजर देने की प्रथा बन्द कर दी गई। एलिनबरा उसको कुटुम्ब सहित महल से निकालकर महल को गवर्नर-जनरल का निवास-स्थान बनाना चाहता था। उसकी राय में सम्राट् का पद इंग्लैंड के शासकों को मिलना चाहिए था।

एलिनबरा की नीति—लार्ड एलिनबरा “एशिया में शान्ति स्थापित करने” आया था। वह भारतवर्ष का दूसरा “अकबर” बनना चाहता था। उसका कहना था कि जनता को ब्रिटिश सरकार से कुछ भी प्रेम नहीं। उसने प्रजाहित के लिए कोई भी बड़ा काम नहीं किया। बड़ी-बड़ी इमारतें गिर रही हैं, मन्दिर टूट रहे हैं और देशी नरेशों के मान का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है। हम कोई भी ऐसा काम नहीं कर रहे हैं, जिससे हमारी उदारता का परिचय मिले। हम केवल सेना के बल पर शासन कर रहे हैं। मैं अँगरेजी राज्य को जनता के हृदय में स्थापित करना चाहता हूँ और मैं इसको कर सकता हूँ। जिस तरह अकबर की सरकार दृढ़ थी, मैं उसी तरह ब्रिटिश सरकार को भी दृढ़ बना सकता हूँ। “परन्तु तब मुझे अकबर की तरह काम करना पड़ेगा न कि आकलैंड की तरह”।^२

१ ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के नाम पत्र, बसु, जि० ५, पृ० १४१—४६।

२ ला, इंडिया अंडर लार्ड एलिनबरा, पृ० ६४।

इन शब्दों और उसके कार्यों में कितना अन्तर था ? परन्तु इनसे उन दिनों भी सरकार के प्रति जो भाव था, वह अवश्य प्रकट हो रहा है ।

सन् १८३३ के एक भाषण में एलिनबरा का कहना था कि राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति हिन्दुस्तानियों के हाथ में न देने ही से भारत में हमारा साम्राज्य स्थापित रह सकता है । इसका ध्यान रखते हुए प्रजाहित के लिए जो कुछ बन पड़े करना चाहिए । वास्तव में इसी नीति के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया गया । सन् १८४३ में दासता की प्रथा उठा दी गई । सरकार की ओर से लाटरी डालकर रुपया इकट्ठा करने की रीति भी बन्द कर दी गई । शासन के भिन्न-भिन्न विभाग सेक्रेटारियों में बाँट दिये गये और एक 'अर्थसदस्य' भी नियुक्त किया गया । पुलिस की दशा भी सुधारी गई और थानेदारों का वेतन कुछ बढ़ा दिया गया ।

कम्पनी के संचालक उसकी नीति से सन्तुष्ट न थे । नौकरी के मामलों में वह उनकी न सुनता था । लार्ड वेलेजली की तरह वह भी उनका निरादर करता था । उसे बड़ा अभिमान था और वह बिना सोचे-विचारे बड़ी शान के घोषणा-पत्र निकाल करता था, जिनका प्रभाव अच्छा न पड़ता था । लार्ड वेलेजली और वेलिंगटन उसके बड़े सलाहकार थे । उनकी राय में गवर्नर-जनरल के पद के लिए उससे बढ़कर इंग्लैंड में कोई योग्य न था । रानी विक्टोरिया का भी यही मत था । तब भी सन् १८४४ में संचालकों ने उसको वापस बुला लिया । उनके इस कार्य से रानी विक्टोरिया बहुत रुष्ट हो गई ।

लार्ड हार्डिज—एलिनबरा के स्थान पर सर हेनरी हार्डिज गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया । नेपोलियन के विरुद्ध स्पेन की लड़ाइयों में उसने बड़ी वीरता और चतुरता दिखाई थी । बीस वर्ष से वह पार्लियामेंट का मेम्बर था और युद्ध-सचिव के पद पर बहुत दिनों तक काम कर चुका था । लार्ड एलिनबरा की राय में "दो वर्ष के युद्ध से सर्वत्र शान्ति विराज रही थी ।" पर तब भी पंजाब की दशा देखते हुए इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों को युद्ध की आशंका हो रही थी । इसी लिए गवर्नर-जनरल के पद पर हार्डिज सा रण-

चतुर सैनिक नियुक्त किया गया। इंग्लैंड से चलते समय संचालकों की ओर से कहा गया कि “ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन न्यायपूर्ण, नम्र तथा



हार्डिज

शान्तिप्रद होना चाहिए, परन्तु समय पड़ने पर उसकी शक्ति का प्रभुत्व शत्रुओं के बल से अवश्य स्थापित रखना चाहिए।” युद्धप्रिय सैनिक के लिए भावी नीति का इतना इशारा काफी था।

रणजीतसिंह की मृत्यु—सन् १८३९ में 'पंजाबकेशरी' महा-राजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था, पर तब भी वह बड़ा योग्य शासक था। उसकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। हर एक बात जानने की उसको उत्सुकता रहती थी। वह बड़ा वीर और साहसी था, किसी बात में उसकी हिंमत कभी न हारती थी। घोड़े की सवारी और तलवार चलाने में वह बड़ा निपुण था। अच्छे-अच्छे घोड़ों के रखने का उसको बड़ा शौक था। रणनीति में भी वह चतुर था, उसका सामना करना सहज काम न था। उसका अधिकांश जीवन युद्ध में ही व्यतीत हुआ था, पर तब भी उसमें कठोरता न थी। अपने शत्रुओं में भी वह वीरता का आदर करता था। उसके उदार व्यवहार से शत्रु भी मित्र बन जाते थे। अपना मतलब सिद्ध करने में वह किसी उपाय से न चूकता था। उसका दरबार बड़ी शान का था, पर वह स्वयं सादे ढग से रहता था। तलवार को ही वह अपना सबसे अच्छा आभूषण समझता था। उसके चेहरे पर शीतला के दाग थे, एक आँख भी नहीं थी, परन्तु उसकी "आकृति सुडौल, माथा विशाल और कंधे चौड़े" थे। जब वह घोड़े पर निकलता था, उसमें विचित्र वीर-रस का आवेश दिखलाई देता था।

सिख-शासन—खालसा की मुख्य सभा 'गुरुमाता' का अन्त सन् १८०५ में ही हो गया था। राज का कुल शासन महाराजा की इच्छा पर निर्भर था। राज्य की आमदनी लगभग दारु करोड़ रुपया थी। हर एक जिले में एक 'कारदार' रहता था, जो कर वसूल करता था। प्रजा से, पैदावार के पाँचवें हिस्से से कुछ अधिक, लगान में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त और भी कई तरह के कर लिये जाते थे। जागीरदारों का 'खिराज' बंधा हुआ था। कारदारों को न्याय के भी अधिकार रहते थे। दीवानी और फौजदारी की अलग-अलग अदालतें न थीं। बहुत से अपराधों में प्रायः जुर्माने का दंड दिया जाता था। महाराजा की राय में अपराधियों को जेल में रखना फजूलखर्ची थी। बड़े-बड़े अपराधों में अंग-भंग का दंड दिया जाता था। सरकारी अफसरों पर महाराजा की बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी।

हिसाब की वह स्वयं जाँच करता था। बेईमानी या अन्याय करनेवालों को वह बड़ा कठोर दंड देता था। महाराजा से अपना दुख कहने के लिए प्रजा को बराबर अवसर दिया जाता था। गरीब से भी गरीब आदमी की उसके दरबार में सुनवाई होती थी।

यही कारण है कि आधुनिक दृष्टि से कठोर होते हुए भी उसका शासन लोकप्रिय था। प्रजा का उस पर विश्वास था। बड़े-बड़े सरदार उसके भय से काँपते थे, बाहर से आक्रमण करने का किसी शत्रु को साहस न होता था। अमृतसर का विशाल नगर उस समय की समृद्धि का प्रमाण है। कर्नल फ्रैंकलिन के शब्दों में सिखों के शासन-काल में खेती की दशा अच्छी थी। योग्य अफसरों को चुनने का महाराजा में बड़ा भारी गुण था। वह उनका बराबर ध्यान रखता था और वे भी उस पर सदा प्राण तक न्यौछावर करने के लिए तैयार रहते थे। सिखों के साथ कुछ रियायत अवश्य की जाती थी, पर शासन में अन्य किसी तरह का धार्मिक पक्षपात न किया जाता था। उसका सबसे बड़ा सलाहकार योग्य फकीर अजीजुद्दीन था। एक ब्राह्मण अयोध्या-प्रसाद दोवान था, राजा दीनानाथ अर्थसचिव था। जम्मू के डोगरा सरदार ध्यानसिंह, सचेतसिंह और गुलाबसिंह भी बड़े-बड़े पदों पर काम करते थे। इस उदार नीति के कारण अन्य सम्प्रदायवाले भी उसका बड़ा आदर करते थे।

उसके शासन में बहुत से दोष भी थे। महाराजा रणजीत सिंह में वे सब कमजोरियाँ थीं, जो उस समय के प्रायः सभी बड़े-बड़े आदमियों में पाई जाती थीं। पर तब भी यह मानना पड़ेगा कि वह अपने समय का बड़ा प्रतिभाशाली शासक था। अँगरेजों से मित्रता रखना उसकी मुख्य नीति थी। इसी लिए मराठों का भी उसने साथ नहीं दिया। इस मित्रता का जो कुछ अन्तिम परिणाम हुआ, उसे देखते हुए, उसकी दूरदर्शिता में सन्देह होता है। पर साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसी कुछ स्थिति थी, उसमें अँगरेजों की प्रबल शक्ति को नष्ट करना उसे असम्भव प्रतीत हो रहा था। देश का भविष्य उससे छिपा न था। भारत के नक्शे में 'लाल' और 'पीले' रंग का अर्थ अतलाये जाने पर उसने कह दिया था कि "एक दिन सब लाल हो जायगा।"

पंजाब की दुर्दशा—रणजीतसिंह के मरते ही सारी शासन-व्यवस्था बिगड़ गई। दरबार के बड़े बड़े सरदारों को, जो उसके सामने भय से काँपते थे, अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर मिल गया और सेना बेकाबू हो गई। केवल राजा की योग्यता और शक्ति पर निर्भर रहनेवाले राज्यों में यही बड़ा भारी दोष है। उसके हटते ही पतन प्रारम्भ हो जाता है। बराबर वैसे ही राजा होते जायँ, यह सम्भव नहीं है। एक इतिहासकार ने ठीक लिखा है कि यदि भारतवर्ष में अकबर सरीखे ही बाँदशाह बराबर शासन करते, तो आज भी अँगरेज वैसे ही व्यापारी बने होते, जैसे कि वे तब थे।

साल भर के भीतर ही रणजीतसिंह के बेटे खड़कसिंह और पोते नावनिहालसिंह का भी अन्त हो गया। नावनिहालसिंह बड़ा वीर युवक था। सेना पर भी बड़ा प्रभाव था, अफगान-युद्ध में वही सेनापति था। अँगरेजों की नीति को वह खूब समझता था। इन दिनों दरबार में दो बड़े बड़े दल थे। एक ओर मुख्य सिन्धन-वालिया सरदार थे और दूसरी ओर जम्मू के ध्यानसिंह, गुलाबसिंह तथा सुचेतसिंह तीनों भाई थे। कुछ दिनों तक खड़कसिंह की रानी चाँदकुँवरि राज्य करती रही। अन्त में जम्मूवालों की विजय हुई और शेरसिंह जो रणजीतसिंह का दूसरा लड़का माना जाता था, गद्दी पर बिठलाया गया। इस समय राज्य की ऐसी शोचनीय दशा हो गई थी कि अँगरेजों से भी सहायता माँगी गई, पर उन्होंने परस्पर की कलह जारी रहने ही में अपना हित देखा और रणजीतसिंह की मित्रता का कुछ भी ध्यान न करके, हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। सन् १८४३ में शेरसिंह मार डाला गया और प्रधान सचिव ध्यानसिंह का भी अन्त हो गया। यह बड़ा महत्वाकांक्षी, साहसी, योग्य, समझदार और नीतिनिपुण सचिव था। सुचेतसिंह की भी मृत्यु हो गई। तीनों भाइयों में केवल गुलाबसिंह बाकी रह गया। इसी साल ८ वर्ष का बालक दिलीपसिंह गद्दी पर बिठलाया गया और उसकी माता रानी क्षिन्दन राज्य का काम देखने लगी।

कहने के लिए तो दिलिपसिंह और उसके सरदार राज्य करते थे, पर वास्तव में सारी शक्ति सेना के हाथ में थी। रणजीतसिंह के बाद से इसकी

संख्या बहुत बढ़ गई थी। इसको काबू में रखने के लिए नावनिहालसिंह और शेरसिंह के समय में सैनिकों का वेतन भी बहुत बढ़ा दिया गया था। अब कोई ऐसा योग्य सरदार न था, जिसकी आज्ञा का सारी सेना पालन करती। हर एक कम्पनी की अलग-अलग पंचायतें बनी हुई थीं। पंचों का निर्वाचन सैनिक ही करते थे, इन्हीं पंचायतों द्वारा कुल सेना का शासन होता था। कभी-कभी यह सब पंचायतें एक साथ मिलकर परामर्श करती थीं और उनका निश्चय खालसा का निश्चय माना जाता था। इस संगठन से सेना की एकता, जो सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है, नष्ट हो गई थी और कई एक दल बन गये थे, जिन्हें सरदार लोग अपने-अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया करते थे। ऐसी दशा में खालसा की न तो कोई निश्चित नीति थी और न जटिल प्रश्नों पर पूरी तरह विचार ही होता था। परन्तु जो सरदार अपनी मनमानी करना चाहते थे, उनके मार्ग में इस सेना से बड़ी बाधा पड़ती थी। इन दिनों तेजसिंह प्रधान सेनापति था और कुटिल लालसिंह वजीर था, जिसका महारानी पर बड़ा प्रभाव था। गुलाबसिंह दूर ही से यह सब दशा देख रहा था। परन्तु सेना के कारण इन तीनों की दाल न गलने पाती थी, इसी लिए किसी न किसी तरह सेना की शक्ति को नष्ट करके ये तीनों अपनी मनमानी करना चाहते थे।

सिखों का पहला युद्ध—सिखों की यह दशा देखकर अँगरेज अपनी सीमा पर बराबर सेना बढ़ा रहे थे। हार्डिंज के समय में इसकी संख्या लगभग ४५ हजार तक पहुँच गई। फीरोजपुर में एक नई छावनी भी बना दी गई। अँगरेजों का कहना था कि यह सब तैयारी केवल अपनी रक्षा की दृष्टि से की जा रही थी। दूसरी ओर सिखों को भय था कि उनके राज्य पर आक्रमण के लिए यह सब प्रबन्ध हो रहा था। इस भय के कई एक कारण भी थे। अँगरेजी राज्य के विस्तार का इतिहास उनसे छिप नहीं था। “आत्म-रक्षा” के अर्थ को भी वे अच्छी तरह समझते थे। अँगरेजों के व्यवहार से भी उनके इस भय की पुष्टि हो रही थी। अफगान-युद्ध में सहायता देने का बदला, शाहशुजा को पेशावर छीनने के लिए उत्साहित करने में दिया गया

था। सतलज नदी के इस पार के कुछ राज्यों को अँगरेजों ने अपने अधीन मान लिया था। कुछ सिख सैनिक लाहौर जाने के लिए फीरोजपुर के निकट सतलज नदी पार करके अँगरेजी राज्य में आ गये थे। यह बिना आज्ञा के "सीमोल्लंघन" समझकर उन पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई थी। इसी तरह कुछ सिपाही लुटेरों को पकड़ने के लिए सिन्ध चले गये थे। इस पर सर चार्ल्स नेपियर ने उधर की सीमा पर सेना एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया था। सिखों को यह मुलतान की तरफ से चढ़ाई करने की चाल दिखलाई पड़ रही थी।^१ इस परस्पर अविश्वास की स्थिति में तेजसिंह, लालसिंह और गुलाबसिंह को अपना उद्देश्य सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया। वीरता और देशभक्ति सिखों के स्वाभाविक गुण हैं। इन दोनों को पूरी तरह उत्तेजित करके जब सैनिकों से पूछा गया कि क्या वे खालसा पर फिरंगियों का अधिकार सहन कर सकेंगे, तब सबने एक स्वर से उत्तर दिया कि जीते जी वे गोविन्दसिंह का राज्य नष्ट न होने देंगे और अँगरेजों पर स्वयं आक्रमण करके उनको परास्त करेंगे। महाराजा रणजीतसिंह की समाधि पर यह निश्चय करके दिसम्बर सन् १८४५ में सिख सेना सतलज नदी पार करके फीरोजपुर के निकट आ डटी।

इस पर गवर्नर-जनरल हार्डिज ने भी युद्ध की घोषणा कर दी और सतलज नदी के इस पार के राज्यों को अँगरेजी राज्य में मिला लेने की आज्ञा दे दी। सिख-इतिहास के लेखक कनिंघम का कहना है कि सन्धि की शर्तों को तोड़कर युद्ध का प्रारम्भ पहले सिखों ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि कई वर्षों से अँगरेज जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उससे भी शान्ति स्थापित रहने की अधिक सम्भावना नहीं थी। इसलिए उस युद्ध के सम्बन्ध में, जिसको वे तुच्छ समझते थे, जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे थे और जिससे वे जानते थे कि उन्हीं की वृद्धि होगी, वे सर्वथा निर्दोष नहीं कहे जा सकते।^२

१ कनिंघम, हिस्ट्री ऑफ दि सिख, सं० गैरिट, पृ० २७५-८५।

२ वही पृ० २८६-८७।

मुदकी और फीरोजशहर—अँगरेजों को इस समय तक सिखों को वीरता का पता न था। वे समझे बैठे थे कि बात की बात में वे उनको परास्त कर देंगे। यद्यपि युद्ध में अँगरेजों ही की विजय हुई, पर उनका यह भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया। ता० १८ दिसम्बर को मुदकी नामक स्थान पर पहली लड़ाई हुई। लालसिंह जो सेना का अध्यक्ष बनकर आया था, अँगरेजों से पहले ही से मिला था। वह युद्ध के समय पर मैदान से हट गया। प्रधान सेनापति तेजसिंह की भी वही दशा थी। परिणाम यह हुआ कि सिखों को मैदान छोड़ना पड़ा। ता० २१ दिसम्बर को फीरोजशहर में दूसरी लड़ाई हुई। इसमें अँगरेजों के छक्के छूट गये। गोला बारूद समाप्त हो गई, वे फीरोजपुर की तरफ हटने ही वाले थे कि इतने में तेजसिंह स्वयं पीछे हट गया। इस लड़ाई में बहुत से अँगरेज अफसर मारे गये, परन्तु सिख सेना फिर सतलज के उस पार चली गई। जनवरी सन् १८४६ में लुधियाना के निकट एक दल ने अँगरेजों पर फिर आक्रमण किया। अँगरेज सिपाहियों ने इसको रोका अवश्य, पर वे इतने थके हुए थे और उनका साहस इतना टूटा हुआ था कि वे पीछे हटने लगे। इतने पर भी सिखों ने उनका पीछा नहीं किया; क्योंकि “वे बिना ऐसे नेता के थे, जो अँगरेजों को पराजित देखना चाहता हो।” इस अवसर पर बहुत सा लूट का माल सिखों के हाथ आया और अँगरेजों के बहुत से सिपाही भी गिरफ्तार हुए। इससे सिखों की हिम्मत बढ़ गई।

अलीवाल और सोबराव—इस समय तक गुलाबसिंह जम्मू से ही यह रंग देख रहा था। अब वह भी लाहौर आकर सेना को और बढ़ावा देने लगा, पर स्वयं रणक्षेत्र में जाने का अवसर बड़ी चतुरता से दालता रहा। जनवरी सन् १८४६ के अन्त में सिख सेना फिर सतलज पार करके आ गई, पर अलीवाल के युद्ध में इसको फिर हारना पड़ा। इस पर गुलाबसिंह ने सन्धि की बातचीत प्रारम्भ कर दी और अँगरेजों से भिड़ने के लिए सेना को भी बुरा-भला कहा। परन्तु अब गवर्नर-जनरल ने लाहौर पर विजय-पताका फहराना निश्चित कर लिया था, इसलिए वह सिख सेना के तोड़ देने की

शत चाहता था। यह बात गुलाबसिंह की शक्ति के बाहर थी। इसलिए उसकी राय से यह तय पाया कि “अंगरेज सिख सेना पर आक्रमण करें। हार होने पर दरबार उसका साथ छोड़ दे, सतलज पर कोई रोक-टोक न की जाय और विजेताओं के लिए राजधानी का मार्ग खुला छोड़ दिया जाय।” इति-हासकार कनिंघम के शब्दों में “इस चतुर नीति और निर्लज्ज विश्वासघात की दशा में सोबरात्र का युद्ध हुआ”।^१

लड़ने के लिए सैनिकों के हृदय में साहस था, भुजाओं में बल था, केवल एक नेता की कमी थी, जो सबको जोश दिलाकर हर एक बात का ठीक-ठीक प्रबन्ध कर सकता। पहले ही वार में तेजसिंह भाग निकला, केवल वृद्ध श्यामसिंह सेना को ललकारता हुआ रणक्षेत्र में डटा रहा, जहाँ लड़ते-लड़ते वह मारा गया। मजबूर होकर सिख सेना पीछे हटने लगी। उधर सतलज नदी का बाँध टूटा हुआ था, इस पर बहुत से सिपाही नदी में कूद पड़े। ऐसी दशा में भी उन पर गोलाबारी की गई। थोड़े ही समय में नदी रक्त से लाल हो गई पर एक सैनिक ने भी शरण की भिक्षा नहीं माँगी। इस तरह सिखों का पहला युद्ध समाप्त हुआ। इसमें जितने अंगरेज अफसर मारे गये, उतने किसी युद्ध में काम न आये थे।

लाहोर की सन्धि—अंगरेजी सेना ने सतलज नदी पार करके कसूर के किले पर अधिकार कर लिया। गुलाबसिंह भी युवक दिलीप को साथ लेकर आ गया। लाहोर पहुँचकर ता० ९ मार्च को सन्धि हो गई। सतलज और व्यास नदियों के बीच की भूमि सिखों से ले ली गई, डेढ़ करोड़ रुपये दंड भी माँगा गया और सेना की संख्या घटा दी गई। युद्ध में जिन तोपों

^१ कनिंघम, हिस्ट्री, पृ० ३०९। इस स्पष्ट बात को लिखने के कारण कनिंघम ‘पोलिटिकल विभाग’ से हटा दिया गया और पंजाब से भूपाठ बदल दिया गया। वह आठ वर्ष तक पंजाब में रहा था, इन लड़ाइयों में भी मौजूद था। उसका कहना था कि मैंने पूरी जाँच करके ऐसा लिखा है।

से काम लिया गया था, वे भी छीन ली गईं। गुलाबसिंह जम्मू का स्वतंत्र महाराजा मान लिया गया। लालसिंह वजीर बनाया गया और साल भर



के लिए कुछ अँगरेजी सेना लाहोर में छोड़ दी गई। दंड का रुपया वसूल न होने पर हजारों और काश्मीर के इलाके ले लिये गये और ३५ लाख रुपये में काश्मीर गुलाबसिंह के हाथ बँच दिया गया। सन्धि में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि “ब्रिटिश सरकार लाहोर राज्य के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी।”

आर्थिक तथा सैनिक कठिना

इयों के कारण पंजाब का अँगरेजी राज्य में मिलाया जाना उचित न समझा गया। उस समय इसका राजनैतिक प्रभाव भी अच्छा नहीं

गुलाबसिंह

पड़ता, इसका भी ध्यान रखा गया। इसी लिए राज्य का बहुत सा भाग लेकर, सेना घटाकर और गुलाबसिंह को स्वतंत्र बनाकर खालसा पंगु बना दिया गया। काश्मीर की भी रक्षा का कोई उपाय न था, रुपये की बड़ी आवश्यकता थी, इसी लिए वह भी गुलाबसिंह को दिया गया। इस मनोरम देश को इस तरह दे देने के लिए बाद में अँगरेजों को बड़ा पछतावा हुआ। काश्मीर पर अधिकार करने में गुलाबसिंह को कुछ कठिनाई हुई, काँगड़ा कोट भी बिना तोपों का भय दिखलाये हुए अँगरेजों को न मिला। इसके लिए लालसिंह दोषी ठहराया गया। उसकी जागीर छीन ली गई और वह कैद करके अँगरेजी राज्य में भेज दिया गया। विश्वासघात का यही फल होता है। ता० १६ दिसम्बर सन् १८४३ में लाहोर दरबार के कहने पर दूसरी

सन्धि की गयी। महारानी के सब अधिकार छीन लिये गये और उसको डेढ़ लाख रुपया साल की पेंशन दी गई। लाहोर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया, जिसको “सब विभागों के संचालन करने के पूरे अधिकार” दे दिये गये। उसकी निगरानी में काम करने के लिए आठ सरदारों की एक कौंसिल बना दी गई। मुख्य-मुख्य गढ़ों में अँगरेजी सेना रख दी गई और उसके खर्च के लिए दरबार से २२ लाख रुपया साल लेना निश्चित हुआ। दिलीपसिंह के बालिग होने तक आठ वर्ष के लिए यह प्रबन्ध किया गया। अँगरेजों ने इस बात का विश्वास दिलया कि वे राज्य में “शान्ति स्थापित रखने” का प्रयत्न करेंगे और “जनता के भावों तथा राष्ट्रीय संस्थाओं” का बराबर ध्यान रखेंगे।

हार्डिज का शासन—युद्ध में लगे रहने पर भी हार्डिज ने शासन का अच्छा प्रबन्ध किया। उसी के समय में रेल की पैमायश शुरू की गई और गंगा-नहर का काम जोरों से चलाया गया। देशी राज्यों को सती-प्रथा बन्द करने के लिए कहा गया और जंगलियों में ‘नरबलि’ रोकने का भी पूरा प्रबन्ध किया गया। नमक पर महसूल कम कर दिया गया। रविवार को तातील मनाने का भी नियम बनाया गया। खर्च कम करने के लिए सेना की संख्या भी कुछ घटा दी गयी। सिखों पर विजय पाने के लिए उसको लार्ड की उपाधि दी गई। जनवरी सन् १८४८ में वह इंग्लैंड वापस चला गया। चलते समय उसका विश्वास था कि “सात वर्ष तक भारतवर्ष में फिर बन्दूक चलाने की आवश्यकता न पड़ेगी।”

परिच्छेद १२

साम्राज्य की पूर्ति

लार्ड डलहौजी—जनवरी सन् १८४८ में लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल होकर कलकत्ता पहुँचा। इस समय इसकी अवस्था केवल ३५ वर्ष



डलहौजी

की थी। इतनी कम अवस्था में कोई भी गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त न किया गया था। पार्लामेंट में यह दो वर्ष तक 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' का सभापति रह चुका था। भारत-वर्ष की राजनीति से इसका पहले से कोई सम्बन्ध न था। सबका खयाल था कि यह बड़े अच्छे समय पर भारतवर्ष जा रहा है। लार्ड हार्डिज ने "सिखों के दाँत तोड़ दिये हैं," चारों ओर शान्ति विराज रही है। पर इसके पहुँचते ही फिर भीषण युद्ध छिड़ गया।

पंजाब में अशान्ति—लार्ड हार्डिज ने सर हेनरी लॉरेंस को लाहौर दरबार में रेजीडेंट बनाया

था। वह सिखों के साथ सहानुभूति रखता था और बड़ी चतुरता से अपना काम निकालता था। उसके समय में प्रजा की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया गया था। सिखों के अभिमानी स्वभाव को वह अच्छी तरह समझता था

और सदा नीति से काम लेता था। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह छुट्टी लेकर लार्ड हार्डिज के साथ ही इंग्लैंड चला गया और उसकी जगह पर करी रेजीडेंट बनाया गया। इसने सब जगह अँगरेज अफसर भर दिये, जो हर एक काम में अपनी मनमानी करने लगे। कर्नेल स्लीमैन को भय था कि इसका परिणाम वही होगा, जो काबुल में हुआ था। परन्तु उसकी इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इस तरह के हस्तक्षेप से सिखों में बड़ा असन्तोष फैलने लगा। अँगरेज अफसरों ने मुसलमानों को पुरानी बातों का स्मरण दिलाकर सिखों के विरुद्ध भड़काने का भी प्रयत्न किया।^१ पेशावर की तरफ बहुत से मुसलमान बिगड़ पड़े और नाजिम छत्रसिंह को शासन करना असम्भव हो गया। ये सब बातें सिखों को असह्य हो रही थीं और धीरे-धीरे अशान्ति की आग सुलग रही थी।

मुलतान का विद्रोह—रणजीतसिंह के समय में सावनमल मुलतान का दीवान था। उसने नहरें खोदवाकर वहाँ के बहुत से रेगिस्तान को हरा भरा बना दिया था। उसके बाद मूलराज दीवान बनाया गया। इस अवसर पर उससे एक करोड़ रुपया नजराना और कुल पिछला हिसाब माँगा गया। इन सब बातों से तंग आकर मूलराज ने अपने पद से इस्तीफा दे देने का विचार प्रकट किया। इस पर दो अँगरेज अफसरों के साथ एक सिख सरदार नया दीवान बनाकर भेजा गया। मूलराज ने मुलतान उसके हवाले कर दिया, पर कुछ सिपाही बिगड़ गये और उन्होंने अँगरेज अफसरों को मार डाला। मुलतान की सेना घटा देने का नये दीवान को हुक्म हुआ था। सिपाहियों के बिगड़ने का, बहुत सम्भव है, यही कारण रहा हो। अपनी बचत का कोई उपाय न देखकर और सिपाहियों के दबाव में पड़कर मूलराज ने भी विद्रोह कर दिया।^२ यदि अँगरेजी सेना पहुँच जाती, तो यह विद्रोह शीघ्र ही शान्त हो जाता; क्योंकि मूलराज के पास अधिक सेना न थी, पर ऐसा

१ पंजाब पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ३०२।

२ एडवर्ड, द इयर ऑन दि पंजाब फ्रंटियर, जि० २, पृ० ५१।

नहीं किया गया। कहा गया कि गरमी और बरसात में युद्ध छेड़ना ठीक न होगा और इसके शान्त करने का भार लाहौर दरबार पर ही छोड़ दिया गया। सर हेनरी लॉरेंस की राय में ऐसा जान पड़ता था कि सरदी में लार्ड डलहौजी अपनी अध्यक्षता में भारी शिकार करने का विचार कर रहा था।

सिखों का दूसरा युद्ध—मूलराज की सहायता करने का अपराध महारानी पर लगाया गया और वह पंजाब से हटाकर बंगाल भेज दी गई। सब सिख उसको 'माता' करके मानते थे। अभियोग चलाकर उसका अपराध सिद्ध नहीं किया गया। केवल रेजीडेंट के कहने ही पर वह पंजाब से निकाल दी गई। छत्रसिंह की लड़की से महाराजा दिलीपसिंह के विवाह की बातचीत थी, उसमें भी बहुत सी अड़चनें डाली गईं। इन सब बातों से सिखों में बड़ी उत्तेजना फैल गई। कर्नल स्लीमैन लिखता है कि जिस तरह पंजाब का शासन किया जा रहा था, उससे यही प्रतीत हो रहा था कि दिलीपसिंह को, बालिग होने पर, राज्य लौटाने का विचार नहीं था। मूलराज से मुल्तान लेने के लिए दो अंगरेज अफसरों के भेजने से सिखों का यह सन्देह और भी पक्का हो गया। दूसरी ओर हजारों में छत्रसिंह को रहना मुश्किल कर दिया गया। कप्तान ऐन्वट उसके हर एक काम में बाधा डालता था। आज्ञा न मानने के कारण उसके तोपखाने का एक अमरीकन अफसर मार डाला गया। रेजीडेंट की राय में इसमें छत्रसिंह का कोई दोष न था।^१ परन्तु तब भी उसकी जागीर जब्त करने का हुक्म हो गया। इस पर उसका लड़का शेरसिंह, जिसकी अध्यक्षता में सिख सेना मूलराज के विरुद्ध भेजी गई थी, बिगड़ गया। मुल्तान की दुर्घटना का समाचार मिलते ही लार्ड डलहौजी ने आवेश में आकर कह दिया था कि "यदि हमारे शत्रु युद्ध चाहते हैं, तो उन्हें अच्छी तरह युद्ध करना पड़ेगा।"

चिलियानवाला और गुजरात—पेशावर के लालच से अफगानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद ने भी सिखों का साथ देना स्वीकार कर

लिया। उसकी सहायता से छत्रसिंह अटक छीनकर लाहोर की तरफ बढ़ने लगा। मुल्तान से शेरसिंह भी उसी ओर आ रहा था। ऐसी दशा में अँगरेजों ने मुल्तान का घेरा छोड़कर शेरसिंह का पीछा किया। ता० १३ जनवरी सन् १८४९ को चिलियानवाला में दोनों सेनाओं का सामना हुआ। इसमें बहुत से अँगरेज अफसर मारे गये और उनकी चार तोपें छीन ली गईं। सिखों का भी बहुत नुकसान हुआ, पर अन्त में दोनों दलों ने अपनी विजय मानी। स्वयं लार्ड डलहौजी की राय में अँगरेजों की विजय केवल दिखलाने भर को थी, वास्तव में उनकी दशा बड़ी नाजुक हो रही थी।^१ इस युद्ध का समाचार इंग्लैंड पहुँचने पर लार्ड गफ को सेनापति के पद से हटाने की आज्ञा दे दी गई। परन्तु नये सेनापति सिन्धविजयी सर चार्ल्स नेपियर के आने के पहले ही ता० २१ फरवरी को गुजरात की लड़ाई में उसने सिखों का अन्त कर दिया।

मुल्तान इसके पहले ही अँगरेजों के हाथ में आ गया था, इस अवसर पर उनकी कुल सेना एकत्रित थी। छत्रसिंह के आ जाने से सिख सेना की भी संख्या बढ़ गई थी। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। कुछ काल तक बेदम गोलाबारी हुई। डलहौजी के शब्दों में सिख “सिंहों की तरह लड़े” पर अन्त में अँगरेजी तोपों के सामने उनको हार माननी पड़ी। ता० १२ मार्च को रावलपिंडी में सिख सरदारों ने हथियार डाल दिये। इस अवसर पर एक वृद्ध सरदार ने आँखों में आँसू भरकर ठीक कहा कि “आज रणजीतसिंह मर गया।”

पंजाब पतन—अगस्त सन् १८४८ में ही डलहौजी ने यह राय कायम कर ली थी कि बिना सिखों की शक्ति नष्ट किये हुए और पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिलाये हुए, शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। उसका विश्वास था कि सिखों के साथ कभी मित्रता नहीं रह सकती। इंग्लैंड सरकार का मत था कि पंजाब की “अधीनता पूरी होनी चाहिए, पर यदि

सम्भव हो तो उसका नाम न होना चाहिए।” लार्ड डलहौजी को “देशी शासन के तत्व को छोड़कर केवल छाया की रक्षा करना” पसन्द न था। पंजाब उसके हाथ में आ गया था, अब वह उसको छोड़ न सकता था। हेनरी लॉरेंस इस जबरदस्ती के विरुद्ध था, पर उसकी कौन सुननेवाला था? ता० २९ मार्च को घोषणा निकल गई कि “पंजाब राज्य का अन्त हो गया, अब और आगे के लिए, महाराजा दिलीपसिंह की कुल भूमि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग हो गई।”

दिलीपसिंह इस समय भी महाराजा था। इस तरह की घोषणा का गवर्नर-जनरल को कोई अधिकार न था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक सन्धिपत्र पर ११ वर्ष के बालक दिलीपसिंह और कौंसिल के सदस्यों के हस्ताक्षर करा लिये गये। इसके अनुसार महाराजा ने अपने तथा अपने वारिसों के पंजाब राज्य पर सब अधिकार छोड़ दिये। राज्य की जितनी सम्पत्ति थी, वह सब लड़ाई के खर्च में जब्त कर ली गई। मुप्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी, जो लार्ड डलहौजी की राय में “विजय का चिन्ह” था, छीनकर इंग्लैंड के राजमुकुट को सुशोभित करने के लिए, रानी विक्टोरिया को भेज दिया गया।

पहले युद्ध के समय पर ही यदि पंजाब अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया होता, तो विशेष आपत्ति नहीं की जा सकती थी; क्योंकि कारण चाहे जो कुछ रहे हों पहले आक्रमण सिलों ही ने किया था और युद्ध में उनकी पूरी हार भी हुई थी। परन्तु तब ऐसा नहीं किया गया। उल्टे ता० १६ दिसम्बर सन् १८४६ की सन्धि में “महाराजा दिलीपसिंह की नाबालिगी में रक्षा करने और शासन चलाने” का वचन दिया गया। ता० २० अगस्त सन् १८४७ की घोषणा में गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिन्ग ने विश्वास दिलाया कि वह बालक दिलीप की “रक्षा और शिक्षा के लिए पिता की तरह चिन्तित” है। पंजाब राज्य की “दृढ़ता और शान्ति” तथा “महाराजा और उसके मंत्रियों के मान” का उसे बराबर ध्यान है। इस तरह दिलीपसिंह की संरक्षकता का भार ग्रहण किया गया था। मूलराज और छत्रसिंह के विद्रोह अँगरेजों के ही उत्तेजित करने पर हुए थे। यदि ऐसा न भी हो, तब भी लहोर दरबार का उनसे

सम्बन्ध न था और उसने उनके दबाने का भी प्रयत्न किया था। संरक्षक की हैसियत से इन विद्रोहों को शान्त करना ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य था। अंगरेजी सेना के पंजाब पहुँचने पर ता० ८ नवम्बर सन् १८४८ के घोषणा-पत्र में यह कहा भी गया था कि “विद्रोहियों को दंड देने” और लाहोर दरबार के “विरुद्ध शस्त्र उठानेवालों को दबाने” के लिए हम पंजाब में आये हैं। परन्तु तब भी अन्त में दिलीपसिंह निकाल दिया गया, उसके राज्य पर अधिकार कर लिया गया और कोहनूर हीरा छीन लिया गया। लड़लो लिखता है कि इस तरह सब कुछ अपहरण करके दिलीपसिंह की “रक्षा” की गई।^१

लार्ड डलहौजी ने इस सम्बन्ध में अपनी नीति का बड़े जोरों से समर्थन किया है। वह संचालकों को लिखता है कि लाहोर दरबार ने पिछली सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया था। सैनिक खर्च के लिए २२ लाख रुपया साल तय हुआ था, जिसमें से “एक रुपया तक” नहीं दिया गया था। विद्रोहों के दबाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। ये विद्रोह लाहोर दरबार के विरुद्ध न थे, पर वास्तव में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध थे। “ब्रिटिश शक्ति का नाश” सिखों ने निश्चित कर लिया था। उनकी स्वतंत्रता से सारे देश को भय था। ऐसी दशा में मैंने जो कुछ किया, राज्य के प्रति अपना कर्तव्य समझकर शुद्ध चित्त से किया।” उसके न्यायसंगत तथा आवश्यक होने में मुझे जरा भी सन्देह नहीं है।^२ इवांस वेल की राय में यह समर्थन “नैतिक दृष्टि से तुच्छ” और उस उदार राष्ट्र के लिए, जो “भारत तथा पूर्व के सामने आदर्श रखने का दावा करता है, सर्वथा अयोग्य है।” उसने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सैनिक खर्च के हिसाब में १३५६६३७ रुपया जमा किया गया था। विद्रोहों में अधिकांश सिख सरदार शामिल न थे और लाहोर दरबार ने यथाशक्ति उनके दबाने का प्रयत्न किया था। अन्तिम सन्धिपत्र पर कौंसिल के मेम्बरों को डरा धमकाकर हस्ताक्षर करायें

१ लड़लो, ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० १६६।

२ अर्नाल्ड, डलहौजीज ऐडमिनिस्ट्रेशन, जि० १, पृ० २०५-९।

गये थे। लार्ड डलहौजी का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि और आर्थिक लाभ था।^१

बालक दिलीपसिंह अपने कुटुम्बियों और देशवासियों से अलग करके एक अँगरेज की निगरानी में फतहगढ़ में रख दिया गया, जिसका फल यह



कैदी मूलराज

हुआ कि वह थोड़े ही समय में ईसाई हो गया^२ और इंग्लैंड चला गया। वहाँ से वह फिर कभी स्वदेश न लौटने पाया। इंग्लैंड में उसके वंशज अब भी मौजूद हैं। अँगरेजों के अत्याचार से पीड़ित होकर उसकी माता चुनारगढ़ से भागकर नैपाल चली गई। उसका बहुत सा जेवर जब्त कर लिया गया और पेंशन बन्द कर दी गयी। दीवान मूलराज को फाँसी का हुक्म हुआ। लार्ड डलहौजी उसको 'कालेपानी' भेजना चाहता था, जिसका उसे "मृत्यु से भी बढ़कर भय" था। परन्तु गवर्नर-जनरल

की यह इच्छा पूर्ण होने के पहले ही मूलराज का अन्त हो गया। अँगरेज कैदियों को सिख सरदारों के हाथ से छुड़ाना था, इसलिए पहले उनके साथ दया का बर्ताव करने का वचन दिया गया, पर जब अँगरेज कैदी छूट आये, तब

१ इवांस वेल, अनेक्सेशन ऑफ़ दि पंजाब।

२ इस अवसर पर लार्ड डलहौजी ने दिलीपसिंह को एक बाइबिल भेंट की, जिस पर लिखा हुआ था कि इस पवित्र ग्रन्थ में उसको जो कुछ मिलेगा, वह दुनिया के राज्यों से कहीं बढ़कर है। दिलीपसिंह डेड दि गवर्नमेंट, सन् १८८४, पृ० ८५।

सरदारों पर बहुत से अपराध लगाये गये और वे सबके सब इलाहाबाद भेज दिये गये। इस तरह रणजीतसिंह के, जिसने अँगरेजों का बराबर साथ दिया-था, राज्य और वंश का भारतवर्ष में अन्त हो गया।

नया प्रबन्ध—हेनरी लारेंस की उदार नीति से डलहौजी चिढ़ा हुआ था। वीर शत्रुओं के प्रति उसकी सहानुभूति डलहौजी को पसन्द न थी। इसी लिए पंजाब का शासन हेनरी लारेंस को न दिया गया। उसके लिए चार सदस्यों का एक बोर्ड बनाया गया, जिसके निरीक्षण का काम गवर्नर-जनरल ने स्वयं अपने हाथ में रखा। सबसे पहले “हथियार छीनकर जनता की युद्धप्रवृत्ति दबा दी गई।” खालसा दल तोड़ दिया गया और बहुत से सिपाही, दूसरों की स्वतंत्रता अपहरण करने के लिए, अँगरेजी सेना में भरती कर लिये गये। विद्रोही सरदारों की जागीरें छीनकर उन्हें हर तरह से दबा दिया गया। इन उपायों द्वारा ‘पंजाब बोर्ड’ को तीन ही वर्ष में यह कहने का अवसर मिला कि “हाल में मिलाये हुए राज्य में जैसी पूर्ण शान्ति है, भारतवर्ष के अन्य किसी भाग में नहीं है।”

कुल पंजाब बहुत से जिलों में बाँट दिया गया, जिनमें अँगरेज कमिश्नर रख दिये गये। इनमें बहुत से सैनिक अफसर थे। इनको न्याय के सब अधिकार दे दिये गये। यहाँ बंगाल के कानून-कायदे जारी नहीं किये गये। मजिस्ट्रेटों को देश के रीति-रिवाजों का ध्यान रखकर न्याय करने की स्वतंत्रता दे दी गई। बहुत से कर उठा दिये गये और खेती की उन्नति के लिए नहरों का प्रबन्ध किया गया। व्यापार की ओर भी ध्यान दिया गया और कई एक सड़कें बनवाई गईं। सन् १८५५ में शिक्षाविभाग स्थापित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए थोड़े से स्कूल खोले गये।

सन् १८५३ में बोर्ड तोड़ दिया गया और हेनरी लारेंस का भाई जान लारेंस, जो प्रायः लार्ड डलहौजी से सहमत रहता था, पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया गया। शान्ति स्थापित रखने के लिए ५० हजार सेना रख दी गई। पश्चिमोत्तर सीमा पर, जो अब सिन्ध नदी पार कर गई थी, रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। लार्ड डलहौजी का यह “प्यारा प्रान्त” था। इसमें

उसने चुन-चुनकर योग्य अफसरों को शासन करने के लिए रखा था। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब में शान्ति स्थापित हो गई, खेती तथा व्यापार की उन्नति हुई, न्याय की दशा सुधर गई और शिक्षा का प्रचार हुआ। पर साथ ही साथ उसका सच्चा जीवन नष्ट हो गया।

बर्मा का दूसरा युद्ध—पिछली सन्धि से आवा दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रखना निश्चित हुआ था और बर्मा सरकार ने अँगरेज व्यापारियों को सब तरह की सुविधाएँ देने का भी वचन दिया था। परन्तु वहाँ रेजीडेंट की मनमानी न चल पाती थी, इसलिए सन् १८४० के बाद से कोई रेजीडेंट नियुक्त नहीं किया गया था। अब रंगून से अँगरेज व्यापारियों पर अत्याचार की शिकायतें आने लगीं। अँगरेजों की ही प्रजा के आदिमियों द्वारा अभियोग लाने पर रंगून के बर्मा गवर्नर ने दो व्यापारी जहाजों के कप्तानों को कुछ दिन तक निगरानी में रखकर उन पर ९ सौ रुपया जुर्माना कर दिया। बर्मा सरकार का यह बड़ा भारी अन्याय माना गया और हजार हरजाना वसूल करने के लिए तीन जंगी जहाजों के साथ जहाजी सेना का एक अफसर भेज दिया गया। बर्मा स्वतंत्र राज्य था, ब्रिटिश प्रजा के अभियोग लाने पर ही कप्तानों को दंड दिया गया था, समझौते से मामला तय हो सकता था, फिर जंगी अफसरों को, जो लार्ड डलहौजी के शब्दों में बातचीत ही में “भभक” उठते थे, भेजने की क्या आवश्यकता थी ?

अँगरेजों के कहने पर बर्मा सरकार ने रंगून के उस गवर्नर को, जिसने दंड दिया था, हटा दिया और एक नया गवर्नर भेजा। उससे भी अँगरेजों की न पटी। एक दिन वह सो रहा था, इसलिए उसके पहरेदारों ने अँगरेज अफसरों को मुलाकात करने से कुछ काल के लिए धूप में रोक लिया। यह अपमान अँगरेज अफसर सहन न कर सके। उन्होंने बर्मा सरकार का एक जहाज पकड़ लिया और नदियों के मार्ग को रोकने की आज्ञा दे दी। यह भूल की गई, इसको डलहौजी ने भी माना है। पर तब भी उसने बर्मा के राजा को एक बड़ा कड़ा पत्र लिख दिया, जिसमें बहुत सा हरजाना माँगा गया, माफी माँगने के लिए कहा गया और युद्ध की धमकी दी गई। ‘बोर्ड

ऑफ कंट्रोल' के सभापति की राय में भी पत्र की भाषा बड़ी तीव्र थी। पर डलहौजी का मत था कि हिन्दुस्तानी राजा और खासकर बर्मा के शासक सीधी सीधी बात से ठीक नहीं रहते।^१ इस पत्र के उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही युद्ध करना निश्चित कर लिया गया।

बर्मा में युद्ध की कोई तैयारी न थी, यहाँ पहले ही से सब प्रबन्ध था। बात की बात में अँगरेजी सेनाएँ बर्मा पहुँच गईं। मर्तबान पर अधिकार कर लिया गया, रंगून का मन्दिर भी छीन लिया गया और अँगरेजी सेना प्रोम तक पहुँच गई। बर्मा दरबार सन्धि करने के लिए राजी न था। इस पर कुल दक्षिणी बर्मा अर्थात् पीगू प्रान्त अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया। ईंग्लैंड-सरकार कुल बर्मा के फिक्क में थी, पर डलहौजी की राय में इसके लिए समय नहीं आया था। इस प्रान्त के निकल जाने से बर्मियों के हाथ से समुद्र-तट जाता रहा, कुमारी अन्तरीप से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक बंगाल की खाड़ी के कुल तट पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। सन् १८५२ के अन्त में लार्ड डलहौजी लिखता है कि “केवल ईश्वर जानता है कि युद्ध की आवश्यकता को दूर करने की मेरी कितनी प्रबल इच्छा थी।” परन्तु घटनाओं से इसका समर्थन नहीं होता। ईंग्लैंड के लोकप्रिय नेता कावडन ने इस युद्ध की पोल अच्छी तरह खोली है।^२ उसका पूछना था कि दो अँगरेजों के अपमान के लिए युद्ध में भारत का खजाना क्यों लुटाया गया? इससे भारत की निर्धन प्रजा का क्या लाभ हुआ? एक हजार रुपये से दस लाख तक हरजाना माँगना कहाँ तक उचित था? लार्ड डलहौजी का कहना था कि जब पीगू से आमदनी होने लगेगी, तब ब्रिटिश राष्ट्र इन सब बातों को भूल जायगा।^३

१ लोबार्नेर, डलहौजी, जि० १, पृ० ४२१।

२ कावडन, हाऊ वासं आर गॉट अप इन इंडिया?

३ मार्शमैन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ३, पृ० ३७५

पीगू का शासन—पंजाब की तरह पीगू छीनने को भी बाकायदा बनाने के लिए बर्मी दरबार से सन्धि करने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता न हुई। बर्मी राजदूत कलकत्ता आये। उनका कहना था कि यदि शान्ति स्थापित करना है, तो जीता हुआ देश लौटा देना चाहिए। इसके उत्तर में कहा गया कि “जब तक सूर्य में प्रकाश है ऐसा नहीं किया जायगा, युद्ध का दोष बर्मियों के मते है।” अँगरेजी दूत आवा भी भेजे गये, पर कुछ तत्व न निकल। एक लाभ अवश्य हुआ, दरबार की बहुत सी बातों का पता लग गया और कई एक अफसर भी अपने पक्ष में मिला लिये गये। रंगून पीगू की राजधानी बनाया गया और वहाँ भी पंजाब की तरह शासन का प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौजी स्वयं वहाँ चार बार गया। पीगू पर अधिकार हो जाने से पूर्वी देशों के लकड़ी और चावल का बहुत सा व्यापार अँगरेजों के हाथ में आ गया। डकैतियों के रोकने, तार लगाने तथा सड़कें बनवाने का प्रबन्ध किया गया और शिक्षा के लिए कुछ स्कूल भी खोले गये।

देशी राज्यों का अपहरण—लार्ड आकलैंड के समय में ही इंग्लैंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने यह निश्चित कर लिया था कि अवसर मिलने पर देशी राज्यों को छीन लेने से चूकना न चाहिए।^१ ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ के अध्यक्ष हावहाउस ने डलहौजी को भी इस नीति का इशारा कर दिया था।^२ इसी उद्देश्य से अब यह दिखलाने का प्रयत्न किया जा रहा था कि देशी राज्यों से भारत का कितना अहित हो रहा था। स्वयं डलहौजी का मत था कि छोटे छोटे राज्यों से झगड़ों की अधिक सम्भावना है। उनका अन्त कर देने से सरकारी खजाने को भी लाभ होगा और उन राज्यों में भी एक ही ढँग की शासन-व्यवस्था हो जायगी, जिससे वहाँ के लोगों का बड़ा हित होगा।^३ ‘सुप्रीम कौंसिल’ के एक मेम्बर की राय थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के बीच-बीच में देशी

१ जान ब्रिज, मेम्बॉयर, पृ० २७९। बसु, जि० ५, पृ० २१८।

२ लीबानर, डलहौजी, जि० २, पृ० १५०।

३ इंडिया अंडर डलहौजी ऐंड कैनिंग, पृ० २७।

राज्यों के होने से साधारण सुधार के कार्यों में बड़ी अड़चन पड़ती है। ब्रिटिश भारत में जितना देश है, उस पर शासनाधिकार हो जाने ही में जनता का सबसे अधिक हित है।^१ सेनापति नेपियर का कहना था कि एक भी देशी राजा को न छोड़ना चाहिए।^२ इस तरह देशी राज्यों के प्रति इंग्लैंड-सरकार, गवर्नर-जनरल और उसके सलाहकारों की नीति निश्चित थी। इसको काम में लाने के लिए एक विचित्र सिद्धान्त का सहारा लिया गया। पुत्र न होने पर हिन्दुओं में गोद लेने की प्रथा है। राजाओं को इसके लिए, जिस शक्ति के वे अधीन होते थे, उसकी आज्ञा लेनी पड़ती थी। यह एक साधारण नियम था। इसमें कोई विशेष अड़चन न डाली जाती थी और नजराना लेकर यह आज्ञा प्रायः सभी राजाओं को दे दी जाती थी। अब इसका यह अर्थ लगाया गया कि गोद लेने की आज्ञा देना या न देना ब्रिटिश सरकार की इच्छा पर निर्भर है। यदि किसी राजा को यह आज्ञा नहीं मिली है, तो उसके मरने पर उसका राज्य सरकार की सम्पत्ति है। उसमें और किसी का हक नहीं है। एक साधारण नियम का यह मनमाना अर्थ था। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जार्ज क्लार्क की राय में मुसलमानों या मराठों के शासनकाल में कोई राज्य इस तरह जब्त नहीं किया गया था।

सन् १८३४ में ही संचालकों ने यह निश्चित कर लिया था कि जहाँ तक सम्भव हो गोद लेने की आज्ञा न देनी चाहिए। सन् १८४१ में ब्रिटिश सरकार ने भी यह मत स्थिर कर लिया था कि ऐसे राज्य हाथ में आ जाने से छोड़ने न चाहिए। इसी के अनुसार कोलावा और मांडवी की रियासतें पहले ही जब्त हो चुकी थीं। अब डलहौजी ने अधीन राज्यों के सम्बन्ध में इसको अपना मुख्य सिद्धान्त मान लिया और कई एक हिन्दू राज्यों को जब्त कर लिया। उसकी राय में हिन्दू राज्यों की तीन श्रेणियाँ थीं। एक तो स्वाधीन राज्य, दूसरे ऐसे राज्य जो ब्रिटिश सरकार को मुगल सम्राट् या पेशवा के

१ सतारा पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ८५।

२ इंडर, डलहौजी (रुलर्स ऑफ इण्डिया सिरीज) पृ० २७।

स्थान पर समझकर उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे और तीसरे वे राज्य जिनको ब्रिटिश सरकार ने सनद देकर स्थापित किया था। डलहौजी का कहना था कि पहली श्रेणी के राज्यों में गोद लेने के सम्बन्ध में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। दूसरी श्रेणी के राज्यों में गोद लेने की आज्ञा देने या न देने का सरकार को अधिकार है। परन्तु तीसरी श्रेणी के राज्यों में गोद लेने की आज्ञा देना कभी भी उचित नहीं है। इस विभाग को लेकर यह कहा जाता है कि डलहौजी केवल नियमित रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहता था। सर्वथा अधीन राज्यों को छोड़कर बड़े-बड़े राज्यों पर उसकी दृष्टि न थी। पर वास्तव में यह विभाग मनमाना था। भारत-वर्ष में कोई भी राज्य स्वतंत्र न था, सभी पर यह सिद्धान्त लागू हो सकता था। लार्ड हार्डिज के समय में इन्दौर को भी, जिसकी गणना स्वतंत्र राज्यों में थी, यह धमकी दी गई थी। करौली का राजपूत राज्य किस श्रेणी में था, इस पर स्वयं डलहौजी और इंग्लैंड-सरकार में ही मतभेद था। हिन्दू राज्यों के हड़प करने का यह अच्छा उपाय मिल गया था। स्वाधीन, अधीन और सर्वथा अधीन का भेद केवल दिखलाने भर को था। सर जान स्ट्रैची की राय थी कि सभी देशी राज्यों के नष्ट हो जाने में केवल समय का प्रश्न था।

यह बात ठीक है कि इस सिद्धान्त को लार्ड डलहौजी ने न निकाला था। उसके आने के पहले ही यह निश्चित हो चुका था। परन्तु जिस तरह उसके समय में इसका प्रयोग किया गया, उसकी जिम्मेदारी से वह नहीं बच सकता। वह केवल अपने स्वामियों की आज्ञा ही का पालन न कर रहा था बल्कि उसको उचित और आवश्यक समझता था। भारत के इतिहास में यह सिद्धान्त 'डाकिटन ऑफ लैप्स' अर्थात् 'दायावसान के सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। जो राज्य इस सिद्धान्त के भीतर नहीं आते थे, उनके जन्तु करने के लिए शासन ठीक न होने का बहाना बना बनाया था। इनका शमल-सुधारने के लिए लार्ड डलहौजी तैयार न था। हैदराबाद तथा लखनऊ के रेजीडेण्ट वहाँ की दशा सुधारने के लिए कहते-कहते हैरान हो गये, पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इन राज्यों की दुर्दशा जारी रखने में ही ब्रिटिश सरकार का

हिए था। इसलिए इनके सम्बन्ध में वह 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का पक्का अनुयायी बन गया था। उसका स्पष्ट कहना था कि "स्वतंत्र देशी राज्यों के पुनरुद्धार" का हमने गीढ़ा नहीं उठाया है।^१ 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के अध्यक्ष लार्ड ब्राउटन को पूरा विश्वास था कि "पाँच मिनट" का भी समय मिलने पर डलहौजी अवध और हैदराबाद के शासनों का, जो ब्रिटिश साम्राज्य को कलंकित कर रहे हैं, अन्त कर देगा।^२

सतारा—लार्ड डलहौजी के भारतवर्ष पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, दिसम्बर सन् १८४७ में 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की ओर से हावहाउस, उसको सतारा के विषय में लिखता है कि "मैंने सुना है कि राजा का स्वास्थ्य बहुत खराब हो रहा है। बहुत सम्भव है कि उसके राज्य के भाग्य का निर्णय हमें शीघ्र ही करना पड़े। मेरी पक्की राय है कि बिना पुत्र के इस राजा के मरने पर गोद लेने की आज्ञा न दी जाय और यह छोटा राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाय। यदि मेरी अध्यक्षता में यह प्रश्न आया, तो मैं ऐसा ही करने के लिए कोई बात उठा न रखूँगा।"^३ सन् १८४८ में राजा के मरने पर उसका राज्य ले लिया गया। मरते समय उसने जिस लड़के को गोद लिया था, उसका राज्य पर कोई अधिकार न माना गया। लार्ड डलहौजी लिखता है कि सन् १८१९ में इस राज्य को स्थापित करने की भले ही आवश्यकता रही हो, पर अब मराठों का भय न होने से, इसके रखने की कोई जरूरत नहीं थी। यह 'जिला बहुत उपजाऊ है और अमादनी भी बढ़नेवाली' है। इसको ले लेने से हमारे सैनिक प्रबन्ध तथा शासन में सुगमता हो जायगी और आमदनी भी बढ़ जायगी।

सन् १८१९ में सतारा के राजा के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें स्पष्ट कहा गया था कि उसके "वारिसों तथा उत्तराधिकारियों" का राज्य पर "बराबर

१ ग्रिविल, हिस्ट्री ऑफ़ डेकन, जि० २, पृ० २०३।

२ लीवार्नर, डलहौजी, जि० २, पृ० ३१५।

३ वही. पृ० १५८।

कब्जा" बना रहेगा। बम्बई के गवर्नर सर जार्ज क्लार्क का मत था कि ऐसी दशा में राज्य को ज्वल कराना किसी तरह उचित न था। रेजीडेंट फ्रेरे का कहना था कि किसी अदालत के सामने राजा के वारिस अपना हक साबित कर सकते थे। सतारा का शासन भी ऐसा बुरा न था। प्रतापसिंह के समय में तो राज्य की बड़ी अच्छी दशा थी। परन्तु दो लाख पौंड साल की आमदनी के सामने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। अर्नाल्ड लिखता है कि सरकार के मन्त्रों पर कलंक का यह ऐसा टीका लगा, जो कभी मिट नहीं सकता।

नागपुर—दिसम्बर सन् १८५३ में नागपुर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके भी कोई सन्तान न थी, इसलिए उसका भी राज्य ले लिया गया। नागपुर के राज्य का वही पद था, जो सिन्धिया और होलकर के राज्यों का था। परन्तु इसके उत्तर में कहा गया कि अप्पा साहब के भागने पर राज्य अँगरेजों के हाथ में आ गया था और उन्होंने अपनी तरफ से राजा को गद्दी पर बिठाया था। सन् १८२६ की सन्धि से राज्य "ब्रिटिश सरकार की दया पर" निर्भर था और "महाराजा की मसनद जिसे चाहे देने" का उसे अधिकार था। ऐसी दशा में नागपुर की भी गणना अधीन राज्यों में थी। विधवा रानी ने एक बालक गोद लिया था, उसका कोई हक न माना गया। कहा गया कि पिछले राजा ने बड़ा अत्याचार किया था। वह "न्याय को बँचने-वाला, शराबी और व्यसनी" था, फिर ब्रिटिश सरकार को यह कैसे विश्वास हो सकता था कि नया राजा उसी की नकल नहीं करेगा? नागपुर की प्रजा के हित की दृष्टि से सरकार इस अवसर को छोड़ नहीं सकती।

वास्तव में मुख्य कारण, जैसा कि लीवार्नर ने लिखा है, नागपुर का भौगोलिक और राजनैतिक महत्व था। डलहौजी का ध्यान था कि इस राज्य को मिला लेने से ८० हजार वर्ग मील भूमि पर अधिकार हो जायगा, ४० लाख रुपये साल की आमदनी बढ़ जायगी और इधर-उधर का राज्य एक में मिल जायगा। कलकत्ता से बम्बई जाने के लिए मार्ग भी साफ हो जायगा। इस तरह "नागपुर पर अधिकार हो जाने से हमारी सैनिक शक्ति एक में मिल

जायगी, हमारे व्यापार का क्षेत्र बढ़ जायगा और हमारा शासन भी अच्छी तरह बढ़ हो जायगा।^१ इंग्लैंड सरकार का भी यही मत था और डलहौजी को बराबर इसके सम्बन्ध में लिखा जा रहा था। राज्य का अन्त हो जाने पर दरबार की सब सम्पत्ति नीलाम कर दी गई। सर जान के का कहना है कि सामान लेने में रानियों के साथ बहुत ज्यादाती की गई। नीलाम की कुछ आमदनी से भोंसला परिवार की रक्षा के लिए एक 'भोंसलाफंड' खोल दिया गया। इसमें सरकार की कोई उदारता नहीं थी। उस सम्पत्ति पर तो भोंसला के कुटुम्बियों का सब तरह से अधिकार ही था।

भोंसला-शासन—तत्कालीन अन्य राज्यों के शासन की तरह भोंसलाओं के शासन में भी बहुत से दोष थे। पर तब भी राज्य की दशा ऐसी शोचनीय न थी, जैसी कि बतलाई जाती है। यह बात रिचर्ड जेकिंस के, जो बहुत दिनों तक नागपुर दरबार में रेजीडेंट रहा था, दिये हुए विवरण से स्पष्ट है। वह लिखता है कि जानोजी भोंसला के समय में न्याय ठीक ढँग से होता था। फौजदारी अपराध बहुत कम होते थे और प्राणदंड शायद ही कभी दिया जाता था। राज्य की आमदनी खूब थी और प्रजा सुख से रहती थी। सेना और बड़े अफसरों का वेतन ठीक समय से बिना कुछ घटाये हुए दिया जाता था। राजा सबको अपने बराबर समझता था और दरबार में कभी-कभी वह स्वयं उठकर मिलता था। राघोजी के समय से 'मजुमदार' या दीवान राज्य का सबसे मुख्य अफसर होता था। उसके फड़नवीस के हाथ में कुल हिसाब-किताब और दफ्तर रहता था। नगर के बड़े बड़े साहूकारों को भी दरबार में स्थान दिया जाता था और समय-समय पर उनसे सलाह ली जाती थी। उनमें से एक 'नगर-नायक' होता था, जो व्यापार का निरीक्षण करता था और राज्य के लिए आवश्यकता होने पर ऋण का प्रबन्ध करता था।

यहाँ भी दक्षिण की तरह हर एक गाँव में एक पटेल रहता था, जिसके नीचे गाँव के अन्य कर्मचारी काम करते थे। लगान के अतिरिक्त भी बहुत

से कर लिये जाते थे। पटेलों पर निगरानी रखने के लिए सूत्रेदार लोग दौरा करते थे। पटेलों को न्याय और पुलिस के भी कुछ अधिकार रहते थे। दीवानी मामले पंचायतों द्वारा तय किये जाते थे। पंचों को चुनने में जाति-पाँति का भेद न माना जाता था। प्रायः योग्य और प्रतिष्ठित लोग ही चुने जाते थे। बड़ी-बड़ी पंचायतों में कुल कार्यवाही लिखी जाती थी। गवाहों का बड़ा ध्यान रखा जाता था और किसी प्रकार का हस्तश्रेप न होने पाता था। फौजदारी की अन्तिम अपील राजदरबार में होती थी। स्त्रियों और ब्राह्मणों को प्राण-दंड नहीं दिया जाता था। सन् १७९२ तक राज्य की अच्छी दशा थी। वेल्लेजली के मराठा-युद्ध के बाद से कुछ अत्याचार अवश्य प्रारम्भ हो गया था।

हर एक जिले में वहाँ के लिए काफी कपड़ा बनता था। नागपुर में बुनाई का अच्छा काम होता था। बंगाल के ढंग के डोरिया और चारखाने बनाये जाते थे। सन् १८०३ में राघोजी ने बहुत से जुलहों को जैनाबाद और बरहानपुर से लेकर बसाया था। सबसे अधिक खादी बनती थी, जो तम्बू, कनात और साधारण आदमियों के पहनने के काम में आती थी। बारह आने से लेकर तीन रुपये तक का एक थान बिकता था। सन् १८०३ तक यह खादी बरार होकर बम्बई और अरब तक जाती थी। धोतियाँ, साड़ी, लुंगी और रुमाल भी बहुत बनते थे। सन् १८१७ से कपड़े का बनना मन्दा पड़ गया। सेनाओं के तोड़ देने से कपड़े की खपत कम हो गई। साल में १४ लाख रुपये का कपड़ा केवल पूना जाता था। पेशवा का दरबार नष्ट हो जाने से यह बन्द हो गया, पर तब भी बाजीराव के खर्च के लिए कपड़ा बराबर बिठूर जाता रहा। हुंडी-पच्चों का काम मारवाड़ियों के हाथ में था, जो जैकिस के शब्दों में "बड़े बुद्धिमान्, व्यापारचतुर और ईमानदार होते हैं।" शिक्षा का प्रचार ब्राह्मणों में अधिक था। गुलामी की कम चाल थी। हर एक चीज का भाव सस्ता था। ग्री रुपये का तीन चार सेर, आटा ३७ सेर और चावल २५ सेर बिकता था।^१ यदि सन् १८२७ तक, जब का यह विवरण है, ऐसी दशा थी, तो फिर

प्रचीस ही वर्ष में कौन सा और क्यों ऐसा परिवर्तन ही गया, जिसके कारण डलहौजी को प्रजा पर दया करके नामसु-कम्पनी के राज्य में मिला लेना पड़ा ?

नागपुर की गई-बीती अवस्था में भी अन्तिम (रेजीडेंट मैसल) को मानना पड़ा है कि शासन के सिद्धान्त चाहे जो कुछ हों, राज्य की दशा अच्छी थी।^१ सर-रिचर्ड (टेम्पले) भी, जो बाद को चीफ कमिश्नर हुआ, लिखता है कि भोंसला घराने के मराठा राजाओं द्वारा नागपुर के शासन के बारे में मेरा अच्छा खयाल है। उसमें कई एक अच्छी बातें थीं।^२

झाँसी—यह मराठों के अधीन थी और यहाँ का शासक पेशवा का सूबेदार कहलाता था। सन् १८१७ में पेशवा का राज्य नष्ट होने पर सूबेदार रामचन्द्रराव ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। सन् १८३२ में उसको राजा की उपाधि दी गई। सन् १८३५ में उसकी मृत्यु होने पर उसका चचा गद्दी पर बिठला दिया गया। जिस लड़के को उसने गोद लिया था, उसका हक न माना गया। कारण यह था कि गद्दी के लिए चार हकदार लड़-भिड़ रहे थे। गोद लेने के सम्बन्ध में भी बहुतों को सन्देह था। इसी लिए जो सबसे योग्य समझा गया और जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही गद्दी का अधिकारी मान लिया गया। सन् १८५३ में जो राजा मर गया, उसके भी कोई सन्तान नहीं थी। मरने के एक दिन पहले उसने एक बालक को गोद लिया था। लार्ड डलहौजी ने उसको नहीं माना और रानी को पेंशन देकर झाँसी का राज्य जब्त कर लिया गया। डलहौजी का कहना था कि झाँसी तीसरे दर्जे का राज्य था। दत्तक पुत्र का अधिकार न मानने का सन् १८३५ का प्रमाण मौजूद था और वहाँ के राजा किसी योग्य न थे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि झाँसी अँगरेजों की दी हुई जागीर न थी। उस पर रामचन्द्रराव तथा उसके “वारिसों” का अधिकार उन्होंने “सदा के लिए” मान लिया था। सन् १८३५ में गोद लेने का अधिकार था या नहीं,

^१ बरार पेपर्स, सन् १८५४, पृ० २६।

^२ ब्रिटिश रैंड नेटिव सिस्टम्स, सन् १८६८, पृ० ६९।

इस पर कोई विचार नहीं किया गया था। जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही राजा मान लिया गया था। वहाँ के शासन से प्रजा सन्तुष्ट थी। राज्य का काम चलाने के लिए रानी “सर्वथा योग्य” थी।^१ परन्तु झाँसी का राज्य “ब्रिटिश जिलों के बीच में” था, इसलिए डलहौजी की राय में उस पर अधिकार कर लेना ही “नीतियुक्त” था।

निजाम और बरार—सहायक सेना के अतिरिक्त निजाम को ४० लाख रुपया साल के खर्च से एक दूसरी सेना रखनी पड़ती थी, इसका उल्लेख किया जा चुका है। किसी सन्धि के अनुसार शान्ति के समय में इस सेना का रखना आवश्यक न था। पर तब भी यह सेना तोड़ी न जाती थी। इसका परिणाम यह हो रहा था कि निजाम पर सरकारी कर्ज बढ़ रहा था। लार्ड हेस्टिंग्स के शब्दों में “यह सेना, जो वेतन देता था, उसकी अपेक्षा अपनी थी।” रेजीडेंट फ्रेजर की राय में, इस सेना का रखना “अपने लिए वैसा ही लजाजनक था, जैसा कि निजाम के लिए हानिकारक।” रेजीडेंट लो इसको “निष्ठुरता” समझता था, जिसके कारण निजाम का खजाना खाली हो रहा था। उसका कहना था कि जिस सेना का खर्च हम बराबर २८ वर्ष से ले रहे हैं, किसी सन्धि के अनुसार, उसका निजाम से “एक रुपया” भी लेने का “हमें अधिकार नहीं है।” सन् १८४८ में डलहौजी ने भी स्वीकार किया कि इस मामले में ब्रिटिश सरकार निर्दोष नहीं है।^२

इतने पर भी यह सेना घटाई नहीं गई। उल्टे कुल कर्ज, जो बढ़ते-बढ़ते ६४ लाख तक पहुँच गया था, फौरन अदा करने के लिए निजाम को बड़ी तीव्र भाषा में लिखा गया और कहा गया कि भारत-सरकार की “शक्ति तुम्हें जबर चाहे पददलित कर सकती है”। बेचारे निजाम ने अपने जवाहरात गिरवी रखकर जैसे-तैसे पहली किस्त अदा की। बाकी जवाहरात को वह एक बैंक में, जो इसी के लिए कायम किया गया था, बन्धक रखकर ४० लाख रुपया देना चाहता था, पर गवर्नर-जनरल की आज्ञा से वह बैंक तोड़ दिया गया।

१ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ५६-५७।

२ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १९५-९७।

साम्राज्य की पूर्ति

आवकारी के हिसाब में निजाम का ४० लाख रुपया अँगरेजों के पास निकलता था। वह भी मुजरा नहीं दिया गया और निजाम से कुल रुपये की अदाई के लिए राज्य का कुछ भाग दे देने के लिए कहा गया। गवर्नर-जनरल की इस ज्यादाती के कारण रेजीडेंट फ्रेजर का रहना मुश्किल हो गया। निजाम और उसके वजीर के आनाकानी करने पर सैनिक बल के प्रयोग की धमकी दी गई और सन् १८५३ में एक सन्धिपत्र पर, जिसके अनुसार बरार अँगरेजों के पास बन्धक रख दिया गया, निजाम के हस्ताक्षर करा लिये गये।^१

डलहौजी की राय में निजाम के साथ बड़ी "उदारता और नम्रता" का व्यवहार किया गया। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की "ईमानदारी" और "क्षमता" में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इस प्रबन्ध से 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के अध्यक्ष चार्ल्स वुड को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उसकी राय में यदि कोई भूल हुई तो इतनी ही कि निजाम को कुल हिसाब समझाने और बचत वापस कर देने का वचन दे दिया गया।^२ बरार रुई की खेती के लिए प्रसिद्ध है। यह निजाम को फिर कभी वापस न किया गया। बरार और नागपुर ले लेने के सम्बन्ध में एक अँगरेज ने ठीक कहा था कि "इन दिनों न्याय के कान में रुई टूँसी थी।"

अवध राज्य का अन्त मुहम्मदअली के मरने पर उसके लड़के अमजदअली ने पाँच वर्ष तक राज्य किया। उसमें शासन की विशेष योग्यता न थी, पर तब भी ७७ हजार रुपया साल के खर्च से रेजीडेंट की निगरानी में सीमा पर की पुलिस ठीक की गई। सिख-युद्ध के समय पर उसने भी ब्रिटिश सरकार की बड़ी सहायता की। उसके बाद सन् १८४७ में वाजिदअली शाह गद्दी पर बैठा। दो वर्ष में शासन ठीक करने के लिए उसको चेतावनी दी गई। इस पर सन् १८४८ में रेजीडेंट तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर की राय से अवध के कुछ सरहद्दी जिलों में ब्रिटिश शासन-

१ ग्रिविल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० २०६-२१।

२ लोबानर, जि० २, पृ० १३२।

व्यवस्था चलाने के लिए एक योजना तैयार की गई। परन्तु कलकत्ता से उसके लिए मंजूरी नहीं मिली। वहाँ तो कुछ और ही तैयारियाँ हो रही



वाजिदअली शाह

थीं। डलहौजी ने पहले ही से यह राय कायम कर ली थी कि अवध के शासन में सुधार होने की सम्भावना नहीं है। वहाँ “बहुत कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे।”^१ अवध के सम्बन्ध में ता० ३० जुलाई सन् १८५१ के एक पत्र में वह लिखता है कि यह फल किसी दिन हमारे मुँह में अवश्य गिरेगा। यह बहुत दिनों से पक रहा है। परन्तु इस समय राज्यों के जब्त करने के विरुद्ध कुछ आन्दोलन हो रहा है। इसके अतिरिक्त कम्पनी के आज्ञापत्र पर विचार करनेवाली कमेटी भी बैठनेवाली है। इसी लिए, मेरी राय में, पेड़ को हिलाकर इस फल का गिराना संचालकों को पसन्द न आयगा।^२ ता० २१ अक्टूबर सन् १८५३ के पत्र में ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ का अध्यक्ष चार्ल्स वुड लिखता है कि यदि पीगू छीनने की आवश्यकता न पड़ी होती, तो मुझे अवध के ले लेने में कुछ भी संकोच न होता। हाल में या कुछ दिनों बाद वह तो हमें लेना ही पड़ेगा। “प्रश्न केवल समय, अवसर और बहाने का है।”

१ डकॉयटी इन एक्सेलसिस, पृ० १०२-११।

२ डलहौजी, प्राइवेट लेटर्स, पृ० ६२।

इन दिनों “हड़प करने की प्रवृत्ति” का दिखलाना बहुत वांछित नहीं जान पड़ता है। इसलिए “अपनी जागीर” पर अधिकार करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।^१ इन वाक्यों से अवध के प्रति गवर्नर-जनरल तथा इंग्लैंड-सरकार के जो भाव थे, स्पष्ट हैं। उसके जन्त करने में कमी केवल दो बातों की थी। एक तो बहाना और दूसरे इंग्लैंड की जनता का समर्थन।

सन् १८५३ में कम्पनी के शासन की जाँच समाप्त हो गई और उसको नया आज्ञापत्र मिल गया। इसलिए इंग्लैंड के लोकमत का अधिक भय न रहा, अब केवल बहाने की बात रह गई। शासन ठीक न होने का बहाना बना बनाया था। इसके लिए अवध के शासकों को प्रत्येक गवर्नर-जनरल बराबर चेतावनी देता आ रहा था। हाल ही में रेजीडेंट स्लीमैन का दौरा समाप्त हुआ था। प्रजा कैसी पीड़ित थी, उस पर कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे थे, इसका उसने जो वर्णन किया था, उससे बढ़कर अवध के शासन की तीव्र आलोचना क्या हो सकती थी? यदि वास्तव में ये सब बातें ठीक थीं, तो भी यह प्रश्न होता है कि उन सबको दूर करने का क्या एक मात्र उपाय अवध को अंगरेजी राज्य में मिला लेना ही था? स्वयं स्लीमैन इसको मानने के लिए तैयार न था। उसकी राय में शासन का भार एक बोर्ड के हाथ में दे देने से काम चल सकता था। इसमें शाह को भी आपत्ति नहीं थी। सर हेनरी लॉरेंस का भी ऐसा ही मत था। उसका कहना था कि शासन के दोषों को दूर करने की “औषध हमारे हाथ में है।” यदि कोई अपना धन नष्ट करता है, या प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है, तो भी उसका खूट लेने का हमें अधिकार नहीं है। उसका धन बिना अपनी जेब में रखे हुए हम प्रजा की रक्षा और सहायता कर सकते हैं। यदि हमें अवध की चिन्ता है, तो जहाँ तक सम्भव हो शासन वहाँ के निवासियों ही के हाथ में छोड़ देना चाहिए और वहाँ का एक रुपया भी कम्पनी के खजाने में न लेना चाहिए।^२

१ लोबार्नर, डलहौजी, जि० २, पृ० ३१६।

२ हेनरी लॉरेंस, एसेज, पृ० १२९-३२।

सन् १८३७ की सन्धि से डलहौजी ऐसा प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु इसके अनुसार बादशाह को सारा हिसाब समझाना पड़ता और शासन ठीक हो जाने पर अवध वापस कर देना पड़ता। शायद इसी लिए उसका कहना था कि यह सन्धि रद्द हो गई। इसको संचालकों ने मंजूर नहीं किया था, यह बात ठीक है। परन्तु अवध के बादशाह को इसकी सूचना कभी नहीं दी गई थी। बाद में लार्ड हार्डिज ने इसी सन्धि पर जोर दिया था। ऐसी दशा में यह सन्धि रद्द नहीं मानी जा सकती थी।^१ परन्तु डलहौजी का उद्देश्य ही दूसरा था। इसी लिए वह सन् १८०१ की सन्धि पर जोर दे रहा था, जिसमें नवाब को यह वचन दिया गया था कि अवध का “शासन उसके अफसरों द्वारा होगा।” डलहौजी का कहना था कि ऐसी दशा में हस्तक्षेप कैसे किया जा सकता था? पर वास्तव में अवध में कई एक अँगरेज अफसर इस समय भी काम कर रहे थे। हेनरी लारेंस लिखता है कि छोटी छोटी बातों में बराबर हस्तक्षेप किया जाता था, पर जब कोई महत्व का प्रश्न आ जाता था, तब अवश्य हाथ खींच लिया जाता था। अवध की दशा भिगड़ने देने ही में ब्रिटिश सरकार का काम बनता था, इसी लिए उसके सुधारने की कोई चेष्टा नहीं की जा रही थी। केवल धमकियाँ दी जा रही थीं।

गवर्नर-जनरल को ज्यादाती के कारण स्लीमैन को लखनऊ छोड़ना पड़ा। उसका कहना था कि डलहौजी और उसके सलाहकार इन दिनों अवध को अँगरेजी राज्य में मिला लेने के पक्ष में हैं, जिसका परिणाम यह होगा कि वहाँ मध्य तथा उच्च श्रेणी के लोग नष्ट हो जायँगे। उनकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। ऐसा न करने का परिणाम हमारे ही लिए भयंकर होगा। “हड़प करने की नीति” से देशवासियों में भय के भाव दिखलाई दे रहे हैं। आन्दोलनकारियों के लिए यह अच्छा अवसर मिल रहा है। मैं सन्धियों का पूर्ण रूप से पालन चाहता हूँ। चाहे वे काले मुखवालों से की गई हों या गोरे मुखवालों से। अवध को

जन्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। ऐसा करना “ब्रिदमानी और लजा” की बात होगी। यदि हम प्रजा को बराबर कसते जायेंगे, तो उस पर जैसा कुछ शासन हो रहा है, उससे अच्छा न होगा।^१ “यदि हम अवध या उसके किसी भाग को छीन लेंगे, तो भारतवर्ष में हमारे नाम पर, जिसका मूल्य दर्जनों अवध से अधिक है, धब्बा लगेगा।”^२

परन्तु डलहौजी की राय निश्चित थी। उसने एक चाल सोच रखी थी। पेंशन स्वीकार करके कुल शासन अँगरेजों के हाथ में दे देने के लिए वह वाजिदअली से प्रस्ताव करना चाहता था।^३ उसने सोचा था कि यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया, तब तो कोई बात ही नहीं है। पर यदि ऐसा न किया गया तो वह अवध के साथ सब सम्बन्ध तोड़ देगा और वहाँ से सेना तथा अफसरों को हटा लेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अवध भर में उपद्रव मच जायगा और अँगरेजों से छेड़-छाड़ होने लगेगी। तब फिर अवध पर आक्रमण करके भी उसको छीन लेने में किसी को आपत्ति न होगी।^३ उसका कहना था कि सन् १८०१ की सन्धि के अनुसार अवध के शासन में कोई सुधार नहीं किया गया था। इसलिए उसके साथ सम्बन्ध तोड़ देने में कोई दोष न था। उस सन्धि पर अधिक जोर देने का यही मुख्य कारण था। नाम मात्र के शासकों को मानने से कोई लाभ नहीं है, यह लार्ड डलहौजी का सिद्धान्त था। पर अब वह स्वयं इससे हट रहा था। अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि इसी से अवध के शाही घराने के प्रति उसकी सहानुभूति प्रकट हो रही है। परन्तु वास्तव में वह केवल एक “बहाना” ढूँढ़ रहा था। यदि सचमुच उसकी सहानुभूति होती, तो स्लीमैन तथा हेनरी लारेंस की राय मानकर केवल शासन-व्यवस्था ठीक कर दी गई होती और अवध की आमदनी कम्पनी की जेब में न रखी जाती।

१ स्लीमैन, अवध, जि० १, भूमिका, पृ० २१-२२।

२ वही, जि० २, पृ० ३७९।

३ लीवानर, डलहौजी, पृ० ३२३।

इस चाल के चलने का काम नये रेजीडेंट आउट्रम को सौंपा गया। चुपके-चुपके सब सैनिक प्रबन्ध कर लिया गया, हनुमान गढ़ी के उपद्रव को शान्त करने के बहाने सेना एकत्र कर ली गई और अधिकार मिल जाने पर कौन-कौन अफसर कहाँ रहेगा, यह सब भी तय कर लिया गया। इतने ही में ईंग्लैंड से भी जैसा उचित जान पड़े वैसा करने के लिए मंजूरी आ गई। अब किसी प्रकार की बाधा न रही। फरवरी सन् १८५६ में, सैनिक बल प्रयोग करने की धमकी देने पर भी वाजिदअली शाह ने अपमान-जनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। इस पर एक घोषणा द्वारा अवध अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और वाजिदअली शाह को पंशन दे दी गई। थोड़े दिनों बाद वह कलकत्ता भेज दिया गया। इस तरह अवध अँगरेजों के हाथ में आ गया। लार्ड डलहौजी अपनी डायरी में लिखता है कि अवध के ऐसे शासन को, जिससे करोड़ों आदमियों को पीड़ा पहुँच रही थी, कुछ काल अधिक बनाये रखने में सहायता देने से ईश्वर और मनुष्य की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार दोषी ठहराई जाती। इस भाव को हृदय में लेकर और परम शक्तिशाली ईश्वर की अनुकम्पा पर विश्वास रखकर मैंने इस कर्तव्य को, बड़े सोच-विचार तथा सहानुभूति, परन्तु शान्ति और बिना किसी सन्देह के साथ किया।^१

नवाबी शासन—शुजाउद्दौल के समय में देश की जैसी कुछ दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। आसफुद्दौल के समय से अँगरेजों का हस्तक्षेप बढ़ने लगा, वैसे ही दशा भी बिगड़ने लगी। सन् १७८४ में इसको वारेन हेस्टिंग्स ने भी माना है। सादतअली के समय में दशा फिर कुछ सुधरी। सन् १८१८ में लार्ड हेस्टिंग्स गार्जोउद्दीन को विश्वास दिलाता है कि खेती की अच्छी दशा, जनसंख्या की वृद्धि और प्रजा का “सुख तथा आराम” देखकर बड़ा सन्तोष हो रहा है। सन् १८२४ में हेबर लिखता है कि अवध की आबादी और खेती की अच्छी दशा देखकर

आश्चर्य्य हो रहा था।^१ सन् १८३९ में आंग्लेंड मुहम्मदअली शाह को लिखता है कि “जब से आप गद्दी पर बैठे हैं, पिछली दशा को देखते हुए राज्य में बहुत कुछ सुधार हुआ है।” सर हेनरी लॉरेंस का कहना है कि अवध के शासकों से जैसी कुछ आशा थी, उससे वे कहीं अच्छे थे। वे कभी-कभी क्रूर अवश्य पर झूठे कभी नहीं हुए।

‘हुजूर तहसील’ को छोड़कर अवध का राज्य बहुत से इलाकों और चकलों में बँटा हुआ था। यहाँ के तालुकेदार और जमीन्दार बहुत कुछ स्वतंत्र थे। वे प्रायः आपस में लड़ा करते थे और सब तरह से अपनी रियासतें बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे। उनसे सरकारी मालगुजारी वसूल करना मुश्किल हो जाता था। परन्तु शासकों के साथ इनमें से बहुतों का व्यवहार अच्छा था। इसको स्लीमैन ने भी माना है। शाहगंज के विषय में वह लिखता है कि यहाँ “काश्तकार धनी तथा सन्तुष्ट हैं।” उनको कभी धोखा नहीं दिया जाता है। चोर, डाकू, उद्दंड पड़ोसी और सबसे अधिक ‘शाही फौज’ से उनकी रक्षा की जाती है। गाँवों में अच्छे-अच्छे किसानों को बसाने का प्रयत्न किया जाता है। हर एक गाँव में झोपड़ों के सामने फुलवाड़ी है। देश एक “हरा-भरा बगीचा” सा जान पड़ता है। सरहद्दी झगड़े पटवारी और कानूनगो की सहायता से पंचायतों द्वारा निपटा लिये जाते हैं। छोटे बड़े सभी किसानों को जो वचन दिया जाता है, उसका जमीन्दार पालन करते हैं और किसान भी अपना लगान बराबर देते हैं। दुर्भिक्ष या किसी आपत्ति के समय में उनके साथ खास रियायत की जाती है।^२ इस तरह नवाबी शासन ठीक न होने पर भी अवध के कई भागों में प्रजा का पालन होता था।

सन् १८३१ में यात्रा करनेवाली एक महिला लिखती है कि अवध की प्रजा ब्रिटिश शासन के सुख में भाग लेने के लिए किसी तरह राजी नहीं है। कम्पनी के राज्य में रहनेवालों से अवध-निवासी कहीं अधिक धनी, मोटे और

१ हेबर, जर्नल, जि० २, पृ० ४९।

२ स्लीमैन, अवध, जि० १, पृ० १५०-६८।

प्रसन्नचित्त हैं।^१ स्लीमैन लिखता है कि सन् १८०१ में अवध का जो भाग ले लिया गया था, उसमें जमीन्दार और रईसों की श्रेणी नष्ट कर दी गई थी। उनकी आमदनी का बहुत सा हिस्सा हर नये बन्दोबस्त में ले लिया जाता था। अत्याचार, मारपीट और लड़ाई-झगड़े होने पर भी अवधनिवासी अँगरेजी जिलों में रहना पसन्द न करते थे। हमारी अदालतों के कानून-कायदों, न्याय करनेवालों के “घमंड और बेपरवाही” तथा वकीलों के “लालच और गुस्ताखी” से वे बहुत डरते थे।^२ एडवर्ड्स लिखता है कि “जब हमने अवध लिया, वह धनी, आश्रय और व्यापारी देश था। इन बातों में हमारे साम्राज्य के बहुत से भागों से उसकी अच्छी तरह तुलना की जा सकती थी।”^३

यदि अवध में जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित न होने तथा शासकों के अत्याचार के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें अधिकांश सत्य भी हो, तो उसके लिए अँगरेज ही अधिक जिम्मेदार कहे जा सकते हैं। सेना उनके हाथ में थी, वे शासन की हर एक बात में हस्तक्षेप करते थे। देश-रक्षा की जिम्मेदारी से अलग होकर भोग-विलास में समय बिताना नवाबों के लिए स्वाभाविक था। यदि वे कभी सुधार की चेष्टा भी करते थे, तो उसमें भी अड़चनें डाली जाती थीं। हेनरी लॉरेंस की राय में जैसी कुछ व्यवस्था थी उसमें कोई वजीर अपने स्वामी और रेजीडेंट को एक साथ प्रसन्न न रख सकता था और ऐसे रेजीडेंट का मिलना मुश्किल था, जो केवल “प्रजा और राजा के हित” का ध्यान रखकर निरर्थक हस्तक्षेप से अपने को अलग रखता। इसी लिए शासन में बड़ी बाधाएँ पड़ती थीं।

मुगल बादशाह—लार्ड डलहौजी की राय में नुम मात्र के नवाब और राजाओं को रखने की कोई आवश्यकता न थी। सब शक्ति छीनकर बड़े-बड़े नाम देना उनकी हँसी उड़ाना था। इनमें सबसे मुख्य दिल्ली का

१ मिसेज फेन पार्क, वांडरिंग्स ऑफ ए फिलग्रिम।

२ स्लीमैन, अवध, जि० १, पृ० १६८-६९।

३ एडवर्ड्स, हेनरी लॉरेंस, जि० २, पृ० २८०।

बादशाह था। लार्ड डलहौजी बहादुरशाह के मरने के बाद से तैमूर के घराने से सम्राट् की उपाधि को हटा देना चाहता था। परन्तु उसकी इस बात को संचालकों ने स्वीकार नहीं किया।

बहादुरशाह अपनी छोटी बेगम जीतनमहल के लड़के को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।

परन्तु डलहौजी ने एक बड़े लड़के को उत्तराधिकारी मान लिया और उससे यह वादा करा लिया कि बहादुरशाह के मरने पर दिल्ली का महल खाली कर दिया जायगा। रसल लिखता है कि शाही घराने के लोग नजरबन्द रखे जा रहे थे। न उनकी पूरी आर्थिक सहायता की जाती थी और न उन्हें सरकारी नौकरियाँ



जीतनमहल

ही दी जाती थीं। उनके लिए “उचित महत्वाकांक्षा” का दर्वाजा बन्द था। ऐसी दशा में जब उनका समय “आलस्य, नीचता तथा भोग-विलास” में व्यतीत होता था, तब उनकी निन्दा की जाती थी और यह दिखलाया जाता था कि वे कितने पतित हैं।^१

अन्य नवाब और राजा—कर्नाटक के नवाब का राज्य पहले ही छीन लिया गया था। सन् १८५५ में मुहम्मदगौस के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को नवाब की उपाधि नहीं दी गई और पेंशन भी घटा दी गई। कहा गया कि सन् १८०१ की सन्धि तत्कालीन नवाब के साथ व्यक्तिगत सन्धि थी। उसमें उसके उत्तराधिकारियों का कोई उल्लेख न था। यदि ऐसा ही था तो उसके बाद दो और नवाब क्यों माने गये? इसके उत्तर में कहा

१ रसल, माई डायरी इन इंडिया, १८५८-५९ जि० २, पृ० ५१।

गया कि तब बात दूसरी थी, अब उस नीति से काम लेने की आवश्यकता न थी।^१ इन दिनों नवाब के वंशज 'अर्काट के शाहजादे' कहलते हैं। सन् १८५५ में तंजोर के राजा शिवाजी की मृत्यु हो गई। उसके केवल दो लड़कियाँ थीं। उसका कोई वारिस न माना गया, पेंशन बन्द कर दी गई और कुटुम्ब के गुजारा का प्रबन्ध कर दिया गया। रानियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, उनकी निजी सम्पत्ति भी छीन ली गई, परन्तु यह डलहौजी के चले जाने के बाद की बात है। तंजोर के राजाओं ने हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया था। यह तंजोर में अब भी मौजूद है। सन् १८५१ में पेशवा बाजीराव के मरने पर, उसको ८ लाख रुपये साल की जो पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और नाना साहब को, जिसे उसने गोद लिया था, केवल थ्रूर की जागीर दी गई। कहा गया कि पेंशन व्यक्तिगत थी, इसके अतिरिक्त बाजीराव बहुत सा धन छोड़ गया है। नाना साहब ने एक प्रार्थनापत्र इंग्लैंड भेजा, जिसमें उसने दिखलाया कि यह पेंशन राज्य छीनने के बदले में दी गई थी। धन एकत्र हो जाने से पेंशन का हक नहीं मारा जाता। पर वहाँ से भी कोरा जवाब मिला।

काबुल और कलात—पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा करने के लिए अफगानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद से मित्रता की सन्धि कर ली गई, जिसमें दोनों ने एक दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। बिलोचिस्तान की तरफ से किसी के आक्रमण का भय न रहे, इसलिए कलात के 'खान' से भी सन्धि की गई। इस सन्धि से अँगरेजों को बिलोचिस्तान में सेना रखने और व्यापार करने के अधिकार मिल गये। उस तरफ लूट-पाट से रक्षा करने के लिए कलात के 'खान' और उसके उत्तराधिकारियों को ५० हजार रुपये साल की सहायता देने का भी वचन दिया गया।

शासनप्रबन्ध—डलहौजी के समय में भारतवर्ष का बहुत सा भाग अँगरेजी राज्य में मिल गया, इसलिए अब शासनप्रबन्ध में कुछ परिवर्तन

करना आवश्यक हो गया। इस समय तक बंगाल का शासन गवर्नर-जनरल के हाथ ही में था, परन्तु उसका काम अधिक बढ़ जाने के कारण सन् १८५३ में बंगाल प्रान्त के लिए एक अलग लेफ्टिनेंट-गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। पंजाब, बर्मा, अवध और नागपुर बिलकुल स्वतंत्र प्रान्त नहीं बनाये गये। इनमें चीफ कमिश्नर रख दिये गये, जो गवर्नर-जनरल के अधीन थे। ये प्रान्त हाल ही में लिये गये थे। इनको शांत रखने के लिए ऐसे शासन की आवश्यकता थी, जिसमें प्रचलित रीति-रिवाजों में बहुत परिवर्तन भी न हो और सरकार का काम भी शीघ्रता और सुगमता से निपटता जाय। इसी लिए यहाँ बंगाल के सब कानून-कायदे नहीं चलाये गये। जिला मजिस्ट्रेट के हाथ में, जो 'डिप्युटी कमिश्नर' कहलाने लगे, न्याय, पुलिस और माल के सब अधिकार दे दिये गये।

बंगाल की अपेक्षा नये प्रान्तों में सेना का रखना अधिक आवश्यक समझा गया। उत्तरी भारत में मेरठ में सेना की मुख्य छावनी बनाई गई। पंजाब में एक अलग सेना रखी गई और गोरखों की भी कई एक पल्टनें बनाई गई। इस समय उत्तरी भारत में अधिक निगरानी रखने की आवश्यकता थी, इसलिए शिमला में भारत-सरकार के रहने का प्रबन्ध किया गया।

रेल—सन् १८४१ से ही भारतवर्ष में रेल चलाने का विचार हो रहा था। अब साम्राज्य का विस्तार हो जाने से, एक स्थान से दूसरे स्थान को सेना शीघ्र ले जाने के लिए, रेलों की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। सरकार इसके लिए धन लगाने को तैयार न थी। डलहौजी ने घाटा पूरा करने का वचन देकर भारतवर्ष में रेल चलाने के लिए अँगरेजी कम्पनियों को राजी किया। सन् १८५३ में बम्बई के निकट, 'ग्रेट इंडियन पेनिशुलर' (जी० आई० पी०) रेलवे कम्पनी ने पहले-पहल रेल चलाई। इसी की शाखाएँ खानदेश और नागपुर की तरफ बढ़ाई गईं। 'ईस्ट इंडियन रेलवे' (ई० आई० आर०) कम्पनी ने पहले कलकत्ता से रानीगंज तक रेल चलाई। फिर कलकत्ता से इलाहाबाद होते हुए दिल्ली तक इसी कम्पनी की रेल चल गई। इस तरह लार्ड डलहौजी के समय में ही 'मद्रास रेलवे' (एम०

आर०) और 'बम्बई बड़ौदा सेंट्रल इंडिया' (बी० वी० सी० आई०) रेलवे कम्पनियाँ भी स्थापित हो गईं ।

सेना की सुविधा के अतिरिक्त रेलों के चलाने में डलहौजी को इंग्लैंड के व्यापार का भी ध्यान था । वह लिखता है कि इंग्लैंड को रुई की बड़ी आवश्यकता है । भारतवर्ष में यह अच्छे किस्म की और खूब पैदा होती है । यदि समुद्र के बन्दरगाहों तक इसके पहुँचाने का प्रबन्ध किया जा सके, तो इंग्लैंड की यह आवश्यकता दूर हो सकती है । साथ ही साथ यह भी खयाल था कि रेलों से भारतवर्ष के दूर-दूर के स्थानों में यूरोप की बनी हुई चीजों की खपत बढ़ जायगी ।^१ इस तरह सैनिक सुविधा और इंग्लैंड की व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से भारतवर्ष में पहले-पहल रेलें चलाई गईं ।

तार—इसी उद्देश्य से तारों का भी प्रबन्ध किया गया । सन् १८५२ में कलकत्ता के निकट पहला तार लगाया गया । भारतवर्ष में तार लगाना सहज काम न था । बड़े विकट जंगल, नदी, नाले और पहाड़ों के होने से तार के खम्भों के गाड़ने में बड़ी मुश्किलें पड़ती थीं । बन्दर तार तोड़ डालते थे और जंगली जानवर खम्भों को गिरा देते थे । डलहौजी के समय में बड़े परिश्रम के साथ यह काम पूरा किया गया । सिपाही-विद्रोह के समय पर तार अँगरेजों के बड़े काम आया । क्षण भर में समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँच जाता था, सिपाही मुँह ताकते रहे जाते थे । लार्ड डलहौजी ने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य को “लोहे की पटरियों और तारों से जकड़” दिया । हंटर लिखता है कि सन् १८५७ के विद्रोह में रेल और तार हजारों आदमियों के बराबर थे । रेल और तारों ही द्वारा भारतवर्ष अब भी सैनिक रीति से हाथ में है ।

डाक—डलहौजी के पहले डाक का कोई ठीक प्रबन्ध न था । स्थान की दूरी और पत्र के वजन के हिसाब से महसूल लिया जाता था । पत्र देने पर डाकिया महसूल वसूल करता था, जिसमें बड़े झगड़े होते थे । गाँवों में तो पत्र

कभी पहुँचते ही न थे। लार्ड डलहौजी ने जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया और सन् १८५३ से आधे तोले के वजन का आधा आना महसूल सारे भारतवर्ष के लिए निश्चित कर दिया। महसूल वसूल करने के झगड़ों से बचने के लिए टिकटें चला दी गईं। लार्ड डलहौजी के समय में ही साढ़े सात सौ के लगभग डाकखाने खोले गये। रेल, तार और डाक से आगे चलकर जनता को भी बहुत लाभ हुआ। समय तथा दूरी की कठिनाइयाँ जाती रहीं और भारत धीरे-धीरे एकता की ओर बढ़ने लगा।

नहर और सड़कें—गंगा की नहर, जो बहुत दिनों से खुद रही थी, लार्ड डलहौजी के समय में पूरी हो गई। उससे उत्तरी भारत में सिंचाई के लिए सुविधा हो गई। पंजाब में भी बारी दोआब नहर से बहुत लाभ हुआ। दक्षिण में गोदावरी के पानी से भी खेती को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। कई एक सड़कें बनवाई गईं और ऐसे कार्यों की देख-भाल के लिए 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट' कायम किया गया।

शिक्षा और व्यापार—सर चार्ल्स वुड की सलाह से अब देशी भाषाओं पर अधिक जोर दिया जाने लगा। गाँवों की पाठशालाओं और मकतबों को सरकारी सहायता देने और उनके निरीक्षण करने का प्रबन्ध किया गया। बड़े-बड़े गाँवों में प्रारम्भिक स्कूल और जिलों में हाई स्कूल खोले गये। तीनों प्रान्तों में इंजीनियरिंग की पढ़ाई का भी कुछ प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौजी के समय में भारत में अँगरेजों का व्यापार भी बहुत बढ़ गया। सन् १८४८ में देश से जितनी रुई बाहर जाती थी, सन् १८५६ में उससे दुगुनी से भी अधिक जाने लगी। गल्ला तिगुना जाने लगा और सूती कपड़ा तथा अन्य विलायती चीजों का आना दुगुने से भी अधिक हो गया।^१ इस व्यापार की वृद्धि से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने लगी।

कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र—सन् १८५३ में कम्पनी के आज्ञापत्र के सम्बन्ध में पार्लामेंट ने फिर कानून पास किया। भारत का शासन

नाम मात्र के लिए इस समय भी कम्पनी के हाथ में था। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, केवल इस बार कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। गवर्नर-जनरल की 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई। इसमें बम्बई, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रान्त से भी एक-एक मेम्बर लिया गया। इस तरह पहले-पहल इसको केवल बंगाल प्रान्त की अपेक्षा भारत साम्राज्य की कौंसिल बनाने का प्रयत्न किया गया। लार्ड डलहौजी इसमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर भी रखना चाहता था, परन्तु इंग्लैंड सरकार ने इसको स्वीकार न किया। इस कौंसिल में पार्लामेंट की नकल की जाती थी। यह बात इंग्लैंड-सरकार को पसन्द न थी। सर चार्ल्स वुड इसको 'भारतवर्ष की पार्लामेंट' न मानता था।

डलहौजी का चरित्र—मार्च सन् १८५६ में डलहौजी वापस चला गया। 'वह बड़ा परिश्रमी गवर्नर-जनरल था। सत्रे नौ बजे से लेकर पाँच बजे शाम तक बराबर दिमागी काम किया करता था। इंग्लैंड से आने पर ही उसका स्वास्थ्य खराब था, भारतवर्ष में अधिक परिश्रम करने से वह और भी त्रिगड़ गया। उसके एक मित्र ने हूँसी में लिखा था कि रूस के जार और डलहौजी ये ही दो स्वेच्छाचारी शासक बाकी रह गये हैं।^१ इसमें बहुत कुछ सत्यता थी। वह जो राय कायम कर लेता था, उसमें किसी की न सुनता था। हेनरी लॉरेंस और स्लीमैन ऐसे अनुभवी अफसरों की राय का भी उस पर कुछ प्रभाव न पड़ता था। सेनापति चार्ल्स नेपियर से तो बराबर झगड़ा हुआ करता था। उसने स्वयं माना है कि वह दूसरों के साथ मिलकर काम न कर सकता था। वह प्रायः कड़ी और कभी-कभी अनुचित भाषा का प्रयोग कर बैठता था। दूसरों के सम्मान और प्रतिष्ठा का उसको बहुत कम ध्यान रहता था, जिसकी वजह से, जिनका उससे मतभेद होता था, वे और भी असन्तुष्ट रहते थे। अर्नाल्ड की राय में उसने आधुनिक भारत की नींव डाल दी। हंटर का मत है कि उसने साम्राज्य और देश को एक बना दिया। यह चाहे जो कुछ हो, देशी

नरेशों के प्रति उसकी नीति और व्यवहार की प्रशंसा नहीं की जा सकती। आगे चलकर वह नीति भारत-सरकार को छोड़नी ही पड़ी। उसके लोकोपयोगी कार्यों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें से बहुतों की योजना उसके आने के पहले ही तैयार हो चुकी थी, उसने उनको पूरा अवश्य कर दिया। जिस काम को वह हाथ में लेता था, उसको करके छोड़ता था, यह उसमें बड़ा भारी गुण था। लार्ड डलहौजी ने जो कुछ किया, वह अपने देश के लिए किया। उसकी सेवा में वह अपने जीवन को भी तुच्छ समझता था। (जिस साम्राज्य की लार्ड क्लाइव ने नींव डाली थी, जिसको वारेन हेस्टिंग्स ने दृढ़ बनाया था, वेलेजली तथा लार्ड हेस्टिंग्स के समय में जिसकी वृद्धि हुई थी, लार्ड डलहौजी ने उसको पूरा कर दिया।)

पारच्छद १३

कम्पनी का अन्त

लार्ड कैनिंग—फरवरी सन् १८५६ में डलहौजी की जगह पर लार्ड कैनिंग भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल होकर आया। उसका पिता इंग्लैंड का



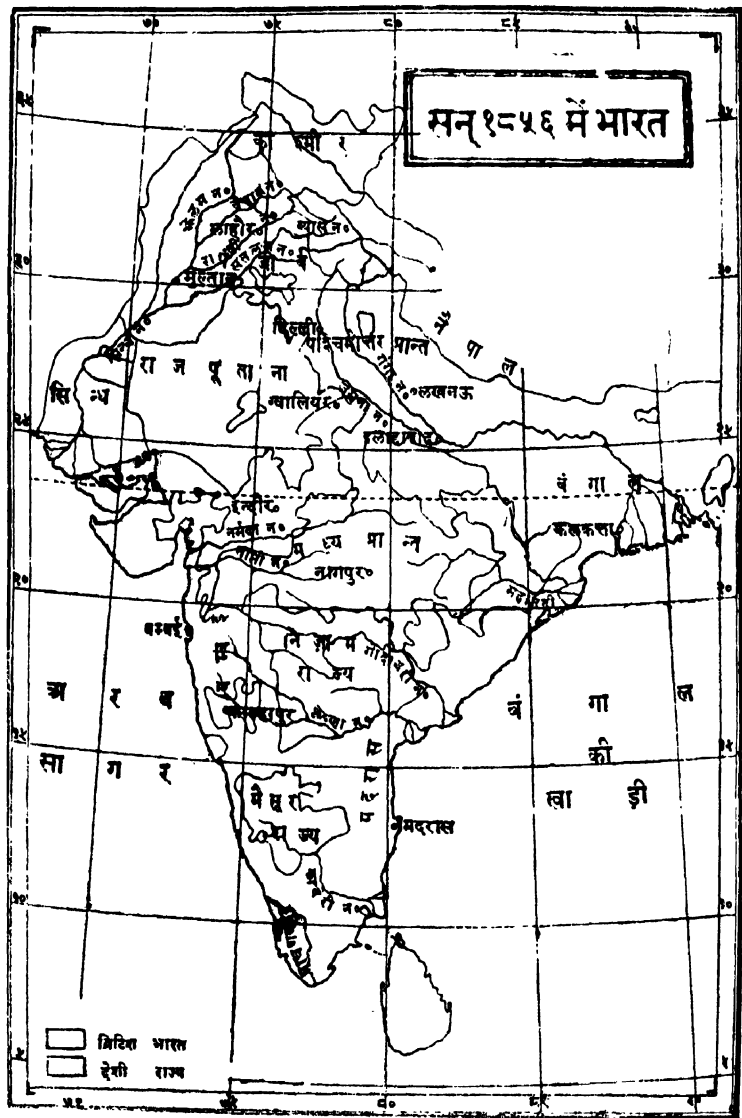
कैनिंग

प्रधान सचिव रह चुका था। वह स्वयं भी बहुत दिनों तक पार्लियामेंट और मंत्रि-मंडल में काम कर चुका था। इंग्लैंड से चलते समय उसका कहना था कि भारतवर्ष का आकाश स्वच्छ और शान्त दिखलाई दे रहा है, पर कौन जानता है कि बादल का एक छोटा सा टुकड़ा, बढ़ते-बढ़ते सारे आकाश को घेरकर हमें किसी दिन नष्ट कर दे? उसका यह भय सच निकला। उसके आने के साल ही भर बाद भारत के राजनैतिक गगन-मंडल में घोर

अशान्ति के काले-काले बादल छा गये और कुछ काल के लिए भारतवर्ष में अँगरेजों का रहना संदिग्ध हो गया।

राजनैतिक अशान्ति—लार्ड डलहौजी की नीति से देशी राज्यों में बढ़ा असन्तोष फैल रहा था। जिस ढंग से एक-एक करके राज्य छीने जा रहे थे, उसे देखते हुए सबको चिन्ता हो रही थी। अवध की दशा देखकर,

सन् १८५६ में भारत



जिसने सदा अँगरेजों का साथ दिया था, यह धारणा हो रही थी कि किसी राज्य का बचना सम्भव नहीं है। सबको यह भय हो रहा था कि किसी न किसी बहाने से धीरे-धीरे सभी राज्य ले लिये जायँगे। मराठों में पेशवा का अन्त हो ही चुका था, सतारा और नागपुर लेकर शिवाजी और भोंसला के घराने भी नष्ट कर दिये गये थे। रणजीतसिंह का राज्य तो जड़ से ही उखाड़ दिया गया था। मुसलमानों में मुहम्मदअली के वंशजों को कर्नाटक के नवाब कहलाने तक की अनुमति नहीं दी गई थी, निजाम से बरार छोन लिया गया था और अवध के राज्य का तो एक-दम से ही अन्त कर दिया गया था। दिल्ली में वृद्ध मुगल सम्राट् बहादुरशाह को अपने पूर्वजों के महलों में भी रहना मुश्किल हो गया था।

जिस ढंग से यह नीति काम में लाई जा रही थी, उससे अशान्ति और भी बढ़ रही थी। इन राजाओं तथा नवाबों के आभूषण, जवाहरात, हाथी और घोड़े बाजारों में नीलाम किये जा रहे थे। रानियों और बेगमों की बुरी दशा थी। सतारा, कर्नाटक तथा अवध और नाना साहब के दूत इंग्लैंड तक दौड़ रहे थे, पर कहीं किसी की भी सुनवाई नहीं हो रही थी। इस तरह निराश होकर इनमें से कुछ लोग बदला लेने का अवसर ताक रहे थे।

सामाजिक परिवर्तन—कई एक देशी राज्यों के नष्ट हो जाने से समाज में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा था। बहुत से बड़े बड़े आदमी बेकार घूम रहे थे। अँगरेजों के यहाँ उनके लिए नौकरियों का दरवाजा बन्द था। अमला और सिपाहियों की तो कुछ गिनती ही न थी, इनके लिए कहीं भी ठिकाना न था। नये बन्दोबस्त में प्राचीन बड़े-बड़े घरानों का कुछ भी ध्यान नहीं किया जा रहा था। बंगाल में बेंटिक के समय से ही 'लाखिराज' जायदादें जब्त हो रही थीं। बम्बई में सनदों की जाँच करने के लिए 'इनाम कमीशन' बैठा हुआ था, जो छोटी बड़ी मिलाकर २० हजार जायदादों और जागीरों को जब्त कर चुका था। अवध में तालुकेदारों के साथ भी यही व्यवहार किया जा रहा था। जिन इलाकों पर उनका पुस्तों से अधिकार चला आ रहा था, वे किसी सनद या और कोई ऐसे ही सबूत न होने के कारण, छीने जा रहे थे।

दीवानी अदालतों की डिक्रियों से जायदादें नीलाम हो रही थीं और जमीन्दार तबाह हो रहे थे।

अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों का सामाजिक सम्बन्ध टूट रहा था, दोनों एक दूसरे से अलगा हो रहे थे। अँगरेज हिन्दुस्तानियों को असभ्य और हिन्दुस्तानी अँगरेजों को अपने धर्म का विरोधी समझ रहे थे। दोनों की बहुत सी बातें एक दूसरे की समझ में न आ रही थीं और न उनके समझने का कोई प्रयत्न ही किया जा रहा था। शिक्षा से यह भेदभाव दूर नहीं हो रहा था। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग हर एक बात में अँगरेजों की नकल कर रहे थे और अपने देश की सभी बातों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। बहुत से बेपढ़े हिन्दुस्तानी रेल और तार को 'जादू' समझे बैठे थे और उनसे भय करते थे। पाश्चात्य सभ्यता की बहुत सी बातों के आ जाने से भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में, जो सहस्रों वर्ष से एक ही ढंग से चला आ रहा था, बड़ा उथल-पुथल मच रहा था।

धार्मिक उत्तेजना—भारतवर्ष में हर एक बात का सम्बन्ध धर्म से है। अँगरेज जिनको सामाजिक परिवर्तन समझ रहे थे, हिन्दुस्तानी उनको अपने धर्म पर आघात मान रहे थे। सती-प्रथा का बन्द करना धर्म में हस्तक्षेप समझा जा रहा था। विधवा-विवाह को जायज मानने के लिए हाल ही में एक कानून पास हुआ था। बहु-स्त्री-विवाह को रोकने के लिए भी कानून बनाने पर विचार हो रहा था। इस समय तक धर्म-परिवर्तन करने से पैतृक सम्पत्ति में हक मारा जाता था, अब यह नियम भी उठा दिया गया था। ये सब बातें जन-साधारण को खटक रही थीं। इनके अतिरिक्त सबसे भारी बात तो यह थी कि इन दिनों ईसाई मत के प्रचार पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। लार्ड पामस्टन तक भारतवर्ष के करोड़ों मनुष्यों को "उच्च और श्रेष्ठ" मत में लाने का स्वप्न देख रहा था। सरकारी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य करने के लिए आन्दोलन हो रहा था। पादरी लोग हिन्दू और मुसलमान धर्मों की हँसी उड़ा रहे थे। बरिक्पुर के सैनिक अफसर खुले तौर पर सिपाहियों को ईसाई मत का उपदेश दे रहे थे। सरकार की ओर से इनको रोकने की कोई चेष्टा नहीं की जा

रही थी, जिससे यह सन्देह हो रहा था कि सरकार भी सबको ईसाई बनाना चाहती है। उसकी हर एक बात इसी दृष्टि से देखी जा रही थी। समाज-सुधार और शासन-व्यवस्था के लिए जो नियम बनाये जा रहे थे, वे सब धर्म-भ्रष्ट करने का प्रयत्न समझे जा रहे थे। रेल का प्रचार और जेल के नियम, जिनके द्वारा अलग अलग लोटा-थाली हटाकर सबका खान-पान एक कर दिया गया था, इसके प्रमाण माने जाते थे।

सैनिक स्थिति—ये भाव सेना में भी फैल रहे थे और विल्लौर तथा बारिकपुर के उपद्रवों में इनका परिचय मिल चुका था। बंगाल की सेना में सबसे अधिक असन्तोष था; क्योंकि इसमें अधिकतर ब्राह्मण और राजपूत थे। इन लोगों को अफगानिस्तान में जाना बहुत खटका था। वहाँ से लौटने पर बहुत से लोग जाति से बाहर कर दिये गये थे। सन् १८४४ में अधिक भत्ता न मिलने के कारण बंगाल की चार पल्टनों ने सिन्ध में रहना अस्वीकार कर दिया था। सन् १८४९ में पैदल सेना की एक पल्टन ने गोविन्दगढ़ में भी उपद्रव किया था। सन् १८५२ में सिपाहियों ने समुद्र के मार्ग से बर्मा जाने से इनकार कर दिया था और डलहौजी को उनकी बात मानकर स्थल के मार्ग से ही सेना भेजने का प्रवन्ध करना पड़ा था। इन सैनिकों की बहुत सी उचित शिकायतों की ओर भी ध्यान नहीं दिया जा रहा था, उल्टे कुछ ऐसी बातें की जा रही थीं, जिनसे उनका असन्तोष और भी बढ़ रहा था।

सन् १८५६ में एक कानून पास कर दिया गया कि जो नये सिपाही भरती किये जायँगे, उनको जहाँ भेजा जायगा, जाना पड़ेगा। समुद्र-यात्रा या जाति-पाँति के बन्धनों का कोई विचार न किया जायगा। इसके अतिरिक्त सबसे भारी यह भूल की गई कि नई राइफल की बन्दूक के लिए जो कारतूस बनाये गये, उनमें चिकनाने का काम चर्बी से लिया गया। इन कारतूसों को दाँत से काटना पड़ता था। उपद्रवी लोगों ने यह कहकर कि इनमें गऊ और सुअर की चर्बी का, हिन्दू और मुसलमानों को धर्म-भ्रष्ट करने के लिए, प्रयोग किया जाता है; सिपाहियों को भड़का दिया।

उपद्रव करने के लिए यह अच्छा अवसर था, क्योंकि गोरों की कुछ पल्टनें भारतवर्ष से बाहर गई हुई थीं। इन दिनों हेरात पर फिर से आक्रमण करने के कारण फारस से युद्ध छिड़ा हुआ था, क्रिमिया में भी लड़ाई हो रही थी। इसलिए गोरों की कई एक पल्टनें इन दोनों स्थानों को भेज दी गई थीं। डलहौजी के बहुत कुछ लिखने पर भी इंग्लैंड से कोई सेना भारतवर्ष न भेजी गई थी। इस समय भारतवर्ष में कुल ४५३२२ गोरे सैनिक थे और हिन्दुस्तानी सिपाहियों की संख्या २३३००० थी। लार्ड डलहौजी ने पंजाब की रक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया था, पर बाकी देश की रक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न था। कलकत्ता से लेकर इलाहाबाद तक दीनापुर को छोड़कर और किसी स्थान पर गोरी सेना न थी। कई एक स्थानों के तोपखाने भी हिन्दुस्तानियों के हाथ में थे और दिल्ली की रक्षा का भार अधिकतर सिपाहियों ही पर था। बहुत से अँगरेज सैनिक अफसरों को शासन का काम दे दिया गया था। इस तरह इन दिनों गोरी सेना का बल बहुत कम दिखलाई पड़ रहा था।

सिपाही-विद्रोह—सन् १८५७ के पहले तीन चार महीनों में सिपाहियों में असन्तोष खूब बढ़ रहा था। हर रोज नई खबरें उड़ रही थीं। कभी कहा जाता था कि आटा में हड्डियाँ पीसकर मिलाई जा रही हैं, कभी यह बतलाया जा रहा था कि पलासी की लड़ाई को जीते हुए, अँगरेजों को पूरे सौ वर्ष हो चुके, अब उनका अन्त निकट है। कारतूस के सम्बन्ध में पहले अँगरेज अफसर चुपचाप रहे, बाद में अशान्ति अधिक बढ़ते देखकर भूल सुधारने और सिपाहियों को समझाने का प्रयत्न किया गया। पर अब यह बात सर्वत्र फैल चुकी थी और इसका दवाना कठिन था। सिपाहियों का ध्यान था कि अफसर लोग उनको धोखा दे रहे हैं। सबसे पहले मार्च में बारिकपुर में उपद्रव प्रारम्भ हुआ। मंगल पांडे नामक सिपाही ने जोश में आकर एक अँगरेज को मार डाला, बहुत से सिपाही त्रिगड़ गये और उन्होंने कई जगह आग लगा दी। सिपाहियों की यह पल्टन तोड़ दी गई और मंगल पांडे को फाँसी का दंड दिया गया। ता० ३ मई को मेरठ में घोड़सवार सेना की तीसरी पल्टन ने नये कारतूसों को इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। इस पर

८५ नेता गिरफ्तार कर लिये गये उनको दस-दस वर्ष की कड़ी कैद की सजा दी गई। ता० ९ को पेरड पर उनकी वर्दियाँ छीनकर उन्हें सब तरह से अपमानित किया गया। अपने अपमानित साथियों के ललकारने पर सब सिपाही बिगड़ पड़े। जो अँगरेज जहाँ मिल गया, वहीं मार डाला गया, छावनी में आग लगा दी गई, जेल का फाटक तोड़कर कैदी निकाल लिये गये और सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ चले।

विद्रोह की आग भभक उठी। दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक मुख्य मुख्य स्थानों पर सिपाही बिगड़ पड़े। अँगरेजों से जो असन्तुष्ट हो रहे थे, उनको बदला लेने का अच्छा अवसर मिल गया और उनमें से कुछ लोग सिपाहियों के साथ हो गये। इस तरह एक सैनिक विद्रोह को राजनैतिक स्वरूप मिल गया।

दिल्ली—मेरठ से विद्रोही सिपाही दूसरे ही दिन दिल्ली पहुँच गये। यहाँ गोरों की कोई सेना न थी और शहर सिपाहियों के हाथ में था। ये सब विद्रोहियों से मिल गये, अँगरेज अफसर मार डाले गये और बृद्ध बहादुरशाह को फिर से तख्त पर बिठलाकर मुगल सम्राज्य की घोषणा कर दी गई। बहादुरशाह के महल को विद्रोहियों ने चारों ओर से घेर लिया था, उनका साथ देने के सिवा उसके लिए अपनी रक्षा का कोई दूसरा उपाय न था। अँगरेजों के व्यवहार से उसके कुटुम्बी पहले ही से असन्तुष्ट थे। फारस की ओर से उनको भड़काने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। बहादुरशाह के विरोध करने पर भी सिपाहियों ने क्रोध में आकर कई एक अँगरेजों को उनके बच्चे और स्त्रियों सहित मार डाला। दिल्ली में एक बड़ा भारी बारूदखाना (मैगजीन) था, जिसको सिपाही लेना चाहते थे। पर कुछ साहसी अँगरेज अफसरों ने अपने जीवन का कुछ भी पर्वाह न करके उसमें आग लगा दी जिसमें सहस्रों सिपाही जल-भुनकर मर गये। दिल्ली छिन जाने से अँगरेजों के आतंक पर बड़ा धक्का लगा और सारे पश्चिमोत्तर प्रान्त में उपद्रव मच गया।

यह समाचार पंजाब पहुँचने पर सर जान लारेंस ने लहोर के सिपाहियों से हथियार छीन लिये और बड़ी सख्ती के साथ वहाँ के उपद्रवियों को दंड दिया।

अमृतसर के डिप्युटी कमिश्नर कूपर ने, एक अँगरेज अफसर को मार डालने के अपराध में, पैदल सेना की २६ वीं पल्टन के २८२ सिपाहियों को गिरफ्तार कर लिया। इनमें से २३७ सिपाही बिना किसी अभियोग के गोली से मार दिये गये। वध करते करते एक गोली चलानेवाला बेहोश हो गया। बाकी ४५, जो एक कोठरी में बन्द थे, भय, श्रम और दम घुटने के कारण आप ही आप मर गये। इस तरह सौ वर्ष बाद कलकत्ते की काल कोठरी का बदला चुक गया। इन सबकी लाशें उजनाला के एक अन्धे कुएँ में झोंक दी गईं।^१ इस पल्टन के बचे-खुचे सिपाही लाहोर में तोपदम कर दिये गये। मार्टिन लिखता है कि दो अँगरेजों के वध के अपराध में पाँच सौ आदमियों के प्राण लेना ऐसा बदला है, जिसका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता।^२ जान लारेंस ने इस तरह पंजाब को शान्त करके गोरों की सेना को निकल्सन की अध्यक्षता में दिल्ली भेजा।

इसके पहले पंजाब और मेरठ की कुछ सेना जून में बदलीसराय के युद्ध में विद्रोहियों को हरा चुकी थी और दिल्ली को घेरे हुए पड़ी थी। निकल्सन की सेना आ जाने पर अच्छी तरह से युद्ध छिड़ गया। सितम्बर में पंजाब से तोपें भी आ गईं और शहर का काश्मीरी दरवाजा उड़ा दिया गया। चार पाँच दिन तक घोर युद्ध करके अँगरेजों ने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। इस युद्ध में लगभग १५०० गोरों सैनिक बेकाम हो गये और वीर निकल्सन मारा गया। विजय के बाद 'बिजन' बोल दिया गया, शहर लूट लिया गया, निरपराध नागरिक दया की भिक्षा माँगने पर भी गोलियों से मार दिये गये, भय से काँपते हुए बुढ़े काट डाले गये।^३ 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता के शब्दों में शाहजहाँ की दिल्ली में नादिरशाह के बाद से ऐसा भीषण दृश्य देखने में न आया था। इतिहासकार मार्टिन ने मर्मस्पर्शी शब्दों में इसका वर्णन किया है।^४

१ कूपर, काइसिस इन दि पंजाब, पृ० १६४-७४।

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४२८।

३ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ३८१।

४ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४४५-६०।

बृद्ध बहादुरशाह ने प्राणरक्षा का वचन मिलने पर अपने को अँगरेजों के हवाले कर दिया। विद्रोही कहीं छुड़ा न लेवें, इस भय से उसके लड़के, बिना इस



बहादुरशाह की गिरफ्तारी

बात की जाँच किये हुए कि उनका कोई अपराध था या नहीं, गोली से मार दिये गये। इतिहासकार मैलेसन का कहना है कि कोई ऐसा भय न था, इस तरह उनकी हत्या करना अनुचित था।^१ इतिहासकार होम्स का भी ऐसा ही मत है।^२ मुगल सम्राट् बहादुरशाह पर जनवरी सन् १८५८ में अभियोग चलाया गया। अपराधी सिद्ध होने पर वह रंगून भेज दिया गया, जहाँ सन् १८६२ में ८७ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इस तरह मुगल सम्राटों का अन्त हो गया।

दिल्ली हाथ में आ जाने से अँगरेजों की फिर धाक जम गई और सब जगह-उनकी विजय होने लगी। सन् १८५८ से दिल्ली पंजाब में भिला दी गई।

१ के और मैलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० ४, पृ० ५६-५७।

२ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ३८७-८८।

कानपुर—यहाँ से थोड़ी ही दूर पर ब्रिटूर में नाना साहब रहता था, जिसको बाजीराव ने गोद लिया था। जान के लिखता है कि वह सीधा-साधा प्रसिद्ध था और सदा अँगरेज कमिश्नर की बात मानने के लिए तैयार रहता था। बाजीराव की पेंशन के सम्बन्ध में वह बराबर लिखा-पढ़ी कर रहा था, पर कहीं उसकी मुनवाई नहीं हो रही थी। इसी से वह चिढ़ा हुआ था। कहा जाता है कि वह अँगरेजों के विरुद्ध पङ्क्यंत्र रच रहा था। इसी



नाना साहब

उद्देश्य से विद्रोह के पहले वह लखनऊ तथा दिल्ली गया था और रजवाड़ों से पत्र-व्यवहार कर रहा था। लखनऊ के मार्टिन गब्बिस का तो यहाँ तक कहना है कि उसके दूत ने, जो इंग्लैंड गया था, रूसियों से भी बातचीत की थी।^१

जून में कानपुर के सिपाहियों ने भी विद्रोह कर दिया और वे भी सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ने लगे। परन्तु नाना साहब के कहने पर वे सब कानपुर फिर लौट पड़े।^२ तीन सप्ताह तक अँगरेजों ने बड़े साहस और धैर्य के साथ

शत्रुओं का सामना किया। अन्त में नाना साहब से रक्षा का वचन मिलने पर, उन सबने हथियार डाल दिये और गंगा के मार्ग से वे इलाहाबाद जाने

१ के और मैलेसन, इंडियन ग्युटिनी, जि० १, पृ० ४५४।

२ तात्या टोपे का कहना है कि सिपाहियों ने जबर्दस्ती नाना साहब को अपने साथ ले लिया और कानपुर की तरफ छोट पड़े। के और मैलेसन, जि० २, पृ० २२४।

के लिए तैयार हो गये। नाना साहब की ओर से नावों का प्रबन्ध कर दिया गया। परन्तु जब वे अपने बाल-बच्चे और स्त्रियों सहित नावों पर बैठ गये, तब घाट पर से सिपाहियों ने गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया। नावों में आग लगा दी गई और अँगरेजों का वध किया जाने लगा। शरण में आये हुए शत्रुओं के साथ ऐसा व्यवहार सर्वथा निन्दनीय है। नाना साहब को यह समाचार मिलने पर उसने बालकों तथा स्त्रियों की रक्षा करने के लिए तुरन्त ही आज्ञा भेज दी।^१ बचे हुए अँगरेज कानपुर में रख दिये गये और नाना साहब विठूर चला गया, जहाँ बड़ी धूमधाम के साथ वह पेशवा बनाया गया।

उसने अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया, उल्टे कानपुर आकर अपना अमूल्य समय नाचरंग में नष्ट कर दिया। कानपुर के हत्याकांड का समाचार मिलने पर इलाहाबाद से हैवलॉक और नील की अध्यक्षता में गोरी सेनाएँ कानपुर की ओर चल पड़ीं। मार्ग में फतेहपुर, जो विद्रोहियों के हाथ में आ गया था, विध्वंस कर दिया गया। गाँवों में आग लगा दी गई, जिनमें कितने ही बच्चे तथा स्त्रियाँ जलकर मर गईं और सब सम्पत्ति लूट ली गई।^२ नाना साहब के सिपाही अँगरेजी सेना को रोक न सके। उसके बढ़ने का समाचार पहुँचते ही कानपुर में घबराहट फैल गई। इस उत्तेजना के समय में दो सौ से अधिक अँगरेज स्त्रियों और बाल-बच्चों वा, जा बीबीघर में रख दिये गये थे, वध कर डाला गया और उनकी लाशें एक अन्धे कुएँ में फेंक दी गईं। कहा जाता है कि यह अमानुषिक कार्य नाना के दुष्ट सलाहकार अजीमुल्ला और एक मुसलमान स्त्री के कहने से किया गया था। एक भी सैनिक इस तरह की हत्या करने के लिए राजी न हुआ था। यह चाहे जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष के नाम पर यह धब्बा लग गया।

नाना साहब अँगरेजों का सामना न कर सका, वह छिपकर भाग निकला। जुलाई में कानपुर पर अँगरेजों का फिर, से अधिकार हो गया। विठूर में नाना

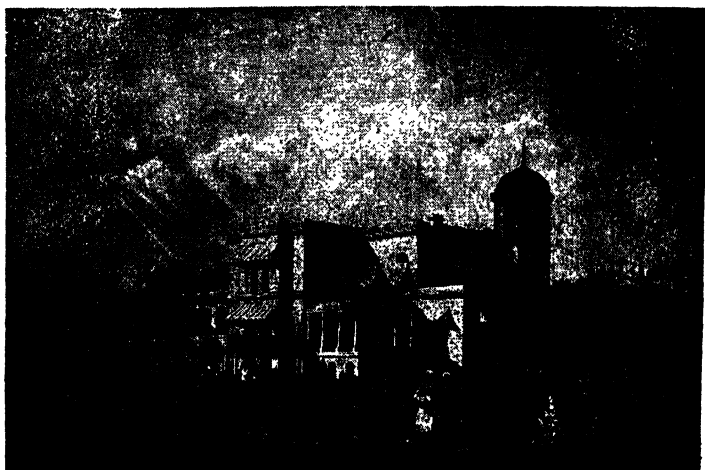
१ के और मेल्लेसन, इण्डियन म्युटिनी, जि० २, पृ० २५८।

२ वही, पृ० २७७-७८।

साहब का महल नष्ट कर दिया गया और सब सम्पत्ति लूट ली गई। उन्मत्त गोरे सिपाहियों ने भरपूर बदला लिया। सेनापति नील ने अपने कार्यों से यह दिखला दिया कि निर्दयता और कठोरता में अँगरेज भी किसी से कम नहीं हैं। उसके हाथ में जो कोई हिन्दुस्तानी सिपाही पड़ गया, उसी से उसने बेंत लगा लगाकर बीबीघर का खून साफ करवाया और अन्त में उसको फाँसी लटकवा दिया। वह स्वयं लिखता है कि मैं हिन्दुस्तानियों को ऐसी कड़ी सजा देना चाहता था, जिससे उनके भावों को अधिक से अधिक आघात पहुँचे और जिसको वे सदा स्मरण रखें।^१

लखनऊ—अवध का राज्य लेने के लिए चाहे जो कारण रहे हों, पर जिस ढंग से वहाँ के शासन का प्रबन्ध किया गया, जान के लिखता है कि उससे, वहाँ की प्रजा में, जो सदा अँगरेजों का हित चाहती थी, असन्तोष के बीज बो दिये गये। 'छत्र मंजिल' में, जो बादशाहों का खास महल था, गोरो का डेरा जम गया और साल भर तक उनके कुटुम्बियों को पेंशन नहीं दी गई। शाही घराने के इस अपमान से प्रजा उनके अत्याचारों को भूलकर उनसे सहाय-भूति दिखलाने लगी। जो लोग दरबार के आश्रित थे, उनकी रोजी जाती रही। जिन लोगों का महलों में पालन पोषण हुआ था, उनको रात में सड़कों पर भीख माँगने की नौबत आ गई। शाही सिपाहियों को कोई पूछनेवाला न रहा, वे अपने-अपने घर जाकर अँगरेजों के अत्याचारों का वर्णन करके असन्तोष फैलाने लगे। बहुत से तालुकदारों के इलाके छीन लिये गये और उनकी स्थिति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। जिन कारीगरों का दरबार से गुजर होता था, उनका रोजगार नष्ट हो गया। व्यापार की सभी चीजों पर टैक्स लगा दिया गया और किसानों पर लगान बढ़ा दिया गया। बहुत सी इमारतें तोड़ दी गईं और रईसों को अपमानित किया गया। इस तरह सभी श्रेणी के लोगों को असन्तुष्ट कर दिया गया।

इस दशा को सुधारने के लिए सर हेनरी लारेंस ने, जिसको लार्ड कैनिंग ने अवध का चीफ कमिश्नर बनाकर भेजा था, बहुत कुछ प्रयत्न किया। परन्तु अब अशान्ति पूर्ण रूप से फैल चुकी थी और उसका



लखनऊ को रेजीडेंसी

दबाना सहज न था। यहाँ भी कारतूस का झगड़ा चल रहा था। मेरठ में विद्रोह होने के साथ ही साथ लखनऊ में भी उपद्रव मच गया। हेनरी लारेंस सिपाहियों को शान्त करने में सफल न हुआ। कई एक अँगरेज अफसर मार डाले गये और वाजिदअली का एक दस वर्ष का लड़का नवाब वजीर बना दिया गया। रेजीडेंसी को विद्रोहियों ने घेर लिया। मुठ्ठी भर अँगरेजों ने बड़े साहस के साथ सिपाहियों का बहुत दिनों तक सामना किया। इसी बीच में एक गोला गिरने से सर हेनरी लारेंस की मृत्यु हो गई। वह बड़ा उदार-हृदय, दयालु और योग्य अफसर था। डलहौजी की नीति उसको पसन्द न थी, देशी राज्यों की रक्षा के लिए उसने बराबर प्रयत्न किया था।

लखनऊ के विद्रोह का समाचार फैलते ही अवध के सभी जिलों में ऊधम मच गया। पहले तो तालुकदार लोग चुप रहे, पर जब लार्ड कैनिंग ने उनके इलाकों को जब्त करने की घोषणा कर दी, तब उनमें से बहुतों ने सिपाहियों का साथ दिया। विद्रोहियों का सबसे अधिक जोर लखनऊ में था। कई बार अँगरेजों ने इसको लेने के लिए प्रयत्न किया, पर कामयाबी न हुई। नील तथा और कई एक सैनिक अफसर मारे गये। बड़ी मुश्किल से मार्च सन् १८५८ में सेनापति लार्ड क्लाइव ने लखनऊ पर फिर से अधिकार कर लिया। कैसर बाग लूट लिया गया और कई दिनों तक बराबर मारकाट जारी रही।^१ जो 'काला आदमी' हाथ में पड़ गया, वही गोली से मार दिया गया, या किसी पेड़ में फाँसी लटका दिया गया।^२ अवध के विद्रोह को शान्त करने में अँगरेजों को, नेपाल के राणा जंगबहादुर की अध्यक्षता में, गोरखों से बड़ी सहायता मिली।

बरेली—रहेलखंड में विद्रोह का प्रारम्भ बरेली से हुआ। मई सन् १८५७ के अन्त में यहाँ के सिपाही अंगिड़ पड़े और मुसलमान जनता उनके साथ हो गई। हाफिज रहमतखाँ का पोता नवाब नाजिम बना दिया गया, जो साल भर तक बरेली पर अधिकार जमाये रहा। मुसलमानों ने इसको धर्म-युद्ध मान लिया और कटने मरने के लिए 'गाजियों' का एक दल बन गया, जो बड़ी वीरता से लड़ा। रहेलखंड में अहमदुल्ला नामक फैजाबाद के एक मौलवी ने बहुत जोर बाँधा। लखनऊ में भी उसी ने ऊधम मचाया था। वह कट्टर मुसलमान था और उसके धर्मंड का कोई ठिकाना नहीं था। पर साथ ही साथ सिटन के शब्दों में "वह बड़ा योग्य, साहसी और दृढ़ विचार का मनुष्य था, विद्रोहियों में वह सबसे अच्छा सैनिक था।" उसने शाहजहाँपुर में दो बार सेनापति कैम्पबेल को छकाया। पुआवाँ के राजा ने उसे मरवा डाला। मैलेसन लिखता है कि

१ रसल, डायरी, जि० १, पृ० ३३१।

२ मजेंडी, अप अमंग दि पैंडीज, पृ० १९५-९६।

“वह सच्चा देशभक्त था। निरपराधियों के वध से उसने अपनी तलवार को कलंकित न किया था और न कभी उसने किसी ऐसे वध का समर्थन ही किया था। उन विदेशियों के साथ, जिन्होंने उसके देश पर अधिकार कर लिया था, वह वीरता, सम्मान और दृढ़ता के साथ मैदान में लड़ा था। उसकी स्मृति सभी जातियों के वीर तथा सच्चे हृदयवालों के लिए आदरणीय है।”^१ बरेली पर मई सन् १८५८ में ही अँगरेजों का अधिकार हो गया था। मौलवी के मरते-मरते रुहेलखंड के अन्य स्थान भी अँगरेजों के हाथ में आ गये।

बिहार—विद्रोह का समाचार मिलने पर पटना में धर-पकड़ शुरू कर दी गई। मेजर होम्स ने अपनी आज्ञा से सिगौली के आस-पास जंगी कानून जारी कर दिया। केवल सन्देह के कारण कुछ आदमियों को फाँसी दे दी गई और बहुत से जेल में ठूँस दिये गये। इन बातों से बिहार में भी बढ़ा असन्तोष फैल गया और दीनापुर के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। जगदीशपुर का ८० वर्ष का बूढ़ा जमीन्दार कुँवरसिंह उनका नेता बन गया। मालगुजारी के सम्बन्ध में उसके साथ बढ़ी ज्यादती की गई थी। विद्रोहियों का साथ देने के लिए पहले वह तैयार न था। परन्तु पटना के कमिश्नर को उस पर भी सन्देह हुआ, तब उस वीर राजपूत ने फाँसी पर लटकने की अपेक्षा युद्ध में प्राण देना ही उचित समझा।^२ विद्रोहियों के साथ उसने आरा को घेर लिया। परन्तु इलाहाबाद से एक अँगरेजी सेना के आ जाने पर उसको हटना पड़ा। जगदीशपुर की इमारतें नष्ट कर डाली गईं। कुँवरसिंह का वनवाया हुआ मन्दिर भी न छोड़ा गया।^३ बिहार से निकलकर उसने आजमगढ़ के निकट अँगरेजों के एक दल की अच्छी खबर

१ के और मैलेसन, जि० ४, पृ० ३८१।

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४०५।

३ वही, पृ० ४०६।

लो। परन्तु जब अँगरेजों की अधिक सेना आ गई, तब वह बिहार छोड़ आया। यहाँ उसने अँगरेजों के एक दल को हरा दिया और जगदीशपुर पर फिर से अधिकार कर लिया। इसके बाद ही युद्ध में आहत होने के कारण उसकी मृत्यु हो गई। अँगरेज इतिहासकारों ने भी उसकी वीरता की प्रशंसा की है।

भाँसी—मुन्सिफ और बुंदेलखंड को शान्त करने में अँगरेजों को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। जून सन् १८५७ में झाँसी के सिपाहियों ने त्रिगडकर कई एक अँगरेजों को मार डाला और राजा गंगाधरराव की विधवा लक्ष्मीबाई को झाँसी की गद्दी पर बिठला दिया। अँगरेजों की हत्या से उसका कोई सम्बन्ध था, यह सिद्ध नहीं होता।^१ उसके साथ बहुत कुछ अनुचित व्यवहार होने पर भी, वह विद्रोहियों में शामिल न होना चाहती थी। सिपाहियों के दबाव के कारण उसे उनकी बात माननी पड़ी। नौ दस महीने तक वह झाँसी का शासन बड़ी चतुरता से करती रही। मार्च सन् १८५८ में सर ह्यूरोज ने झाँसी पर आक्रमण कर दिया। रानी बड़ी वीरता से लड़ी, पर अन्त में उसको किला छोड़ना पड़ा। उसके हटते ही झाँसी में भयानक 'विजन' बोल दिया गया। कहा जाता है कि इस अवसर पर पाँच हजार आदिमियों का वध किया गया।^२ बिना किसी अपराध के, केवल लूट के लालच से, अमृतगव की जागीर किरवी, जिसकी गद्दी पर एक नौ वर्ष का बालक था, छीन ली गई।^३

रानी लक्ष्मीबाई ने झाँसी से निकलकर तात्या टोपे के साथ, जो उसकी सहायता के लिए आ रहा था, ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। महाराज जयाजी राव सिन्धिया की सेना त्रिगड गई और वह भागकर आगरा चला

१ होम्स, इण्डियन म्युटिनी, पृ० ४९३। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग १४, पृ० १७

२ मार्टिन, इण्डियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४८५।

३ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० १४१।

गया। ग्वालियर का शासन रावसाहब को दिया गया, जो भोग-विलास में पड़ गया। कालपी जीतकर जून में ह्यूरोज ग्वालियर पहुँच गया। रानी ने मरदाना भेष धारण करके फिर उसका सामना किया। दिन भर घोर युद्ध के बाद विजय की आशा न देखकर उसने मैदान छोड़ दिया। एक नाले के पास उसका घोड़ा रुक गया। कई एक गोरे आ पहुँचे, उसने अकेले ही उनका मुकाबला किया। अन्त में वह घायल होकर गिर पड़ी और उसकी मृत्यु हो गई। सेनापति सर ह्यूरोज की राय में विद्रोहियों के नेताओं में वह सबसे अधिक “योग्य और वीर” थी। मैलेसन लिखता है कि अँगरेजों की नजर



लक्ष्मीबाई

में रानी का चाहे जो कुछ दोष हो, पर भारतवासी सदा उसे श्रद्धा तथा गौरव की दृष्टि से देखेंगे और सरकार पर यह दोष लगायेंगे कि उसने रानी के साथ अन्याय किया।^१

तात्या टोपे—यह नाना साहब का सेनापति था। ग्वालियर से भागकर यह कई महीनों तक राजपूताना, बुंदेलखंड और मालवा में घूमता रहा। अँगरेजों के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी यह उनके हाथ न आया। अन्त में सिन्धिया के एक स्वार्थी जागीरदार ने विश्वासघात करके इसको अँगरेजों के हवाले कर दिया। जंगी अदालत में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध करने का इस पर अपराध लगाया गया और फाँसी का दंड दिया

गया। कहा जाता है कि कानपुर में इसी की आज्ञा से गंगातट पर अँगरेजों का वध किया गया था। परन्तु अभियोग में यह अपराध नहीं लगाया गया



तात्या टोपे

और न उस समय इसकी कोई जाँच ही की गई। तात्या का अपने समर्थन में कहना था कि मैंने सदा अपने स्वामी नाना साहब की आज्ञा का पालन किया। किसी यूरोपियन आदमी, औरत या बच्चे की हत्या से मेरा सम्बन्ध नहीं है और न मैंने किसी को फाँसी देने की आज्ञा ही दी। मैलेसन लिखता है कि वह अपने को पेशवा का सेवक समझता था। “जिस जाति ने उसके स्वामी को लूट लिया था, उसकी सहायता करने के लिए वह किसी तरह मजबूर न था।” ऐसी दशा में उसके अपराध को देखते हुए बड़ा कठोर दंड दिया गया।^१

विद्रोह का अन्त—दो वर्ष के भीतर भीतर अँगरेजों ने इस बड़े भारी विद्रोह को शान्त कर दिया। इसमें हिंसा और क्रोध के कारण सिपाहियों को भले-बुरे का ज्ञान न रहा। ब्रिटिश सरकार कड़ाई से राज्य कर रही थी, एक-एक करके देशी राज्य नष्ट हो रहे थे, न्याय और शासन के नाम पर साम्राज्य बढ़ाया जा रहा था। जब सिपाहियों ने देखा कि उनकी जाति और धर्म का भी संहार किया जा रहा है, तब वे इसको सहन न कर सके। जोश में आकर कुछ लोगों ने निरपराधियों के खून से भी अपने हाथ रँग डाले। निर्दयता, कठोरता और हत्या का कलंक केवल हिन्दुस्तानियों ही के मथे नहीं है, इसमें अँगरेजों ने भी कोई कसर नहीं रखी। कानपुर के हत्याकांड के पहले ही कई स्थानों में जंगी कानून जारी कर दिया गया था, जिसकी ब्रेक्सूर जनता शिकार बन रही थी। के लिखता है

कि बनारस में लड़के तक फाँसी पर लटका दिये गये थे। इलाहाबाद में निरपराध जनता का बिना किसी संकोच के वध किया गया था। वहाँ से चलते समय नील ने गाँव के गाँव जलाकर साफ कर दिये थे।^१ कैम्पबेल का कहना है कि नील ने जिस निर्दयता से लोगों का वध करवाया था, वैसा हिन्दुस्तानियों ने भी नहीं किया था।^२ निकल्सन अधिक से अधिक वेदना देनेवाले प्राणदंड का समर्थन कर रहा था। हर एक जगह विजय के बाद 'विजन' बोल दिया जाता था, जिसमें किने ही ब्रेक्सूर आदमी और औरतों की हत्या होती थी। दिल्ली और पंजाब की घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है। सिपाहियों की कठोरता का वर्णन करनेवाले कूपर ने ही लिखा है कि "यदि कानपुर का कुआँ है, तो उसके साथ उजनाला का भी कुआँ है।" स्वयं लार्ड कैनिंग ने माना है कि विद्रोहियों के साथ-साथ कितने ही निरपराध बच्चों, स्त्रियों तथा बुढ़ों तक का वध किया गया था। वह लिखता है कि बिना पूरी जाँच किये हुए फाँसी लटका देने से और गाँवों को लूटने तथा जला देने से, जो लोग सरकार का साथ देना चाहते थे, वे भी उत्तेजित हो गये थे।^३ बहुत सी अदालतों की कार्यवाहियों को लार्ड कैनिंग ने इस भय से प्रकाशित न किया था कि उनसे "संसार में हमारे देशवासियों का घोर अपमान होगा।"^४

यदि कुछ उन्मत्त सिपाहियों ने अँगरेज स्त्रियों और बच्चों का वध कर डाला था, तो अधिकांश जनता ने उनकी रक्षा भी की थी। जिस समय दिल्ली, कानपुर और झाँसी में अँगरेजों की हत्याएँ हो रही थीं, उसी समय बहुत से स्थानों पर झ्रया, सहानुभूति और करुणा के उदाहरण भी घट रहे थे। बहुत

१ के और मैलेसन, जि० २, पृ० २०२-२०८। होम्स, पृ० २२०-२२१।

२ कैम्पबेल, मेम्वाथर्स, जि० १, पृ० २८०।

३ के और मैलेसन, जि० २, पृ० २०३।

४ कनिंघम, कैनिंग (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरिज) पृ० १२६।

से हिन्दुस्तानियों ने अपनी जान हथेली पर लेकर अँगरेजों को अपने घर में छिपाया था। कितने ही भारतवासियों ने पद पद पर केवल मनुष्यत्व और दया के नाते अँगरेजों की सहायता की थी। कमिश्नर ग्रिथेड लिखता है कि “दिल्ली से जितने भागे हुए अँगरेज आये, उन सबने स्वीकार किया कि अनेक लोगों ने स्थान स्थान पर उनकी सहायता की, उन्हें आश्रय दिया और उनके साथ भला बर्ताव किया। एक संन्यासी को जमुना में बहता हुआ एक अँगरेज बचा मिला, उसे वह मेरठ ले आया। जब हम उसको इनाम देने लगे उसने न लिया और कहा कि अगर मुझे कुछ देना ही है, तो रास्ते पर एक कुआँ खोदवा दे।” कुछ दरिद्र मजदूरों ने घायल डाक्टर बुड की रक्षा की थी।^१ कितनी ही हिन्दुस्तानी आयाओं ने अँगरेज बच्चों की जानें बचाई और उनका इस कठिन अवसर पर अपनी सन्तानों से बढ़कर लालन-पालन किया।

यदि इस भयंकर समय में दरिद्र ग्रामवासी, मजदूर, धनी, राजा, रईस सभी दर्ज के भारतवासियों ने अँगरेजों की सहायता न की होती, तो उनका बचना मुश्किल था। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इस अवसर पर अँगरेजों ने भी अपने अद्भुत साहस, धैर्य, वीरता और स्वदेशभक्ति का परिचय दिया। सच बात तो यह है कि दोनों ओर से दैवी और आसुरी दोनों ही गुणों का प्रदर्शन किया गया।

यह विद्रोह भारतवर्ष के इतिहास में ‘गद्दर’ के नाम से प्रसिद्ध है। पंजाब के चीफ कमिश्नर सर जान लारेंस की राय में, इसका एकमात्र कारण कारतूस का झगड़ा था, पर मैलेसन इसको अँगरेजों की “बदनीयती” बतलाता है। वह लिखता है कि अँगरेजों ने वचन देकर उनका पालन नहीं किया, अफगान-युद्ध के बाद से सिपाहियों की शिकायतें नहीं सुनी गईं, सन्धियों के विरुद्ध देशी राज्य छीन लिये गये और नये शासन-प्रबन्ध में प्रजा के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया।^२ लार्ड डलहौजी के समय में ही

१ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, पृ० १६९।

२ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० २७९-२८०।

अशान्ति की बारूद एकत्र हो चुकी थी, उसमें कारतूस की चिनगारी पड़ गई। यदि ऐसा न होता, तो जिस तरह इसके पहले सैनिक विद्रोह शान्त हो गये थे, यह भी शान्त हो जाता।

असफलता के कारण—झाँसी की रानी को छोड़कर सिपाहियों का कोई योग्य नेता न था। उनमें हिम्मत, उत्साह और शक्ति की कमी न थी, पर सोचनेवाला मस्तिष्क न था। पहले से विद्रोह का कोई उद्देश्य या कार्यक्रम निश्चित न था। एक ओर बहादुरशाह सम्राट् और दूसरी ओर नाना साहब पेशवा बनाया जा रहा था। अँगरेजों को निकालकर किस प्रकार शासन होगा, इस ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया था। हिन्दू और मुसलमानों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न थे। धन की बड़ी कमी थी और संगठन की ओर तो किसी का ध्यान ही न था। विद्रोह के कुछ दिन पहले गाँवों में चपातियाँ और रिसालों में कमल धुमाये जा रहे थे। नाना साहब लखनऊ और दिल्ली के चक्कर लगा रहा था। इन बातों से सन्देह होता है कि विद्रोह के लिए षड्यंत्र रचा गया था। यदि ऐसा हो भी तब भी मानना पड़ेगा कि इसके लिए पूरी तैयारी नहीं की गई थी। यदि एक ही दिन सारे देश में विद्रोह हो जाता, तो अँगरेजों के लिए उसका दबाना असम्भव था।

विद्रोह देशव्यापी न था। इसका सबसे अधिक जोर पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, रुहेलखंड, अवध, नर्मदा तथा चम्बल के बीच के प्रदेश और बिहार तथा बंगाल के पश्चिमी भाग में था। सिन्ध को नेपियर ने सिर उठाने योग्य ही न रखा था। राजपूताना का हौसला बहुत दिनों से सुस्त था, दूसरे सर जान लॉरेंस की नीति ने भी उसको भुलाने में डाल रखा था। नर्मदा के दक्षिण में कोल्हापुर को छोड़कर अन्य कहीं विशेष उपद्रव नहीं हुआ। मध्य और पूर्वी बंगाल शान्त रहा। पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर सीमा के स्वतंत्र राज्य अफगानिस्तान और नेपाल अँगरेजों के मित्र बने रहे।

प्रायः सभी देशी राज्यों ने अँगरेजों का साथ दिया। इनकी सैनिक शक्ति पहले से ही नष्ट कर दी गई थी। ऐसी दशा में असन्तुष्ट होते हुए भी, अपने भविष्य का ध्यान करके, सिवा चुप रहने के इनके लिए कोई और उपाय न

था। सिन्धिया को उसके दीवान दिनकराव ने समझा-बुझाकर राजभक्त बनाये रखा। यदि वह बिगड़ जाता तो अन्य मराठा राज्य भी उसके साथ हो जाते। जनरल इनिस के शब्दों में “उसकी राजभक्ति ने अँगरेजों के लिए हिन्दुस्तान बचा लिया।” इसी तरह निजाम को सर सालारजंग ने राजभक्त बनाये रखा और मुसलमान उपद्रवियों को कठिन दंड देकर हैदराबाद में उपद्रव को भड़कने न दिया। विद्रोह के इतिहासकार होम्स का कहना है कि इसके लिए अँगरेजों को सालारजंग का सदा कृतज्ञ रहना चाहिए। सिख और गोरखा सैनिकों ने अँगरेजों की पूरी सहायता की, इनको लूट का खूब लालच दिया गया था। दिल्ली लूटने की सिखों को बहुत दिनों से अभिलाषा थी, यही बात अवध के सम्बन्ध में गोरखों के लिए थी। सर जान लारेंस लिखता है कि यदि पंजाब ने साथ न दिया होता, तो हम कहीं के भी न होते।

लार्ड कैनिंग ने इस कठिन अवसर पर बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। यह बात ठीक है कि यदि उसने अशान्ति के चिह्नों को देखकर पहले से पूरा प्रबन्ध किया होता, तो विद्रोह इतना जोर न पकड़ता। परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतवर्ष आये हुए उसको थोड़े ही दिन हुए थे। उसे देश की स्थिति का पूरा ज्ञान न था, दूसरे अशान्ति के बीज उसके आने के पहले ही बोये जा चुके थे। बड़ी उत्तेजना के समय में भी उसने अपने को शान्त रखा। यदि वह निकल्सन ऐसे अफसरों के कहने में आ जाता, जो स्त्रियों और बच्चों को जला देने तथा विद्रोहियों की खाल खींच लेने के लिए कानून बना देने पर जोर दे रहे थे, तो निस्सन्देह अशान्ति और बढ़ जाती। अँगरेजों के बहुत कुछ आन्दोलन करने पर भी उसने बंगाल में जंगी कानून जारी नहीं किया और निर्मूल घटनाओं को प्रकाशित करके उत्तेजना बढ़ानेवाले समाचारपत्रों का मुँह बन्द कर दिया। उसकी न्याय और दया की नीति को बहुत से अँगरेजों ने पसन्द नहीं किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

कम्पनी का अन्त—विद्रोह का समाचार मिलने पर सन् १८५७ से ही इंग्लैंड में इस बात पर विचार हो रहा था कि भारत का शासन इंग्लैंड-

सरकार के हाथ में पूर्ण रूप से सौंप दिया जाय। कम्पनी इसका विरोध कर रही थी। उसका कहना था कि जिस समय इंग्लैंड-सरकार अटलांटिक सागर के दूसरी ओर एक बड़ा साम्राज्य खो रही थी, उस समय उसने भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन वास्तव में इंग्लैंड-सरकार के हाथ में ही रहा। इसलिए यदि उसमें दोष हैं, तो इसके लिए वह भी जिम्मेदार है। परन्तु इसके साथ ही साथ कम्पनी ने अपनी जिम्मेदारी को दूसरे के मत्थे नहीं ढाला। जिस दंग से भारतवर्ष का शासन हुआ, उसकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए, उसने कहा कि यह उसके लिए “लज्जा की नहीं बल्कि गौरव” की बात है। परन्तु पार्लामेंट ने अब कम्पनी का अन्त करना निश्चित कर लिया था। अगस्त सन् १८५८ में एक कानून पास किया गया, जिसके अनुसार भारतवर्ष इंग्लैंड के राजछत्र के अधीन कर दिया गया और उसका शासन पूर्ण रूप से इंग्लैंड-सरकार के हाथ में आ गया। ‘बोर्ड ऑफ कंट्रोल’ तोड़ दिया गया। उसके सभापति के स्थान पर एक ‘भारत सचिव’ नियुक्त किया गया, जो ‘सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया’ कहलाने लगा। यह सचिव इंग्लैंड के मंत्रि-मंडल का सदस्य होता है और भारतवर्ष के शासन के लिए पार्लामेंट के प्रति जिम्मेदार है। उसकी सहायता के लिए एक समिति बना दी गई, जो ‘इंडिया कौंसिल’ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अधिकतर भारतवर्ष से वापस गये हुए सरकारी अफसर होते हैं।

इस तरह भारतवर्ष में ‘दोहरे शासन का युग’ समाप्त हुआ। जिस शासन के लिए कम्पनी को अभिमान था, उसके सम्बन्ध में लडलो लिखता है कि इससे अधिकांश भारतवर्ष में जान और माल की रक्षा नहीं हुई। न्याय-व्यवस्था ऐसी बनाई गई कि जिसमें बहुत सा धन और समय नष्ट होने लगा। मालगुजारी के प्रबन्ध से रुपया ऐंठने तथा अत्याचार करने की सम्भावना खूब बढ़ गई। प्रजा का आचरण गिर गया और शारीरिक अवस्था बिगड़ गई। हिन्दू जनता में शराब पीने का एक सर्वथा नया व्यसन चल पड़ा। ब्रिटिश शासन से कई एक नये दुर्गुण उत्पन्न हो गये और कुछ, जो पहले से थे, बढ़ गये। जो कुछ अच्छाई हुई, वह व्यक्तिगत प्रयत्न के कारण, जिसमें पहले बहुत

सी अड़चनें डाली गईं। यह अच्छाई भी बहुत कम मात्रा में और केवल दिखलाने भर को हुई।^१ इस सौ वर्ष के शासन से देश की कलाएँ नष्ट हो हो गई, विलायती माल का पूरा प्रचार हो गया, देश का कच्चा माल बाहर जाने लगा और अँगरेज अफसरों की बड़ी-बड़ी तनख्वाहों तथा करोड़ों रुपये के कर्ज का बोझ दीन भारत पर लद गया।

परिच्छेद १४

ब्रिटिश छत्र की छाया

रानी विक्टोरिया का घोषणापत्र—नई शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ
इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया के एक घोषणापत्र से किया गया। इसका मसविदा
तैयार कराने में स्वयं
विक्टोरिया ने योग दिया
और इसमें “उदारता, दया
और धार्मिक सहिष्णुता”
के भावों को दिखलाने के
लिए आदेश किया। पहली
नवम्बर सन् १८५८ को
इलाहाबाद में बड़ी धूम-
धाम से एक दरबार किया
गया, जिसमें लार्ड कैनिंग
ने, जो भारतवर्ष का पहला
वाइसराय (राजप्रतिनिधि)
बनाया गया, इस घोषणा-
पत्र को पढ़कर सुनाया।
इसमें कम्पनी के सब
कर्मचारियों को उनके
स्थान पर बहाल करते
हुए और देशी नरेशों को
सन्धियों की रक्षा तथा



रानी विक्टोरिया

प्रतिज्ञाओं के पालन करने का विश्वास दिलाने हुए, रानी विक्टोरिया को और

से कहा गया कि इस समय भारत में जितना मेरा राज्य है, मैं उसे बढ़ाना नहीं चाहती हूँ। “मैं देशी नरेशों के अधिकारों और मानमर्यादा को अपने ही अधिकारों और मानमर्यादा के समान समझूँगी।

“राजधर्म पालन करने के लिए जिस तरह मैं अपनी अन्यान्य प्रजाओं से प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, वैसे ही भारत की प्रजा के निकट भी प्रतिज्ञाबद्ध रहूँगी। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की दया से मैं उन प्रतिज्ञाओं का भरसक यथारीति पालन करूँगी।

“ईसाई धर्म पर मेरा दृढ़ विश्वास है। इसके आश्रय से मुझे जो शान्ति मिली है, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए, मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि अपने धर्म को प्रजा से मनवाने के लिए न मेरी इच्छा है और न मुझे अधिकार है। मैं अपनी यह राजकीय इच्छा प्रकट करती हूँ कि कोई व्यक्ति, अपने धार्मिक विश्वास या रीतियों के कारण, न किसी तरह अनुग्रहीत किया जाय और न किसी तरह सताया या छोड़ा जाय। सबकी निष्पक्ष भाव और समान रूप से कानून द्वारा रक्षा की जाय। जो मेरे अधीन शासनकार्य में नियुक्त हैं, उन्हें मैं आज्ञा देती हूँ कि वे मेरी किसी प्रजा के धर्म या उपासना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यदि वे ऐसा करेंगे, तो मेरी अत्यन्त अप्रसन्नता के पात्र होंगे।

“मेरी यह भी इच्छा है कि यथासम्भव मेरी प्रजा को, वह चाहे किसी जाति या किसी धर्म की माननेवाली हो, अपनी विद्या, योग्यता और सच्चरित्रता के कारण, सरकार के अधीन जिस किसी काम के करने योग्य हो, वह काम उसको बिना किसी पक्षपात के दिया जाय।

“भारतवासियों को अपने पूर्वजों से जो जमीनें मिली हैं, उनके लिए उनमें कितनी माया और ममता होगी, इसको मैं अच्छी तरह समझती हूँ और उसका आदर करती हूँ। इन सब जमीनों पर जिसका जैसा और जितना अधिकार है, उसकी मैं रक्षा करना चाहती हूँ; पर उन्हें नियमानुसार लगाया हुआ कर देना होगा। मेरी इच्छा है कि कानून बनाते समय तथा कानूनों को व्यवहार में लाने समय भारत के प्राचीन स्वत्व और रीति-रिवाजों का पूरा ध्यान रखा जाय।”

विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार करने का वचन देते हुए घोषणापत्र के अन्त में कहा गया कि “ईश्वर की कृपा से जब शान्ति फिर से स्थापित हो जायगी, तब भारत की कलाओं को बढ़ाने, लोकोपयोगी कार्यों और सुधारों की ओर अधिक ध्यान देने तथा भारत की प्रजा के उपकार के लिए शासन करने की मेरी परम इच्छा है। उसकी समृद्धि में मैं अपनी शक्ति, उसके सन्तोष में मैं अपनी रक्षा और उसकी कृतज्ञता में मैं अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझूँगी।”

यह घोषणापत्र भारत का ‘अधिकारपत्र’ माना गया। इस सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक तो यह कैसे समय पर प्रकाशित किया गया था और दूसरे इसके उच्च भावों से व्यवहार में कहाँ तक काम लिया गया। घोषणापत्रों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ्रीमैन की राय है कि इनमें झूठ की भरमार होती है। विकटोरिया के उच्च आदर्श और प्रजाप्रेम पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता, पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था में नीति का काम में लाना मंत्रियों के हाथ में है, न कि राजा के। सर जेम्स स्टिफन का मत है कि यह घोषणापत्र केवल दरबार में पढ़कर सुनाये जाने के लिए था। यह कोई सन्धि न थी, जिसके अनुसार काम करने के लिए अंगरेजों पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी हो। जिस उद्देश्य से यह घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, वह अवश्य सफल हुआ। भारत की भोली-भाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

देशी राज्य—सन् १८५९ में राजाओं के सम्बन्ध में भी पुत्र गोद लेने का अधिकार मान लिया गया। इस तरह राज्यों के बड़े भारी असन्तोष और भय का कारण दूर कर दिया गया। लार्ड डलहौजी के समय में जिस नीति का अनुसरण किया गया था, उसका त्याग देना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसमें कितनी भारी भूल की गई थी। विद्रोह के समय में सरकार की सहायता करने के बदले में निजाम पर जो कर्ज था, वह माफ कर दिया गया। अवध की सीमा का कुछ जंगली भाग नेपाल को दे दिया गया। सिन्धिया, गायकवाड़, भूपाल की बेगम और कई एक राजपूत राजाओं को

थोड़ी थोड़ी भूमि दी गई और बहुतें का खिराज घटा दिया गया। राजाओं, तालुकदारों और जमीन्दारों से विपत्ति के समय में कितनी सहायता मिल सकती है, लार्ड कैनिंग इसको अच्छी तरह जानता था। इसी लिए जहाँ तक हो सका उसने इन सबको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। विद्रोह शान्त हो जाने पर उसने अवध के तालुकदारों के साथ भी अच्छा व्यवहार किया, जिन्होंने उसके नाम से लखनऊ में 'कैनिंग कालेज' स्थापित किया।

सैनिक संगठन—साम्राज्य की रक्षा के लिए सेना का फिर से अच्छी तरह संगठन किया गया। कंपनी और इंग्लैंड-सरकार की सेनाओं में जो भेद था, उठा दिया गया और दोनों सेनाएँ एक कर दी गईं। विद्रोह में जैसी कुछ स्थिति हो गई थी, भविष्य में उससे बचने के लिए यह नियम बना दिया गया कि तोपखाने में हिन्दुस्तानी भरती न किये जायँ और जितनी सिपाहियों की संख्या हो, कम से कम, उससे आधे गोरे अवश्य रखे जायँ। डल-हौजी के समय में गोरी सेना की संख्या ४५ हजार थी, अब यह बढ़ाकर ७० हजार कर दी गई। इसी के अनुसार हिन्दुस्तानी सेना की संख्या १३५००० रखी गई। आवश्यकतानुसार इस संख्या में घटा-बढ़ी होती रही। सेना की संख्या बढ़ जाने से खर्च भी बहुत बढ़ गया।

आर्थिक सुधार—दो तीन वर्ष विद्रोह रहने के कारण सरकार को बहुत घाटा हुआ था, कर्ज को रकम दुगुनी हो गई थी और सालाना खर्च पूरा न पड़ता था। इस दशा को सुधारने के लिए इंग्लैंड से जेम्स विल्सन बुलाया गया। उसके समय में व्यापार, आमदनी और तमाखू पर टैक्स लगा दिये गये। चाय, सन तथा जूट पर, जो भारतवर्ष से बाहर जाते थे, महसूल उठा दिया गया और बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी कम कर दी गई। इस तरह आर्थिक कष्ट के समय पर भी इंग्लैंड के व्यापार का ध्यान रखा गया। सन् १८६० में विल्सन की मृत्यु हो जाने पर सैम्युएल लैंग अर्थ-सदस्य बनाया गया। इसके समय में सेना और शासन के खर्च को कुछ घटाने का प्रयत्न किया गया और नमक पर टैक्स बढ़ा दिया गया। इन उपायों

से हर साल जो कमी पड़ती थी, पूरी हो गई और कुछ बचत भी होने लगी। इस बचत से भारत की दरिद्र जनता का कोई उपकार नहीं किया गया, पर मैन्चेस्टर के माल पर चुंगी और घटा दी गई। इसी समय से प्रान्तीय सरकारों को कुछ आर्थिक स्वतंत्रता देने का प्रयत्न किया गया और कागज का सिका भी चलाया गया।

शासनप्रबन्ध—सन् १८६१ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया। इसके अनुसार वाइसराय की 'एक्जीक्यूटिव कौंसिल' (कार्यकारिणी समिति) के सदस्यों की संख्या पाँच कर दी गई। शासन के भिन्न भिन्न विभाग इन सदस्यों को सौंप दिये गये, जिसमें हर एक बात पर विचार करने के लिए कौंसिल की मीटिंग करने की आवश्यकता न पड़े। वाइसराय की अनुपस्थिति में काम चलाने के लिए कौंसिल के सबसे बड़े मेम्बर को सभापति मानने का नियम बना दिया गया। कानून बनाने के लिए वाइसराय को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के गैरसरकारी मेम्बर नामजद करने का भी अधिकार दे दिया गया, जिससे कुछ भारतवासियों को मेम्बर बनने का अवसर मिला। सरकारी मेम्बरों की संख्या अधिक होने से उसके अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। बम्बई और मद्रास की कौंसिलों से कानून बनाने के अधिकार सन् १८३३ में ले लिये गये थे, अब उनको ये अधिकार फिर से दिये गये। बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी आवश्यकता होने से कौंसिलें स्थापित करने की व्यवस्था की गई।

'सुप्रीम कोर्ट' तथा 'सुदूर अदालतों' का भेद उठा दिया गया और उनकी जगह पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में 'हाईकोर्ट' स्थापित कर दिये गये। मैकाले के समय से कानूनों का जो संग्रह तैयार हो रहा था, स्वीकार कर लिया गया और सारे भारतवर्ष में जाब्ता दीवानी, ताजीरात हिन्द और जाब्ता फौजदारी जारी कर दिये गये। बंगाल में काश्तकारों को बार बार ब्रेदखल करके बड़ा तंग किया जाता था। इसलिए सन् १८५९ में बंगाल, बिहार, आगरा और मध्यप्रान्त के लिए यह कानून बना दिया गया कि बारह वर्ष तक किसी खेत को जोतने से काश्तकार का उसमें मौरूसी हक मान लिया

जायगा। भारतवर्ष भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने का भी विचार था, पर कई कारणों से वैसा नहीं किया गया। सन् १८५४ में सर चार्ल्स बुड की रिपोर्ट के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध हो ही रहा था। अब उच्च शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया और सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में 'यूनिवर्सिटियाँ' (विश्वविद्यालय) स्थापित की गईं।

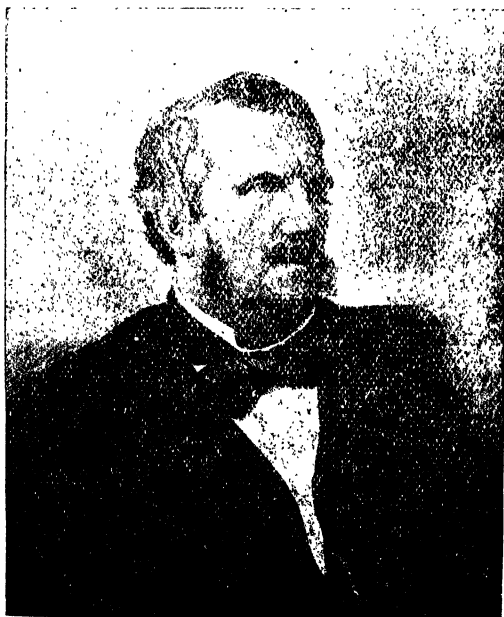
नील और चाय की खेती—भारतवर्ष में अँगरेजों के बसाने के प्रश्न पर बहुत दिनों से विचार हो रहा था और इसके लिए उन्हें लालच भी दिये जा रहे थे। सन् १८५० में आसाम और नीलगिरि की पहाड़ियों में चाय और काफी की खेती करने के लिए कुछ युरोपियन आवाद हुए। इन लोगों को बहुत सी जमीनें मामूली लगान पर दे दी गईं। इसी तरह नील की खेती कराने के लिए बंगाल में भी बहुत से अँगरेज बसाये गये। विद्रोह के बाद इस पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। कहा जाता था कि हिमालय की पहाड़ियों में अँगरेजों के आवाद हो जाने से रूसियों के आने का भय न रहेगा और भारतवर्ष में साम्राज्य की जड़ भी मजबूत हो जायगी। इसकी जाँच करने के लिए सन् १८५८ में पार्लामेंट की एक कमेटी भी नियुक्त की गई थी। ये युरोपियन गरीब किसानों पर अत्याचार करते थे और उनसे जबर-दस्ती नील की खेती करवाते थे। सन् १८६० में यह मामला इतना बढ़ गया कि इसकी सरकार की ओर से जाँच कराई गई और जबरदस्ती नील की खेती कराने से उन्हें रोका गया। कुलियों पर अब भी ये लोग बड़ा अत्याचार करते हैं।

लार्ड पलमिन—सन् १८६२ में लार्ड कैनिंग वापस चला गया। चिन्ता और परिश्रम के कारण उसका शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। इंग्लैंड पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद वह मर गया। विद्रोह के ऐसे कठिन समय पर

१ दोनबन्धु मित्र ने, अपने 'नील दर्पण' नामक नाटक में, इन अत्याचारों को बहुत अच्छी तरह दिखलाया है। इसके अँगरेजी अनुवाद से अँगरेज लोग बहुत चिढ़े और बेचारे अनुवादक को जेल भुगतानो पड़ी।

उसने बड़े धैर्य से काम लिया। उसकी उदार नीति से कुछ अँगरेज बहुत रुष्ट हो गये थे, पर अन्त में सबको उसकी योग्यता माननी पड़ी। उसके स्थान पर लार्ड एलगिन वाइसराय बनाया गया। यह पहले कनाडा में गवर्नर-जनरल और चीन में राजदूत रह चुका था। साल ही भर बाद नवम्बर सन् १८६३ में, पंजाब के धर्मशाला नामक स्थान पर, इसकी मृत्यु हो गई। इसके शासन-काल में केवल एक उल्लेखनीय घटना हुई। पश्चिमोत्तर सीमा पर वहुथी मुसलमानों ने बड़ा उपद्रव किया। इसको शान्त करने में अँगरेजी सेना को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

सर जान लारेंस—पश्चिमोत्तर सीमा पर अशान्ति होने के कारण गवर्नर-जनरल का पद सर जान लारेंस को दिया गया। पहले यह पंजाब का चीफ कमिश्नर रह चुका था। गद्दर के समय में भी इसने बड़ा काम किया था। पश्चिमोत्तर सीमा सम्बन्धी विषयों का इसको अच्छा ज्ञान था। भारतवर्ष से वापस जाने के बाद से इंग्लैंड में यह नई स्थापित हुई 'इंडिया कौंसिल' में काम करता था। पहले यह लार्ड डलहौजी की नीति का



सर जान लारेंस

पक्षपाती था, पर विद्रोह के समय से इसने अपना मत बदल दिया था। अब लार्ड कैनिंग की तरह इसकी राय में भी देशी राज्यों को बनाये रखना आवश्यक था।

भूटान की लड़ाई—सन् १८२६ में आसाम पर अधिकार हो जाने से अँगरेजी राज्य की सीमा भूटान से मिल गई थी। इस सीमा पर भूटानी प्रायः लूट-मार किया करते थे। सन् १८६३ में इन झगड़ों को तय करने के लिए एक अँगरेज अफसर भेजा गया। भूटानियों ने उसका बड़ा अपमान किया और उससे एक सन्धि पर हस्ताक्षर करवा लिये, जिसमें आसाम में आने के लिए पहाड़ी मार्गों पर जो 'द्वार' कहलाते हैं, भूटानियों का अधिकार मान लिया गया। भारत-सरकार ने इस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया और अँगरेज कैदियों को वापस करने के लिए भूटान को लिख भेजा। कोई उत्तर न मिलने पर युद्ध छिड़ गया। सन् १८६५ में भूटानियों ने देवनगिरि से अँगरेजी सेना को भगा दिया और दो तोपें छीन लीं। परन्तु अँगरेजों की अधिक सेना आ जाने के कारण अन्त में भूटानियों को हार मानकर सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। उनसे 'बारह द्वार' ले लिये गये और उनके बदले में उन्हें कुछ रुपया सालाना देने का वचन दिया गया।

अफगानिस्तान—सन् १८६३ में अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु हो गई। विद्रोह के समय में यदि वह चाहता तो अँगरेजों से पेशावर छीन सकता था, परन्तु ऐसा न करके उसने उनके साथ बराबर मित्रता का व्यवहार किया। उसके १६ लड़के थे, इनमें से चार पाँच गद्दी के लिए आपस में लड़ने लगे। जान लारेंस का यह मत था कि जो गद्दी पर बैठे उसके साथ मित्रता रखकर आपस के झगड़े में किसी तरह का हस्तक्षेप न करना चाहिए। इस नीति के अनुसार शेरअली या उसका भाई अफजल, जो गद्दी पर बैठ जाता था, वही अमीर मान लिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि सब झगड़ों से बचने के लिए अँगरेजों के हक में यह बड़ी अच्छी नीति थी, परन्तु अफगानिस्तानवालों का

इससे असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। पहले शेरअली को मित्रता का विश्वास दिलया गया, पर उसको हटाकर जब अफजल गद्दी पर बैठ गया, तब उसे बघाई का पत्र भेजा गया। इस पर रुष्ट अफगान सरदारों का कहना था कि किसी जाति का अँगरेजों से पार पाना मुश्किल है। इस पत्र से अँगरेजों की यह इच्छा मान्य पड़ती है कि हम सब आपस ही में कट मरें। यदि शेरअली जीतता तो उसको भी उन्होंने ऐसा ही पत्र लिखा होता। इसी तरह शेरअली का कहना था कि अँगरेज अपने मतलब के सिवा और किसी बात को नहीं देखते। वे समय ताका करते हैं, जिसको वे सबसे जबरदस्त पाते हैं, उसी के मित्र बन जाते हैं।^१

मध्य एशिया से धीरे धीरे रूस दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। इससे अफगानिस्तान की समस्या और भी जटिल हो गई थी। कुछ लोगों की राय थी कि रूस को रोकने के लिए अफगानिस्तान के साथ नई सन्धि होनी चाहिए, पर जान लारेंस इसकी आवश्यकता न समझता था। उसका कहना था कि रूसी तथा अँगरेजी साम्राज्यों की प्रभाव-सीमा रूस से ही मिलकर निश्चित कर लेनी चाहिए। मध्य एशिया में रूस का प्रभाव बढ़ जाने से कोई भय नहीं है। इससे वहाँ के जंगली मनुष्यों में कुछ सभ्यता आ जायगी। इसी लिए वहाँ के सरदारों को, प्रार्थना करने पर भी, भारत-सरकार की ओर से कोई सहायता नहीं दी गई। जान लारेंस की राय में अफगानिस्तान की ओर से भारतवर्ष की रक्षा का सबसे अच्छा उपाय यही था कि उसके झगड़ों में न पड़ा जाय, सीमा पर काफी सेना रखी जाय और भारतवर्ष के राजाओं को सन्तुष्ट रखा जाय। लार्ड लिटन के समय तक सरकार की यही नीति रही।

उड़ीसा का अकाल—सन् १८६५ में उड़ीसा में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें लाखों आदमी मर गये। बंगाल-सरकार की ओर से जनता की रक्षा के लिए पहले से कोई उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। यदि

बाहर से अन्न लाने का ठीक प्रबन्ध होता, तो बहुतेरों के प्राण बच जाते। सर जान लारेंस ने भी बंगाल-सरकार की बात मानकर चुपचाप बैठे रहने में भूल की, इसको उसने स्वयं माना है। अकाल से जो कुछ बचा था, वह सन् १८६६ में नदियों की बाढ़ में डूब गया। इससे उड़ीसा का कष्ट और भी बढ़ गया। भविष्य में अकाल के कष्ट को दूर करने के लिए उड़ीसा में कई सड़कें और नहरों के बनवाने का प्रयत्न किया गया, पर नदियों की बाढ़ को रोकने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, जिसके कारण उड़ीसा इन दिनों भी पीड़ित रहता है। सन् १८६८ में ब्रिटेनखंड और राजपूताना में भी अकाल पड़ा, परन्तु पहले से अन्न का प्रबन्ध हो जाने से इसमें विशेष कष्ट नहीं हुआ। अकाल के प्रश्न पर जाँच करने के लिए एक कमीशन भी नियुक्त किया गया, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर एक 'फैमिन इन्श्योरेंस फंड' (अकालरक्षा कोष) स्थापित किया गया। समय पड़ने पर प्रजा की रक्षा के लिए इसमें बराबर कुछ रुपया जमा किया जाने लगा।

लारेंस का शासन—सन् १८६९ में पंजाब और अवध के किसानों की दशा सुधारने के लिए भी कानून बनाये गये, जिनके अनुसार बहुत से किसानों को अपने खेतों में मौरूसी हक मिल गया। मध्यप्रान्त में भी तीस साल के लिए नया बन्दोबस्त किया गया। लाभदायक कार्यों के लिए कर्ज लेने की भी व्यवस्था की गई और नहरों तथा सड़कों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। खर्च बहुत बढ़ जाने से लारेंस के समय में सरकार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। सन् १८६९ में वह वापस चला गया। इंग्लैंड पहुँचने पर उसको लार्ड की उपाधि दी गई। वह एक योग्य और अनुभवी शासक था, पर गवर्नर-जनरल के ऐसे उच्च पद के लिए उपयुक्त न था। एक जिला-अफसर की तरह शासन की छोटी छोटी बातों पर उसका ध्यान अधिक जाया करता था, पर सिद्धान्तों और नीतियों के निर्धारित करने की उसमें योग्यता नहीं थी। वाइसराय के उच्च पद के सम्मान का भी उसे कभी कभी ध्यान नहीं रहता था। उसके शासन ने यह बात सिद्ध कर दी कि 'सिविल सर्विस' के मेम्बरों को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करना भूल थी।

लार्ड मेयो की नीति—सर जान लारेंस के स्थान पर लार्ड मेयो वाइसराय बनाया गया। यह आयर्लैंड का बहुत दिनों तक 'चीफ सेक्रेटरी' रह चुका था। भारतवर्ष आकर देशी राज्यों के सुधार की ओर इसने विशेष ध्यान दिया। सन् १८५८ से लार्ड डलहौजी की नीति का परित्याग कर दिया गया था। भारत-वर्ष के राजा और नवाब महारानी विक्टोरिया के अधीन थे और उनके राज्य भारतीय साम्राज्य के अंग बन गये थे। ऐसी दशा में उनके छीनने से कोई लाभ न था। परन्तु भारत-सरकार को शासन-प्रबन्ध खराब होने पर हस्तक्षेप करने का बग़ावर अधिकार था। लार्ड मेयो ने इसी को अपना सिद्धान्त माना। इन दिनों अलवर राज्य में बड़ा गड़बड़ मचा



लार्ड मेयो

हुआ था। लार्ड मेयो ने शासन के लिए वहीं के सरदारों की एक कौंसिल बना दी और राजा के अधिकारों को छीन लिया। इसी तरह काठियावाड़ की कई एक रियासतों के लिए भी प्रबन्ध किया गया। जिस राजा का शासन-प्रबन्ध ठीक होता था, उसके साथ वह बड़ा अच्छा व्यवहार करता था। भूपाल की बेगम ने अपने राज्य में कई एक सुधार किये थे। उसने सड़कें बनवाई थीं, स्कूल खोले थे और पुलिस को ठीक किया था। लार्ड मेयो उसका बड़ा आदर करता था।

उसका विश्वास था कि राजकुमारों को अँगरेजी ढँग की शिक्षा देने से ही उनको "शासन की जिम्मेदारी" का ज्ञान हो सकता है। इसी लिए उनकी शिक्षा अँगरेज अध्यापकों के हाथ में देने का प्रयत्न किया गया। राजपूताना के

राजकुमारों के लिए अजमेर में 'मेयो कालेज' खोला गया। लाहोर और राजकोट में भी ऐसे ही कालेज स्थापित किये गये। इनमें राजकुमारों को अँगरेज शिक्षकों के साथ मिल-जुलकर रहने और पाश्चात्य आचार-विचार सिखलाने का प्रयत्न किया गया। राष्ट्रीयता की दृष्टि से इन संस्थाओं का प्रभाव राज्यों के भावी शासकों पर अच्छा नहीं पड़ा। बचपन से ही उन्हें पाश्चात्य ढंग के रहन-सहन की शिक्षा मिलने लगी। "शासन की जिम्मेदारी" का समझना तो दूर रहा, बड़े होने पर बहुतेको यूरोप में हवा खाने का चस्का लग गया।

शेरअली से भेंट—सन् १८६९ में अफगानिस्तान के अमीर शेर-अली के साथ अम्बाला में लार्ड मेयो की भेंट हुई। शेरअली एक ऐसी सन्धि चाहता था, जिससे अँगरेज उसको साल में कुछ रुपया दिया करें और आवश्यकता पड़ने पर सेना से उसकी सहायता करें। लार्ड मेयो ने यह तो स्वीकार नहीं किया, पर उसने इस ढंग से काम लिया कि अमीर अँगरेजों की नीति से अच्छी तरह सन्तुष्ट होकर अफगानिस्तान वापस गया। जान लारेंस की नीति से अमीर को जो सन्देह उत्पन्न हो गया था, वह इस भेंट से दूर हो गया। लार्ड मेयो भी उसी नीति का अनुयायी था, पर वह लारेंस की अपेक्षा अधिक नीतिनिपुण था। इसी लिए अमीर को उसने, अपने को बिना किसी प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध किये हुए, अँगरेजों की मित्रता का विश्वास दिला दिया। इस भेंट का अमीर पर बहुत प्रभाव पड़ा। अफगानिस्तान जाकर, उसने शासन में अँगरेजी ढंग के कई एक सुधार किये। उसने कठोर दंडों को उठा दिया, पुलिस को ठीक किया, न्यायालय तथा डाक-खाने खोले और शासन में सहायता करने के लिए तेरह मेम्बरों की एक कौंसिल भी बनाई।

भारत की सीमाओं को सुरक्षित रखने के लिए लार्ड मेयो का मत था कि उसको सुदृढ़ तथा मित्रता का भाव रखनेवाले, स्वतंत्र राज्यों से घेर देना चाहिए। अपने हित का ध्यान रखकर वे सदा हमारा साथ देंगे, फिर हमें किसी का भय नहीं रहेगा। अम्बाला-सम्मेलन के सम्यन्ध में उसका कहना था

कि इससे मध्य एशिया के राज्यों में अँगरेजों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। हम यदि लोगों को यह समझा सकें कि वास्तव में हमारी नीति हस्तक्षेप न करने तथा शान्ति स्थापित रखने की है और इस समय एशिया में केवल हमारा ही एक ऐसा राज्य है, जो किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहता, तो हम शक्ति की उस पराकाष्ठा पर पहुँच जायँगे, जो हमें पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी।^१ पश्चिम, उत्तर और पूर्व की सीमाओं के राज्यों के साथ उसने इसी नीति से काम लिया। रूस के साथ भी लार्ड मेयो ने समझौता कर लिया। आक्सस नदी के दक्षिण तक अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा मान ली गई और बदखशाँ पर भी अमीर का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। लार्ड मेयो की राय थी कि अँगरेजों की शक्ति इतनी दृढ़ है कि उसे रूस से कोई भय नहीं है। मध्य-एशिया में रूस के साथ छेड़खानी करने की अपेक्षा उससे मित्रता रखना ही अच्छा है।

आर्थिक प्रबन्ध—सर जान लारेंस के समय से सरकार का सालाना खर्च पूरा न पड़ता था, इसलिए कर्ज भी बहुत बढ़ गया था। इसको दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने खर्च घटाने और आमदनी बढ़ाने का प्रबन्ध किया। इन दिनों 'पब्लिक वर्क्स' विभाग में खूब रुपया उड़ रहा था। इंजीनियर लोग कोई काम अपनी निगाह से न देखते थे। लार्ड मेयो ने इस विभाग के खर्च को घटा दिया। इस समय तक बंगाल की अपेक्षा बम्बई और मद्रास में नमक-कर कुछ कम था, इन दोनों प्रान्तों में यह कर बढ़ा दिया गया। 'इनकम टैक्स' (आय-कर) की दर भी बढ़ा दी गई। 'अर्थविभाग' में हिसाब-किताब ठीक रखने का प्रबन्ध किया गया। इस समय तक प्रान्तीय सरकारों को बिना भारत-सरकार की आज्ञा के रुपया खर्च करने का अधिकार न था। हर साल उन्हें अपना 'बजट' बनाकर भेजना पड़ता था और वहाँ से मंजूरी आ जाने पर उसी के अनुसार खर्च करना पड़ता था। आमदनी देख-कर खर्च करना अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धान्त है, परन्तु इस प्रबन्ध में उसका

भी पालन न हाता था। कुल आमदनी भारत-सरकार की थी, प्रान्तीय सरकारों को उसका कुछ भी ध्यान न रहता था, उन्हें केवल अपने खर्च से मतलब था। इसके लिए जो रकम मंजूर होती थी, उसमें यदि कुछ बच रहता था तो उसको भारत-सरकार ले लेती थी। ऐसी दशा में क़िफ़ायत से खर्च करने की ओर प्रान्तीय सरकारों का ध्यान भी न जाता था। हर एक सरकार अपना बजट ग़ुप्त बढ़ा-चढ़ाकर भेजती थी, जो सबसे अधिक लिखा पढ़ी करती थी, उसी को सबसे बड़ी रकम भी मिलती थी। इससे शासन में भी बड़ी बाधा पड़ती थी, कभी-कभी तो जरूरी रकमों को भी भारत सरकार स्वीकार न करती थी।

इस दशा को सुधारने के लिए लार्ड मेयो ने प्रान्तों के लिए सालाना रकम निश्चित कर दी और यह नियम बना दिया कि जिस प्रान्त की जो बचत हो, वह उसी के काम में आये और हर पाँचवें साल, किस प्रान्त को कितना मिलना चाहिए, इसकी जाँच की जाय। इस रकम को खर्च करने का पूरा अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया और जेल, रजिस्ट्री, पुलिस, शिक्षा तथा सड़क और सरकारी इमारतों का काम उन्हीं को सौंप दिया गया। इन सुधारों से प्रान्तीय सरकारों में जिम्मेदारी का भाव आ गया और वे समझ-बूझकर काम करने लगीं। इस तरह कुछ काम बँट जाने से भारत-सरकार को भी सारे देश से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर विचार करने का समय मिल गया।

खेती और व्यापार की उन्नति करने के लिए लार्ड मेयो के समय में एक नया विभाग खोला गया। कई एक नई नहरें खोदवाई गईं और रेल की नई लाइनें खोली गईं। घाटे का भय न होने के कारण रेलवे कम्पनियाँ मनमाना खर्च करती थीं और नई लाइनें खोलने में सरकार की सैनिक तथा राजनैतिक सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान न देती थीं। इन दोनों को दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने सरकारी रेलें खोलने की व्यवस्था की। उसके सुधारों का परिणाम यह हुआ कि भारत-सरकार को हर साल बचाय घाटा के कुछ बचत होने लगी।

लार्ड मेयो की मृत्यु—लार्ड मेयो को जेलों की दशा सुधारने की बड़ी चिन्ता थी। उसका कहना था कि उनमें कैदियों की रक्षा करना है न कि उन्हें मार डालना है। शासन-प्रबन्ध ठीक करने के लिए सन् १८७२ में वह अंडमन द्वीप, जहाँ काले पानी के अपराधी रखे जाते हैं, देखने गया। वहीं नाव पर सवार होते समय एक पठान कैदी ने उसको मार डाला। मेयो थड़ा उत्साही शासक था, अपने शिष्टाचार से वह सबको प्रसन्न रखता था। उसके शासनकाल में भारत-वर्ष में पूर्ण शान्ति रही। इंग्लैंड से नये वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक के आने तक गवर्नर-जनरल के पद पर मद्रास का गवर्नर नेपियर काम करता रहा।

लार्ड नार्थब्रुक—मई सन् १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक भारतवर्ष पहुँचा। वह इंग्लैंड के बड़े धनी घराने का था और युद्धविभाग में कुछ दिन काम कर चुका था। वह बहुत सोच-विचारकर चलता था और बड़े स्वतंत्र विचार का शासक था। उसमें दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति का अभाव था, यही कारण था कि बहुत से कामों में उसको सफलता न होती थी। अपनी नीति के सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है कि “अनुचित टैक्सों को उठा देना और अनावश्यक कानून बनाने को रोक देना मेरा उद्देश्य रहा।” हर एक बात में निरर्थक हस्तक्षेप करना वह पसन्द न करता था। “जैसा कुछ है उसे चलने दो” यही उसकी नीति थी।^१ यद्यपि “टैक्सों को उठा देना” उसने अपनी नीति का उद्देश्य बतलाया पर भारत की दीन जनता के सम्बन्ध में उसने इसे काम नहीं लिया। ‘इनकम टैक्स’ उठा देने से धनी व्यापारी, जमीन्दार और भारत में बसनेवाले अँगरेजों का ही भला हुआ। भारत की आर्थिक दशा का ज्ञान रखनेवाले सर रिचर्ड टेम्पल और सर जान स्ट्रैची का मत था कि यदि टैक्स उठाना ही था तो नमक-कर माफ कर देना चाहिए था जिससे कितने ही दरिद्रों का उपकार होता। भारतसचिव को भी यही राय थी। परन्तु लार्ड नार्थब्रुक अपनी ही बात पर डटा रहा।

स्वतंत्र व्यापार—इन दिनों इंग्लैंड में ‘स्वतंत्र व्यापार’ के सिद्धान्त की बड़ी धूम थी। कहा जाता था कि व्यापार की वस्तुओं पर चुंगी न

लगाने से वे सस्ती पड़ेंगी, जिससे सारे संसार का लाभ होगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी उठाई जा रही थी। सन् १८६९ में स्वेज की नहर का मार्ग खुल जाने से भारतवर्ष के साथ इंग्लैंड का व्यापार बहुत बढ़ गया था। सन् १८६० तक भारतवर्ष में बाहर से आनेवाले माल पर १० सैकड़ा और बाहर जानेवाले माल पर ३ सैकड़ा चुंगी लगती थी। सन् १८६४ में बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी घटाकर साढ़े सात सैकड़ा कर दी गई थी। सन् १८७५ में लार्ड नार्थब्रुक ने इसको घटाकर पाँच ही सैकड़ा कर दिया। तेल, चावल, नील तथा लाख को छोड़कर बाहर जानेवाले सब माल पर चुंगी उठा दी गई। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष से कच्चा माल तथा अन्न खूब बाहर जाने लगा और बना हुआ माल यूरोप से भारतवर्ष भी खूब आने लगा। मैंचेस्टर के बने हुए कपड़े पर इंग्लैंड-सरकार पाँच सैकड़ा चुंगी भी माफ कर देना चाहती थी, पर नार्थब्रुक इसके लिए राजी न हुआ। उसकी राय थी कि भारत-सरकार को आमदनी की इस घटी का पूरा करना मुश्किल हो जायगा। इंग्लैंड ऐसे देश के लिए, जिसकी औद्योगिक कलाएँ पूरी उन्नति कर चुकी हैं और जिसका जीवन व्यापार ही पर निर्भर है, 'स्वतंत्र व्यापार' का सिद्धान्त ठीक है; परन्तु भारतवर्ष ऐसे देश के लिए जहाँ की सब कलाएँ चौपट कर दी गई और जिसका खेती ही केवल आधार बना दी गई, यह सिद्धान्त हितकर नहीं माना जा सकता। इससे उसका अन्न तथा कच्चा माल बाहर जाने लगा और विलायती माल सस्ता पड़ने से किसी उद्योग के लिए भी उत्साह न रहा।

मल्हारराव गायकवाड़—सन् १८७५ में मल्हारराव गायकवाड़ बड़ौदा की गद्दी से उतार दिया गया। कहा जाता है कि वह अंगरेज रेजीडेंट को जहर देना चाहता था। इसकी जाँच करने के लिए, ग्वालियर और जयपुर के महाराजा, निजाम के वजीर, इन्दौर के दीवान और तीन अंगरेज अफसरों का एक कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन के सब हिन्दुस्तानी मेम्ब्रों ने महाराजा को निर्दोष पाया। इस पर यह अभियोग छोड़कर भारतसचिव की सलाह से कहा गया कि उसके राज्य का प्रबन्ध कई

बार चेतावनी देने पर भी ठीक ठीक नहीं हो रहा है, और वह गद्दी से उतार दिया गया। डलहौजी की नीति के अनुसार उसके राज्य का अपहरण नहीं किया गया, बल्कि राजघराने का एक बालक गद्दी पर बिठला दिया गया और सर माधवराव दीवान बनाया गया, जिसके समय में राज्य की बहुत कुल उन्नति हुई।

युवराज का आगमन—सन् १८७५ में इंग्लैंड के युवराज एडवर्ड ने भारत-भ्रमण किया। देश भर में बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया गया। भारतवर्ष में राज्य का स्वरूप राजा है। उसके लिए भारतवासियों के हृदय में सदा आदर रहता है। कम्पनी का शासन साधारण जनता की समझ में न आता था। बहुतांश तो अनुमान था कि कम्पनी किसी रानी का नाम था, जो इंग्लैंड में रहती थी। वे उसको 'कम्पनी जहाँ' कहा करते थे। मुगल बादशाहों के बाद से सारे देश पर शासन करनेवाले घराने के राजकुमार को देखने का उन्हें फिर अवसर प्राप्त हुआ। देशी नरेशों ने अपनी राजभक्ति का परिचय दिया। उनके साथ अँगरेज अफसरों का उद्दंड व्यवहार देखकर एडवर्ड को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने इस सम्बन्ध में अपनी माता को लिखा।^१ इस सहायुभूति से इंग्लैंड के राजघराने के साथ देशी नरेशों का सम्बन्ध दृढ़ हो गया। एडवर्ड के बाद से युवराज के भारतवर्ष आने की चाल पड़ गई।

नार्थब्रुक का इस्तीफा—सन् १८७३ में रूसियों ने मध्य एशिया में खीवा पर अधिकार कर लिया। इससे घबड़ाकर अफगानिस्तान के अमीर शेरअली ने अँगरेजों के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ बनाने के लिए एक दूत शिमला भेजा, परन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। इस समय तक अफगानिस्तान के प्रति इंग्लैंड तथा भारत-सरकार की वही नीति थी, जिसका प्रारम्भ लार्ड कैनिंग और सर जान लारेंस के समय में हुआ था। लार्ड मेयो ने बड़ी चतुरता से बिना कोई सन्धि किये हुए भी अमीर को अपना मित्र बनाये रखा था, पर लार्ड नार्थब्रुक में यह बात नहीं थी। रूसियों के विरुद्ध अँगरेजों से सहायता का कोई वचन न मिलने पर अमीर कुछ रुष्ट हो गया। उसने अपने

बड़े लड़के याकूबख़ाँ को कैद कर दिया था। इस सम्बन्ध में 'लार्ड' नार्थब्रुक ने एक कड़ा पत्र लिखकर उसको और भी चिढ़ा दिया। इतने ही में इंग्लैंड की सरकार दूसरे दल की हो गई और उसने राय दी कि शेरअली से अपने दरबार में अँगरेज रेजीडेन्ट रखने के लिए कहा जाय। 'लार्ड' नार्थब्रुक इस बात पर राजी न हुआ। उसने भारतसचिव सालिसबरी को लिख भेजा कि अमीर पर सन्देह करना ठीक नहीं। परन्तु भारतसचिव अपनी ही बात पर डटा रहा। इस तरह दोनों में मतभेद होने के कारण 'लार्ड' नार्थब्रुक सन् १८७६ में इस्तीफा देकर इंग्लैंड लौट गया। चलते समय वह भारतसचिव को सचेत कबू गया कि अमीर की इच्छा के विरुद्ध अँगरेज रेजीडेन्ट रखने का परिणाम यह होगा कि शीघ्र ही

अफगानिस्तान से युद्ध करना पड़ेगा। उसकी यह बात सच निकली।



लार्ड लिटन

चय वह कई दरबारों में अवश्य दे चुका था। इंग्लैंड के प्रधान सचिव 'लार्ड

लार्ड लिटन—अप्रैल सन् १८७६ में 'लार्ड' लिटन वाइसराय होकर कलकत्ता पहुँचा। अँगरेजी भाषा का वह एक अच्छा विद्वान और सुयोग्य लेखक था। बोलने का भी उसे खूब अभ्यास था। परन्तु शासन का कोई विशेष अनुभव न था। इसी लिए वाइसराय के उच्च पद पर उसकी नियुक्ति से बहुतों को आश्चर्य हो रहा था।

अपनी नीतिज्ञता का परि-

वेकंसफील्ड की राय में इस समय मध्य एशिया की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए एक नीतिज्ञ की ही आवश्यकता थी। इसी लिए लार्ड लिटन वाइस-राय बनाकर भेजा गया।

दिल्ली दरबार—अब वियटोरिया एक छोटे से द्वीप इंग्लैंड की ही रानी न थी, रूस को छोड़कर सारे यूरोप के बराबर, सागर से लेकर हिमालय तक, भारत पर उसका आधिपत्य था। बड़े बड़े राजा, महाराजा, और नवाब उसके अधीन थे। ऐसी दशा में उसको नई उपाधि देने के प्रश्न पर कुछ दिनों से विचार हो रहा था। सन् १८७६ में पार्लियामेंट की राय से उसको 'कैसरहिन्द' की उपाधि दी गई। जनवरी सन् १८७७ में दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार किया गया, जिसमें राजा महाराजाओं ने उसको भारत की सम्राज्ञी स्वीकार किया।

दक्षिण में अकाल—जिस समय दिल्ली में यह आनन्द मनाया जा रहा था, दक्षिण में भयंकर अकाल पड़ रहा था। कहा जाता है कि इसमें लाखों मनुष्य बिना अन्न के भूखों मर गये। मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी अन्न की कमी थी। लार्ड लिटन ने इस कष्ट को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किया। अकाल-पीड़ितों में जो लोग काम करने योग्य थे, उनको उसने किसी काम में लगाया और बाकी लोगों में अन्न तथा रुपया बँटवाया। मदरास में इस धन के खर्च में बड़ा गोलमाल हो रहा था, लार्ड लिटन ने स्वयं वहाँ जाकर सब प्रबन्ध ठीक किया। सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में अकाल सम्बन्धी विषयों की खूब जाँच की गई और भविष्य में पीड़ित लोगों की रक्षा के लिए कुछ रुपया अलग रखना तथा एक नया ढ़र लगाना निश्चित किया गया। जिन जिलों में अकाल से बड़ी हानि हुई थी, वहाँ नहरें और रेल खोलने का प्रबन्ध किया गया।

आर्थिक प्रबन्ध—सन् १८७६ में लार्ड लिटन ने पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर जान स्ट्रैची को अर्थसदस्य बनाया। इसने नमक-कर का प्रबन्ध ठीक किया। इस समय तक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसकी दर भिन्न थी और देशी राज्यों से चुराकर नमक आता था। इसको रोकने के

लिए अटक से लेकर महानदी तक ईंट-पत्थर और कटीले वृक्षों की एक दीवाल सी बना दी गई थी, जो 'चुंगी की लाइन' कहलाती थी। बारह हजार कर्मचारी इसकी देख-रेख रखते थे और बिना चुंगी का नमक घुसने न देते थे। इस ढंग से खर्च अधिक पड़ता था, काम भी पूरा न होता था और कर्मचारी घूस खाते थे। जान स्ट्रैचो ने यह भद्दा प्रबन्ध उठा दिया और जिन राज्यों में नमक बनता था, उन्हें कुछ रुपया देकर, उनसे नमक का कुल अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

स्वतन्त्र व्यापार के नाम पर लंकाशायर के कपड़ा बनानेवालों की फिर से सहायता की गई। सन् १८७७ में पार्लियामेंट ने यह प्रस्ताव पास किया कि भारतवर्ष में विलायती कपड़े पर चुंगी लगाना "उचित व्यापार-नीति" के विरुद्ध है, इसलिए उसको उठा देना चाहिए। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के तीन मेम्बरों ने केवल सरकारी आमदनी की दृष्टि से इसका विरोध किया, पर लार्ड लिटन ने, कौंसिल के अधिकांश मत को न मानकर, सन् १८७९ में सूती मोटे कपड़े पर से चुंगी उठा दी। प्रान्तों के खर्च के लिए इस समय तक भारत सरकार के खजाने से रुपया दिया जाता था, सर जान स्ट्रैची की सलाह से अब यह नियम बना दिया गया कि उन्हें आमदनी का कुछ भाग दे दिया जाय। इस तरह प्रान्तीय सरकारों को जिम्मेदार और स्वतन्त्र बनाने के लिए जिस सिद्धान्त का प्रारम्भ लार्ड मेयो के समय में हुआ था, उसकी वृद्धि की गई।

अलीगढ़ कालेज—इस समय तक मुसलमानों में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार अधिक नहीं हो रहा था, पर अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की संख्या बराबर बढ़ रही थी और उन्हें सरकारी नौकरियाँ भी मिल रही थीं। लार्ड मेयो के समय में मुसलमानों की शिक्षा के लिए कुछ विशेष प्रबन्ध किया गया था, अब सर सैयद अहमद के सराहनीय उद्योग से 'अलीगढ़ कालेज' खोला गया। इसके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही चन्दा दिया। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों की सामाजिक दशा सुधारने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया। यद्यपि वह तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष में

न था, पर भारतवर्ष के हित के लिए वह हिन्दू और मुसलमानों की एकता को नितान्त आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि “हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष की दो आँखें हैं।”

वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट—

सरकार की नीति से जनता में धीरे-धीरे असन्तोष फैल रहा था। रूस के साथ जैसा कुछ व्यवहार किया जा रहा था, उसकी हिन्दुस्तानी समाचारपत्रों में बड़ी तीव्र आलोचना की जा रही थी। इस पर सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने यह कानून बना दिया कि देशी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों के सम्पादकों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे कोई ऐसी बात न



सैयद अहमद खाँ

लिखेंगे, जिससे सरकार के प्रति या भिन्न-भिन्न जाति तथा धर्मवालों में परस्पर द्वेष फैले। इस कानून से देशी भाषाओं के समाचारपत्रों की स्वाधीनता छिन गई। कौंसिल के कुछ मेम्बरों ने इसका विरोध भी किया, परन्तु लार्ड लिटन ने किसी की नहीं सुनी।

दूसरा अफगान-युद्ध—“मध्य एशिया के प्रश्न को सुलझाने के लिए” लार्ड लिटन भारतवर्ष भेजा गया था। परन्तु उसने जिस नीति से काम लिया, उसका वही परिणाम हुआ, जो चलते समय लार्ड नार्थवुड कह गया था। अँगरेज रेजीडेण्ट रखने पर जोर देने के पहले, विकटोरिया के ‘भारतवर्ष की साम्राज्ञी’ होने का शुभ संवाद लेकर शेरअली के पास एक दूत भेजना निश्चित किया गया। शेरअली ने इसे “अनावश्यक” कहकर टाल दिया। अफगान लोग अँगरेजों से कितना चिढ़े हुए थे, इसको वह जानता था। इसी लिए

उसको भय था कि अँगरेज दूत की रक्षा करना बड़ा मुश्किल होगा। यह बात ठीक भी थी, उन दिनों काबुल में खबरें उड़ रही थीं कि रूस और इंग्लैंड दोनों अफगानिस्तान को आपस में बांट खाना चाहते हैं। लार्ड लिटन की दृष्टि में अँगरेजों का यह अपमान किया गया। सन् १८७६ में कलात के खान से उसने क़ेया ले लिया। पहले अफगान युद्ध में यहीं से सेना गई थी। इससे अमीर को युद्ध का सन्देह होने लगा। जनवरी सन् १८७७ में उसका दूत सेयद नूरमुहम्मद सन्धि की शर्तें तय करने के लिए पेशावर आया। उसका कहना था कि “अँगरेज राष्ट्र बली है और उसकी शक्ति भी बहुत है। अफगान लोग उसका सामना नहीं कर सकते, परन्तु वे स्वेच्छाचारी तथा स्वतंत्र हैं और उनकी दृष्टि में जीवन की अपेक्षा सम्मान का मूल्य अधिक है।” ऐसी दशा में अँगरेज रेजीडेंट रखना ठीक नहीं; क्योंकि उसकी रक्षा करना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त अँगरेज हर एक बात पर निगाह रखते हैं। इस सम्बन्ध में उसने स्पष्ट कह दिया कि “हमें आपका विश्वास नहीं। हमें भय है कि हमारे सम्बन्ध की सब बातें लिखी जायँगी और किसी दिन उन्हीं से हमारे विरुद्ध काम लिया जायगा।”

नूरमुहम्मद की ये बातें लार्ड लिटन की समझ में न आईं। उसको यह सलाह दी जा रही थी कि काबुल और कलात ऐसे राज्यों के सम्बन्ध में यह बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है, हम न्यू सभ्य भी हैं और वे हमारे मुकाबले में कमजोर तथा आवे जंगली हैं।^१ नूरमुहम्मद की मृत्यु हो जाने पर दूसरे अफगान दूत के आने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही लार्ड लिटन ने सन्धि का प्रयत्न छोड़ दिया और लार्ड आकलैंड की तरह पेशावर की बातचीत का मनमाना वर्णन इंग्लैंड लिख भेजा। उसने पश्चिमोत्तर सीमा की जातियों को भी भड़काने का प्रयत्न किया और गुप्त रीति से महाराजा काश्मीर को समझा-बुझाकर गिलगिट में कुछ अँगरेजी सेना भेज दी। सीमा पर के अफसरों ने लार्ड लिटन को सचेत भी किया कि इस ढंग से शेरअली के साथ कोई समझौता न होगा। पर उसने

किसी की भी न सुनी। वह “अफगान शक्ति को कमजोर और धीरे धीरे छिन्न-भिन्न” करने पर तुल हुआ था, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।

इधर तुर्किस्तान के सम्बन्ध में रूस और इंग्लैंड की आपस में कुछ अनबन हो गई थी। इसलिए इंग्लैंड को रूसियों का फिर बड़ा भय हो रहा था। इतने ही में ताशकन्द से एक रूसी अफसर काबुल की तरफ बढ़ा। अमीर ने समझा-बुझाकर उसको लौटाने का बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु रूस ने उसको गद्दी से उतार देने की धमकी दी, इस पर



काबुल का किला

लज्जित होकर उसको रूस के साथ सन्धि करनी पड़ी। अमीर ने अपनी इच्छा के विरुद्ध यह सन्धि की थी, अँगरेजों को हानि पहुँचाना उसका उद्देश्य न था। यदि कोई भ्रम था तो रूस के साथ बातचीत करके दूर किया जा सकता था। परन्तु ऐसा न करके लार्ड लिटन ने अपना दूत काबुल भेजना निश्चित कर लिया। अँगरेजों को सन्देह करते देखकर रूसियों ने अपने दूत को वापस बुला लिया। इस पर भी लार्ड लिटन ने अपने दूत चेम्बर्लेन को काबुल की तरफ रवाना ही कर दिया।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

दर्रा खैबर के अफ्रीदियों को घूस दे दिलाकर चेम्बल्लेन अलीमस्जिद तक पहुँच गया। वहाँ उसको अफगान सिपाहियों ने बिना अमीर की आज्ञा पाये हुए आगे बढ़ने से रोक दिया, इस पर वह पेशावर लौट आया। लार्ड लिटन की राय में अँगरेजी दूत को यह “जबरदस्ती निकाल देना” था। इसके लिए अमोर से माफी माँगने को कहा गया, तब उसने दूत को काबुल आने की अनुमति दे दी। लार्ड लिटन को इतने पर भी सन्तोष न हुआ और अफगानिस्तान के साथ युद्ध की घोषणा कर दी गई।

इस युद्ध के सम्बन्ध में ‘लिवरल’ दल के नेता ग्लैडस्टन का कहना था कि सन् १८३८ में हमने भूल से अफगानिस्तान के साथ लड़ाई की थी। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है और क्षमा के योग्य भी है। परन्तु दूसरी बार बिना किसी समर्थन के फिर हम वैसी ही भूल कर रहे हैं। सब तरह की चेतावनी मिलते हुए भी हम उस भूल को दोहरा रहे हैं। सन् १८४१ में हमारी सेना पर जो विपत्ति पड़ी थी, वह भी फिर कहीं दोहरा न जाय ?

गंडमक की सन्धि—अँगरेजी सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान में प्रवेश किया। जनरल राबर्ट्स कुर्रम की घाटी से काबुल की तरफ बढ़ा। अफगान लोगों ने अँगरेजों का सामान नहीं किया। कहीं से सहायता न मिलने पर शेरअली रूस भाग गया, वहीं १८७९ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके लड़के याकूबखाँ ने अँगरेजों के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार अफगानिस्तान की विदेशी नीति में उसने अँगरेजों की सलाह लेना और काबुल में अँगरेज रेजीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। कुर्रम की घाटी अँगरेजों के अधिकार में आ गई और उन्होंने बाहरी आक्रमण से अमीर की रक्षा करने और ६ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया। लार्ड लिटन की नीति की विजय हुई। इंग्लैंड के प्रधान सचिव वेकंसफील्ड की राय में “भारतीय साम्राज्य की वैज्ञानिक तथा समुचित सीमा” स्थापित हो गई।

परन्तु यह सन्धि अधिक दिनों तक कायम न रही। अँगरेज रेजीडेंट कैवेनरी, काबुल पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, मार डाला गया। लार्ड लिटन लिखता है कि “नीति का जाला, जो बड़ी चतुरता और धैर्य के साथ

बुना गया था, सहसा टूट गया। पिछले युद्ध में मैंने जिस बात के बचाने के लिए प्रयत्न किया था, अन्त में वही हुआ।” फिर से युद्ध छेड़ा गया, याकूब अँगरेजों की शरण में आ गया और काबुल पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। रेजीडेंट की हत्या में कोई दोष न होते हुए भी याकूबख़ाँ कैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया और उसकी जगह पर शेरअली का एक भतीजा अब्दुर्रहमान काबुल का अमीर बनाया गया। कन्दहार और हेरात पर दूसरे सरदारों का अधिकार मान लिया गया। इस तरह लार्ड लिटन का अफगानिस्तान को छिन्न-भिन्न करने का उद्देश्य सफल हुआ।

लार्ड लिटन का इस्तीफा—इतने ही में इंग्लैंड की सरकार लिबरल दल के हाथ में, जिसने लार्ड लिटन की नीति की तीव्र आलोचना की थी, आ गई। ग्लैडस्टन प्रधान सचिव हुआ और लार्ड हार्डिंगटन भारतसचिव बनाया गया। उसकी राय में जो कुछ भारत की नीति न होनी चाहिए थी, लार्ड लिटन ने वही किया। ऐसी दशा में लार्ड लिटन को इस्तीफा देना पड़ा। लार्ड बेकंसफील्ड ने उसको अपनी नीतिज्ञता का परिचय देने के लिए भेजा था, परन्तु अफगान-युद्ध से लार्ड लिटन का यश मिट्टी में मिल गया। अन्त में लार्ड बेकंसफील्ड को भी वाइसराय की नीति पर विश्वास न रहा था। उसका कहना था कि “भारतवर्ष की कुंजी मर्व, हेरात या कन्दहार में नहीं है, वह लन्दन में है।” प्रजा को सन्तुष्ट रखने से ही भारत की रक्षा हो सकती है। भारतवर्ष में समाचारपत्रों की स्वतंत्रता अपहरण करने, दुर्मिक्ष के समय में दिल्ली दरबार करने तथा विलायती कपड़े पर चुंगी उठा देने के लिए लार्ड लिटन का नाम प्रसिद्ध रहेगा।

परिच्छेद

राष्ट्रीयता का जन्म

लार्ड रिपन—वाइसराय के पद पर नियुक्त होने के समय लार्ड रिपन की अवस्था ५३ वर्ष की थी। 'रोमन कैथलिक' होने के कारण उसको वाइसराय



रिपन

इंग्लैंड-सरकार ने लार्ड लिटन की इस नीति को बिलकुल बदल देना निश्चित कर लिया था। भारतसचिव लार्ड हार्टिंगटन भारतवर्ष की रक्षा के लिए अफगानिस्तान के राज्य को सुदृढ़ बनाये रखना आवश्यक समझता था।

बनाने का इंग्लैंड में बड़ा विरोध किया गया, परन्तु 'लिबरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन की नीति से जो क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति करने के लिए वह सर्वथा उपयुक्त था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसके सामने सबसे मुख्य प्रश्न अफगानिस्तान का था। उसकी राय में रूस के आक्रमण का बहाना करके लार्ड लिटन अफगानिस्तान को अँगरेजी राज्य में मिला लेना चाहता था। वह लिखता है कि लार्ड लिटन की दृष्टि काश्मीर पर भी थी और उस 'चाँद' को भी छीन लेने का प्रयत्न हो रहा था।^१

अमीर अब्दुर्रहमान—लार्ड लिटन की नीति ने अफगानिस्तान छिन्न-भिन्न और निर्बल हो गया था। अब्दुर्रहमान केवल काबुल का शासक था, हेरात पर शेरअली का एक लड़का अयूबख़ाँ राज्य कर रहा था, कन्दहार एक दूफरे ही सरदार के पास था। इस तरह अफगानिस्तान में तीन स्वतन्त्र शासक थे। अँगरेजी सेना के हटने के पहले ही इन तीनों में युद्ध छिड़ गया। अयूबख़ाँ ने मेवान्द में अँगरेजी सेना को हरा दिया। इस युद्ध में लगभग एक हजार अँगरेज मारे गये। इस हार का बदला जनरल राबर्ट्स ने कन्दहार में लिया। अयूबख़ाँ हारकर हेरात लौट गया। अब अँगरेजी सेना का अफगानिस्तान में रखना उचित न समझा गया और सन् १८८१ में काबुल और कन्दहार खाली कर दिये गये। इस पर अयूबख़ाँ ने हेरात से निकलकर कन्दहार छीन लिया; परन्तु इस बार बिना अँगरेजों की सहायता के ही अब्दुर्रहमान ने उसको हराकर फारस भगा दिया और कन्दहार तथा हेरात पर अधिकार कर लिया। कन्दहार के शासक के साथ अँगरेजों की सन्धि थी, परन्तु उसको समझा-बुझाकर अँगरेजों ने भारतवर्ष भेज दिया। इस तरह अब्दुर्रहमान पूरे अफगानिस्तान का अमीर बन गया।

वह बड़ा चतुर शासक था। विदेशियों के हस्तक्षेप से अफगान लोग कितना चिढ़ते हैं, इसको वह खूब जानता था। साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि बिना अँगरेजों की मित्रता के उसको अपनी रक्षा करना बड़ा मुश्किल है। इसी लिए उसने ऐसे ढंग से काम लिया कि जिसमें दोनों सन्तुष्ट बने रहें। अफगानिस्तान के झगड़ों में पड़ने का अँगरेजों को भी मजा मिल चुका था, अब अधिक हस्तक्षेप के लिए वे उत्सुक न थे। रेजीडेंट रखने का विचार तो एकदम ही छोड़ दिया गया। अब्दुर्रहमान से केवल यह प्रतिज्ञा करवा ली गई कि अँगरेजों के सिवा वह किसी अन्य शक्ति से कोई राजनैतिक सम्बन्ध न रखेगा।

मैसूर—लार्ड बेंटिंक के समय में मैसूर का राजा गद्दी पर से उतार दिया गया था। उसके गोद लिये हुए लड़के को, सन् १८८१ में, फिर से शासनाधिकार दिये गये। देशी नरेशों पर इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उस

समय से मैसूर का शासन बड़े अच्छे ढंग से हो रहा है। दीवान को सलाह देने के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों की एक सभा भी बन गई है और राज्य की बराबर उन्नति हो रही है।

देशी समाचारपत्रों की स्वाधीनता—इंग्लैंड की 'लिवरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन के 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' से देशी भाषाओं में छपनेवाले समाचारपत्रों के साथ बड़ा अन्याय किया गया था। इस सम्बन्ध में पार्लियामेंट में भी चर्चा चल रही थी और प्रधान सचिव ग्लैडस्टन इसको रद्द करने के लिए चिन्तित था। परन्तु वाइसराय की कौंसिल में इस समय भी बहुत से लार्ड लिटन की नीति के समर्थक थे, इसलिए लार्ड रिपन को इस "घृणित कानून" के रद्द करने में बड़ी चतुरता से काम लेना पड़ा।

स्थानीय स्वशासन—अँगरेजी शिक्षा, रेल, तार, डाक और समाचारपत्रों से धीरे धीरे भारतवर्ष के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा था। जिस ढंग से इस समय भारतवर्ष का शासन किया जा रहा था, लार्ड रिपन की राय में अब वैसा करना अधिक दिनों तक सम्भव न था। उसकी मत था कि यथासम्भव भारतवासियों को शासनप्रबन्ध में कुछ भाग देना चाहिए। इसी उद्देश्य से उसने स्थानीय स्वशासन स्थापित करने का प्रबन्ध किया। इसके अनुसार जिलों और तहसीलों में बोर्ड स्थापित किये गये और उनको देहातों की सफाई, शिक्षा का प्रबन्ध और सड़कें बनाने का काम सौंपा गया। खर्च के लिए वहीं की आमदनी का कुछ भाग उन्हें दे दिया गया। नामजद करने की अपेक्षा मेंबरों को चुनने पर अधिक जोर दिया गया। जिला या 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड' के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो इसमें "बड़े साहस" का दृष्टिकोण बहुत कम होना चाहिए। ऐसा न करने से शासन की शिक्षा देने का उद्देश्य नष्ट हो जायगा और केवल जिलाअफसर की आज्ञा का पालन होने लगेगा। तहसील, तालुका या 'लोकल बोर्ड' को स्थापित करके वह गाँवों की प्राचीन स्वशासन-व्यवस्था को फिर से जागृत करना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि मेरा उद्देश्य अँगरेजी संस्थाओं के प्रचार करने का नहीं। हमने देशी स्वशासन

व्यवस्था को बहुत कुछ नष्ट कर डाला है, पर तब भी देश के बहुत से भागों में यह थोड़ी बहुत इस समय भी मौजूद है। इसी के आधार पर मैं स्थानीय स्वशासन की इमारत को खड़ा करना चाहता हूँ।^१ परन्तु उसका यह उद्देश्य सफल न हो सका। गाँवों के प्राचीन संगठन को अँगरेजी शासन ने विल-कुल नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। उसके पुनरुद्धार के लिए अधिकांश अफसरों में कोई उत्साह न था।

शहरों में म्युनिसिपल्टियों के अधिकार बढ़ा दिये गये और जनता द्वारा मेम्बरों के चुने जाने का प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में पहले से ही ऐसा होता था, परन्तु अब यह अधिकार धीरे धीरे अन्य शहरों को भी मिल गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो म्युनिसिपल बोर्डों का अध्यक्ष गैरसरकारी होना चाहिए, परन्तु बहुत दिनों तक ऐसा न हो सका। जिलों और शहरों में बोर्डों के स्थापित हो जाने से आमदनी और खर्च के प्रबन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। पहले यह कुल प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ में था। लार्ड मेयो के समय में, प्रान्तीय सरकारों को, इसमें कुछ भाग दिया गया था, अब कुछ भाग जिलों को भी मिल गया। इस तरह धीरे धीरे जिम्मेदारी सब में बँट गई।

भारतवर्ष में लार्ड रिपन 'स्थानीय स्वशासन का जन्मदाता' माना जाता है। वह स्वयं लिखता है कि इससे भारतवासियों का विश्वास मुझ पर बढ़ गया और देश भर में मेरे लिए, जिस तरह स्नेह दिखलाया जा रहा है, उससे मुझे आश्चर्य हो रहा है। उसकी इस उदार नीति की सफलता में अँगरेज अफसरों को बड़ा सन्देह था। उनका कहना था कि इससे शासन में बड़ी बाधा पड़ेगी, भारतवासियों को इसका अनुभव नहीं है, अँगरेजी पढ़कर वे केवल बातें करना जानते हैं। ये अफसर अँगरेजी पढ़े लिखे हिन्दुस्तानियों को, कितनी "वृणा की दृष्टि" से देखते थे, इसको लार्ड रिपन खूब जानता था। इन लोगों से उसका कहना था कि जिम्मेदारी देने ही से हिन्दुस्तानियों को

“बातें करने और काम करने” के भेद का पता लग सकेगा।^१ कुछ दिनों तक इन बोर्डों का काम ठीक ठीक न चला, पर वह इससे निराश नहीं हुआ। उसकी राय में इनके स्थापित करने का सब से बड़ा भारी लाभ यह था कि जनता की “राजनीति और शासन में शिक्षा” हो रही थी।

आर्थिक सुधार—लार्ड रिपन भी स्वतंत्र व्यापार-नीति का पक्षपाती था। सन् १८८२ में उसने नमक, शराब और अस्त्र-शस्त्र छोड़कर बाकी सब विलायती माल पर चुंगी उठा दी। इससे विलायत के व्यापारियों का ही अधिकतर लाभ हुआ। पर साथ ही साथ उसको भारत की दरिद्र जनता का भी ध्यान रहा और उसने नमक-कर घटा दिया। देश भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने की बहुत दिनों से बात चल रही थी। इसके विरोधियों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार का नुकसान होगा। खेती से जो कुछ आमदनी बढ़ेगी, उसमें सरकार को कोई हिस्सा न मिलेगा। बीस-तीस वर्ष का बन्दोबस्त कर देने से खेती में उन्नति करने का काफी समय भी मिल जाता है और सरकार की भी कोई हानि नहीं होती है। इसके प्रतिकूल इस्तमरारी बन्दोबस्त के समर्थकों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार को बार-बार बन्दोबस्त का खर्च न उठाना पड़ेगा, अपने लाभ की दृष्टि से खेती की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा और प्रजा की दशा अच्छी होने से अन्य करों द्वारा सरकार की हानि भी पूरी हो जायगी। कुछ लोगों का तो कहना था कि इस्तमरारी बन्दोबस्त हो जाने से अकालों की अधिक सम्भावना न रहेगी, क्योंकि जनता का ध्यान खेती की ओर अधिक जायगा। यह बात भले ही ठीक न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि जमीन का लगान बहुत ज्यादा लिया जाता था। सन् १८७९ में विलियम हंटर का कहना था कि दक्षिण में किसानों को इतना भी नहीं बचता कि वे साल भर तक अपने कुटुम्ब का पालन कर सकें। सन् १८८१ में लार्ड नार्थब्रुक ने भी माना था कि “जमीन का लगान बहुत ज्यादा लिया जाता है।”

सन् १८६२ में इंग्लैंड-सरकार ने इस्तमरारो बन्दोबस्त जारी करने के प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था, परन्तु इस सम्बन्ध में भारत-सरकार से बराबर लिखा-पढ़ी होती रही। लार्ड मेयो ने इसका बड़ा विरोध किया। अन्त में सन् १८८३ में यह विचार त्याग दिया गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जिन जिलों की पूरी पैमायश करके मालगुजारी बाँधी गई है, उन्हें यह वचन दे देना चाहिए कि सिवा दाम बढ़ जाने के मौके को छोड़कर और कभी कोई इजाफा न किया जायगा। इस तरह एक प्रकार से स्थायी बन्दोबस्त भी हो जायगा और सरकार की कोई हानि भी नहीं होगी। परन्तु भारतसचिव ने उसकी इस राय को नहीं माना। लार्ड रिपन ने किसानों की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया। बंगाल और अवध में जमीन्दार किसानों को बार-बार बेदखल करके तंग किया करते थे। उनके हक को स्थायी बनाने के लिए उसने दो कानून पेश किये, परन्तु उसके समय में ये पास न हो सके। कल-कारखानों में काम करनेवालों की रक्षा के लिए भी उसने प्रयत्न किया और यह कानून बना दिया कि लड़कों से नौ घंटा रोज से अधिक काम न लिया जाय।

शिक्षा-प्रबन्ध—सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार करने के अभिप्राय से सन् १८८१ में एक 'शिक्षा कमीशन' नियुक्त किया गया। सन् १८८३ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। अब उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्रारम्भिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देना निश्चित किया गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो शिक्षा पर सरकार का अधिकार कम रहना चाहिए। सरकारी स्कूल खोलने की अपेक्षा चन्दा से स्थापित किये हुए स्कूल तथा कालेजों को अधिक सहायता देनी चाहिए और अमीर लोगों से उनके लड़कों की पढ़ाई का पूरा खर्च लेना चाहिए, जिसमें सरकारी रुपया गरीबों की शिक्षा के लिए बच रहे।^१

मनुष्य-गणना—सन् १८८१ में काश्मीर और नेपाल को छोड़कर देश भर की मनुष्य-गणना की गई। इसमें उनकी जाति, धर्म, शिक्षा, भाषा,

पेशा, सभी बातों का उल्लेख किया गया। तब से हर दसवें वर्ष यह गणना होती है। इसकी रिपोर्टों से देश की बहुत सी बातों का पता चलता है।

इंडियन सिविल सर्विस—सन् १८३३ के आज्ञापत्र तथा सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में, भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया गया था कि सरकारी नौकरियों में किसी प्रकार का जातिभेद न रखा जायगा। परन्तु वास्तव में जितने बड़े बड़े ओहदे थे, उन पर अँगरेज ही रखे जाते थे। भारतवासियों को जो वचन दिये गये थे, उनका मनमाना अर्थ लगाया जाता था। कहा जाता था कि सब छोटी छोटी नौकरियाँ हिन्दुस्तानियों के ही हाथ में हैं, सरकारी नौकरियों में अँगरेजों की अपेक्षा उनकी संख्या कहीं अधिक है, इस तरह प्रतिज्ञाओं का पालन हो रहा है। सिविल सर्विस के कुछ पदों पर भारतवासियों को नियुक्त करने के नियम बनाने के लिए सन् १८७० में इंग्लैंड से भारत सरकार को लिखा गया था, परन्तु उसने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने 'स्ट्रैचवर्टी सिविल सर्विस' नाम की एक श्रेणी खोली, जिसमें प्रान्तीय सरकार की सिफारिश पर बड़े घराने के लोगों को रखना निश्चित किया गया। लार्ड लिटन का मत था कि "उन प्रतिज्ञाओं को, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है और जो वास्तव में बिना सोचे-समझे कर दी गई हैं, अधिक स्पष्ट कर देना चाहिए। उनको नियमों से भले ही जकड़ दिया जाय, पर आवश्यक सीमाओं के अन्तर्गत उन्हें सत्य बनाना चाहिए।"

इस तरह लार्ड रिपन के आने पर सिविल सर्विस में घुसने के दो तरांगे थे। एक तो लार्ड लिटन के बनाये हुए नियमों द्वारा नामजदगी से और दूसर 'सिविल सर्विस परीक्षा' द्वारा, जो इंग्लैंड में होती थी। नामजदगी में शिक्षा और योग्यता की अपेक्षा सामाजिक पद पर अधिक ध्यान दिया जाता था। मध्य श्रेणी के उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगों के साथ यह बड़ा अन्याय होता था। इसी लिए लार्ड रिपन इसको पसन्द न करता था। परीक्षा के लिए पहले २१ वर्ष की अवस्था का नियम था, लार्ड लिटन के समय में १९ वर्ष की अवस्था का नियम कर दिया गया था। यह नियम भी भारतवासियों

को परीक्षा से अलग रखने के उद्देश्य से ही बनाया गया था। लार्ड लिटन इस परीक्षा में बैठने से भारतवासियों को एकदम रोक देना चाहता था।^१ लार्ड रिपन का तो यहाँ तक कहना है कि उसको “उच्च शिक्षा-प्राप्त भारत-वासियों से घृणा थी।” लार्ड रिपन २१ वर्ष की अवस्था का फिर नियम बनाना चाहता था। सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष में भी हुआ करे, उसकी यह भी इच्छा थी। परन्तु वह एक ऐसे झगड़े में पड़ गया कि इस सम्बन्ध में वह कुछ भी न कर सका। उसकी पूरी कौंसिल ने इसका घोर विरोध किया।

इलवर्ट बिल—इस समय तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता को छोड़कर अन्य स्थानों के हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट और जजों को किसी-सोरे अभियुक्त का मुकदमा करने का अधिकार नहीं था। अब कुछ हिन्दुस्तानी सिविल सर्विस की परीक्षा पास करके आ गये थे और वे शीघ्र ही जिला मजिस्ट्रेट होने वाले थे। कुछ हिन्दुस्तानी ‘सेंशंस जज’ के ओहदे पर भी पहुँचनेवाले थे। पद में अँगरेजों के सामान होते हुए भी इनको पूरे अधिकार न देना उचित न जान पड़ता था। महाराजा ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर ने गवर्नर-जनरल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस प्रश्न को उठाया। लार्ड रिपन भी न्याय के मामलों में जातिभेद रखना बड़ा अनुचित समझता था। इसी लिए सन् १८८३ में इस भेद को उठाने के लिए सरकार की ओर से कानूनी सदस्य इलवर्ट ने एक बिल पेश किया। इससे अँगरेजों की कोई हानि न थी, पर तब भी उन्होंने इसका घोर विरोध किया। वाइसराय का खुले तौर पर अपमान किया गया। सरकारी अफसरों के अतिरिक्त अन्य अँगरेजों ने उसके यहाँ जाना छोड़ दिया। अँगरेज अखबार जामे से बाहर हो गये। ‘इंगलिशमैन’ ने लिख डाला कि “भारतवर्ष में यदि किसी को अधिकार है तो वे अँगरेज हैं, भारत-वासियों को कोई अधिकार नहीं है।” “इस तरह हिन्दुस्तानियों को गद्दी पर

बिठलाना” भारतवर्ष में रहनेवाले गोरे सहन न कर सके और उन्होंने गोरी सेना को भी भड़काने का प्रयत्न किया।

लार्ड रिपन को कभी सन्देह न था कि इस बात पर इतना घोर आन्दोलन उठेगा। यदि वह ऐसा जानता तो शायद इस प्रश्न को उठाता ही नहीं। पर एक बार ऐसा प्रस्ताव करके उसे वापस लेने से, रिपन की राय में, भारतवासियों को यह दिखलाना था कि महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में की हुई प्रतिज्ञाओं में कुछ तत्त्व नहीं। परन्तु यह आन्दोलन बढ़ता ही गया और अन्त में लार्ड रिपन को भी इसके आगे सिर झुकाना पड़ा। कलकत्ता की सड़कों पर उपद्रव होने की नौबत देखकर लार्ड रिपन ने समझौता कर लिया। गोरे अभियुक्तों को ‘जुरी’ की सहायता से जिसमें आधे अँगरेज या अमरिकन हों, मुकदमा कराने का अधिकार दे दिया गया। इस तरह देखने के लिए तो जातिभेद उठा दिया गया; क्योंकि जुरी की सहायता से मुकदमा करने का अधिकार हिन्दुस्तानी और अँगरेज जजों को समान रूप से दे दिया गया। पर वास्तव में यह भेद बना रहा; क्योंकि हिन्दुस्तानियों को जुरी की सहायता से मुकदमा कराने का कोई अधिकार न दिया गया।

उदार नीति—लार्ड रिपन इंडिया कौंसिल के हस्तक्षेप को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि “भारतवर्ष को लिबरल सरकार से लाभ ही क्या हो सकता है, यदि वह हाथ-पैर बाँधकर कुछ ऐसे बुद्धे आदिमियों के हवाले कर दिया जाय, जिनकी शक्तियाँ बुद्धापे से नष्ट हो गई हैं, जिन्हें बिना किसी जिम्मेदारी के अच्छी तनख्वाहें मिलती हैं और जिनको उन लोगों के प्रस्तावों की आलोचना करने तथा उनके काम में बाधा डालने में आनन्द आता है, जिन्हें भारतवर्ष की वास्तविक दशा का पूरा ज्ञान है और जिनके ऊपर देश का अच्छा शासन करने की पूरी जिम्मेदारी है ?” भारतवर्ष की आमदनी से इंग्लैंड का लाभ उठाना वह अनुचित समझता था। सन् १८८२ में विद्रोह शान्त करने के लिए भारतवर्ष से जो सेना

मिस्र भेजी गई थी, उसका खर्च प्रधान सचिव ग्लैडस्टन भारतवर्ष से लेना चाहता था; क्योंकि उसकी राय में इंग्लैंड पर काफ़ी बोझ था और मिस्र को शान्त रखने से स्वेज की नहर सुरक्षित रह सकती थी। इस पर लार्ड रिपन ने भारतसचिव को लिखा कि इंग्लैंड में पार्लियामेंट है, इसलिए अधिक रुपया माँगने में भय होता है। भारतवर्ष पर “अनावश्यक बोझ” लौट देने से कोई पूछनेवाला नहीं है, इसी लिए ऐसा किया जा रहा है। मेरी राय में यह न्याय नहीं बल्कि मन्त्रिमण्डल की सरासर जबरदस्ती है। लिबरल दल का नेता होकर ग्लैडस्टन इसका समर्थन कर रहा था, लार्ड रिपन को इसका बड़ा दुख था। अन्त में उसकी बात मानकर इंग्लैंड-सरकार ने आधा खर्च देना स्वीकार किया।^१

भारतवर्ष की रक्षा के सम्बन्ध में उसका मत था कि रूस के आक्रमण का भय निर्मूल है। यह बात ठीक है कि जनता में असन्तोष होने से रूसी उसको हमारे विरुद्ध भड़का सकते हैं। इसको दबाने का सबसे मुख्य उपाय यह है कि देश का शासन उत्तम रीति से किया जाय और वहाँ की समृद्धि बढ़ाई जाय। देश भर में उन्नति के चिह्न दिखलाई दे रहे हैं, जनता के आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। स्थिति निस्सन्देह बड़ी जटिल है, परन्तु यदि बुद्धि और साहस से काम लिया जाय, तो इससे बहुत कुछ लाभ हो सकता है। थोड़े दिनों के “न्याय और सत्यतापूर्ण शासन” से हमारा प्रभाव जनता के हृदय पर जम जायगा। और उसका हम पर विश्वास तथा हमारे शासन में सन्तोष बढ़ जायगा। ऐसा करने से अफगानिस्तान की सीमाओं पर सेना रखने की अपेक्षा हम रूसियों के आक्रमण से भारतवर्ष की अधिक रक्षा कर सकेंगे।^२

लार्ड रिपन का कहना था कि भारत-सरकार के सामने दो नीतियाँ हैं। एक तो उनकी नीति है, जिन्होंने समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता दी

१ उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ५५-५६।

२ वही, पृ० ५९।

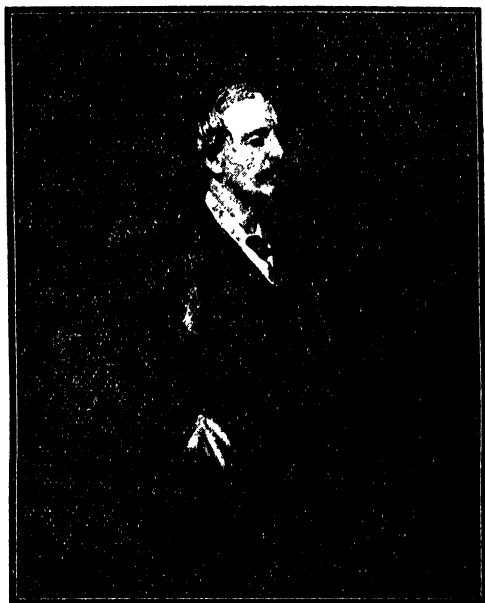
है, शिक्षा की उन्नति की है, अधिक संख्या में भारतवासियों को सब तरह की नौकरियाँ दी हैं और जिन्होंने स्वशासन की वृद्धि का समर्थन किया है। दूसरी नीति उन लोगों की है, जो समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का तिरस्कार करते हैं, जो शिक्षा की उन्नति से डरते हैं और जिन्हें शासन में भारतवासियों को जरा सा भी भाग देने से जलन होती है। “इन दो नीतियों में से हमें चुनना पड़ेगा। एक का अर्थ उन्नति और दूसरी का अर्थ दमन है। लार्ड लिटन ने दूसरी को और मैंने पहली नीति को चुना।”^१

लार्ड रिपन का इस्तीफा—सन् १८८४ में लार्ड रिपन ने इस्तीफा दे दिया। जहाँ तक ब्रज पड़ा उसने भारतवर्ष का हित करने के लिए बराबर प्रयत्न किया। हर एक बात में उसको भारतवासियों का ध्यान रहता था और शासन में वह किसी प्रकार का जातिभेद पसन्द न करता था। इसके लिए उसको अपने देशवासियों के मुख से बहुत सी बुरी-भली बातें भी सुननी पड़ीं। चलते समय भारतवासियों ने अपनी कृतज्ञता का पूरा परिचय दिया। जगह जगह पर उसको मानपत्र दिये गये और मीलों तक लाखों आदमियों ने जयध्वनि से उसकी विदाई की। कुछ अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि उसमें कोई विशेष योग्यता न थी। सम्भव है यह ठीक हो, पर जैसा कि अर्सेकाइन पेरी ने लिखा है, उसमें “दिल था, जिसका हिन्दुस्तानी सबसे अधिक आदर करते हैं।” सर कालविन का विश्वास था कि लार्ड रिपन का भारतवासियों के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव था कि वह जो चाहे कर सकता था। पञ्जाब के सर साहबदयाल ने ठीक कहा था कि लार्ड रिपन सहस्रों सैनिकों के बराबर है; क्योंकि भारतवासियों का उस पर विश्वास है और वे उसको चाहते हैं। यदि भारतवर्ष में कभी अँगरेजों पर विपत्ति पड़े, तो उन्हें लार्ड रिपन को भेजना चाहिए।^२

१ उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० १४।

२ वही, पृ० १६५-६६।

लार्ड डफरिन—लार्ड रिपन के स्थान पर लार्ड डफरिन वाइस-राय बनाया गया। वह कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और बहुत दिनों तक रूस, तुर्की और मिस्र में भी रहा था। पूर्वोक्त राजनीति का उसे अच्छा ज्ञान था। कुछ दिनों तक सर जान लॉरेंस के समय में भारतवर्ष के उपसचिव के पद पर काम करने के अतिरिक्त उसको भारतवर्ष के सम्बन्ध में विशेष अनुभव न था। पर वह अपने समय का “एक बड़ा नीतिज्ञ समझा जाता था।”



पंजदेह की

घटना—मार्च सन्

डफरिन

१८८५ में रूसियों ने हेरात और मर्व के बीच अफगानिस्तान की चौकी पंजदेह पर कब्जा कर लिया। इस पर इंग्लैंड और भारतवर्ष में बड़ी सनसनी फैली और रूस के साथ युद्ध की तैयारी होने लगी। परन्तु लार्ड डफरिन और अब्दुर्रहमान की चतुरता से लड़ाई की नौबत न आई। इन दोनों की रावल-पिंडी में भेंट हुई। अमीर अब्दुर्रहमान अफगानिस्तान की रक्षा के लिए रूस और इंग्लैंड का युद्ध न चाहता था। वह जानता था कि इन दो शक्तियों के बीच उसका छोटा सा राज्य पिसकर तबाह हो जायगा। उसका कहना था कि

“मेरा देश एक बेचारे बकरे की तरह है, जिस पर भालू (रूस) और शेर (इंग्लैंड) दोनों की निगाहें जमी हुई हैं। उसका ईश्वर ही रक्षक है।” इसी लिए वह पंजदेह छोड़ देने के लिए भी राजी हो गया। इस पर रूस से समझौते की बातचीत होने लगी।

लार्ड डफरिन ने भी बड़ी चतुरता से काम लिया। उसने अमीर का बड़ा सम्मान किया और उसको रुपये तथा अस्त्र-शस्त्र की सहायता देकर काबुल वापस भेज दिया। अमीर किसी प्रकार की सैनिक सहायता न चाहता था; क्योंकि वह जानता था कि इससे फिर झगड़ा होगा। लार्ड डफरिन कुछ इंजीनियरों को भेजना चाहता था, परन्तु अमीर ने इसको भी अस्वीकार कर दिया। लार्ड डफरिन भी सेना भेजने के लिए उत्सुक न था, यदि अमीर चाहता तो उसको सेना भेजनी पड़ती; क्योंकि बाहरी आक्रमण से अफगानिस्तान की रक्षा करनेका लार्ड रिपन वचन दे चुका था। परन्तु इसका अवसर न आया। सन् १८८७ में रूस से समझौता हो गया और पंजदेह पर उसका अधिकार मान लिया गया। इस घटना का भारतवर्ष पर यह प्रभाव पड़ा कि उसके खजाने का बहुत-सा रुपया युद्ध की तैयारी में उड़ गया और सेना की संख्या बढ़ गई।

बर्मा का तीसरा युद्ध—सन् १८७९ में बर्मा के राजा थीवा के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अँगरेजी राजदूत वापस बुला लिया गया था। तब से बर्मा में अँगरेजों को पूरी व्यापारिक सुविधाएँ नहीं मिल रही थीं और व्यापारी लोग बर्मा को भी अँगरेजी राज्य में मिला लेने के लिए कह रहे थे। थीवा जर्मनी, इटली और फ्रांस से सन्धि की बातचीत कर रहा था। सन् १८८५ में एक फ्रांसीसी राजदूत भी मंडाले आया था और एक बैंक स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। बर्मी दरबार में फ्रांसीसियों का प्रभुत्व अँगरेजों को खटक रहा था और वे लड़ाई का कोई न कोई बहाना ढूँढ़ रहे थे। इन्हीं दिनों एक अँगरेजी व्यापारिक कम्पनी पर थीवा ने २३ लाख रुपया जुरमाना कर दिया। यह अच्छा बहाना मिल गया। रंगून में दस हजार सेना एकत्र करके थीवा को इस मामले की अँगरेज पंचों द्वारा जाँच

कराने के लिए कहा गया। जब उसने इसे स्वीकार नहीं किया तब अंगरेज रेजीडेंट रखने तथा उसकी सलाह से विदेशी नीति संचालन करने के लिए



थीबा और उसकी रानी

लिखा गया। कोई ठीक उत्तर न मिलने पर यज्ञ की घोषणा कर दी गई।

दस ही दिन में युद्ध समाप्त हो गया। बर्मियों ने युद्ध की कोई तैयारी न की थी, उन पर सहसा आक्रमण कर दिया गया था। जनवरी सन् १८८६ में उत्तरी बर्मा भी अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और थीवा कैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया, जहाँ रत्नागिरि में वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। इस तरह विजय तो हो गई पर बर्मा को शान्त करने में बहुत समय लगा। चार पाँच वर्षों तक बहुत से लुटेरे बड़ा उपद्रव मचाते रहे, पर धीरे धीरे शान्ति स्थापित हो गई और अँगरेजी शासन चल पड़ा। इतिहासकार राबर्ट्स की राय में बर्मा के साथ “जबरदस्ती और निष्ठुरता” का व्यवहार किया गया। यह मानते हुए भी कि थीवा अत्याचारी था, उसके राज्य को छीन लेने का भारत-सरकार को कौन सा अधिकार था? वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सन्धि कर सकता था। फ्रांसीसियों का ‘इंडो-चैना’ भी उसके राज्य से मिला हुआ था। यदि उसके कहने पर फ्रांसीसी अपना प्रभाव वहाँ जमा रहे थे, तो फिर अँगरेजों को जलन क्यों होती थी? जैसा हक अँगरेजों का था वैसा ही फ्रांसीसियों का, इसमें बिगड़ने की कौन सी बात थी? परन्तु स्वार्थ के आगे न्याय की कौन सुनता है? निर्बल पर सबल का सभी अधिकार रहता है। दक्षिणी बर्मा से उत्तरी बर्मा अधिक उपजाऊ है, वहाँ खूब धन कमाने की सम्भावना थी। युद्ध छिड़ने के पहले ही लार्ड डफरिन ने लिखा था कि यदि फ्रांसीसी उत्तरी बर्मा में अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करें तो उसको बिना किसी संकोच के अँगरेजी राज्य में मिला लेना चाहिए।^१

देशी राज्य—सन् १८८६ में ग्वालियर का किल्ला चिन्धिया को वापस कर दिया गया। काश्मीर के शासन में रेजीडेंट प्लाउडन बहुत हस्तक्षेप करता था। सन् १८८८ में लार्ड डफरिन ने उसको वापस बुला लिया। वाइस-राय के इन कार्यों का देशी राज्यों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जब रूस के साथ युद्ध छिड़नेवाला था, तब बहुत से राज्यों ने सहायता करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। समय पड़ने पर सरकार की सहायता करने के लिए बड़े बड़े

राज्यों ने एक अलग सेना रखना भी निश्चित किया, जो 'इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स' अथवा 'साम्राज्य-सेवा-सेना' कहलाती है। इसमें हिन्दुस्तानी ही अफसर रहते थे, पर इसका निरीक्षण अँगरेज करते थे।

कानून-लगान—किसानों की रक्षा के लिए जिन कानूनों पर लार्ड रिपन के समय से विचार हो रहा था, वे अब पास कर दिये गये। बंगाल में जमीन्दारों ने नये कानून का बड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि सन् १७९३ में इस्तमरारी बन्दोबस्त करके अब ऐसा कानून पास करने का सरकार को अधिकार नहीं है। उत्तर में लार्ड डफरिन का कहना था कि लार्ड कार्न-वालिस स्वयं ऐसा कानून बनाना चाहता था। इसके अतिरिक्त सन् १८५९ में काश्तकारों के सम्बन्ध में एक कानून बन चुका है। सन् १८८५ में 'बंगाल टेनेसी बिल' पास हो जाने से काश्तकारों को जब चाहे बेदखल करने का अधिकार जमीन्दारों को न रहा। जमीन्दार और काश्तकारों के झगड़ों को निपटाने के लिए भी नियम बना दिये गये। चलते समय लार्ड रिपन अवध के काश्तकारों का ध्यान रखने के लिए लार्ड डफरिन से अनुरोध कर गया था। अवध के कानून-लगान से वहाँ के काश्तकारों की दशा कुछ सुधर गई, जमीन्दारों के लिए उनका बेदखल करना और लगान बढ़ाना मुश्किल हो गया। सन् १८८७ में इसी दंग का पंजाब के लिए भी एक कानून पास किया गया। आयरलैंड के जमीन्दार और काश्तकारों के सम्बन्ध का लार्ड डफरिन को बहुत कुछ अनुभव था, जिससे इस जटिल प्रश्न के सुलझाने में उसको बड़ी सहायता मिली।

आर्यसमाज—सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्यसमाज स्थापित किया। सन् १८७७ में लाहौर में इसका पूर्ण रूप से संगठन किया गया। स्वामीजी ने वेदों को ईश्वरवाक्य मानकर उन पर अधिक जोर दिया; मूर्तिपूजन, श्राद्ध तथा जाति-पाँति के भेदों को स्वीकार नहीं किया और अन्य मतावलम्बियों को शुद्ध करके आर्य बनाना जायज मान लिया। थोड़े ही दिनों में उत्तरी भारत में आर्यसमाज का बड़ा जोर हो गया और स्थान

स्थान पर इसकी शाखाएँ खुल गईं। बहुत से हिन्दुओं को इसने ईसाई और मुसलमान होने से बचाया। समाजसुधार की ओर इसने विशेष ध्यान



स्वामी दयानन्द

न्यूयार्क नगर में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्काट ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' स्थापित की। इस सोसायटी ने सब धर्मों की एकता और सत्यता पर जोर दिया। स्वामी दयानन्द जी के आमंत्रित करने पर सन् १८७९ में ये दोनों भारतवर्ष आये। इन्होंने प्राच्य शास्त्रों को महत्ता दिखलाते हुए यह बतलाया कि भारतवर्ष का उद्धार उसी के विचारों द्वारा हो सकता है। इस सोसायटी का मुख्य कार्यालय मदरास के निकट अदयार में स्थापित हुआ। सन् १८९३ में मिसेज बेसेंट के आ जाने से इसका जोर बहुत बढ़ गया। अँगरेजी पढ़े हुए लोगों को भी, जो पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध हो रहे थे, यह ज्ञात होने लगा कि उनके देश की प्राचीन सभ्यता और आचार-विचारों में भी कुछ तत्त्व हैं। इस सोसायटी ने समाजसुधार और शिक्षा को भी अपनाया और तत्कालीन शिक्षा को "धर्म तथा राष्ट्रीयता के भावों के विरुद्ध" बतलाया।

दिया और विधवा-विवाह का प्रचार किया। प्राचीन ढंग से शिक्षा देने के लिए इसने गुरुकुल स्थापित किये। उत्तरी भारत में इसने वही काम किया, जो ब्रह्मसमाज ने बंगाल में किया। केवल भेद इतना ही था कि ब्रह्मसमाज ने पाश्चात्य ढंग को अपनाया, परन्तु यह पूरा भारतीय बना रहा। इस समय भी समाजसुधार और शिक्षा के लिए आर्य्य-समाज बहुत कुछ कर रहा है। इसके प्रचारक उपनिवेशों तक में पहुँच गये हैं।

थियोसोफिकल सोसायटी—

जिस साल भारतवर्ष में आर्य्यसमाज स्थापित हुआ, उसी साल अमरीका के

रामकृष्ण मिशन—बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उच्च विचारों का उस समय के कई एक शिक्षित नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके शिष्य सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दजी सन् १८९३ में अमरीका गये। वहाँ उन्होंने वेदान्त का उपदेश दिया। उनके व्याख्यानों से अमरीका चकित रह गया। इसके बाद वे इंग्लैंड गये। इस तरह वेदान्त की ध्वनि पाश्चात्य संसार में भी पहुँच गई। स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के नाम से सेवाश्रम स्थापित किये। भेद-भावों को भूलकर सबकी सेवा करना इनका मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द को अपने देश का हर समय ध्यान रहता था। उनके उपदेशों से नवयुवकों में समाजसेवा और स्वदेशभक्ति के भाव उत्पन्न होने लगे।



स्वामी विवेकानन्द

राष्ट्रीयता का भाव—मुगल तथा मराठा साम्राज्यों के पतन और विदेशियों के आगमन से समाज की जो दुर्दशा हो गई थी, उसके विरुद्ध सबसे पहले राजा राममोहन राय ने आवाज उठाई। परन्तु ब्रह्मसमाज पर पाश्चात्य विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा, केशवचन्द्र के समय से तो उसके एक भाग का रूप ही बदल गया। आर्य्यसमाज ने इसको रोकने की चेष्टा की और भारतवासियों का ध्यान उनकी प्राचीन सभ्यता की ओर आकर्षित किया। थियासोफी ने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर देकर संकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया। स्वामी विवेकानन्द ने सब भेद-भावों को हटाकर भारतवर्ष

के आध्यात्मिक विचारों की उच्चता को सिद्ध कर दिया और देश के सामने समाजसेवा का आदर्श रखा। इस तरह भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के भावों का उदय हुआ।^१

इंडियन नेशनल कांग्रेस—इन विचारों का राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ रहा था। अपने पूर्व गौरव का पता लगने पर राजनैतिक पराधीनता खटक रही थी। पाश्चात्य राष्ट्रों के इतिहास के अध्ययन से आँखें खुल रही थीं। समाचारपत्रों की संख्या बढ़ रही थी और उनसे धीरे-धीरे लोकमत जाग्रत हो रहा था। कुछ उदार-हृदय अँगरेज भी भारतवासियों को उत्साहित कर रहे थे। जब से भारत का अँगरेजों से सम्बन्ध हुआ था, तभी से बराबर कुछ अँगरेज ऐसे अवश्य रहे हैं, जिन्हें अपने देश के साथ साथ भारतवर्ष के हित का भी ध्यान रहा है। फ्रांसिस, बर्क, मालकम, मनरो, हेनरी लॉरेंस ऐसे लोगों का स्थान स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है। इन दिनों जान ब्राइट भारत-सरकार की तीव्र शब्दों में आलोचना कर रहा था। भारतवर्ष का बराबर पक्ष लेने के कारण पार्लियामेंट में हेनरी फासट, 'भारतीय सदस्य' के नाम से प्रसिद्ध था। इलवर्ट बिल के झगड़े से चार्ल्स ब्रैडला भी भारतीय प्रश्नों में बड़ी दिलचस्पी ले रहा था। भारतवर्ष में भी कुछ अँगरेज अफसर भारतवासियों की सहायता करने के लिए चिन्तित थे। सिपाही-विद्रोह के समय से इटावा के कलेक्टर ह्यूम साहब बड़े लोकप्रिय हो गये थे। बंगाल में सर हेनरी काटन और बम्बई में सर विलियम वेडरबर्न अपने उदार विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। कई एक सुशिक्षित भारतवासी देश की तत्कालीन स्थिति का अनुभव कर रहे थे। इनमें बम्बई के दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे तथा काशी-नाथ त्र्यम्बक तैलंग, बंगाल के बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा आनन्दमोहन बोस, बिहार के दरभंगामहाराज लक्ष्मीश्वरसिंह, मद्रास के माननीय सुब्रह्मण्य

अय्यर, पश्चिमोत्तर प्रान्त के पंडित अयोध्यानाथ तथा पंडित मदनमोहन मालवीय और पंजाब के सरदार दयालसिंह मुख्य थे।

कलकत्ता में 'ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन,' बम्बई में 'सार्वजनिक सभा,' मदरास में 'महाजनसभा,' लाहोर में 'अंजुमन' तथा अन्य प्रान्तों में भी

कई एक ऐसी ही संस्थाएँ थीं, जो राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करती थीं।

परन्तु इस समय तक सारे देश के लिए कोई ऐसी संस्था न थी। लार्ड लिटन के दिल्ली दरबार के समय से, जब ये सब नेता एकत्र हुए थे, इस अभाव को दूर करने के प्रश्न पर विचार हो रहा था।

सन् १८८५ में मिस्टर ए० ओ० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न और श्री दादा-भाई नौरोजी के उद्योग से 'इंडियन नेशनल कांग्रेस'

स्थापित की गई। ह्यूम

साहब का विचार इसको एक सामाजिक संस्था ही बनाने को था, पर लार्ड डफरिन की राय से इसको राजनैतिक स्वरूप दिया गया। बम्बई में इसका पहला अधिवेशन हुआ, जिसके कलकत्ता के श्री उमेशचन्द्र बनर्जी सभापति बनाये गये। इसमें एक 'रायल कमीशन' द्वारा भारतवर्ष के शासन की जाँच कराने, इंडिया कौंसिल लेजिस्लेटिव कौंसिलों को निर्वाचित बनाने के लिए प्रस्ताव किये गये। थोड़े ही दिनों में कांग्रेस भारतवर्ष की



दादाभाई नौरोजी

राष्ट्रीय सभा बन गई। कांग्रेस का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के स्वतंत्रता-युद्ध का इतिहास है।

डफरिन की नीति—सन् १८८८ में लार्ड डफरिन इस्तीफा देकर वापस चला गया। भारतवर्ष आने पर उसने इस बात को दिखलाने का प्रयत्न किया था कि वह लार्ड रिपन की नीति का अनुकरण करना चाहता है। अन्त तक वह यही कहता भी रहा, पर दोनों की नीति में बड़ा अन्तर था। लार्ड रिपन की नीति से असन्तुष्ट अँगरेजों को सन्तुष्ट करने का उमे सत्र से अधिक ध्यान था। शासन में शिक्षित भारतवासियों के सहयोग की आवश्यकता को वह समझता था और उसने कौंसिलों के सुधार के लिए भारतसचिव को लिखा भी था, पर कांग्रेस की नीति और उसके कार्यक्रम को वह पसन्द न करता था। कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने की सलाह देने में उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि सरकार को उसके द्वारा देश की जनता के मन का पता लगता रहे। उसकी राय थी कि थोड़ा-बहुत सुधार करके दस पन्द्रह वर्ष के लिए “सार्वजनिक सभाओं और उत्तेजित करनेवाली वक्तृताओं को बन्द कर देना चाहिए।” वह भारतवर्ष को प्रतिनिधि-शासन के योग्य न समझता था। उसका मत था कि, “इंग्लैंड को अपना शासनाधिकार कभी न छोड़ना चाहिए।”^१

लार्ड लैंसडौन—सन् १८८८ में लार्ड लैंसडौन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह भी कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और कुछ दिनों तक भारतवर्ष का उपसचिव भी रहा था। वाइसराय पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, परन्तु लैंसडौन भारतवर्ष में ६ वर्ष के लगभग रहा।

सीमाओं की रक्षा—अफगानिस्तान और भारतवर्ष की सीमाओं के बीच २५००० वर्ग मील के लगभग पहाड़ी भूमि है। इसके दक्षिण में ब्रिटेन-चिस्तान और उत्तर में चितराल है। इन्हीं पहाड़ियों में से अफगानिस्तान

आने-जाने के मार्ग हैं। यहाँ के निवासी नाममात्र के लिए अमीर की अर्धनता स्वीकार करते थे, पर वास्तव में वे स्वतंत्र थे। ये लोग भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर बराबर लूट-पाट किया करते थे। इनके सम्बन्ध में भारत-सरकार की क्या नीति होनी चाहिए, यह कुछ निश्चित न था। एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' के पक्ष में था। उसका कहना था कि रेलें चलाकर और चौकियाँ कायम करके अफगानिस्तान की सीमा तक पहुँच जाना चाहिए। इसके प्रतिकूल दूसरा दल था, जो सिन्ध नदी की सीमा से ही सन्तुष्ट रहना चाहता था। इसका कहना था कि इन पहाड़ी जातियों को दबाये रखने में बड़ा खर्च पड़ता है और अफगानिस्तान के अमीर को भी भारत-सरकार की नीयत पर सन्देह होता है।

लॉर्ड लैसडौन के समय में 'आगे बढ़ने की नीति' के अनुसार गिलगिट पर अधिकार जमाने का प्रयत्न हो रहा था। उसके व्यवहार से भी अमीर अब्दुर्रहमान चिढ़ा हुआ था। वाइसराय के "आदेशपूर्ण" पत्रों को, जिनमें शासनप्रबन्ध ठीक करने के लिए उसको लिखा जाता था, वह पसन्द न करता था। सन् १८९२ में एक अँगरेज दूत चितराल भेजा गया। इससे अमीर का सन्देह और भी बढ़ गया। परन्तु सर हेनरी मार्टिन्जर डुरांड की चतुरता से अमीर का भ्रम दूर हो गया और अँगरेजों के साथ मित्रता का सम्बन्ध हो गया। डुरांड अपने साथ किसी संरक्षक को भी नहीं ले गया, जिसमें अफगानिस्तान-निवासियों को किसी प्रकार का सन्देह न हो। इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। सीमा के बहुत से झगड़े तय हो गये और अमीर को जो सालाना रकम दी जाती थी, वह बढ़ा दी गई। कुछ भूमि भी अमीर को दी गई, जिसके बदले में उसने सीमा पर बसनेवाले अफ्रीदी, वजीरी तथा अन्य जातियों के झगड़ों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। अमीर इंग्लैंड की नीति को खूब समझता था। उसका कहना था कि मित्रता दिखलते हुए भी इंग्लैंड अपने मतलब से कभी नहीं चूकता। जो कुछ रुस ने लिया है, उससे भी अधिक इस मित्र ने लिया है।

काश्मीर—महाराजा गुलाबसिंह के लड़के महाराजा रणवीरसिंह को इस बात का बराबर भय था कि किसी दिन काश्मीर अँगरेजी राज्य में अवश्य

मिला लिया जायगा। वह कहा करता था कि उसके एक ओर रूस, दूसरी ओर अफ़ग़ानिस्तान और तीसरी ओर अँगरेज हैं। इनके बीच मैं पड़कर उसका राज्य अवश्य पिसेगा। लार्ड रिपन ने लिखा ही था कि लार्ड लिटन इस चाँद को अँगरेजी राज्य में मिलाने का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु रणवीरसिंह के समय में अँगरेजों की दाल न गल सकी। सन् १८८५ में उसके मरने पर प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। उसमें उतनी योग्यता और दृढ़ता न थी। उसके गद्दी पर बैठते ही पहला काम यह किया गया कि काश्मीर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया। गुलाबसिंह के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें रेजीडेंट रखने की कोई बात भी न थी। महाराजा प्रतापसिंह ने इसका विरोध भी किया, पर उसकी कुछ भी न सुनी गई। रेजीडेंट प्लाउडन ने शासन की हर एक बात में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सन् १८८८ में लार्ड डफरिन ने उसको दूसरी जगह बदल दिया।

पर तब भी महाराजा प्रतापसिंह को चैन नहीं लेने दिया गया। सन् १८८९ में उस पर अँगरेजों के विरुद्ध रूस से पत्र-व्यवहार करने, प्रजा पर अत्याचार करने तथा भोगविलास में राज्य का खजाना उड़ा देने के अपराध लगाये गये और उससे एक पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिये गये, जिसके अनुसार उसने कुल शासन कुछ सरदार तथा अँगरेज अफसरों की एक कौंसिल को सौंप दिया। उस पर जो अपराध लगाये गये, उनकी कभी जाँच नहीं की गई। महाराजा प्रतापसिंह का कहना था कि उसने रूस से कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया था, शासन में भी वह बहुत से सुधार करना चाहता था, परन्तु रेजीडेंट के हस्तक्षेप के कारण कुछ न हो सका। उसके शासन से प्रजा को कोई शिकायत न थी, न उसके अत्याचार ही का कोई प्रमाण बतलाया गया। शिकायत करना तो दूर रहा, जम्मू के डोममें का कहना था कि अँगरेज रेजीडेंट की आज्ञा पर चलनेवाली कौंसिल के इनामों से अपने राजा द्वारा लूटा जाना कहीं अच्छा है। मिस्टर विनगेट ने भी, जिसकी राय से भारत-सरकार ने अपना मत स्थिर किया था, माना है कि महाराजा दरिद्रों पर सदा दया करता था, जमीन के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेता था और अफसरों के

अत्याचारों से काश्तकारों की रक्षा करता था। सन् १८८८ में स्वयं लार्ड डफरिन ने लिखा था कि “सुधार के सम्बन्ध में बहुत कुछ उन्नति की गई है।” ऐसे दशा में प्रजा पर अत्याचार का अपराध सिद्ध नहीं होता। खजाने से अपने खर्च के लिए वह एक बैंकी रकम लेता था। उसका बहुत सा रुपया काश्मीर की सैर करनेवाले अँगरेज अफसरों की खातिरदारी में उड़ता था।

काश्मीर पर अँगरेजों की जैसी कुछ दृष्टि थी, सो तो थी ही, परन्तु इस समय मुख्य बात यह थी कि उन्हें गिलगिट पर अधिकार करने की आवश्यकता थी। यह काश्मीर के अधीन था। उन दिनों मध्य एशिया में यह एक सैनिक महत्व का स्थान था। सन् १८९० में चार्ल्स ब्रैडल ने काश्मीर के मामले की जाँच कराने के लिए पार्लामेंट में प्रयत्न किया पर कोई फल नहीं हुआ। सन् १९०५ में न जाने क्या सोचकर महाराजा प्रतापसिंह को फिर शासनाधिकार दिये गये।^१

मनीपुर—सन् १८९१ में आसाम की सीमा पर कचार के पूर्व, मनीपुर की रियासत में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। भारत-सरकार ने वहाँ के सेनापति को निकाल दिया। इस पर उसने बगावत कर दी और कुछ अफसरों को धोखे से मार डाला। अन्त में वह और उसके साथी पकड़े गये और उन्हें फाँसी का दंड दिया गया। मनीपुर अँगरेजी राज्य में नहीं मिलाया गया। गद्दी पर एक लड़का बिठला दिया गया। अँगरेज अफसर उसी के नाम से शासन करते रहे। सन् १९०७ में उसको पूरे अधिकार दे दिये गये।

सिक्का—भारतवर्ष में बहुत दिनों से चाँदी का सिक्का काम में लाया जाता है और इंग्लैंड में सोने का सिक्का चलता है। भारतवर्ष को बहुत सा रुपया इंग्लैंड भेजना पड़ता है, परन्तु वहाँ चाँदी का सिक्का न होने के कारण यह रुपया सोने के सिक्कों में देना पड़ता है। पहले एक रुपया पौंड का आठवाँ हिस्सा, यानी २ शिलिंग ६ पेंस के बराबर माना जाता था। सन् १८७० से यह पौंड का दसवाँ हिस्सा अर्थात् २ शिलिंग के बराबर माना

जाने लगा। इधर कई कारणों से चाँदी बहुत सस्ती हो गई, जिसका फल यह हुआ कि सन् १८९२ में रुपये का भाव घट कर १ शिलिंग १ पेंस ही रह गया। इसका भारत की आर्थिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसको अब पहले से बहुत अधिक रुपया देना पड़ने लग गया। इस कमी को पूरा करने के लिए भारत-सरकार ने फिर से इन्कम टैक्स लगा दिया और नमक कर बढ़ा दिया। जब इतने से भी पूरा न पड़ा, तब रुपये का मूल्य १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित कर दिया गया, सरकारी खजानों में 'सावरेन' भी लिये जाने लगे और धागे चलकर भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलाने की दृष्टि से टकसालों में अधिक रुपया ढालना बन्द कर दिया गया।

कौंसिलों का सुधार—लार्ड डफरिन के समय से कौंसिलों के सुधार पर विचार हो रहा था। उसकी बहुत सी बातें मान ली गईं और सन् १८९२ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया, जिसके अनुसार भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। म्युनिसिपलिटियों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और यूनिवर्सिटियों को लेजिस्लेटिव कौंसिलों में अपने प्रतिनिधियों के भेजने का अधिकार दिया गया। इस तरह प्रतिनिधियों के चुनने के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया गया। पर उस समय तक कौंसिलों में सरकारी मेम्बरों की ही अधिकता रखी गई। 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' में मेम्बरों को प्रश्न पूछने और सालाना बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया। शिक्षित समाज इन सुधारों से सन्तुष्ट न हुआ। कांग्रेस का मत था कि इनसे "कौंसिलों में भेजने के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार जनता को न मिला।" इसलिए उसने इसको स्वीकार करते हुए आन्दोलन जारी रखना निश्चित किया।

पब्लिक सर्विसेज कमीशन—सरकारी नौकरियों की जाँच करने के लिए सन् १८८७ में एक कमीशन नियुक्त किया गया था। सन् १८९१ में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसने नौकरियों की भारतीय, प्रान्तीय और मातहतती ये तीन श्रेणियाँ बनाई और यह निश्चित किया कि इंग्लैंड में सिविल सर्विस परीक्षा पास करनेवालों को केवल भारतीय श्रेणी की नौकरियाँ दी जाय।

करें और बाकी दो श्रेणियों में यथासम्भव हिन्दुस्तानी रखे जाया करें। भारत सरकार ने इन सिफारिशों को भी पूरे तौर पर नहीं माना। इस पर कांग्रेस ने बड़ा असन्तोष प्रकट किया और इस सम्बन्ध में श्री दादाभाई नौरोजी द्वारा, जो पार्लामेंट के मेम्बर चुन लिये गये थे, एक प्रार्थनापत्र भेजना निश्चित किया। सन् १८९३ में पार्लामेंट ने सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष में भी करने की इच्छा प्रकट की। मद्रास को छोड़कर सभी प्रान्तीय सरकारों ने इसका बड़ा विरोध किया। इसलिए कोई कानून पास न किया गया और पार्लामेंट का प्रस्ताव यों ही रह गया।

दूसरा लार्ड एलगिन—सन् १८९४ में लार्ड एलगिन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड एलगिन का, जो सन् १८६२-६३ में गवर्नर-जनरल रह चुका था, लड़का था। यह किसी बड़े ओहदे पर नहीं रहा था और न इसको शासन का ही अधिक अनुभव था। इसमें कोई विशेष योग्यता भी नहीं थी और यह भारतवर्ष में रहनेवाले अफसरों के कहने ही पर अधिकतर चलता था।

चितराल और तीराह—हिन्दूकुश के दक्षिण में चितराल एक छोटी सी रियासत है। सन् १८९५ में यहाँ की गद्दी के लिए झगड़ा हुआ और विद्रोहियों ने अँगरेजी चौकी को घेर लिया। इस पर अँगरेजी सेना ने बढ़कर चितराल पर अधिकार कर लिया। लार्ड एलगिन चितराल को छोड़ना न चाहता था। इंग्लैंड की लिबरल सरकार की राय थी कि वहाँ से सेना वापस बुला लेनी चाहिए। इस पर लिखा-पढ़ी हो ही रही थी कि इतने में इंग्लैंड की सरकार बदल गई और नई सरकार ने एलगिन की बात मानकर चितराल से अँगरेजी राज्य तक सड़क बनाने और उस पर चौकियाँ स्थापित करने की आज्ञा दे दी। मालें और एस्क्विथ की राय में चितरालियों के साथ यह विश्वासघात किया गया। इसके उत्तर में भारतसचिव का कहना था कि चितराली युद्ध करने पर उद्यत थे, ऐसी दशा में चितराल पर सैनिक अधिकार रखना आवश्यक था।

चित्तराल के मामले का सरहद्दी जातियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें अँगरेजों की नीति पर सन्देह होने लगा। सड़कें बनाना और चौकियों को कायम करना उन्हें पसन्द न आया। इसके अतिरिक्त इन दिनों तुर्की के सुल्तान का, जिनको सब मुसलमान अपना 'खलीफा' मानते थे, बराबर अपमान करने के कारण ईसाइयों से मुसलमान चिढ़े हुए थे और मुल्ता लोग सरहद्दी अफगानों को 'जिहाद' का उपदेश दे रहे थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि सन् १८९७ में कई एक सरहद्दी जातियाँ भिगड़ पड़ीं। स्वात निवासियों ने अँगरेजी चौकियों पर धावा कर दिया, काबुल नदी के उत्तर में रहनेवाले महमन्द लोगों ने पेशावर तक लूटमार मचा दी। अफ्रीदियों ने सिख क्षिपाहियों को मार डाला और खैबर के दर्रे को रोक दिया। इस उपद्रव को शान्त करने के लिए दो सेनाएँ भेजी गईं। एक ने महमन्द लोगों को हराया और दूसरी ने पेशावर के दक्षिण-पश्चिम तीराह की घाटी में अफ्रीदियों को दबाया। इसमें अँगरेजों को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। अफ्रीदी बड़ी वीरता से लड़े। सन् १८८९ में उन्होंने हार मान ली। इस युद्ध में भारत-सरकार को देशी राज्यों की 'साम्राज्य-सेवा सेना' से बड़ी सहायता मिली।

रूस से सन्धि हो जाने के कारण पामीर के पर्वतों में दोनों साम्राज्यों की सीमाएँ निश्चित हो गईं। अफगानिस्तान की सीमा भी निर्धारित हो गई और पूर्व में बर्मा तथा चीन के बीच की सीमा भी तय हो गई। इस तरह लार्ड एलगिन के समय में सीमाओं का प्रश्न कुछ काल के लिए हल हो गया।

प्लेग और अकाल—भारतवर्ष में पहले भी प्लेग हो चुका था। जहाँगीर बादशाह ने अपनी 'तुजक जहाँगीरी' में इस 'व्या' का उल्लेख किया है और लिखा है कि यह रोग चूहों से फैलता है। सन् १८९६ में बम्बई शहर में यह रोग बड़े जोरों से फैल गया। कहा जाता है कि यह चीन से आया था। शहर से लगभग चार लाख मनुष्य भाग निकले। यह रोग अन्य स्थानों में न फैलने पावे, इसके लिए बड़ा प्रयत्न किया गया। मकानों की सफाई और रोगियों को अलग रखने के लिए बड़े कड़े नियम बनाये गये और जनता की आराम-तकलीफ तथा उसके भावों का ध्यान न रखकर इनसे काम

लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में बड़ा असन्तोष फैल गया और पूना में दो अँगरेज अफसर मार डाले गये। इस पर सरकार ने नाट्य भाइयों को, बिना अभियोग चलाये हुए, निर्वासित कर दिया और अपने पत्र 'केसरी' में तीव्र लेख लिखने के कारण श्री बाल गंगाधर तिलक को जेल भेज दिया। अशिक्षित जनता को यह भ्रम हो गया था कि प्लेग के कीड़ों को सरकार फैलाती है। सन् १८९८ में सरकार को भी अपनी भूल का पता लग गया। उसने अधिक हस्तक्षेप न करना ही उचित समझा और नियमों को बहुत कुछ बदल दिया। धीरे-धीरे प्लेग सभी प्रान्तों में फैल गया और सन् १९०३ के अन्त तक इसमें २० लाख आदमी मर गये। अब प्लेग का उतना प्रकोप नहीं, पर तब भी हरसाल हजारों आदमी इसके कलेवा बन जाते हैं।

इसी समय पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में बड़ा भीषण अकाल पड़ा। पश्चिमोत्तर प्रान्त में अकालपीडित मनुष्यों के लिए लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडोनेल ने सराहनीय प्रयत्न किया। सन् १८९८ में अकाल से बचने के साधन बतलाने के लिए फिर एक कमीशन नियुक्त किया गया। अकालों के सम्बन्ध में कांग्रेस का मत था कि भारतवर्ष का बहुत सा धन हर साल विलायत चला जाता है। अँगरेज अफसरों को बड़ी बड़ी तनख्वाहें देने और सेना रखने में खूब रुपया उड़ाया जाता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि जनता बराबर दगिद्र होती जाती है। यही कारण है कि दुर्भिक्ष के समय में कष्ट इतना अधिक बढ़ जाता है। इसको निवारण करने के लिए खर्च घटाना चाहिए, रुपया जोड़ना चाहिए और देशी कलाओं को, जो नष्ट कर दी गई हैं, फिर से जाग्रत करना चाहिए।^१

कपड़े पर चुंगी—सिक्के के झगड़े के कारण, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, भारत-सरकार को जिस साल लार्ड एलगिन आया बड़ा घाटा उठाना पड़ा। इसको पूरा करने के लिए सूती कपड़े को छोड़कर बाहर से आनेवाले माल पर पाँच सैकड़ा फिर चुंगी लगा दी गई। साल के अन्त

में यह चुंगी कपड़े पर भी ली जाने लगी। इस पर मैचेस्टर और लंका-शायर के कपड़े के व्यापारियों ने बड़ा शोर-गुल मचाया। तब भारत-सरकार ने उनको शान्त करने के लिए भारत के कारखानों में बने हुए कपड़े पर भी उतनी ही चुंगी लगा दी। सरकार की यह बड़ी जबरदस्ती थी। इसके विरुद्ध भारत में भी आन्दोलन होने लगा। सन् १८९६ में देशी और विलायती दोनों कपड़ों पर चुंगी घटाकर साढ़े तीन सैकड़ा कर दी गई। मैचेस्टर के लाभ के लिए देशी माल पर चुंगी लगाने का भारतवर्ष बराबर विरोध करता रहा।

अफीम का व्यापार—अफीम पर सरकार का ठेका था। इसका बहुत सा भाग चीन जाता था। सन् १८४२ में अफीम के ही कारण चीन से युद्ध हो गया था। इस व्यापार से सरकार का बड़ा लाभ होता था। कुछ लोगों के मत में अफीम ऐसी हानिकारक वस्तु के प्रचार से लाभ उठाना सरकार के लिए उचित नहीं था। इसकी जाँच करने के लिए सन् १८९३ में एक कमीशन नियुक्त हुआ। इसकी राय थी कि अफीम से कोई विशेष हानि नहीं होती, इसलिए आमदनी के खयाल से भारत सरकार को यह व्यापार नहीं छोड़ना चाहिए। इस तरह चीन का पीछा नहीं छोड़ा गया। बहुत झगड़ों के बाद यह तय हुआ कि सन् १९०८ से चीन में अफीम का भेजना धीरे-धीरे कम कर दिया जाय।

सैनिक प्रबन्ध—इस समय तक बंगाल, बम्बई और मद्रास की सेनाएँ अलग अलग रहती थीं और उनके सेनापति भी अलग अलग होते थे। परन्तु सन् १८७९ से इन तीनों सेनाओं को मिलाकर एक सेनापति रखने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। सन् १८९५ में यह प्रबन्ध स्वीकार कर लिया गया और भारत की कुल सेना का एक सेनापति बना दिया गया। इस सुधार से सेना का प्रान्तीय भेद जाता रहा और उसमें एकता के भाव का संचार हुआ।

लार्ड कर्जन—सन् १८९९ में लार्ड कर्जन वाइसराय बनाया गया। भारतवर्ष के वाइसराय बनने की बचपन से ही इसको बड़ी आकांक्षा थी।

इस पद पर नियुक्त होने के पहले वह चार बार भारतवर्ष आ चुका था और एशिया के प्रायः सभी देशों का भ्रमण कर चुका था। फारस के शाह, अफगानिस्तान के अमीर, कोरिया तथा श्याम के बादशाहों से उसका परिचय था और पूर्वीय राजनीति का उसको अच्छा ज्ञान था। इस सम्बन्ध में उसने तीन पुस्तकें भी लिखी थीं। इन दिनों पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न फिर जटिल हो रहा था। ऐसी दशा में उस विषय के एक पूर्ण ज्ञाता का वाइसराय के पद पर नियुक्त किया जाना आवश्यक समझा जाता था। इस समय लार्ड कर्जन की अवस्था ४० वर्ष की भी न थी, पर तब भी उसकी योग्यता का परिचय सारे देश को मिल चुका था। भाषण



लार्ड कर्जन

की उसमें विचित्र शक्ति थी, कल्पना की उसमें कमी न थी। हर एक बात उसकी समझ में शीघ्र ही आ जाती थी। उसका प्रबन्ध ऐसा होता था कि कोई कसर न रह जाती थी। वह बड़ा परिश्रमी था, उसके नीचे काम करनेवालों को उसका साथ देना मुश्किल हो जाता था। अपने आगे वह किसी की भी न सुनता था। ब्रिटिश साम्राज्य का उसको बड़ा अभिमान था। भारतवर्ष ऐसे विशाल देश पर वह शासन करने आया है, इसका उसे बराबर ध्यान रहता था।

भारतवर्ष की राजनीति से भी वह अनभिज्ञ न था। दो वर्ष तक वह उपसचिव के पद पर काम कर चुका था। सन् १८९२ का 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पार्लामेंट की कामंस सभा में उसी ने पेश किया था। भारतवर्ष को वह "ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र" समझता था। इंग्लैंड से चलते समय उसने कहा था कि वाइसराय के पद को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ; क्योंकि मैं भारतवर्ष, उसके निवासी, उसके इतिहास, उसके शासन, उसके जीवन तथा उसकी सभ्यता के मनोग्राही रहस्यों से प्रेम करता हूँ।^१ लार्ड कर्जन के इन शब्दों से भारतवासियों को भी उससे बहुत कुछ आशा हो रही थी और चौदहवीं कांग्रेस ने, सहानुभूतिसूचक शब्दों के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए, उसके स्वागत का प्रस्ताव पास किया था।

अकाल—भारतवासियों के लिए लार्ड कर्जन के शासन का प्रारम्भ अकाल से हुआ। सन् १९०० में फिर बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। इस बार गुजरात में इसका बड़ा प्रकोप रहा। सन् १९०१ में सर ऐंटनी मैकडानेल की अध्यक्षता में फिर एक कमिशन नियुक्त किया गया, पर कांग्रेस के बताये हुए उपायों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। कांग्रेस का कहना था कि जहाँ तक सम्भव हो देश भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त कर देना चाहिए, लगान घटा देना चाहिए, अँगरेज अफसरों के वेतन में हर साल करोड़ों रुपया विलायत जाता है, उसको कम करने के लिए हिन्दुस्तानियों को बड़े बड़े ओहदे देना चाहिए और देशी कारखानों की रक्षा तथा कलाओं को उत्साह प्रदान करना चाहिए।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त—लार्ड कर्जन 'आगे बढ़ने की नीति' का अनुयायी था। इंग्लैंड में बहुतों को सन्देह था कि उसके समय में सीमा पर लड़ाई छिड़ेगी और रूस से भी बैर होगा। परन्तु उसने ऐसी नीति से काम लिया कि सन् १९०१ में महसूदी वजीरियों को दबाने के लिए एक छोटी सी लड़ाई के सिवा, दस वर्ष तक सीमा पर शान्ति रही। लार्ड

एलगिन के समय में दस बारह हजार सेना भिन्न भिन्न स्थानों में रख दी गई थी। लार्ड कर्जन ने इसमें की बहुतांसी सेना को वापस बुला लिया और अंगरेज अफसरों की अध्यक्षता में वहीं के निवासियों को अस्त्र-शस्त्र देकर रक्षा का भार सौंप दिया। इस समय तक सीमा पर के जिलों का शासन पंजाब-सरकार के हाथ में था। सन् १९०१ में इनका 'पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त' के नाम से एक अलग प्रान्त बना दिया गया। नाम में कोई गड़बड़ न हो इसलिए 'पश्चिमोत्तर प्रान्त' का नाम 'संयुक्त प्रान्त आगरा और अवध' रख दिया गया।

अफगानिस्तान—सन् १९०१ में अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई। लार्ड कर्जन के साथ उसका पहले से परिचय था और वह कर्जन की नीति से सन्तुष्ट था। यद्यपि अंगरेजों की नीति पर उसे अधिक विश्वास नहीं था, पर तब भी अपने हित के लिए वह उनकी मित्रता आवश्यक समझता था। उसका लड़का अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। उसके साथ भी अंगरेज नई सन्धि करना चाहते थे, पर उसने इसको स्वीकार न किया। उसकी राय में पिछली सन्धि अफगानिस्तान राज्य के साथ हुई थी। वह अमीर अब्दुर्रहमान के साथ व्यक्तिगत सन्धि न थी। ऐसी दशा में उसके बदलने की कोई आवश्यकता न थी। इस पर दो तीन वर्ष तक दोनों सरकारों में कोई सम्बन्ध न रहा और अमीर हबीबुल्ला ने, भारत-सरकार से जो सालाना रुपया मिलता था, वह भी न लिया। सन् १९०४ में एक अंगरेज दूत फिर अफगानिस्तान भेजा गया, नई सन्धि पर जोर देना छोड़ दिया गया और हबीबुल्ला की 'शाह' की उपाधि मान ली गई। इस पर दोनों राज्यों में फिर मित्रता स्थापित हो गई और हबीबुल्ला ने भारत-सरकार से जो रुपया बाकी था ले लिया।

फारस की खाड़ी—सत्रहवीं शताब्दी में अंगरेजों ने फारस की खाड़ी को व्यापार के लिए सुरक्षित बनाया था। सन् १८५३ में अन्य राज्य के जहाज भी यहाँ से आने-जाने लगे थे, पर अंगरेज इसके तटों पर किसी राज्य का अधिकार पसन्द न करते थे। यह बात इन राज्यों को खटकती थी और धीरे-धीरे फ्रांस, रूस, जर्मनी और तुर्की इसके तटों पर जहाजों के स्टेशन बनाकर अपना अधिकार

जमाना चाहते थे। इस पर सन् १९०३ में यह स्पष्ट कह दिया गया कि खाड़ी के तट पर किसी अन्य राज्य का किला या स्टेशन बनाना ब्रिटिश हित के विरुद्ध समझा जायगा और उसको रोकने का भरपूर प्रयत्न किया जायगा। उधर फारस में रूस का प्रभाव भी अधिक बढ़ रहा था, इसको भी किसी तरह दबाना था। इसलिए लार्ड कर्जन ने फारस की खाड़ी में स्वयं जाकर वहाँ की रक्षा का प्रबन्ध किया। इस तरह अदन से लेकर बिलेचिस्तान तक सागर के तट पर अँगरेजों के जहाजी बेड़े का पूरा आतंक जम गया।

तिब्बत—हिमालय के उत्तर में तिब्बत का राज्य है। यहाँ के निवासी बौद्ध मत के अनुयायी हैं और शासन महन्तों के हाथ में है, जो 'लामा' कहलाते हैं। पहले यह राज्य चीन के अधीन था। सन् १७७४ में वारेन हेस्टिंग्स ने एक दूत तिब्बत भेजा था और वहाँ अँगरेजी व्यापार जमाने का कुछ प्रयत्न किया था। तब से अँगरेज तिब्बत में घुसने का बराबर प्रयत्न कर रहे थे, पर सफलता न होती थी। सन् १८८७ में सिकिम पर आक्रमण करने के कारण तिब्बतवालों की अँगरेजों से लड़ाई भी हो गई थी, जिसमें तिब्बत, वालों को पीछे हटना पड़ा था। सन् १८९० में इंग्लैंड और चीन की जो सन्धि हुई थी, उसमें तिब्बत और सिकिम की सीमाएँ निश्चित कर दी गई थीं, पर तब भी थोड़ा बहुत सरहद्दी झगड़ा चलता रहता था।

सन् १९०१ के लगभग तिब्बत का रूस के साथ सम्बन्ध अधिक बढ़ रहा था और सन्धि होने की बातचीत हो रही थी। भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर रूस का यह बढ़ता प्रभाव लार्ड कर्जन सहन न कर सका और उसने एक दूत तिब्बत भेजना निश्चित किया। इंग्लैंड-सरकार की राय में इसकी कोई आवश्यकता न थी; क्योंकि यह मामला चीन और रूस के बीच तय हो सकता था। परन्तु लार्ड कर्जन के बहुत दबाव डालने पर उसने इसके लिए आज्ञा दे दी। इस पर सन् १९०३ के अन्त में कर्नल ग्रंगहसबैंड भेजा गया। तिब्बत-सरकार उससे बातचीत करने के लिए राजी थी, पर उसका कहना था कि अँगरेजी दूत का सीमा से आगे बढ़ना ठीक नहीं है। इस बात को न मानने पर जब तिब्बतवालों ने उसको रोकने का प्रयत्न किया, तब सन् १९०४ में

उसकी सहायता के लिए एक सेना भेज दी गई। तिब्बतवाले आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्ज सेना का सामना न कर सके और अँगरेज वहाँ की राजधानी लद्दासा में पहुँच गये। इस पर सन्धि हो गई, जिसके अनुसार ७५ लाख रुपया दंड माँगा गया, जमानत के लिए कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया गया; और अँगरेजों को व्यापारिक सुविधाएँ देने तथा प्रतिनिधि रखने के लिए तिब्बत-सरकार को मजबूर किया गया। उससे यह वचन भी लिया गया कि भविष्य में वह किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध न रखेगी।

इंग्लैंड-सरकार की इच्छा के विरुद्ध यह सन्धि की गई थी। तिब्बत के किसी भाग पर अधिकार न करने का वह रूस को वचन दे चुकी थी। लार्ड कर्जन के विरोध करते रहने पर भी उसने सन्धि की शर्तों को बदल दिया और दंड की रकम को घटाकर २५ लाख कर दिया। तीन वर्ष के बाद अधिकृत प्रदेश को खाली कर देने का वचन दिया और प्रतिनिधि रखने का विचार छोड़ दिया। एक दल का कहना है कि लार्ड कर्जन ने रूस की गुप्त चालों का अन्त कर दिया। इसके प्रतिकूल दूसरे दल का मत है कि एक स्वतंत्र पर निर्भल राज्य को अकारण दबाना अनुचित था। यह बात ठीक है कि सिवा लद्दासा देख आने के इससे अँगरेजों का कोई लाभ नहीं हुआ, तिब्बत पर चीन का अधिकार पक्का हो गया और बैठे-बिठाये भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर एक झगड़ा पैदा हो गया। इस झंझट में भारतवर्ष का खजाना बेकार लुटाया गया। सन् १८५८ में यह कहा गया था कि भारतवर्ष की आमदनी सिवा उस पर आक्रमण रोकने के और किसी दशा में उसको सीमाओं के बाहर न खर्च की जायगी, परन्तु इस समय इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। कांग्रेस ने सरकार की इस नीति का विरोध किया।

बराबर का झगड़ा—सन् १८५३ में विजाम के साथ बराबर के सम्बन्ध में जो सन्धि की गई थी, उसमें यह कहा गया था कि निजाम को कुल हिसाब बराबर समझाया जायगा और जो बचत होगी दी जायगी। बराबर की आमदनी से ७ हजार सेना का खर्च चलाना और ४८ लाख रुपये का कर्ज निपटाना निश्चित किया गया था। शासन का खर्च स्पष्ट नहीं किया

गया था, पर यह कह दिया गया था कि दो लाख रुपया साल से अधिक न होगा। सन् १८५३ तक सेना का खर्च ४० लाख रुपया साल होता था, यह घटाकर २४ लाख कर दिया गया, पर सेना की संख्या में कोई कमी या प्रवन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की गई। यदि यह रकम पहले ही घटा दी गई होती, जिसके करने में किसी प्रकार की बाधा न थी, तो इतने कर्ज की नौबत ही न आती; परन्तु वैसा नहीं किया गया। सन् १८५७ के गदर में अँगरेजों की सहायता करने के बदले में कर्ज माफ कर दिया गया। सेना का खर्च घट जाने से जो बचत हुई, उसका तथा आवकारी का जब निजाम ने पिछला हिसाब माँगा, तब उसके जिम्मे ४४ लाख की दो रकमें और दिखला दी गईं, जिनका इसके पहले कभी जिक्र तक नहीं किया गया था। सन् १८६० में जो नई सन्धि की गई, उसमें से हिसाब समझाने की शर्त ही निकाल दी गई।

शासन का खर्च बढ़ाकर चौगुना कर दिया गया। इस पर सन् १९०२ में इलाहाबाद के अँगरेजी समाचारपत्र 'पायनियर' का लिखना था कि "पहले हमने कर्ज के बदले में जायदाद देने के लिए निजाम पर जोर दिया, बाद को यह कर्ज फर्जी साबित हुआ। २५ सैकड़ा से अधिक शासन में खर्च न करने और सालाना बचत निजाम को देने का हमने वचन दिया। इस पर विश्वास करके निजाम ने हिसाब माँगना छोड़ दिया और हमको शासन की स्वतंत्रता दे दी। हमने इसका (अनुचित) लाभ उठाकर केवल शासन का खर्च ४३ सैकड़ा कर दिया।" यह बात ठीक है कि इस शासन से बरार का भी लाभ हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि खर्च खुले हाथ से किया गया। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन निजाम महबूबअलीख़ाँ से एकान्त में मिला और उससे यह स्वीकार करवा लिया कि २५ लाख रुपया सालाना देने पर अँगरेजों को बरार सदा के लिए दे दिया जाय। इस प्रवन्ध से बेचारे निजाम की ही हानि हुई; क्योंकि सेना टूट जाने से बरार की बचत ५० लाख साल से भी अधिक हो गई।^१

निजाम के वजीर नवाब सर सालारजंग के समय में हैदराबाद की बहुत कुछ उन्नति हुई। मालगुजारी के ढ़ेके उठा दिये गये, पुलिस का प्रबन्ध ठीक किया गया, नई अदालतें स्थापित की गईं, स्कूल तथा कालेज खोले गये और प्रजा की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया गया। हैदराबाद राज्य में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, पर यहाँ कभी पक्षपात से काम नहीं लिया गया। इन दिनों भी वजीर के पद पर हिन्दू राजा था।

दिल्ली दरबार और देशी राज्य—जनवरी सन् १९०१ में, ८२ वर्ष की अवस्था में, महारानी विक्टोरिया का देहान्त हो गया। ६४ वर्ष तक उसने राज्य किया। उसको अपनी भारतीय प्रजा से भी प्रेम था। देश भर में उसके मरने का शोक मनाया गया। उसका लड़का सातवाँ एडवर्ड गद्दी पर बैठा। सन् १९०३ में दिल्ली में भी एक बड़ा भारी दरबार किया गया। भारतवर्ष पिछले दुर्भिक्ष के कष्ट से इस समय तक मुक्त न हो पाया था, पर इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया और लाखों रुपया 'तमाशे' में उड़ाया गया। इस साल की कांग्रेस के सभापति श्री लालमोहन घोष का कहना था कि जितना दरबार में रुपया फूँका गया, यदि उसके आधे से भी अकालपीड़ितों की



सातवें एडवर्ड

सहायता की गई होती, तो लाखों मनुष्यों के प्राण बच गये होते। इस दरबार में देशी नरेशों के सम्मान का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इन पर लार्ड कर्जन की

बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। उसने एक आज्ञा प्रकाशित करवा दी थी कि भारत-सरकार की बिना अनुमति के कोई राजा यूरोप न जाय।^१

कृषि और व्यापार—पंजाब में महाजन लोग अधिक व्याज पर रुपया देकर किसानों की जमीनें छीन लेते थे। उनकी रक्षा के लिए सन् १९०० में यह नियम बना दिया गया कि कर्ज में किसी क्राइतकार की जमीन न छीनी जाय। सन् १९०२ में मालगुजारी के प्रश्न की भी फिर से जाँच की गई। लार्ड कर्जन ने इस बात को दिखलाने की चेष्टा की कि अकालों का कारण मालगुजारी या लगान की अधिकता नहीं है। पर साथ ही साथ उसने यह भी निश्चय किया कि फसल खराब होने पर कुछ माफी देनी चाहिए या कुछ काल तक लगान वसूल न करना चाहिए। किसानों को आर्थिक सहायता देने के लिए 'कोओपरेटिव सोसाइटियों' (सहयोग-समितियों) के खोलने का प्रबन्ध किया गया और खेती की देखभाल करने के लिए 'कृषि-विभाग' स्थापित किया गया। व्यापार की निगरानी करने के लिए वाइसराय की कौंसिल का एक मेम्बर और बढ़ाया गया।

प्राचीन स्मारक-रक्षा—भारतवर्ष में बहुत सी हिन्दूकालीन इमारतें तो नष्ट हो चुकी थीं, मुगल साम्राज्य तथा बड़े बड़े देशी राज्यों का अन्त हो जाने से मध्यकालीन इमारतों की भी वही दशा हो रही थी। फतहपुर सीकरी के विशाल भवनों में भालू और भेड़िये निवास करते थे। संसार की सुन्दर इमारतों के ताज—ताजमहल—की शोचनीय दशा थी। बहुत सी इमारतों को तोड़-फोड़कर सरकारी दफ्तर बना लिये गये थे। लार्ड कैनिंग ने इस ओर अवश्य कुछ ध्यान दिया था, पर इस समय तक भारत-सरकार इनकी रक्षा के लिए अपने को जिम्मेदार न मानती थी। लार्ड कर्जन के समय में इनकी रक्षा तथा मरम्मत करने के लिए एक खास कानून बनाया गया और इसके लिए एक नया विभाग स्थापित किया गया, जो 'आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेंट' कहलता है। इस विभाग ने बड़ी खोज की है और अनेक ऐतिहासिक विषयों

पर नया प्रकाश डाला है। निस्सन्देह प्राचीन सभ्यता के चिह्नों की रक्षा करके लार्ड कर्जन ने भारत का बड़ा उपकार किया।

उच्च शिक्षा—सन् १९०१ में शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन किया गया। इसमें एक भी हिन्दुस्तानी नहीं बुलाया गया। यद्यपि लार्ड कर्जन का कहना था कि “मैं जब से भारतवर्ष आया हूँ, किसी बात का गुप्त रखना मेरी नीति नहीं रही,” पर तब भी इस सम्मेलन की कार्यवाही गुप्त रखी गई। इसके बाद एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसमें भी पहले कोई हिन्दुस्तानी मेम्बर नहीं रखा गया। समाचारपत्रों में बड़ा विरोध होने पर कलकत्ता हाईकोर्ट के जज सर गुरुदास बनर्जी का नाम शामिल कर लिया गया। पाँच ही महीने में इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। इसकी राय थी कि सरकारी सहायता पानेवाले छोटे छोटे कालेजों में शिक्षा ठीक नहीं होती। इन कालेजों में कानून पढ़ाने के दर्जे न रखने चाहिए, इसके लिए एक कालेज अलग खोलना चाहिए। कालेजों में फीस बढ़ा देनी चाहिए, उनके निरीक्षण के लिए इंस्पेक्टर रखने चाहिए और यूनिवर्सिटियों का प्रबन्ध करनेवाले ‘सिनेट’ तथा ‘सिंडिकेट’ का ऐसा संगठन करना चाहिए कि जिसमें उन पर सरकार की पूरी देख-रेख रह सके।

इसी रिपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ में ‘यूनिवर्सिटीज ऐक्ट’ पास किया गया। कमीशन का उद्देश्य “शिक्षा का सुधार” बतलाया गया था, पर वास्तव में जैसा कि कमीशन ने स्वयं स्वीकार किया था, इसने यूनिवर्सिटियों पर सरकार का अधिकार बढ़ा दिया और उच्च शिक्षा के क्षेत्र को संकुचित बना दिया। उच्च शिक्षा से जिस लोकमत की जागृति हो रही थी, वह लार्ड कर्जन को पसन्द न था। उसका कहना था कि इससे हिन्दुस्तानी पाश्चात्य सभ्यता के कोरे कोरे शब्द सीख जाते हैं, पर उनके भाव नहीं समझते। सार्वजनिक आन्दोलनों में सबसे अधिक भाग लेने के कारण वकील सरकार की आँखों में खटक रहे थे। इसी लिए कानून पढ़ाने की सुविधाओं को हटा कर उनकी संख्या कम करने का प्रयत्न किया गया। सर गुरुदास बनर्जी ने कमीशन की सिफारिशों से अपना मतभेद प्रकट किया। कांग्रेस की राय थी कि “इस

नये कानून से यूनिवर्सिटियों की स्वतंत्रता नष्ट हो गई और वे सरकार का एक विभाग बन गई।”

वंग-विच्छेद—शासन की दृष्टि से उस समय का बंगाल प्रान्त एक लेफ्टिनेंट-गवर्नर के लिए बहुत बड़ा था। सारे प्रान्त पर पूरा निरीक्षण न हो पाता था। इसी लिए कुछ दिनों से उसके दो टुकड़े करने का विचार किया जा रहा था। पहले यह सोचा गया कि पूर्वीय बंगाल अर्थात् चटगाँव, ढाका तथा मैमनसिंह के जिले आसाम में मिला दिये जायें। बाद को लार्ड कर्जन ने गुप्त रीति से यह निश्चित किया कि उत्तरी बंगाल के कुछ जिले भी इसी के साथ मिला दिये जायें। ये सब जिले बंगाल के अंग थे। उनकी भाषा, सभ्यता और संस्कृति एक थी, इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। सन्



१९०५ में 'आसाम और पूर्वीय बंगाल' का एक नया प्रान्त बना दिया गया और उसके शासन के लिए एक लेफ्टिनेंट-गवर्नर रख दिया गया। ढाका उस प्रान्त की राजधानी बनाया गया।

स्वदेशी और बायकाट—इसके विरुद्ध बंगाल में घोर आन्दोलन मच गया। बाबू सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी, जिन्होंने अपना सर्वस्व देशसेवा के लिए अर्पण कर दिया था, इसके मुख्य नेता हुए। पहले सरकार से प्रार्थना की गई,

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर जब कोई सुनवाई नहीं हुई, तब अँगरेजों पर जीर डालने के लिए

स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और विलायती वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा की गई। इसमें देश के प्रायः सभी प्रान्तों ने बंगाल का साथ दिया। सर्वत्र स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का प्रबन्ध होने लगा और आन्दोलन में एक नया जीवन आ गया। कांग्रेस ने भी 'स्वदेशी और बायकाट' की नीति को मान लिया और देश भर में एक विचित्र जाग्रति हो गई। कई एक नये कारखाने खुल गये, समाचारपत्रों में निर्भीकता आ गई, अशिक्षित समाज में भी देश की चर्चा होने लगी, एकता का भाव बढ़ने लगा और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का सचमुच जन्म हो गया।

शासन की सुविधा के लिए कई उपाय थे, जिनमें बंगाल की जनता को कोई आपत्ति न हो सकती थी। मदरास और बम्बई की तरह यहाँ भी लेफ्टिनेंट-गवर्नर की सहायता करने के लिए एकजीक्युटिव कौंसिल स्थापित की जा सकती थी या बिहार तथा उड़ीसा के जिले अलग किये जा सकते थे, जैसा कि बाद में किया गया, पर इन दिनों सरकार की नीति ही दूसरी थी। कलकत्ता के नेताओं का सारे प्रान्त पर प्रभाव पड़ रहा था। लार्ड कर्जन इसको अच्छा न समझता था। 'स्टेट्समैन' पत्र के एक भूतपूर्व सम्पादक की राय में बंगालियों की संयुक्त शक्ति तथा कलकत्ते के राजनैतिक प्राधान्य का नष्ट करना और हिन्दुओं को दबाये रखने के लिए मुसलमानों के जोर को बढ़ाना वास्तव में बंग-विच्छेद के मुख्य उद्देश्य थे। पूर्वीय बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक है, इसलिए यह दिखलाने की चेष्टा की गई कि इस प्रबन्ध में मुसलमानों के हित का विशेष ध्यान रखा गया है। देशव्यापी आन्दोलन बतावटी बतलाया गया और उसके दशाने का संकल्प कर लिया गया। सभाएँ तोड़ दी गई, 'बन्दे मातरम्' चिल्लाना अपराध बना दिया गया, नेताओं पर अभियोग चलाये गये और बहुतें को जेल का दंड दिया गया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि आन्दोलन और भी जोर पकड़ गया।

किचनर से मतभेद—प्रधान सेनापति प्रायः वाइसराय की कौंसिल का मेम्बर भी होता था, पर सेना का 'शासन-विभाग' कौंसिल के एक साधारण मेम्बर के हाथ में रहता था, जो एक सैनिक ही हुआ करता था। सेना के

शासन-सम्बन्धी मामलों में वाइसराय को यही सलाह देता था और प्रधान सेनापति के सब प्रस्ताव इसी के द्वारा वाइसराय के पास जाते थे। लार्ड किचनर की राय में, जो इन दिनों भारत का प्रधान सेनापति था, इस तरह सैनिक प्रबन्ध के हर एक काम में बड़ी देर लगती थी और वाद-विवाद बढ़ जाता था। इसलिए वह इस विभाग को प्रधान सेनापति की अध्यक्षता में ही रखना चाहता था। लार्ड कर्जन और उसकी कौंसिल दोनों इस राय के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि ऐसा करने से प्रधान सेनापति का अधिकार बहुत बढ़ जायगा; वाइसराय को जिसे प्रायः सैनिक मामलों का विशेष ज्ञान नहीं रहता, स्वतंत्र सलाह न मिल सकेगी और उसको प्रधान सेनापति की सब बातें माननी पड़ेंगी। इसके उत्तर में लार्ड किचनर का कहना था कि हर एक बात के मानने या न मानने का वाइसराय को सदा अधिकार है। फिर ऐसी दशा में प्रधान सेनापति के होते हुए सेना का शासन एक साधारण सैनिक के हाथ में देना उचित नहीं जान पड़ता।

लार्ड कर्जन का इस्तीफा—इस मामले में भारतसचिव ने जो निर्णय किया, वह लार्ड कर्जन को पसन्द न आया और उसने सन् १९०५ में इस्तीफा दे दिया। उसके पद की अवधि सन् १९०४ ही में समाप्त हो गई थी, पर वह दूसरी बार पाँच वर्ष के लिए फिर से नियुक्त किया गया था। इस बीच में, जब वह ६ महीने के लिए इंग्लैंड गया था, तब उसके स्थान पर मदरास के गवर्नर लार्ड एमथिल ने काम किया था। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड कर्जन बड़ा प्रतिभाशाली था। हर एक बात पर वह अपनी छाप लगाना चाहता था। अपने सिद्धान्तों के अनुसार वह कार्यापलट करना चाहता था। वह लार्ड वेलेजली और डलहौजी के दंग का गवर्नर-जनरल था, जिन्होंने भारतवर्ष का नक्शा बदल दिया था। लार्ड कर्जन के लिए जीतने को कुछ बाकी न रह गया था, उसने बंगाल के टुकड़े करके ही ऐसा किया। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र की प्रतिज्ञाओं का पालन करना उसकी राय में असम्भव था। वह अपने को भारत की दीन जनता का संरक्षक मानता था, देश के नेताओं पर उसको विश्वास न था और भारतीय शिक्षित

समाज को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उसका कहना था कि पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में सत्य का अधिक सम्मान है, पूर्व में कपट की ही मात्रा अधिक है, पूर्वी कूटनीति संसार में प्रसिद्ध है।^१

वह भारतवर्ष का शासन अँगरेजों के लिए “ईश्वरदत्त” मानता था। उसका विश्वास था कि सत्य के लिए लड़ना, अपूर्णता, अन्याय तथा नीचता का तिरस्कार करना, प्रशंसा, खुशामद या निन्दा की, जिनकी भारतवर्ष में कमी नहीं, कभी पर्वोह न करना, ईश्वर ने यह काम सौंपा है, ऐसा समझ कर न्याय, सुख, समृद्धि, नैतिक सम्मान, स्वदेशभक्ति, मानसिक उन्नति और कर्तव्य-परायणता के भावों का करोड़ों भारतवासियों में यथाशक्ति प्रचार करना ही भारतवर्ष में अँगरेजों के रहने का समर्थन है। उसका कहना था कि इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहा, इसका निर्णय भारतवर्ष ही करेगा।^२

भारतवर्ष ने जो निर्णय किया, वह सन् १९०५ की कांग्रेस के सभापति स्वर्गीय श्री गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों से प्रकट है। गोखले



गोपाल कृष्ण गोखले

का कहना था कि भारतवर्ष के इतिहास में लार्ड कर्जन के शासन की तुलना

१ कलकत्ता कन्वोकेशन पेड्रेस।

२ रोनल्डशे, लार्ड कर्जन, जि० २, पृ० ४२४।

औरंगजेब के शासन से हो सकती है। उसने भी शासन को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत बनाने का प्रयत्न किया था। उद्देश्य की दृढ़ता, कर्तव्य का भाव, काम करने की विचित्र शक्ति, अविश्वास और दमन की नीति में आग्रह उसमें भी ऐसा ही था। लार्ड कर्जन की सबसे अधिक प्रशंसा करनेवाले भी इस बात को मानने के लिए तैयार न होंगे कि उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को दृढ़ बना दिया। “उसके लिए भारतवर्ष ऐसा देश था, जिसमें अँगरेज कुल शक्ति सदा अपने हाथ में रखकर केवल कर्तव्य ही का बखान किया करें। उसकी राय में भारतवासियों के लिए शासित होना ही केवल काम था, अन्य कोई आकांक्षा रखना पाप था।”

यह बात ठीक है कि अविश्वास तथा दमन की नीति से स्वदेशप्रेम और राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजना देने के लिए भारतवर्ष लार्ड कर्जन का अवश्य कृतज्ञ रहेगा।

परिच्छेद १६

राजनैतिक सुधार

लार्ड मिंटो—लार्ड कर्जन के इस्तीफा देने पर लार्ड मिंटो वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड मिंटो का, जो सन् १८०६ में गवर्नर-जनरल होकर आया था, वंशज था और कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था। लार्ड कर्जन ने देश की स्थिति बड़ी नाजुक बना दी थी; जिसके कारण लार्ड मिंटो को बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

अमीर हबीबुल्ला—

सन् १९०७ में अफगानिस्तान का अमीर हबीबुल्ला भारतवर्ष आया। लार्ड कर्जन उसको दिल्ली के दरबार में बुलाना चाहता था, परन्तु वह लार्ड कर्जन के स्वभाव को अच्छी तरह जानता था, इसलिए उसने आने से इनकार कर दिया था। लार्ड मिंटो ने आगरा में



लार्ड मिंटो

उसका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया। वाइसराय के व्यवहार से वह बहुत सन्तुष्ट होकर वापस गया। हिन्दुओं का ध्यान रखकर बकरीद के समय पर उसने दिल्ली में गोवध न होने दिया। सन् १९०७ में इंग्लैंड का रूस से समझौता हो गया, जिससे दोनों साम्राज्यों ने अफगानिस्तान, फारस की खाड़ी

और तिब्बत के सम्बन्ध में अपनी नीति स्थिर कर ली। यह समझौता हबी-बुल्ला को पसन्द न आया, पर तब भी उसने भारत-सरकार के साथ मित्रता का व्यवहार न छोड़ा। सन् १९०८ में सीमा पर जब जङ्गलखेल अफ्रीदियों ने फिर से उपद्रव किया, तब भी उसने उनका पक्ष न लिया। सीमाप्रदेश पर अधिकार करने की बात फिर चल पड़ी, परन्तु भारतसचिव ने स्पष्ट शब्दों में इसको रोक दिया।

मुसलिम लीग—कांग्रेस में बहुत कम मुसलमान शामिल हुए थे, अंगरेजी शिक्षा का बहुत प्रचार न होने के कारण अधिकांश मुसलमानों का ध्यान देश की स्थिति की ओर न गया था। राष्ट्रीय आन्दोलन को जोर पकड़ते देखकर सन् १९०६ में कुछ नेताओं ने मुसलमानों के राजनैतिक स्वत्वों की रक्षा करने के लिए कांग्रेस के ढंग पर 'मुसलिम लीग' की स्थापना की। मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधि वाइसराय से भी मिले और उन्होंने यह दिख-लाया कि मुसलमानों ने सदा अँगरेजों का साथ दिया, इसलिए उनकी संख्या का खयाल न करके उनके राजनैतिक महत्त्व का बराबर ध्यान रखना चाहिए। साथ ही उन्होंने इस पर भी जोर दिया कि कौंसिलों में जाने के लिए मुसलमान प्रतिनिधि केवल मुसलमानों द्वारा ही चुने जायँ। लार्ड मिंटो ने इन बातों का ध्यान रखने का वचन दिया।

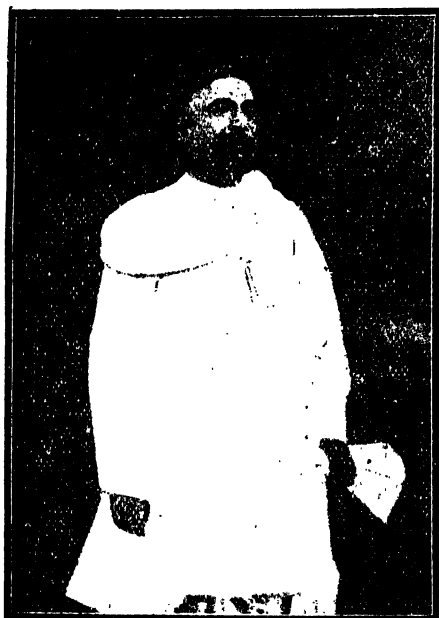
कांग्रेस में मतभेद—सन् १९०६ की कांग्रेस के सभापति वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' अर्थात् उपनिवेशों के ढंग का शासन राजनैतिक आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बतलाया। इसका प्रारम्भ सरकार किस ढंग से कर सकती थी, इसके लिए कांग्रेस ने कई एक सुधार बतलाये। परन्तु इसके बाद से ही कांग्रेस में मतभेद उत्पन्न हो गया। सरकार की दमन-नीति के कारण एक दल का, जिसके नेता श्री बाल गंगाधर तिलक थे, सरकार पर से विश्वास जाता रहा। इस दल का कहना था कि कांग्रेस को 'प्रार्थना-नीति' छोड़कर अधिक साहस से काम लेना चाहिए। सन् १९०७ में सूरत में इन दोनों दलों में बड़ा झगड़ा हो गया। 'नरम' और 'गरम' दल अलग

अलग हो गये। पहले दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले, सर फीरोजशाह मेहता और बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। कांग्रेस में नरम दलवालों की संख्या अधिक थी, इन्होंने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय माना और कानूनी उपायों द्वारा उसे प्राप्त करना निश्चित किया। साथ ही यह भी नियम बना दिया कि जो लोग कांग्रेस के ध्येय और नियमों को मानने की लिखित प्रतिज्ञा करेंगे, वे ही उसके मेम्बर हो सकेंगे। इस पर गरम दलवालों ने कांग्रेस छोड़ दी। तब से सन् १९१६ तक उस पर नरम दलवालों ही का अधिकार रहा।

क्रान्तिकारी दल—इन दिनों देश भर में घोर राजनैतिक अशांति थी। इसके कई कारण थे। लार्ड कर्जन की नीति से सारा देश असन्तुष्ट था, अकाल और प्लेग से जनता पीड़ित थी, देश में धन का अभाव था, व्यापार चौपट हो गया था और पढ़े-लिखे लोगों की बेकारी बढ़ रही थी। बहुत से अँगरेज अफसर दूरदर्शिता से काम न ले रहे थे, पूर्वीय बंगाल में नये लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर बैमफील्ड फुलर का शासन असह्य हो रहा था। सन् १९०५ में जापान ने रूस को परास्त किया था, इसका भा बड़ा प्रभाव पड़ रहा था और नवयुवकों में बड़ी उत्तेजना फैल रही थी। इन्हीं दिनों सरकार की नीति से हताश होकर कुछ नवयुवकों का एक ऐसा दल स्थापित हो गया, जिसने सरकार को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। कई एक स्थानों में इसकी गुप्त समितियाँ बन गईं और अँगरेजों पर बम फेंके जाने लगे। एक मजिस्ट्रेट के धोखे मुजफ्फरपुर में बम लगाने से दो अँगरेज महिलाओं के प्राण गये। इसी तरह जहाँ तहाँ और भी कई एक हत्याएँ हुईं।

दमन का जोर—इस अवसर पर सरकार ने भी बड़ी कड़ाई से काम लिया। गुप्त समितियों को ढूँढ़ निकालना और सच्चे अपराधियों को पकड़ना सहज काम न था; इसलिए गरम दल के नेता ही, जिनका इस आन्दोलन से कुछ भी सम्बन्ध न था, सरकार के क्रोध का अधिकतर शिकार बने। पहले सेना में विद्रोह फैलाने के सन्देह पर, बिना किसी प्रकार की जाँच किये हुए, सन् १८१८ के एक कानून के अनुसार, पंजाब से श्री लाला

लजपतराय और अजीतसिंह निर्वासित कर दिये गये। फिर 'केसरी' में सरकार के विरुद्ध तीव्र लेख लिखने के कारण श्री बाल गंगाधर तिलक



बाल गंगाधर तिलक

के लिए जाबता फौजदारी का संशोधन किया गया और सरकार को, जहाँ उचित समझे, सभाएँ रोक देने का अधिकार दिया गया।

सातवें एडवर्ड का घोषणापत्र—सन् १९०८ में भारतवर्ष पर इंग्लैंड के राजाओं को राज्य करते हुए ५० वर्ष पूरे हुए, इसलिए इस अवसर पर सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। जोधपुर के दरबार में वाइसराय ने इसको पढ़कर सुनाया। इसमें महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञाएँ दोहराई गईं, इतने वर्ष के शासन पर सन्तोष प्रकट

पर अभियोग चलाया गया और ६ वर्ष के लिए कैद करके उन्हें मंडाले भेज दिया गया। बंगाल का उपद्रव शान्त करने के लिए ९ प्रतिष्ठित नेता भी, सन् १८९८ के कानून के अनुसार, निर्वासित कर दिये गये

विस्फोटक पदार्थों का रखना या बेंचना अपराध बना दिया गया। समाचारपत्रों की स्वतंत्रता छीन ली गई। उनके लिए जमानत जमा करने का नियम बना दिया गया। राजनैतिक अभियोगों को जल्दी निपटाने

किया गया और प्रजाहित के लिए जो कुछ भारत-सरकार ने किया था, उसकी बड़ी प्रशंसा की गई। इसमें यह भी कहा गया कि जिम्मेदार बड़ी बड़ी नौकरियों के सम्बन्ध में जातिगत भेद मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है और प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त की वृद्धि के प्रश्न पर भी विचार हो रहा है।

जान मार्ले की नीति—इन दिनों भारतसचिव के पद पर इंग्लैंड का सुप्रसिद्ध विद्वान् जान मार्ले काम करता था। वह भारत-सरकार की दमन-नीति को पसन्द न करता था। यह उसके उदार सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। पर तब भी शासन की दृष्टि से, जहाँ तक बन पड़ा, उसने वाइसराय का साथ दिया। जब कभी वह देखता कि भारत-सरकार बहुत आगे बढ़ रही है, तब वह उसके रोकने का प्रयत्न करता था। बिना जाँच किये हुए नेताओं का निर्वासित करना उसे बहुत खटकता था। “जंगी कानून” के नाम से उसके “रोंगटे खड़े हो जाते थे।” उसका विश्वास था कि “यदि सुधारों से



जान मार्ले

(ब्रिटिश) राज्य की रक्षा नहीं हो सकती, तो फिर किसी से नहीं हो सकती।” परन्तु इन सुधारों से उसका अभिप्राय भारतवर्ष को कभी स्वराज्य देने का न था। वह केवल शिक्षित भारतवासियों को शासन में कुछ भाग देना चाहता था। उसकी राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो नरम दलवालों को अपने पक्ष में मिलाये रखना चाहिए। वह गोखले के साथ बराबर परामर्श किया करता था।

मार्ले-मिटो सुधार—लार्ड मिटो भी जब से भारतवर्ष आया था सुधारों की आवश्यकता प्रतीत कर रहा था। उसने समझ लिया था कि देश की स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब “आँख बन्द रखने” से काम न चलेगा, भारतवासियों को कुछ अधिकार अवश्य देने पड़ेंगे। इस पर विचार करने के लिए उसने एक कमेटी भी नियुक्त की थी। वह एक हिन्दु-स्तानी को अपनी ‘एक्जीक्युटिव कौंसिल’ का मेम्बर बनाना चाहता था, इसी का उसके कौंसिलवाले विरोध कर रहे थे। जातिगत भेद मिटाने की घोषणा करनेवाले स्वयं सम्राट् एडवर्ड भी इसके विरुद्ध थे। तीन वर्ष तक सुधारों के सम्बन्ध में वाइसराय की भारतसचिव से लिखा-पढ़ी होती रही। अन्त में दो भारतवासी ‘इंडिया कौंसिल’ के मेम्बर बनाये गये और कलकत्ता हाई-कोर्ट के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर तथा “ऐडवोकेट जनरल” सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह वाइसराय की कौंसिल के ‘कानूनी मेम्बर’ बनाये गये। सन् १९०९ में पार्लामेंट से सुधारबिल भी पास हो गया। इसके अनुसार लेजिस्लेटिव कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और प्रान्तीय कौंसिलों में गैरसरकारी मेम्बरों की कुछ अधिकता रखी गई। बम्बई तथा मदरास की एक्जीक्युटिव कौंसिलों के मेम्बरों की भी संख्या बढ़ा दी गई और उनमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था की गई। अन्य प्रान्तों में भारतसचिव की अनुमति से एक्जीक्युटिव कौंसिलें स्थापित करने का अधिकार वाइसराय को दिया गया। लेजिस्लेटिव कौंसिलों में मेम्बरों को प्रस्ताव पेश करने, बजट पर पूरी तरह बहस करने और एक ही विषय पर कई एक प्रश्न पूछने के अधिकार दिये गये। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार भी मिल गया।

सम्प्रदायों के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र बनाने के सिद्धान्त को कांग्रेस ने पसन्द न किया। इससे हिन्दू और मुसलमानों का भेद-भाव बढ़ गया। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने के अतिरिक्त हिन्दुओं के साथ भी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। कांग्रेस ने इसको गैरमुसलमान प्रजा के साथ “अन्याय” बतलाया। सुधारों के सम्बन्ध में जो नियम

बनाये गये, उनसे उनका क्षेत्र और भी संकुचित कर दिया गया। किसी प्रतिनिधि को न चुने जाने की आज्ञा देने का अधिकार वाइसराय को दे दिया गया। गरम दल के नेताओं को कौंसिलों से अलग रखने की दृष्टि से यह नियम बनाया गया। प्रान्तीय कौंसिलों में नाम भर के लिए गैरसरकारी मेम्बरों की अधिकता रखी गई, पर वास्तव में सरकार के अधिकार ज्यों के त्यों बने रहे। कांग्रेस का कहना था कि इन नियमों में “शिक्षित समाज के प्रति सरकार का अविश्वास” स्पष्ट दिखलाई दे रहा था। इनसे सुधारों में जो कुछ बल था, वह भी नष्ट हो गया। इन सुधारों में स्वेच्छाचारी और प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्तों को मित्राने की चेष्टा की गई, जो सर्वथा असम्भव है।

मिटो की नीति—लार्ड मिटो के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। एक ओर तो राजनैतिक अशान्ति से घबड़ाकर अँगरेज अफसर दमन पर जोर दे रहे थे और दूसरी ओर भारत का शिक्षित समाज सुधारों के लिए आतुर हो रहा था। इन दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए लार्ड मिटो ने “दमन और सुधार” की नीति का अवलम्बन किया। दोनों ओर के उग्र आन्दोलनकारियों की बात को न मानकर उसने मध्य के मार्ग पर चलना निश्चित किया। दो चार अँगरेजों की हत्याओं से घबड़ाकर उसने अपना धैर्य न छोड़ा और वह चुपचाप अपनी नीति से काम लेता रहा। नई कौंसिल द्वारा समाचारपत्र-सम्बन्धी कानून पास हो जाने पर, जब उसने देख लिया कि नरम दल सरकार का पूरा साथ दे रहा है, तब उसने निर्वासित नेताओं को छोड़ देने की आज्ञा दे दी। देशी राजाओं से उसने बहुत मेल पैदा किया। भारत के शासन में वह उन्हें भी कुछ भाग देना चाहता था। इसके लिए उसने उनकी एक समिति बनाने का प्रस्ताव किया था। राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के सम्बन्ध में भी उसने बड़े बड़े राजाओं से राय माँगी थी।^१

लार्ड हार्डिज—सन् १९१० में लार्ड मिंटो वापस चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हार्डिज वाइसराय बनाया गया। पहले लार्ड किचनर



को वाइसराय बनाने की बातचीत थी, परन्तु जान मार्ले इसके पक्ष में न था। लार्ड हार्डिज का भारतवर्ष से पुराना सम्बन्ध था। सन् १८४४ में इसी का दादा गवर्नर-जनरल होकर आया था, जिसके समय में पहला सिख-युद्ध हुआ था। मिंटो के सुधारों से राजनैतिक अशान्ति दूर न हुई थी, बंगाल का आन्दोलन चल रहा था। मार्ले ने बंगाल के विच्छेद को अनुचित मानते हुए भी उसे रद्द न किया था। उसका कहना था कि 'अब यह तय हो

लार्ड हार्डिज
चुका।' इससे असन्तोष बढ़ रहा था।

सम्राट् का आगमन—सन् १९१० में सातवें एडवर्ड की मृत्यु हो गई और उसका लड़का पाँचवाँ जार्ज गद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से यह पहले भारतवर्ष आ चुका था। सन् १९११ में अपने मंत्रियों की सलाह से सम्राज्ञी सहित यह फिर भारतवर्ष आया, जहाँ दिल्ली में बड़े समारोह के साथ इसका राज्याभिषेक किया गया। इसके पहले इंग्लैंड का कोई राजा भारतवर्ष न आया था। भारतवासी स्वभाव से ही राजभक्त हैं; सम्राट् का भारतवर्ष में भी राज्याभिषेक कराकर लार्ड हार्डिज ने अपनी नीति-निपुणता का परिचय दिया। इस अवसर पर कई बड़े महत्त्व की घोषणाएँ की गईं। लार्ड कर्जन का किया हुआ वंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया। बंगाल के जो जिले अलग किये गये थे फिर उसमें मिला दिये गये

और शासन के लिए एक्जीक्यूटिव कौंसिल सहित गवर्नर रख दिया गया। 'आसाम फिर चीफ कमिश्नर के अधीन रह गया और लेफ्टिनेंट-गवर्नर के अधीन बिहार तथा उड़ीसा का एक नया प्रान्त बना दिया गया। भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता के बजाय दिल्ली कर दी गई। 'विक्टोरिया क्रॉस' नामक विख्यात पदक लड़ाई में पराक्रम दिखलानेवाले भारतवासियों को भी देने का नियम कर दिया गया। गद्दी पर बैठते समय देशी राजाओं से नजराना लेने की प्रथा उठा दी गई। बहुत से कैदी छोड़ दिये गये, पचास रुपये से कम वेतन-वाले कर्मचारियोंको एक महीने का अधिक वेतन



पाँचवें जार्ज

इनाम में दिया गया और पचास लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया गया।

बंगाल के विच्छेद का रहू होना कर्जन के दिल को बड़ा खटका। राजधानी का परिवर्तन भारत में, विशेषकर कलकत्ता में, रहनेवाले अँगरेजों को पसन्द न आया। शासन-सम्बन्धी परिवर्तन का अधिकार केवल पार्लामेंट को है, इसलिए जब ये प्रस्ताव पार्लामेंट में पेश हुए तब लार्ड कर्जन को अपने हृदय के उद्गार निकालने का अवसर मिला। इन दोनों बातों को गुप्त रखकर, बिना पार्लामेंट की सलाह लिये हुए, सम्राट् के मुख से उनकी घोषणा कराने के लिए उसने मंत्रियों की निन्दा की। इसमें सन्देह नहीं कि इस अवसर

पर यह बिल्कुल नया ढंग निकाला गया था, सम्राट् के मुख से निकली हुई बातों में हेर-फेर करना उचित न जान पड़ता था, ऐसी दशा में इन पर वाद-विवाद व्यर्थ था। बंगाल के विच्छेद को रद्द करने के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन ने कहा कि इससे मुसलमान रुष्ट हो जायेंगे। बंगालियों का “बनावटी आन्दोलन” शान्त हो गया था, ऐसी दशा में इसकी कोई आवश्यकता न थी। दिल्ली को उसने “साम्राज्यों का कब्रिस्तान” बतलाया और कहा कि वहाँ राजधानी बनाने में बड़ा खर्च पड़ेगा।

दिल्ली को राजधानी बनाने के पक्ष में भारत-सरकार का कहना था कि यह नगर ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, प्राचीन स्मृतियों के कारण, इसको बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह शिमला के निकट और भारतवर्ष के मध्य में भी है। यहाँ रेल की कई लाइनें मिलती हैं और जलवायु भी अच्छा है। कलकत्ता भारतवर्ष के एक कोने में है, समुद्र-तट पर अब राजधानी रखने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त बंगाल में गवर्नर रहेगा, उसका और वाइसराय का एक ही स्थान पर रहना ठीक नहीं जान पड़ता। यह सब ठीक होते हुए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि नई राजधानी के बनाने में बहुत धन फूँका गया। जितना तखमीना हुआ था, उससे बहुत अधिक रुपया खर्च हो गया।

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ अंगरेज और डच अफ्रिका पहुँचे। इन दोनों ने वहाँ के ह्वशियों को दबाकर बहुत सी भूमि पर अधिकार कर लिया। नैटाल प्रदेश में गन्ना, चाय और काफी की खेती में बराबर काम करने के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी। पहले ह्वशियों को फँसाने का प्रयत्न किया गया, उसमें सफलता न होने पर भारत-सरकार को लिखा गया। भारतवर्ष में भूखे मरनेवालों की कमी न थी। सन् १८४० से हिन्दुस्तानी मजदूरों का वहाँ जाना प्रारम्भ हो गया। इनसे पाँच वर्ष तक काम करने के लिए एक एग्रीमेंट (इकारनामा) लिखाया जाने लगा। मजदूरों में यह ‘गिरमिट’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया, इसी लिए

एग्रीमेंटवाले मजदूर 'गिरमिटिया' कहलाने लगे। तरह तरह के प्रलोभन देकर बहुत से दलाल भोले-भाले दीन हिन्दुस्तानियों को हजारों की संख्या में बाहर भेजने लगे।

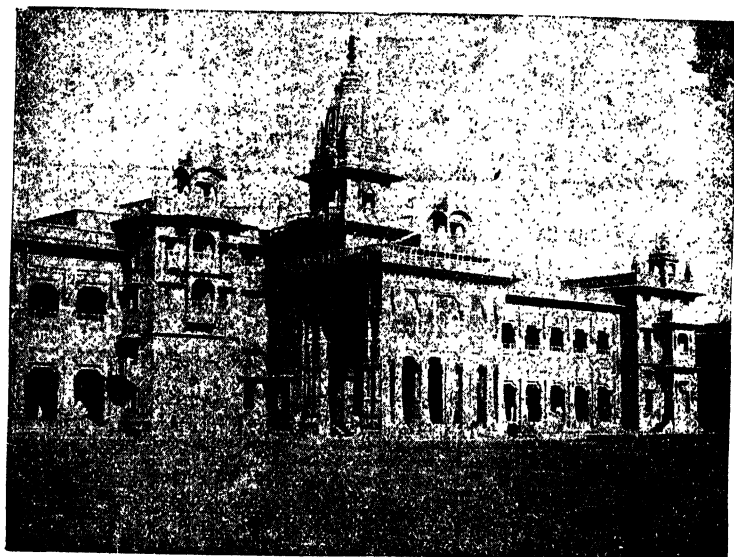
नेटाल में 'गिरमिटियों' की आबादी बढ़ने पर कुछ हिन्दुस्तानी व्यापारी भी पहुँच गये। पाँच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर बहुत से गिरमिटिया भी स्वतन्त्र हो गये। थोड़े ही दिनों में हिन्दुस्तानियों का व्यापार खूब चल पड़ा। हवशी और डच लोगों से, जिन्हें अँगरेज घृणा की दृष्टि से देखते थे, हिन्दुस्तानियों की पटने लगी और वे सब रियासतों में पहुँच गये। अपनी मितव्ययता और परिश्रम से उन्होंने धन जमा कर लिया और जमीनें खरीद लीं। हिन्दुस्तानियों की यह बढ़ती गोरों को खटकने लगी और वे उनको तंग करने लगे। स्वतंत्र उपनिवेश हो जाने पर नेटाल और भी निरंकुश हो गया। मुक्त हुए कुलियों से २१ पौंड साल का कर माँगा जाने लगा। भारत-सरकार के अनुरोध से अन्त में यह कर ३ पौंड कर दिया गया। अच्छी-अच्छी जमीनें छीन ली गईं और राजनैतिक अधिकार भी रद्द करने का प्रयत्न होने लगा। उसी का अनुकरण करके अन्य रियासतें भी हिन्दुस्तानियों के साथ बुरा बर्ताव करने लगीं। सन् १८९९ में डच लोगों का, जो 'बोअर' के नाम से प्रसिद्ध हैं, अँगरेजों से घोर युद्ध हुआ। इसमें साम्राज्य के नाते से हिन्दुस्तानियों ने अँगरेजों का पूरा साथ दिया। इसका भी कुछ ध्यान न करके उनका हर तरह से अपमान किया गया। सन् १८८३ से वहाँ श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी बैरिस्टरी कर रहे थे। उनके उद्योग से दक्षिण अफ्रिका के हिन्दुस्तानियों में आत्मसम्मान और एकता के भाव जागृत हुए। गान्धीजी ने कई अनुचित नियमों का घोर विरोध किया, जिसके लिए उन्हें जेल जाना पड़ा और तरह-तरह के कष्ट भोगने पड़े। भारतवर्ष में कांग्रेस इस ओर सरकार का ध्यान बराबर आकर्षित कर रही थी, पर कोई सुनवाई न होती थी।

सन् १९१३ में वहाँ एक नया कानून पेश किया गया। इसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी मजदूर वहाँ के निवासी न समझे जायेंगे और स्वदेश जाने पर उन्हें लौटने का अधिकार न होगा। फ्रीस्टेट की

रियासत में व्यापार या खेती-बारी न करने की प्रतिज्ञा करने पर वहाँ जाने की आज्ञा दे दी जायगी, जिस धर्म में बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा है, उस धर्म के अनुसार किया हुआ विवाह अप्रामाणिक माना जायगा और प्रत्येक हिन्दुस्तानी को अपना विवाह अदालत में जाकर रजिस्ट्री कराना पड़ेगा। इसका घोर विरोध किया गया। लगभग १५०० हिन्दुस्तानियों ने गान्धीजी की अध्यक्षता में सत्याग्रह प्रारम्भ किया। यह समाचार मिलने पर भारतवर्ष में भी बड़ा असन्तोष फैला। परन्तु इस अवसर पर लार्ड हार्डिज ने बड़े साहस से काम लिया। उसने मदरास के भाषण में अफ्रिका के इस नये कानून को “अन्यायपूर्ण” बतलाया, सत्याग्रहियों के प्रति सहानुभूति प्रकट की और अफ्रिका की सरकार से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त करने का अनुरोध किया। इस बात को वहाँ की सरकार ने मान लिया और सत्रको जेल से छोड़ दिया। प्रवासी हिन्दुस्तानियों के पक्ष का समर्थन करने के लिए गोखले भी अफ्रिका गये। अन्त में समझौता हो गया, जिससे वहाँ के हिन्दुस्तानियों की दशा कुछ सुधर गई। धर्मानुसार विवाह प्रामाणिक मान लिया गया और मुल्ला तथा ब्राह्मणों को उसकी रजिस्ट्री करने का अधिकार दे दिया गया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—सन् १९१६ में श्री पंडित मदन मोहन मालवीय के उद्योग से काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। “हिन्दू शास्त्रों और संस्कृत साहित्य की शिक्षा द्वारा हिन्दुओं के सर्वोत्तम विचारों तथा उनकी गौरवमयी प्राचीन सभ्यता के प्रसिद्ध गुणों की रक्षा और उनका प्रचार करना, आधुनिक साहित्य और विज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन और उनमें अन्वेषण करना, ऐसी वैज्ञानिक, आर्थिक तथा व्यापारिक विद्याओं का काम में लाने योग्य शिक्षा के साथ फैलाना, जिनसे देश की सम्पत्ति बढ़े, और धर्म तथा सदाचार की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को चरित्रवान् बनाना” इस विश्वविद्यालय के मुख्य उद्देश्य हैं। ‘सेंट्रल हिन्दू कालेज’, जिसको मिसैज वेसेंट ने अपने कुछ मित्रों की सहायता से सन् १८९८ में स्थापित किया था, इसका पहला कालेज हुआ। सन् १९२९ तक विश्वविद्यालय के लिए १ करोड़ २१ लाख

रुपया जमा हो गया। सभी श्रेणी के लोगों ने इसमें चन्दा दिया और सरकार ने भी सहायता की। यह अखिल भारतीय संस्था है। इसमें सभी प्रान्तों के



हिन्दू विश्वविद्यालय (विज्ञान-विभाग)

छात्र शिक्षा पाते हैं। हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जातियों के छात्र भी इसमें बिना किसी रोक-टोक के पढ़ सकते हैं।

यूरोपीय महायुद्ध—सन् १९१४ में यूरोप में बड़ा भीषण युद्ध छिड़ गया। इसके जटिल राजनैतिक कारणों की विवेचना यहाँ नहीं हो सकती, इतना ही कह देना काफी है कि इसकी तैयारियाँ बहुत दिनों से हो रही थीं। यूरोप के भिन्न-भिन्न राज्य एक दूसरे से जल रहे थे और इनके दो मुख्य गुट बन गये थे। आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली एक ओर थे और दूसरी ओर फ्रांस, रूस तथा इंग्लैंड के राज्य थे। जून सन् १९१४ में आस्ट्रिया का युव-

राज बॉस्निया में मार डाला गया। इसका दोष सर्बिया के मत्थे मढ़कर आस्ट्रिया ने उस पर आक्रमण कर दिया। यह देखकर रूस, सर्बिया की सहायता के लिए खड़ा हो गया। इस पर जर्मनी ने रूस और फ्रांस से युद्ध छेड़ दिया। इंग्लैंड इस समय तक अलग था। सन् १८३९ में जर्मनी और इंग्लैंड दोनों बेलजियम की रक्षा का वचन दे चुके थे, पर जब इस सन्धि को “एक कागज का टुकड़ा” मानकर जर्मनी की सेना बेलजियम होकर फ्रांस की ओर बढ़ने लगी, तब इंग्लैंड भी फ्रांस और रूस के साथ, जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध, युद्ध में शामिल हो गया। जर्मनी के साथ तुर्कों के मिल जाने से एशिया में भी युद्ध छिड़ गया।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष ने अँगरेजों का साथ दिया। राजा, महा-राजा और नवाबों ने धन से सरकार की सहायता की और अपनी सेनाएँ युद्ध में भेजीं। कई एक राजाओं ने स्वयं युद्ध में भाग लिया। जनता ने भी सरकार की सहायता करने में कोई बात उठा न रखी। तुर्की के सुल्तान मुसलमानों के खलीफा थे। उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने पर भी राजभक्त मुसलमानों ने सरकार का साथ न छोड़ा। इस समय भारतवर्ष अँगरेज सैनिकों से थिलकुल खाली सा हो गया था, पर तब भी कहीं किसी प्रकार का उपद्रव नहीं हुआ। बड़े कठिन अवसर पर भारत के वीर सिपाहियों ने फ्रांस जाकर ईप्रीज, न्यूशपल और लू की लड़ाइयों में जर्मनी के भयंकर आक्रमण को रोका। इन लड़ाइयों से युद्ध का रंग ही बदल गया।

मेसोपोटामिया (इराक) की लड़ाइयों में भी भारतीय सेना ने बड़ी मदद की। मराठों की पल्टन ने बसरा जीत लिया। परन्तु टानशेंड की सेना को बगदाद की चढ़ाई में हार माननी पड़ी। इसमें रसद और चिकित्सा का ठीक प्रबन्ध न होने के कारण सेना को बड़ा कष्ट हुआ। इसकी जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने भारत-सरकार की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की। मांटैग्यू ने उसकी शासनव्यवस्था को “हठी, कठोर तथा अस्वामयिक” बतलाया। लार्ड किचनर की बात मानकर सेना का शासन-विभाग, प्रधान सेनापति के अधीन रखने के कारण, इस प्रबन्ध में बड़ी असु-

विधाएँ हुई। सन् १९१७ में बगदाद पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। इतने ही में पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) होकर जनरल एलेनबी की सेना, जिसमें अधिकांश हिन्दुस्तानी सिपाही थे, आ गई और उसने जरुसेलम और दमस्क के विख्यात नगरों को जीत लिया। अँगरेजों की इन विजयों से तुर्की के खलीफा की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। यह युद्ध चार वर्ष तक बराबर चलता रहा। जर्मनी के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अमरीका भी 'मित्र राष्ट्रों' की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। इटली, यूनान और जपान ने भी साथ दिया। राज्य-क्रान्ति हो जाने के कारण रूस युद्ध से अलग हो गया था, जर्मनी में भी इसके लक्षण दिखलाई पड़ रहे थे। विजय की कोई आशा न देखकर जर्मन सम्राट् कैसर विलियम हालैंड भाग गया और जर्मनी ने हार स्वीकार कर ली। सन् १९१९ में सन्धि हो गई। इस सन्धि-

पत्र पर भारत की ओर से महाराजा बीकानेर और लर्ड सिंह ने हस्ताक्षर किये।

लार्ड चेम्सफर्ड—

लार्ड हार्डिज के शासन से भारतवासी बहुत सन्तुष्ट थे। सन् १९१२ में दिल्ली की चाँदनी चौक में उस पर बम भी फेंका गया, पर उसने इसका कुछ भी खयाल नहीं किया। सन् १९१५ में उसकी अवधि समाप्त होने पर कांग्रेस ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए



चेम्सफर्ड

अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया। इन दिनों लड़ाई की दशा बड़ी नाजुक

थी; इसलिए इंग्लैंड-सरकार ने ६ महीने तक उसी को वाइसराय के पद पर काम करने दिया। सन् १९१६ में उसके स्थान पर लार्ड चेम्सफर्ड आ गया। इसने सबसे पहले युद्ध के प्रवन्ध की ओर ध्यान दिया। शिमला में मुख्य मुख्य नेताओं का एक सम्मेलन करके सबसे सरकार की सहायता के लिए अनुरोध किया गया। इस समय बहुत सी सेना तथा युद्धसामग्री हिन्दुस्तान से बाहर भेजी गई।

लखनऊ का समझौता—सन् १९१६ में लोकमान्य तिलक ६ वर्ष की कैद काटकर मंडाले से भारतवर्ष आ गये।^१ उनकी अध्यक्षता में गरम दलवाले फिर कांग्रेस में शामिल हो गये। सन् १९१६ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में बड़े उत्साह के साथ हुआ। इसी अवसर पर हिन्दू और मुसलमानों में भी समझौता हो गया। सन् १९१३ में मुसलिम लीग ने भी औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना ध्येय मान लिया था, मतभेद केवल अलग प्रतिनिधि चुनने के सम्बन्ध में था। एकता की दृष्टि से हिन्दुओं ने मुसलमानों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया और जिन प्रान्तों में उनकी संख्या कम थी, वहाँ जितने उनके प्रतिनिधि होने चाहिएँ, उससे कुछ अधिक प्रतिनिधि चुनने के लिए भी कह दिया। उस समय यह आशा थी कि इस समझौते से हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित हो जायगी, जो भारतवर्ष की उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ। एकता के बजाय भेदभाव अधिक बढ़ गया, जैसा कि आगे चलकर दिखलाया जायगा। कांग्रेस तथा लीग की ओर से सरकार के पास एक सुधार-योजना भेजने का भी निश्चय किया गया।

देश की स्थिति—माले-मिंटो सुधारों से जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इनका क्षेत्र बहुत संकुचित था। इनसे स्थानीय स्वशासन की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई, पार्लामेंट का भारत-सरकार पर और भारत-सरकार

^१ मंडाले में लोकमान्य तिलक ने अपना सुप्रसिद्ध तथा बिदशापूर्ण 'गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा।

का प्रान्तीय सरकारों पर अधिकार ज्यों का त्यों बना रहा। कौंसिलों में नामजद और सरकारी मेम्बरों की सहायता से सरकार की ही जीत होती रही, जिससे प्रतिनिधियों को इनकी निरर्थकता का पूरा अनुभव हो गया। लार्ड मिंटो के समय में पास किये हुए दमन-सम्बन्धी कानूनों के कारण भी बड़ा असन्तोष था। लार्ड हार्डिज पर बम फेंके जाने के बाद राजनैतिक षडयंत्रों के सम्बन्ध में जान्ता फौजदारी के नियम और भी कड़े बना दिये गये थे। “विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है” कौंसिलों में यह बराबर कहते रहने पर भी प्रतिनिधियों की कुछ सुनवाई नहीं होती थी। जिम्मेदार पदों पर हिन्दुस्तानियों को नियुक्त करने की ओर भी अधिक ध्यान न दिया जाता था। ‘गोरे और काले’ का भेद भी बना था। बिना लाइसेंस के भारतवासियों को हथियार रखने की आशा न थी। अपने देश की रक्षा में उन्हें कोई भाग न दिया जाता था। सैनिक वालंटियर बनने तक का उन्हें अधिकार न था। उपनिवेशों में उनके साथ बड़ा अनुचित व्यवहार किया जाता था।

इन्हीं कारणों से युद्ध के समय में भी राजनैतिक आन्दोलन बन्द न हुआ था, बल्कि युद्ध छिड़ने से इसमें एक नया जीवन आ गया था। प्रजातंत्र के लिए संसार को सुरक्षित बनाना, स्वेच्छाचारी शासन को नष्ट करना और छोटे राष्ट्रों की रक्षा करना, युद्ध के उद्देश्य बतलाये जाते थे। अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने “आत्मनिर्णय” के सिद्धान्त को संसार के भावी राजनैतिक प्रबन्ध का आधार बतलाया था। ऐसी दशा में भारतवासियों के लिए यह आशा करना स्वाभाविक था कि जिन सिद्धान्तों के लिए अँगरेज यूरोप में लड़ रहे थे, उनके लाभ से वे भारतवर्ष को, जिसने साम्राज्य की रक्षा के लिए अपना धन लुटाया और रक्त बहाया है, वंचित न रखेंगे। ‘युद्ध-समिति’ और ‘साम्राज्य-सम्मेलन’ में भारतीय प्रतिनिधियों के बुलाये जाने से, यह आशा और भी पक्की हो रही थी। भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन पर रूस की बोलशेविक राज्यक्रान्ति का भी, जिसने जार के स्वेच्छाचारी शासन को समूल नष्ट कर डाला था, प्रभाव पड़ रहा था। युद्ध के समय की कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिए एक ‘ग़दर पार्टी’ बन गई थी। मिसेज एनी बेसेंट

का 'होमरूल आन्दोलन' भी चल पड़ा था और उन्हें नजरबन्द करने से बड़ी उत्तेजना फैल गई थी। लखनऊ में हिन्दू-मुसलमानों का समझौता तथा नरम और गरम दिलों की एकता से राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ा जोर आ गया था।

भारतसचिव की विज्ञप्ति—इन दिनों मांटैग्यू भारतसचिव था। लार्ड मॉर्ले के समय में वह उपसचिव रह चुका था और भारतवर्ष भी आया था। वह इस बात को देख रहा था



कि भारत के प्रति अपनी नीति को बिना स्पष्ट किये हुए भारत-सरकार को काम चलाना मुश्किल हो रहा है। लार्ड चेम्सफर्ड भी उसको बराबर यही लिख रहा था। उस समय की "स्थिति में नये ढंग से काम करने की आवश्यकता हर तरफ प्रतीत हो रही थी।" युद्ध इस समय तक समाप्त न हुआ था, भारत को किसी न किसी तरह सन्तुष्ट रखना था। इसलिए ता० २० अगस्त सन्

१९१७ को पार्लामेंट की कामंस सभा में भारतसचिव ने यह कहा कि

“शासन के प्रत्येक विभाग में भारतवासियों के सहयोग को बढ़ाना और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारतवर्ष को उत्तरदायी शासन देने के लिए स्वशासित संस्थाओं की धीरे धीरे वृद्धि करना इंग्लैंड-सरकार की नीति है, जिसके साथ भारत-सरकार पूर्ण रूप से सहमत है। इस नीति को कैसे काम में लाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भारत-सरकार तथा जनता की राय जानने के लिए मैं शीघ्र ही भारतवर्ष जाऊँगा।”

मांटैग्यू-चेम्सफर्ड सुधार—इसी विज्ञप्ति के अनुसार नवम्बर में मांटैग्यू भारतवर्ष आया और दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में रहकर

भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारों से परामर्श किया। लार्ड चेम्सफर्ड के साथ भारत की मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा नेताओं से भी वह भिला। देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसने राजाओं से भेंट की और सुधार सम्बन्धी अपने प्रस्तावों को उसने एक रिपोर्ट के स्वरूप में पार्लामेंट के सामने पेश किया। सन् १९१८ में उसने सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह को, जिसे 'लार्ड' की उपाधि दी गई, भारत का उपसचिव बनाया। मांटैग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट पर दो वर्ष तक विचार होता रहा। इसके प्रस्तावों के सम्बन्ध में भारतवर्ष में फिर राजनैतिक मतभेद हो गया। नरम दलवालों ने इसके मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, परन्तु कांग्रेस ने, जिसमें अब गरम दलवालों की अधिकता थी, "निराशा और असन्तोष" प्रकट किया। मुख्य मुख्य दलों के प्रतिनिधि इंग्लैंड गये और उन्होंने पार्लामेंट की कमेटी के सामने अपने विचार प्रकट किये। कुछ हेर-फेर के बाद सन् १९१९ में सुधार-कानून पास हो गया, जिससे भारतवर्ष की शासनव्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया।

भारतसचिव और इंडिया कौंसिल—भारतवर्ष के शासन के लिए पार्लामेंट के प्रति भारतसचिव जिम्मेदार मान लिया गया और उसका वेतन इंग्लैंड के खजाने से दिया जाने लगा। शासन का कुल निरीक्षण उसी के हाथ में है। भारत-सरकार को बराबर उसकी सलाह लेनी पड़ती है। उसकी अधिकार-सीमा इतनी बढ़ी हुई है कि भारत-सरकार को बहुत कम स्वतंत्रता रह जाती है। इंडिया कौंसिल का मुख्य काम भारतसचिव को सलाह देना रह गया। इसमें हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या दो से तीन कर दी गई। कांग्रेस पहले से ही इस कौंसिल के तोड़ देने पर जोर दे रही थी, परन्तु इसका कुछ भी ध्यान नहीं किया गया। इसमें अधिकतर भारत से लौटे हुए सिविलियन होते थे, जो हरएक बात को निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देखते थे। हिन्दुस्तानी मेम्बरों को भारतसचिव ही नामजद करता था। प्रायः ऐसा अवसर आ जाता था, जब इनमें से कोई भी इंग्लैंड में उपस्थित नहीं रहता था।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

भारत-सरकार—गवर्नर-जनरल की एक्जीक्युटिव कौंसिल के हिन्दु-स्तानी मेम्बरों की संख्या भी बढ़ाकर तीन कर दी गई। इसके मेम्बर राजाशा द्वारा नियुक्त किये जाते थे और इसका सभापति गवर्नर-जनरल होता था। इसके मेम्बरों के हाथ में शासन के भिन्न भिन्न विभाग रहते थे। कानून बनाने के लिए 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' के स्थान पर दो सभाएँ कर दी गईं, एक 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' (बड़ी व्यवस्थापक सभा) और दूसरी 'कौंसिल ऑफ स्टेट' (राज्यपरिषद)। लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बरों की संख्या १४३ थी, जिसमें १०३ निर्वाचित और बाकी सरकारी अफसर तथा नामजद मेम्बर होते थे। निर्वाचित मेम्बरों में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होते थे, जिनका चुनाव जनता द्वारा होता था। 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के मेम्बरों की संख्या ६० थी, जिनमें ३४ निर्वाचित मेम्बर होते थे। परन्तु इनके निर्वाचन के ऐसे नियम रखे गये थे, जिनके कारण बड़े बड़े जमीन्दार और धनी लोग ही अधिक चुने जाते थे। गवर्नर-जनरल इन दो सभाओं में से न किसी का मेम्बर ही होता था और न सभापति। लेजिस्लेटिव असेम्बली का सभापति मेम्बरों द्वारा चुना जाता था; पर कौंसिल ऑफ स्टेट के सभापति को सरकार नियुक्त करती थी। लेजिस्लेटिव असेम्बली की अवधि साधारणतः तीन वर्ष की होती थी और कौंसिल ऑफ स्टेट का हर पाँचवें वर्ष चुनाव होता था।

कानून बनाने के लिए किसी प्रस्ताव का दोनों सभाओं द्वारा पास होना और गवर्नर-जनरल द्वारा उसका मंजूर होना आवश्यक था। दोनों सभाओं में मतभेद होने पर एक साथ वाद-विवाद हो सकता था। बजट के कुछ भाग में कमी-बेशी करने का भी इन संस्थाओं को अधिकार था, पर इसका अधिक भाग ऐसा था, जिसमें सेना का खर्च, वेतन तथा और कई ऐसी रकमें रहती थीं, जिन पर केवल बहस हो सकती थी, पर कोई कमी नहीं की जा सकती थी। सरकारी कर्ज, भारतवर्ष की आमदनी, सैनिक प्रबन्ध तथा देशी या बाहरी राज्यों के प्रति सम्बन्ध के विषय में इन सभाओं को कुछ भी अधिकार नहीं था। गवर्नर-जनरल इन सभाओं को स्थगित, भंग तथा आमंत्रित कर सकता

था और उनमें आवश्यकता होने पर भाषण भी कर सकता था। किसी ब्रिटिश गवर्नर-जनरल “ब्रिटिश भारत की शान्ति, रक्षा तथा हित” की दृष्टि से सभाओं की इच्छा के विरुद्ध भी पास या रद्द कर सकता था। बजट के सम्बन्ध में भी उसको इसी तरह के अधिकार थे। वह या उसकी कौंसिल के मेम्बर भारत की व्यवस्थापक सभाओं के प्रति जिम्मेदार नहीं थे। ये सभाएँ केवल आलोचना कर सकती थीं, जिससे इतना लाभ अवश्य होता था कि लोकमत प्रकट हो जाता था, अन्यथा इनकी अधिकार-सीमा बहुत संकुचित थी। कौंसिल ऑफ स्टेट का ऐसा संगठन किया गया था कि वह बराबर सरकार का साथ देती थी। लेजिस्लेटिव असेम्बली को गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार के अंकुश से बराबर दबाये रख सकता था।

प्रान्तीय सरकार—बम्बई, मद्रास और बंगाल में तो गवर्नर थे ही, अब अन्य बड़े बड़े प्रान्तों के लेफ्टिनेंट-गवर्नर भी बना दिये गये और उनकी सहायता के लिए एकजीक्युटिव कौंसिलें स्थापित कर दी गईं, जिनमें एक या दो हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था भी रखी गई। इनके अतिरिक्त लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुने हुए मेम्बरों में से दो या तीन मंत्री नियुक्त करने का अधिकार भी प्रान्तीय गवर्नरों को दिया गया। प्रान्त का शासन, मंत्रियों तथा एकजीक्युटिव कौंसिल के मेम्बरों में बाँट दिया गया। स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग तथा अन्य छोटे छोटे विभागों का भार मंत्रियों को सौंपा गया और न्याय, शान्ति-स्थापन, पुलिस, टैक्स तथा आमदनी के विभागों पर एकजीक्युटिव कौंसिल को अधिकार दिया गया। इस तरह शासन के दो विभाग कर दिये गये, इसी लिए यह व्यवस्था ‘डायर्की’ अर्थात् ‘दोहरी शासन-व्यवस्था’ के नाम से प्रसिद्ध हुई। मंत्री कौंसिल के प्रति जिम्मेदार समझे जाते थे और उनका वेतन उसी के द्वारा स्वीकार होता था। कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और उनमें निर्वाचित मेम्बरों की अधिकता रखी गई। प्रान्तीय गवर्नरों को भी विशेषाधिकार दिये गये।

भारतीय और प्रान्तीय सरकारों की अधिकार-सीमाओं को निश्चित करने का भी प्रयत्न किया गया। देश-रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, व्यापार-नीति, शिक्षा,

तार, डाक तथा अन्य ऐसे विभागों पर भारत-सरकार का अधिकार बना रहा। परन्तु स्थानीय विषय, जैसे न्याय, शासन, म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का प्रबन्ध, सफाई, खेती और शिक्षा ऐसे विषय प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिये गये। आमदनी का भी बटवारा किया गया। मालगुजारी, आबकारी, सिंचाई और स्टाम्प की आमदनी प्रान्तीय सरकारों को दे दी गई और इन्कम टैक्स, नमक, अफीम तथा रेलों की आमदनी भारत-सरकार के पास रह गई। इतने से भारत-सरकार का खर्च पूरा न पड़ता था, इसलिए प्रान्तों द्वारा उसे एक सालाना रकम देने का नियम बनाया गया। इसका प्रान्तों ने बड़ा विरोध किया। प्रान्तीय सरकारों को कर्ज लेने और कुछ टैक्स लगाने का भी अधिकार दिया गया। भारत-सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर इस समय भी बहुत अधिकार था। हर एक कानून के लिए गवर्नर-जनरल की मंजूरी आवश्यक थी।

इस प्रबन्ध से खर्च बहुत बढ़ गया। मंत्रियों को केवल खर्चवाले विभाग दिये गये। रुपये के लिए उन्हें गवर्नर का मुँह ताकना पड़ता था। अर्थ-सचिव एक्जीक्युटिव कौंसिल का ही मेम्बर होता था। इसके मेम्बरों के हाथ में जो विभाग रहते थे, वे 'रिजर्व' (रक्षित) कहलते थे। इनके खर्च में यदि लेजिस्लेटिव कौंसिल कोई कमी करे, तो उसके मानने के लिए गवर्नर बाध्य नहीं था, पर यह बात मंत्रियों के विभाग के सम्बन्ध में, जो 'ट्रांसफर्ड' (हस्तान्तरित) कहलते थे, नहीं थी! कौंसिल में जिस दल की अधिकता हो, उसी से मंत्रियों को चुनना चाहिए, तभी वे कौंसिल के विश्वासपात्र बन सकेंगे और अपनी नीति को काम में ला सकेंगे। परन्तु ऐसा करने का कोई नियम नहीं था, गवर्नर जिस दल से चाहता था मंत्री चुन लेता था, जिसका परिणाम यह होता था कि मंत्रियों को अपना काम चलाने के लिए सरकारी तथा नामजद मेम्बरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था।

निर्वाचन—पहले प्रान्तीय कौंसिलों के मेम्बरों का निर्वाचन, म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा होता था और भारतीय कौंसिल में प्रान्तीय कौंसिलों से प्रतिनिधि जाते थे। अब इन मेम्बरों का

निर्वाचन जनता के हाथ में आ गया। परन्तु सम्पत्ति को आधार मानकर निर्वाचकों के लिए ऐसे नियम बनाये गये कि सैकड़ों पीछे दो आदमियों को भी वोट देने का अधिकार मुश्किल से मिला। स्त्रियों को वोट देने का अधिकार देना या उन्हें प्रतिनिधि बनाना कौंसिलों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में लखनऊ का समझौता स्वीकार कर लिया गया और यूरोपियन तथा सिखों को भी अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार दे दिया गया। मांटैग्यू साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्त को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि इससे नागरिकता के भाव की अपेक्षा पक्षपात बढ़ जाता है। परन्तु सन् १९०९ में मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार दिया जा चुका था, इसलिए उसको यह स्वीकार करना पड़ा।

नरेन्द्रमंडल—देशी राजा और नवाबों का भी एक मंडल बनाया गया, जो 'चेम्बर ऑफ प्रिंसेज' कहलाता था। इसका सभापति वाइसराय को सलाह देता था। इसके संगठन से बड़े बड़े राज्य सन्तुष्ट नहीं थे। हैदराबाद, मैसूर तथा अन्य कई एक बड़े राज्य इसमें शामिल नहीं हुए।

पार्लामेंट का अधिकार—इस नये कानून की भूमिका में भारतवर्ष पर पार्लामेंट का पूर्ण अधिकार स्पष्ट कर दिया गया और यह भी नियम बनाया गया कि हर दसवें वर्ष एक कमीशन द्वारा शासन की जाँच की जाया करे और उसकी रिपोर्ट के अनुसार परिवर्तन किये जायँ। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के, जिस पर युद्ध में इतना जोर दिया गया था, यह सर्वथा प्रतिकूल था। इस कानून के अनुसार भारत के भाग्य का निर्णय उसके नहीं बल्कि पार्लामेंट के हाथ में हो गया।

सुधारों का प्रारम्भ—सन् १९१९ के अन्त में सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें सुधारों के लिए मंजूरी देते हुए यह कहा गया कि भारतवर्ष को यथासम्भव सभी सुख देने का प्रयत्न किया गया, परन्तु "उसके हित की रक्षा और उसके शासन के चलाने का अधिकार

वहाँ के निवासियों को इस समय तक नहीं दिया गया था, जिसके बिना किसी देश की उन्नति पूर्ण रूप से नहीं हो सकती। उसी का प्रारम्भ अब इन सुधारों से किया जाता है और आशा की जाती है कि सरकारी अफसर और प्रजा के नेता, दोनों मिलकर इनको सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे।” नई संस्थाओं को खोलने के लिए पहले युवराज आनेवाला था, परन्तु बाद में सन् १९२१ में समाट् का चचा ड्यूक ऑफ कनाट आया। इसने दिल्ली में राजकीय सन्देश पढ़कर सुनाया, जिसमें कहा गया कि वर्षों से स्वदेश और राजभक्त भारतवासी अपनी मातृभूमि के लिए ‘स्वराज्य’ का स्वप्न देख रहे थे, उसके लिए अब अवसर दिया जा रहा है। ड्यूक ने अपने भाषण में बड़े जोर के साथ बतलाया कि भारतवर्ष में शासन का आधार “बल और भय” नहीं। वाइसराय के शब्दों में उसने यह भी कहा कि “स्वेच्छाचारी शासन का सिद्धान्त” अब त्याग दिया गया। सन् १९१९ में अमृतसर की कांग्रेस ने सुधारों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया। इस पर नरम दलवाले कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अपनी दूसरी सभा स्थापित की, जो “नेशनल लिबरल फेडरेशन” के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् १९२० में नई कौंसिलों का पहला चुनाव हुआ, जिसमें असहयोग के कारण कांग्रेस ने कोई भाग न लिया। नरम दलवालों ने सरकार का साथ दिया और उनके कई नेता भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मंत्री बनाये गये। लार्ड सिंह विहार और उड़ीसा के गवर्नर नियुक्त किये गये।

रौलट-बिल-सत्याग्रह—युद्ध के समय क्रान्तिकारी कार्यों को रोकने के लिए ‘भारत-रक्षा-कानून’ बनाया गया था। सरकार ने राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के लिए इसके प्रयोग न करने का वचन दिया था, पर तब भी कई बार इसका दुरुपयोग किया गया। युद्ध में असाधारण सहायता और नये सुधारों की घोषणा से यह आशा थी कि युद्ध के साथ साथ साधारण स्वतन्त्रता में बाधा डालनेवाले इस कानून का भी अन्त कर दिया जायगा। परन्तु ऐसा न करके सरकार ने इंग्लैंड के जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिसने गुप्त रीति से जाँच करके यह निश्चित किया कि भारतवर्ष में इस समय भी बहुत से क्रान्तिकारी मौजूद हैं, इसलिए बिना किसी ऐसे कानून के हिंसा का रोकना असम्भव है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने कौंसिल में दो कानून पेश किये, जिनमें पुलिस को बहुत अधिकार दिये गये और राजविद्रोह-सम्बन्धी मुकदमों को जल्दी निपटाने के लिए नियम बनाये गये। गान्धीजी ने इनको “न्याय तथा स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध और मनुष्यों के उन प्रारम्भिक अधिकारों को, जिन पर जनसमाज तथा राज्य अवलम्बित है, नष्ट करनेवाला” बतलाया और इनके विरुद्ध सत्याग्रह करना निश्चित किया। सत्याग्रह की प्रतिज्ञा में कहा गया कि हम लोग इन तथा अन्य ऐसे ही कानूनों को न मानेंगे और इस झगड़े में “धर्मपूर्वक सत्य का आश्रय ग्रहण करके किसी के जीवन या सम्पत्ति पर आघात न करेंगे।” इसी सम्बन्ध में ता० ६ अप्रैल सन् १९१९ को देश भर में हड़ताल मनाई गई। दिल्ली में ता० ३० मार्च को ही हड़ताल मनाई गई, वहाँ कुछ दंगा होने पर गोलियाँ चलाई गईं। बम्बई से आते हुए गान्धीजी गिरफ्तार करके वापस कर दिये गये। यह समाचार मिलने पर अहमदाबाद तथा उसके आस-पास कई स्थानों में कुछ उपद्रव हुआ।

पंजाब में अशान्ति—यूरोप के युद्ध में केवल पंजाब से ३६०००० योद्धा भेजे गये। इनके भरती करने में बहुत सख्ती से काम लिया गया। सन् १९१८ में दिल्ली की ‘युद्ध-सभा’ के बाद पंजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर माइकेल ओडायर ने स्वयं कहा था कि “हमें सेना के लिए दो लाख आदमी चाहिए, सम्भव हो तो रजामन्दी से, नहीं तो जबरदस्ती से।” व्यवहार में इसी नीति से काम लिया गया और जनता के साथ बहुत जबरदस्ती की गई। इसी तरह लड़ाई के लिए कर्ज लेने में भी ज्यादाती की गई। युद्ध में महुँगी के कारण भी जनता में बड़ा असन्तोष था। तुर्की के प्रति इंग्लैंड की नीति से मुसलमान भी असन्तुष्ट थे। इतने ही में गान्धीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस पर ओडायर ने राष्ट्रीय पत्रों का

पंजाब में आना बन्द कर दिया और कई एक नेताओं की भर्त्सना की। शिक्षित नेताओं के प्रति उसका व्यवहार बहुत अनुचित होता था, अपने निन्दनीय आक्षेपों के कारण, कौंसिल में एक बार उसे माफी माँगनी पड़ी थी। सुधारों के साथ भी उसकी सहानुभूति न थी। ता० ६ अप्रैल की हड़ताल में कोई उपद्रव न होने पर भी उसने बहुत चिढ़कर अमृतसर के कुछ नेताओं को निर्वासित कर दिया और गान्धीजी को पंजाब आने से रोक दिया।

भीषण हत्याकांड—उसके इन कार्यों से अमृतसर में बड़ी उत्तेजना फैल गई। नेताओं को छुड़ाने की प्रार्थना करने के लिए एक बड़ा भारी जद्दस डिप्युटी कर्मिश्नर के बैंगले की तरफ चल पड़ा। इन लोगों के पास कोई हथियार न थे, पर तब भी इन पर गोली चलाई गई, जिसका फल यह हुआ कि कुछ लोगों का धैर्य जाता रहा और उपद्रव मच गया। कई एक अंगरेज मार डाले गये, एक बैंक का गोदाम लूट लिया गया और टाउनहाल में आग लगा दी गई। इस गड़बड़ में बदमाशों को अपना काम बनाने का अच्छा अवसर मिल गया। इन थोड़े मनुष्यों के उपद्रव पर, जिन्हें शान्त नागरिक नहीं रोक सकते थे, समस्त नागरिकों को दंड देना निश्चित कर लिया गया। जनरल डायर की आज्ञा से ४ मनुष्यों का जमाव गैरकानूनी बना दिया गया, परन्तु इसकी पूरी तरह से मुनादी नहीं की गई। ता० १३ अप्रैल को तीसरे पहर जलियानवाला बाग में एक सभा हो रही थी। सभा में लगभग २० हजार आदिमियों की भीड़ थी, स्थान घिरा हुआ था, जिसमें केवल एक मुख्य रास्ता था। सभा का समाचार मिलने पर जनरल डायर ९० सैनिक और २ मशीनगन लेकर वहाँ पहुँच गया। उसने “तीस सेकेंड” में अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया और गोली चलाने की आज्ञा दे दी। भीड़ के भागने पर भी गोली चलाना बन्द नहीं किया गया। जनरल डायर का कहना था कि “मैंने इसे पूरा तितर-बितर होने तक गोली चलाते रहना अपना कर्तव्य समझा। यदि मैंने थोड़ी गोलियाँ चलाई होती तो यह मेरी भूल होती।”

इसमें लगभग एक हजार निरपराध मनुष्यों की जान गई और बहुत से

घायल हुए, जिनकी सेवा, शुश्रूषा और चिकित्सा का कोई उचित प्रबन्ध न किया गया।^१ पंजाब के पाँच जिलों में जंगी कानून जारी कर दिया गया। कितने ही नेता निर्वासित कर दिये गये, शान्त नागरिकों को हर तरह से अपमानित और पीड़ित किया गया। पेट के बल रैंगने का दंड दिया गया और हर एक अँगरेज को सलाम करने का नियम बनाया गया। पंजाब की इन घटनाओं से देश भर में रोष फैल गया और सरकार की कठोर नीति की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की गई। कांग्रेस की ओर से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसने सर माइकेल ओडायर की नीति को पंजाब के असन्तोष का मुख्य कारण बतलाया और जनरल डायर की कठोरता का वर्णन करते हुए, उसे दंड देने का अनुरोध किया। वाइसराय लार्ड चेम्सफर्ड की उदासीनता पर भी उसने खेद प्रकट किया और उसको वापस बुला लेने की सलाह दी। हंटर की अध्यक्षता में जाँच करने के लिए सरकार की ओर से भी एक कमेटी नियुक्त हुई, जिसके सामने जनरल डायर ने स्वीकार किया कि जलियानवाला की फायरों से भय उत्पन्न करके वह “नैतिक प्रभाव” डालना चाहता था। कमेटी के अँगरेज मेम्बरों ने, जिनकी संख्या अधिक थी, राजनैतिक आन्दोलन को अशान्ति का मुख्य कारण बतलाया। उनकी राय में पंजाब में राज-विद्रोह की स्थिति थी, जिसके दमन के लिए जंगी कानून आवश्यक था, पर फौजी अफसरों ने कुछ अनुचित उपायों से काम लिया और जनरल डायर ने जलियानवाला में ज्यादती की। कमेटी के हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय में जंगी कानून जारी करनेवाली स्थिति न थी और अशान्ति के मुख्य कारण वे ही थे, जिन्हें कांग्रेस कमेटी ने बतलाया।

भारत-सरकार ने हंटर कमेटी के अँगरेज मेम्बरों की राय मानकर जंगी कानून के कुछ कार्यों की निन्दा की और जनरल डायर के व्यवहार को कठोर तथा “आवश्यकता से अधिक” बतलाया। इंग्लैंड-सरकार ने भी यही मत प्रकट

^१ सरकार ने मरे हुए लोगों की संख्या पहले २९१ और बाद में ३७९ या कुछ अधिक मानी।

किया और जनरल डायर के “नैतिक प्रभाव” के मत का खंडन किया। सिवा निन्दा करने के अपराधी अफसरों को कोई दंड न दिया गया। जनरल डायर को, जो अपने पद से हट गया था, भारतवर्ष के खजाने से बराबर पेंशन मिलती रही। भारतवर्ष से बहुत से अँगरेजों ने भी उसका बड़ा पक्ष लिया। ऐंग्लो इंडियन समाचारपत्रों में उसकी वीरता की प्रशंसा की गई और उसकी सहायता के लिए चन्दा भी जमा किया गया। पंजाब के सम्बन्ध में सरकार के निर्णय से सारे देश में असन्तोष प्रकट किया गया।

खिलाफत—तुर्की के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर इंग्लैंड के प्रधान सचिव की ओर से भारतवर्ष के मुसलमानों को यह वचन दिया गया था कि खलीफा के मान का बराबर ध्यान रखा जायगा और उनके पवित्र स्थान की रक्षा की जायगी। परन्तु सन्धि करने के समय इसका कुछ भी ध्यान न रखकर बड़ी अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करने के लिए खलीफा से कहा गया। इस पर भारतवर्ष के मुसलमानों में बड़ी खलबली मच गई और आन्दोलन करने के लिए ‘खिलाफत कमेटी’ स्थापित की गई। सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त के लगभग १८ हजार मुसलमानों ने भारतवर्ष छोड़कर अफगानिस्तान चले जाना निश्चित किया। इस ‘हिजरत’ में इन यात्रियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, अफगान-सरकार ने इनका आना रोक दिया, वापस होने में मार्ग के कष्ट से बहुतों के प्राण गये। अन्त में यह विचार त्याग दिया गया और भारतवर्ष ही में बड़े जोरों का आन्दोलन करना निश्चित किया गया। गान्धीजी ने भी इसमें मुसलमानों का साथ दिया, खिलाफत को उन्होंने ‘हिन्दुओं की गाय’ बतलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों में अद्भुत एकता का संचार हो गया।

असहयोग आन्दोलन—पंजाब और खिलाफत के प्रति सरकार की नीति से असन्तुष्ट होकर असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। सितम्बर सन् १९२० में, कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसने गान्धीजी की सलाह से यह निश्चित किया कि स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकारी उपाधियाँ त्याग दी जायँ, अवैतनिक पदों से इस्तीफा दे दिया जाय,

सरकारी दरबार तथा अन्य उत्सवों में जाना छोड़ दिया जाय, सरकारी या सरकार से सहायता पानेवाले स्कूल तथा कालेजों से लड़के हटा लिये जायँ, उनकी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय स्कूल खोले जायँ, धीरे धीरे सरकारी अदालतों में जाना छोड़ दिया जाय और उनकी जगह पर पंचायतें नियुक्त की जायँ। नई कौंसिलों के निर्वाचन में कोई भाग न लिया जाय और सूत की कताई तथा कपड़े की बुनाई का खूब प्रचार किया जाय। दिसम्बर में नागपुर की कांग्रेस में इसका समर्थन किया गया और इसको अहिंसात्मक बनाये रखने पर बड़ा जोर दिया गया। कांग्रेस का संगठन भी ठीक किया गया। बराबर काम चलाने के लिए एक 'कार्यकारिणी समिति' (वर्किंग कमेटी) नियुक्त की गई और "न्याययुक्त तथा शान्त उपायों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति" कांग्रेस का ध्येय बनाया गया।

अगस्त सन् १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो गई। उनकी स्मृति में 'तिलक स्वराज्य कोष' स्थापित किया गया और देश भर में असहयोग आन्दोलन बड़े जोरों से चल पड़ा। हजारों विद्यार्थियों ने सरकार से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं में पढ़ना छोड़ दिया। पढ़ाई के लिए कई एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये। कौंसिलों के बहिष्कार में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई। लिबरल नेताओं को छोड़कर, जो असहयोग की नीति से सहमत न थे, अन्य कोई राष्ट्रीय नेता नई कौंसिलों में न गया। खदर राष्ट्रीय पोशाक हो गया और चर्खा का प्रचार फिर से प्रारम्भ हुआ। असहयोगी नेताओं ने देश भर में भ्रमण किया, गाँवों तक में कांग्रेस की शाखाएँ स्थापित हो गईं, हिन्दू और मुसलमान परस्पर के भेद को भूल गये और सारे देश में एक विचित्र जाग्रति हो गई।

लार्ड रीडिंग—अप्रैल सन् १९२१ में लार्ड रीडिंग वाइसराय होकर आया। यह इंग्लैंड का प्रधान न्यायाधीश रह चुका था, जिसके कारण सबको आशा थी कि उसके समय में न्याय होगा। लार्ड रीडिंग भी आते ही जलियानवाला गया और मुख्य मुख्य नेताओं से मिला, जिसका अच्छा प्रभाव

पड़ा। उसने जनता का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए युवराज (प्रिंस ऑफ वेल्स) को आमंत्रित किया, परन्तु इस समय देश में दूसरी धुन थी। 'तिलक



लार्ड रीडिंग

स्वराज्य कोष' में बात की बात में एक करोड़ रुपया जमा हो गया था, सरकार की दमन-नीति के उत्तर में 'सविनय अवज्ञा' की तैयारियाँ हो रही थीं। देश भर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक भरती किये जा रहे थे, विलायती कपड़े के पूर्ण बहिष्कार और खदर के प्रचार पर जोर दिया जा रहा था। अछूत जातियों के उद्धार और मादक वस्तुओं के व्यवहार को रोकने के लिए भी प्रयत्न हो रहा था। कांग्रेस ने युवराज के आने को "राजनैतिक चाल" समझकर उसके बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया, पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि "भारतवर्ष को युवराज के साथ किसी प्रकार का व्यक्तिगत द्वेष नहीं।" इस पर लार्ड रीडिंग ने समझौते का भी कुछ प्रबन्ध किया, पर सफलता न हुई। बम्बई में विलायती कपड़े की होली जलाकर युवराज का स्वागत किया गया। इस अवसर पर कुछ उपद्रव भी हुआ, जिसमें कई आदमियों की जान गई। इसके प्रायश्चित्त में गान्धीजी ने ६ दिन का उपवास किया। देश भर में जहाँ जहाँ युवराज गया वहीं पूर्ण हड़ताल मनाई गई। इससे लार्ड रीडिंग का रुख थिलकुल बदल गया और उसने असहयोग आन्दोलन का अच्छी तरह से दमन करना निश्चित कर लिया।

उसके आने के पहले 'ही सरकार की दमन-नीति प्रारम्भ हो गई थी। संयुक्त प्रान्त में असहयोग आन्दोलन क्रान्तिकारी बतला दिया गया था, बिहार में स्वयंसेवकों पर बड़ा अत्याचार किया जा रहा था। जगह जगह सरकारी अफसरों द्वारा 'अमन सभाएँ' स्थापित की जा रही थीं और उनमें सब तरह से असहयोगियों को बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा था। अब और भी कड़ाई से काम लिया जाने लगा। जहाँ कहीं उपद्रव हुआ उसके लिए असहयोगी ही अपराधी ठहराये गये। हजारों असहयोगी, बड़े-बड़े नेताओं सहित, जिनसे कभी विद्रोह की आशंका नहीं की जा सकती थी, जेल में ठूस दिये गये।

मोपला-विद्रोह—इतने ही में मद्रास के मलबार प्रान्त में मोपला-विद्रोह उठ खड़ा हुआ। मलबार में बसे हुए अरब लोग मोपला कहलाते हैं। ये कट्टर मुसलमान हैं और इनमें शिक्षा का भी प्रचार नहीं है। यहाँ के जमींदारों और काश्तकारों में बहुत दिनों से झगड़ा था। खिलाफत आन्दोलन भी चल पड़ा था, पर इनको इसके वास्तविक अर्थ का पता न था। कुछ उपद्रव होने पर कलेक्टर की आज्ञा से एक मसजिद घेर ली गई और नेताओं का मलबार जाना रोक दिया गया। इस पर ये लोग जोश में आकर त्रिगड़ पड़े। कुछ अँगरेज अफसर मार डाले गये और 'खिलाफत राज्य' स्थापित किया गया। यहाँ हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया गया, बहुत से हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान बना डाले गये और उनके मन्दिर तोड़ डाले गये। सरकार ने सेना भेज कर उपद्रव शान्त किया और जंगी कानून जारी कर दिया। बहुत से मोपला कैद करके निर्वासित कर दिये गये। सौ कैदी मालगाड़ी के एक डब्बे में भर दिये गये, जिनमें से ६६ दम घुटने के कारण मर गये। मोपलाओं को उत्तेजित करने का अपराध भी असहयोगियों के मत्थे मढ़ दिया गया।

चौरीचौरा—गान्धीजी के बहुत प्रयत्न करने पर भी आन्दोलन अहिंसात्मक न रह सका। इसके कई एक कारण थे। सबसे मुख्य बात

तो यह है कि सविनय अवज्ञा की सफलता के लिए बड़े अध्यात्म-बल, आत्म-संयम, धैर्य और सहनशीलता की आवश्यकता है। सबमें इन गुणों का होना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन को बदनाम करने के लिए सरकार की ओर से सभी तरह के उपायों से काम लिया जा रहा था। बदमाशों को भी अपना मतलब सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया था और उनकी वजह से जगह जगह उपद्रव हो रहे थे। खिलाफत का झगड़ा चल ही रहा था। अहिंसात्मक उपायों से सफलता की कोई आशा न देखकर कुछ मुसलमान नेता भी असन्तुष्ट हो रहे थे। सरकार की दमन-नीति के कारण जनता की उत्तेजना बहुत बढ़ गई थी और उस पर काबू रखना नेताओं के लिए असम्भव हो रहा था। कई जगह उपद्रव हो चुके थे, पर फरवरी सन् १९२२ में गोरखपुर के जिले में एक बड़ी दुर्घटना हो गई। चौरीचौरा के थाने में आग लगा दी गई और थानेदार तथा सिपाही सब मिलाकर २२ आदमी मार डाले गये।

बारडोली-निर्णय—इस दुर्घटना से गान्धीजी की आँखें खुल गईं और उन्हें विश्वास हो गया कि देश सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं। बारडोली में, जहाँ सत्याग्रह के लिए बड़े जोरों से तैयारी हो रही थी, 'कांग्रेस वर्किंग कमेटी' की एक बैठक की गई, जिसमें सविनय अवज्ञा स्थगित करके, खदर के प्रचार, अछूतों के उद्धार, मादक वस्तुओं के निषेध, राष्ट्रीय विद्यालयों तथा पंचायतों को स्थापित करने और कांग्रेस के मेम्बरों की संख्या बढ़ाने पर अधिक जोर देना निश्चित किया गया। कई नेताओं की राय में ऐसा निर्णय करके बड़ी भूल की गई, देश की जागृति से पूरा लाभ न उठाया गया, पहले धमकी देकर फिर सविनय अवज्ञा छोड़ देने का प्रभाव जनता पर अच्छा न पड़ा और उसकी हिम्मत टूट गई। गाँधीजी का कहना था कि बिना सविनय अवज्ञा की योग्यता के उसका प्रारम्भ करना हानिकारक है। सबसे पहले 'सत्य और अहिंसा' के सिद्धान्तों को अपने जीवन में लाना चाहिए। अपनी आत्मा की अपेक्षा संसार के सामने झूठा बनना लाखों दर्जा अच्छा है।

गान्धीजी की इस जटिल उक्ति को साधारण जनता समझ न सकी, जिसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे उनका प्रभाव कम पड़ने लगा। सरकार बहुत दिनों से उन्हें दंड देने का विचार कर रही थी, परन्तु असहयोग आन्दोलन के जोर और गान्धीजी की लोकप्रियता के कारण उसकी हिम्मत न पड़ती थी।^१

अब उसको अच्छा अवसर मिल गया और उसने कुछ तीव्र लेखों के कारण मार्च सन् १९२२ में गान्धीजी को गिरफ्तार करके मुकदमा चलाने की आज्ञा दे दी। उन पर सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न करने और उसे नष्ट करने की चेष्टा करने का



अपराध लगाया गया। उत्तर

महात्मा गान्धी

में गान्धीजी का कहना था कि जिस सरकार ने भारत को दरिद्र बना दिया है, जिसके कानूनों से उसकी लूट हो रही है और जिसके शासन ने उसको पुरुषार्थ-हीन बना दिया है, उस सरकार के प्रति किसी को भी स्नेह नहीं हो सकता। इस पर उन्हें ६ साल की सादी कैद का दंड दिया गया। जेल जाते समय महात्माजी देश के लिए केवल 'खदर' का सन्देश छोड़ गये। असहयोग आन्दोलन धीरे धीरे ठंडा पड़ रहा था, ऐसे समय पर उन्हें जेल भेजकर जनता पर केवल आतंक जमाने का प्रयत्न किया गया।

असहयोग का प्रभाव—जिस उद्देश्य के लिए असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, वह प्राप्त न हो सका, यह बात ठीक है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस आन्दोलन से देश का बड़ा लाभ हुआ। जनता में निर्भीकता आ गई, जेलों का भय जाता रहा, सरकार की सच्ची नीति का सबको पता लग गया, गाँवों तक में स्वराज्य की चर्चा होने लगी, गरीबों की सहायता के लिए खदर का साधन मिल गया, अछूतों की दुर्दशा की ओर सबका ध्यान आकर्षित हो गया, कई राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये और देश भर को स्वावलम्बन का पाठ मिल गया। महात्माजी के आध्यात्मिक जीवन का भी कुछ लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके जीवन का काया-पलट ही हो गया।

मांटैग्यू का इस्तीफा—भारतसचिव मांटैग्यू की नीति तत्कालीन इंग्लैंड-सरकार को पसन्द न थी। नये सुधारों से भारत के सिविलियन भी खूब चिढ़े हुए थे और उनका पक्ष पार्लामेंट में लिया जा रहा था। फरवरी सन् १९२२ में उसकी नीति की पार्लामेंट में बड़ी तीव्र आलोचना की गई। गान्धीजी को गिरफ्तार न करने का भी उस पर दोष लगाया गया। प्रधान सचिव लायड जार्ज ने अपने एक भाषण में यह कहते हुए कि भारत में कभी प्रजातंत्र शासन नहीं रहा, इंडियन सिविल सर्विस को भारतवर्ष का “फौलादी ढाँचा” बतलाया। इतने ही में मांटैग्यू को भारतसचिव के पद से हटाने का एक अच्छा बहाना मिल गया। खिलाफत आन्दोलन का जोर बढ़ते देखकर भारत-सरकार ने तुर्की के साथ सिवर्स की जो सन्धि हुई थी, उसको बदलने के लिए मांटैग्यू को एक तार भेजा था। मुसलमानों को शान्त करने के लिए मांटैग्यू ने मंत्रि-मंडल से बिना पूँछे हुए इस तार को प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी। मुसलमानों को असहयोग आन्दोलन से हटाकर अपने पक्ष में मिलाने की दृष्टि से ही इस तार के प्रकाशन में इतनी शीघ्रता की गई थी। मंत्रि-मंडल ने मांटैग्यू के इस कार्य को अनुचित समझा, इस पर उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। जहाँ तक उससे बन पड़ा वह बराबर भारतवर्ष के हित के लिए प्रयत्न करता रहा।

तीसरा अफगान-युद्ध—फरवरी सन् १९१९ में अमीर हबीबुल्ला मार डाला गया। उसके बड़े लड़के ने अपने चचा के पक्ष में गद्दी का अधिकार त्याग दिया। इस पर नसरुल्ला अमीर हो गया। परन्तु हबीबुल्ला का तीसरा लड़का अमानुल्ला इसको सहन न कर सका। उसे सन्देह था कि उसके पिता का वध नसरुल्ला ने ही कराया है। अमानुल्ला को सेना बहुत चाहती थी। उसकी सहायता से वह अपने बड़े भाई और चचा को कैद करके अमीर बन गया। भारतवर्ष की अशान्ति में अमीर अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को पूरी तरह स्वतंत्र बनाने का अच्छा अवसर देखा। काबुल में बालशेविक रूस और तुर्की का प्रभाव बढ़ता हुआ देखकर अँगरेजों को भी बड़ी चिन्ता हो रही थी। अमीर की सेना भारत-



अमानुल्ला .

वर्ष की तरफ बढ़ते देखकर युद्ध छेड़ दिया गया। इसमें अफगान सेनापति नादिरखाँ ने बड़ी चतुरता से काम लिया। परन्तु अधिक दिनों तक अँगरेजों का सामना न किया जा सका। हवाई जहाज जलालाबाद और काबुल पहुँच गये। इस पर लड़ाई बन्द करके सन्धि की बात-चीत होने लगी। नवम्बर सन् १९२१ में दोनों राज्यों में सन्धि हो गई। इसके अनुसार अफगानिस्तान पूर्ण रूप से स्वतंत्र मान लिया गया और उसे रुपया देना बन्द

कर दिया गया। वहाँ के शासक अब 'अमीर' के बजाय 'शाह' कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में हबीबुल्ला के समय से ही झगड़ा चल रहा था।

सन् १९२७ में अमानुल्ला भारतवर्ष होता हुआ यूरोप गया। सब जगह उसका खूब स्वागत किया गया। वहाँ से लौटकर उसने बहुत से सुधार किये। शासन में सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय सभा स्थापित की गई, पर्दा उठा दिया गया, ब्रह्म-स्त्री-विवाह की प्रथा रोक दी गई और मुल्लाओं का जोर दबा दिया गया। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा तथा सभ्यता का देश में प्रचार करने का प्रबन्ध किया गया। इन उग्र सुधारों के लिए देश तैयार न था। खर्च अधिक बढ़ जाने से कई नये कर लगा दिये गये, जिससे प्रजा में असन्तोष फैल गया। सेना का वेतन बाकी पड़ा हुआ था, इसलिए वह भी असन्तुष्ट थी। सन् १९२८ के अन्त में शिनवारियों का भीषण विद्रोह उठ खड़ा हुआ। बच्चा सका हबीबुल्ला के नाम से बादशाह बन गया और अमानुल्ला कन्दहार भाग गया। साल भर तक देश में अराजकता फैली रही। इतने ही में फ्रांस से नादिरखाँ आ गया। सफलता की कोई आशा न देखकर अमानुल्ला इटली चला गया। उसका हिन्दू प्रजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार था। वह एशियाई राष्ट्रों का एक संघ स्थापित करना चाहता था। नादिरखाँ ने बड़ी चतुरता से देश को अपने पक्ष में करके काबुल पर अधिकार कर लिया। सन् १९२९ के अन्त में वह बादशाह बन गया और हबीबुल्ला मार डाला गया।

अकाली आन्दोलन—सिखों के बहुत से गुरुद्वारे हिन्दू महन्तों के हाथ में थे, जिनका प्रबन्ध ठीक ठीक न होता था। इनको सुधारने के लिए एक आन्दोलन चल पड़ा, जिसमें 'अकालियों' ने बहुत भाग लिया। इस सम्बन्ध में सरकार का प्रस्ताव पसन्द न आने पर इन लोगों ने सत्याग्रह द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करना निश्चित किया। सन् १९२० के अन्त में 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' नियुक्त हुई, जिसके आदेशानुसार सिखों ने गुरुद्वारों पर कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया। फरवरी सन् १९२१ में ननकाना के महन्त ने १३० अकालियों को मरवा डाला, जिसकी वजह से सिखों में बड़ा हलचल मच गया। सिखों की शिकायतें ठीक थीं, अदालतों द्वारा उनका दूर होना एक

तरह से असम्भव था, ऐसी दशा में सरकार का कर्तव्य था कि वह बीच में पड़कर झगड़ों को निपटवा देती, परन्तु ऐसा न करके इस आन्दोलन का भी दमन प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९२२ के अन्त में 'गुरु के बाग' में अपना अधिकार जताने के लिए, अकाली लकड़ी काटना चाहते थे। यहाँ का गुरुद्वारा इस समय भी महन्त के अधिकार में था। उसकी रक्षा के लिए पुलिस पहुँच गई, इस पर अकालियों ने अपने जत्थे भेजना शुरू कर दिया। कड़ी धूप में पुलिस के डंडों की मार सहकर भी ये जत्थे शान्त रहे। अन्त में बाग का ठेका एक दूसरे सज्जन को देकर यह मामला शान्त किया गया।

इतने ही में सरकार के विरुद्ध अकालियों को एक और शिकायत का मौका मिल गया। नाभा और पटियाला के राज्यों में आपस का कुछ झगड़ा था, जिसमें सरकार ने महाराजा नाभा को दोषी पाया। इस पर सन् १९२३ में महाराजा ने गद्दी छोड़ दी, जिस पर उसका लड़का बिठल दिया गया और राज्य का शासन भारत-सरकार की निगरानी में होने लगा। अकालियों की राय में महाराजा के साथ यह अन्याय किया गया। इसलिए वे महाराजा को फिर से गद्दी पर बिठलाने के लिए आन्दोलन करने लगे। जुलाई सन् १९२३ में नाभा राज्य के जायतो गुरुद्वारा में उनकी एक सभा तोड़ दी गई। परन्तु इससे अकाली डरे नहीं, उनके जत्थे बराबर मोर्चे पर पहुँचते रहे। इस पर अक्टूबर में सरकार ने 'गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' को गैरकानूनी ठहराकर सब मेम्बरों को गिरफ्तार कर लिया। कमेटी फिर से संगठित हो गई और पाँच महीने तक २५ आदमियों का एक जत्था रोजाना जाकर गिरफ्तार होता रहा। जनवरी सन् १९२४ में अमृतसर से ५०० आदमियों का एक 'शहीदी जत्था' पैदल खाना हुआ, जिसमें कनाडा और शंघाई से भी बहुत से सिख आकर शामिल हुए। मार्ग में इसके साथ बहुत भीड़भाड़ हो गई। जायतो पहुँचने पर नाभा-सरकार की ओर से गोली चलाई गई, जिसमें बहुतों के प्राण गये। दूसरी प्रबन्धक कमेटी के मेम्बर भी गिरफ्तार किये गये और 'कृपाण' बाँधना कानून-विरुद्ध ठहरा दिया गया।

सरकार का बहुत कुछ सैनिक बल सिलों पर निर्भर है। अधिक दिनों

तक उनको असन्तुष्ट रखना उचित न था। इसलिए सरकार ने कोई उपाय न देखकर अन्त में समझौता करना निश्चित किया। जुलाई सन् १९२५ में, पंजाब कौंसिल में 'गुरुद्वारा कानून' पास किया गया, जिसके अनुसार यथासम्भव गुरुद्वारों का प्रबन्ध सिखों के हाथ में दे दिया गया। सिख कैदी भी धीरे धीरे छोड़ दिये गये। इस आन्दोलन में ३० हजार सिख गिरफ्तार किये गये, ४०० के प्राण गये, दो हजार घायल हुए और १५ लाख रुपया जुरमाना में वसूल किया गया।^१ पर तब भी सिख बराबर शान्त रहे और उन्होंने इस बात को

दिखल दिया कि व्यवहार में भी गान्धीजी का सत्याग्रह असम्भव नहीं।



चित्तरंजन दास

स्वराज्य दल—
गान्धीजी के जेल जाने से असहयोग आन्दोलन और भी शिथिल पड़ गया। उनके बतलाये हुए कार्यक्रम पर अधिकांश जनता को श्रद्धा न थी और उसके लिए कुछ भी काम न हो रहा था। विद्यार्थी धीरे-धीरे फिर सरकारी स्कूल और कालेजों में वापस जा रहे थे, राष्ट्रीय संस्थाएँ टूट रही थीं, खहर का प्रचार कम पड़ रहा था, हिन्दू और मुसलमानों में भी

झगड़ा प्रारम्भ हो गया था। इसपर कांग्रेस की ओर से 'सविनय अवज्ञा कमेटी' नियुक्त की गई, जिसने देश भर में भ्रमण करके उस समय की स्थिति में सविनय अवज्ञा को सर्वथा असम्भव बतलाया और कौंसिलों में जाने की सलाह दी। इससे कुछ दिनों पहले से ही असहयोग के कई नेताओं की यह राय हो रही थी कि कौंसिलों में न जाकर भूल की गई। कहा जाता था कि लिबरलों के मिल जाने से सरकार और भी दृढ़ हो गई थी और अपनी मनमानी कर रही थी। इस भूल को सुधारने के लिए सन् १९२२ की गया कांग्रेस में 'स्वराज्य दल' स्थापित किया गया, जिसने कौंसिल में जाकर सरकार के हर काम में बाधा डालना निश्चित किया। श्री चित्तरंजन दास, जिन्होंने असहयोग के समय पर बैरिस्ट्री छोड़ दी थी और जेल जा चुके थे, इस दल के नेता बनाये गये।

कांग्रेस में इस समय भी महात्माजी के नाम का बड़ा प्रभाव था। उसने इस दल को अपनाना स्वीकार नहीं किया। इस दल की नीति असहयोग के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। कौंसिल-बहिष्कार ही असहयोग का एक अंग बाकी रह गया था, वह भी इस नीति से नष्ट हो रहा था। इस पर कांग्रेस में दो दल हो गये, एक तो कौंसिलवादियों का और दूसरा उन कट्टर असहयोगियों का, जो अपनी नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न चाहते थे। इसी लिए यह दल 'अपरिवर्तनवादियों' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों दलों में बहुत दिनों तक झगड़ा चलता रहा। स्वराज्य दलवाले कम संख्या में होते हुए भी कांग्रेस को अपने मत में लाने के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। बीमार पड़ने के कारण फरवरी सन् १९२४ में सरकार ने गान्धीजी को छोड़ दिया। सन् १९२३ के निर्वाचन में सफलता होने से स्वराज्य दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गान्धीजी ने भी देख लिया कि कौंसिलों का बहिष्कार अब सम्भव नहीं। इस पर उन्होंने राजनीति से अपना हाथ ही खींच लिया और हिन्दू-मुसलमानों की एकता, अछूतों के उद्धार तथा सब से अधिक खहर के प्रचार पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। खहर पहनना और सूत कातना कांग्रेस के मेम्बरों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। सफलता न होने पर सूत कातने

का नियम उठा दिया गया, पर खहर पहनने का नियम बना रहा। कताई का प्रचार करने के लिए गान्धीजी ने एक 'अखिल भारतीय चर्खा संघ' स्थापित किया जिसका व्यापारिक दंग पर अच्छा काम चला। सन् १९२५ में कांग्रेस ने स्वराज्य दल की नीति को मान लिया।

सन् १९२३ के निर्वाचन में स्वराज्य दल को अच्छी सफलता हुई। यदि इस अवसर पर कांग्रेस ने इसका साथ दिया होता तो बहुत सम्भव था कि इस दल की पूरी विजय हुई होती, पर तब भी असेम्बली में इसकी प्रधानता रही और प्रान्तीय कौंसिलों में बंगाल तथा मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल के लोग सबसे अधिक संख्या में चुने गये। इन दोनों कौंसिलों में मन्त्रियों का नियुक्त होना असम्भव कर दिया गया। बंगाल में दास की नीति-निपुणता के कारण सरकार को कई बार हार खानी पड़ी। मध्यप्रान्त में मन्त्रियों के विभाग अन्ततः एकजीवियुटिव कौंसिल के मेम्बरों को ही सौंप दिये गये। असेम्बली में भी स्वराज्य दल ने अपनी धाक जमा दी। असहयोग के दमन में सरकार का साथ देने के कारण इस निर्वाचन में लिबरलों की पूरी हार हुई थी। अन्य दल भी सरकार की नीति से सन्तुष्ट न थे। देशी नरेशों की समाचार-पत्रों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए एक कानून गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया था। इसी तरह पूरा विरोध करते रहने पर भी नमक-कर बढ़ा दिया गया था। इस असन्तोष से स्वराज्य दल ने खूब लाभ उठाया। उसने अन्य दलों से मिलकर सरकारी बजट नामंजूर कर दिया, जो गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास किया गया।

परन्तु अन्य दलों के साथ यह मेल स्थायी न हुआ, जिसकी वजह से स्वराज्य दल को फिर अधिक सफलता न हुई। उसकी नीति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया, हर एक काम में बाधा डालना छोड़ दिया गया और प्रजाहित के कार्यों में सरकार का साथ भी दिया जाने लगा। सन् १९२४ में दास की मृत्यु हो जाने से और भी धक्का लगा और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का भी प्रभाव पड़ा। नीति में परिवर्तन होने के कारण लोकप्रियता घट गई, आपस में ही मतभेद हो गया, कुछ महाराष्ट्र नेता सरकारी पदों को स्वीकार करने के

पक्ष में भी हो गये। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि सन् १९२६ के निर्वाचन में कांग्रेस के प्रयत्न करने पर भी इस दल को अधिक सफलता नहीं हुई। असेम्बली में इस दल के मेम्बरों की संख्या लगभग उतनी ही रही और बंगाल तथा मदरास में कुछ अधिकता रही। इस बार मंत्रियों को नियुक्त न करने देने का प्रयत्न कहीं भी सफल नहीं हुआ।

खिलाफत का अन्त—सन् १९२४ में, तुर्की में प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया। सुल्तान गद्दी से उतार दिया गया और मुस्तफा कमाल पाशा राष्ट्रपति बनाया गया। इसके पहले ही लेसान की सन्धि हो गई थी, जिसमें यूरोपीय राष्ट्रों ने तुर्की की स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी। तुर्की का यह कार्य भारतीय मुसलमानों को पसन्द न आया। खिलाफत की प्राचीन संस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्न भी किया गया, पर कोई सफलता न हुई। इस तरह खिलाफत का झगड़ा आप ही आप शान्त हो गया, पर तब भी मुसलमानों की कई एक शिकायतें बनी रहीं। उनके कुछ पवित्र स्थानों पर, नई सन्धियों के अनुसार, अन्य राष्ट्रों का अधिकार हो गया। अरब में बहवी सुल्तान इब्नसऊद की विजय के कारण यह समस्या और भी जटिल हो गई।

हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा—खिलाफत के अन्त के साथ साथ असहयोग के दिनों में हिन्दू-मुसलमानों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह भी नष्ट हो गई। सन् १९२३ में दोनों का भेदभाव बहुत बढ़ गया और सन् १९२४ में सहारनपुर के जिले में मुहर्रम के समय पर बड़ा भारी दंगा हो गया। उत्तरी भारत के अन्य कई स्थानों में भी बहुत से दंगे हुए। इसके पहले भी कहीं एक आध दंगे हो जाते थे, पर इधर इनके बढ़ जाने के कई कारण थे। असहयोग एक राजनैतिक आन्दोलन था, इसके साथ खिलाफत का सम्बन्ध जोड़ देने से धार्मिक भाव पैदा हो गया। नये सुधारों में परस्पर के भेदभाव को मिटाने की कोई चेष्टा नहीं की गई। कौंसिल में दोनों के प्रतिनिधि अलग अलग चुने ही जाते थे, अब म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों

में भी इसी नियम से काम लिया जाने लगा और सरकारी नौकरियाँ देने में भी हिन्दू-मुसलमानों का खयाल होने लगा। जो हिन्दू पहले मुसलमान हो गये थे उन्हें शुद्ध करने के लिए आन्दोलन चल पड़ा और हिन्दू-समाज को सुसंगठित बनाने के लिए 'हिन्दू महासभा' स्थापित हो गई। मुसलमानों में भी 'तंजीम और तक्लीफ' के लिए आन्दोलन होने लगा। धार्मिक प्रचार तथा सामाजिक संगठन का दोनों को समान अधिकार है, पर इनमें राजनैतिक रंग ला दिया गया। इसी तरह केवल राजनैतिक प्रश्नों में भी धर्म और जाति के भावों का समावेश कर दिया गया। गोवध का झगड़ा पहले ही से था, हिन्दू सदा से इसका विरोध करते रहे, अब मुसलमानों ने मसजिदों के सामने बाजा बजाने पर आपत्ति करना प्रारम्भ कर दिया। इन भेद-भावों को उत्तेजित करने में कुछ लोगों को आनन्द आने लगा; जिसका परिणाम यह हुआ कि देशभर में दोनों जातियों में परस्पर का अविश्वास उत्पन्न हो गया और लड़ाई-झगड़े तथा दंगा-फसाद होने लगे।

सितम्बर सन् १९२४ में सीमाप्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा उपद्रव हो गया। एक साधारण झगड़े पर सरहद्दी मुसलमानों ने नगर के हिन्दू मुहल्लों में आग लगा दी, दूकानें लूट लीं और कुछ लोगों को मार डाला। बहुत से हिन्दू कोहाट छोड़कर रावलपिंडी भाग आये। गुलबर्गा और लखनऊ में भी उपद्रव हुए। कोहाट के पूरे समाचार मिलने पर गान्धीजी ने दिल्ली में २१ दिन का उपवास किया। इसी समय दिल्ली में 'एकता सम्मेलन' हुआ, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पार्सी और सिखों के प्रतिनिधि शामिल हुए। इस सम्मेलन ने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर देते हुए यह निश्चित किया कि जहाँ जैसी रीति है उसी के अनुसार, बिना किसी का दिल दुखाये काम करना चाहिए। परन्तु इसके निर्णयों पर काम नहीं किया गया। कांग्रेस ने भी इन झगड़ों को निपटाने का कई बार प्रयत्न किया, पर तब भी कुछ न हुआ। झगड़ा बराबर बढ़ता ही गया और दोनों ओर से ब्यादतियाँ होती रहीं। सरकार की कोई निश्चित नीति न रही और उसने दोनों के अधिकारों की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न भी नहीं किया। सन् १९२६ में गुरुकुल कांगड़ी के

स्थापक स्वामी श्रद्धानन्दजी का वध कर डाला गया। इलाहाबाद और कलकत्ता में भी बड़े उपद्रव हुए। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है— ये झगड़े प्रायः ब्रिटिश भारत में ही होते थे, पर देशी गज्यों में बहुत कम।

सुधारों की उपयोगिता—असहयोग के दिनों में नई कौंसिलों में प्रजा के प्रतिनिधियों का कुछ ध्यान रखा गया। उनके कहने पर न्याय तथा शस्त्रों के सम्बन्ध में गोरे-काले का भेद उठाने, कुछ दमनकारी कानूनों को रह करने और समाचारपत्रों को अधिक स्वतंत्रता देने का प्रयत्न किया गया। मद्रास और संयुक्त प्रान्त में मंत्रियों के साथ मिलकर चलने की भी चेष्टा की गई। परन्तु असहयोग का जोर ठंढा हो जाने तथा माटेग्यू के हटने पर सरकार की नीति फिर बदल गई। असेम्बली में 'देशी नरेश-रक्षक कानून' प्रतिनिधियों के विरोध करते रहने पर भी गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया और नमक-कर बढ़ा दिया गया। प्रान्तीय सरकारों में लिबरल दल के मंत्रियों को काम करना असम्भव कर दिया गया और उनको मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा। इंग्लैंड की मजदूर सरकार के शासनकाल में भी, जिससे भारतवर्ष को बहुत कुछ आशा थी, बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए एक कठोर आज्ञा (बंगाल आर्डिनेंस) निकाली गयी। इसके अनुसार किसी पर ऐसे षड्यन्त्रों में भाग लेने का सन्देह होने ही से बिना अभियोग चलाये हुए, उसको जेल में रखने या निर्वासित करने का अधिकार बंगाल-सरकार को मिल गया। सभी जगह विशेषाधिकारों से काम लिया जाने लगा। सरकार की इन कार्यवाहियों से, जो उसका साथ देना चाहते थे, उन्हें भी यह भासित हो गया कि सुधारों से सरकार के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त नहीं हुआ, जैसा कि ड्यूक ऑफ कनाट के भाषण में कहा गया था।

पहली असेम्बली के कहने पर सरकार ने भारतसचिव को यह लिखना स्वीकार कर लिया था कि असेम्बली की राय में सन् १९३० के पहले ही सुधारों की फिर से जाँच करना आवश्यक है। परन्तु दूसरी असेम्बली ने, जिसमें स्वराज्य दलवालों की अधिकता थी, यह प्रस्ताव पास किया कि

भारत की शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार और प्रजा के प्रतिनिधियों का एक मिश्रित सम्मेलन (सउंड टेबल कान्फ्रेंस) होना चाहिए। इसका स्वीकार करना तो दूर रहा, सन् १९१७ की विश्ति का भी इस अवसर पर मनमाना अर्थ लगाया गया। सरकार का कहना था कि विश्ति में 'उत्तरदायी शासन' का वचन दिया गया है, जिसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' नहीं। अन्ततः सुधार-कानून के अन्तर्गत और क्या परिवर्तन हो सकते हैं, केवल इस पर विचार करने के लिए सन् १९२४ में मुडीमैन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई।

इस कमेटी के सामने जो गवाहियाँ हुईं, जूनमें यह स्पष्ट हो गया कि दोहरी शासन-व्यवस्था केवल असफल ही नहीं हुई, बल्कि भविष्य में भी उससे देश के हित की कोई आशा नहीं। गवर्नर और उसकी एक्जीक्युटिव कौंसिल मंत्रियों के साथ मिलकर काम नहीं करते। बहुत से प्रान्तों में मंत्रियों की मिश्रित जिम्मेदारी नहीं, हर एक मंत्री अलग अलग जिम्मेदार माना जाता था। जिस दंग से विषयों का विभाग किया गया, वैसा होना असम्भव है। शासन के सभी विभागों का एक दूसरे से सम्बन्ध है, इसलिए कुल शासन की एक ही जिम्मेदारी हो सकती है। अर्थ-विभाग एक्जीक्युटिव कौंसिल के मेम्बर के हाथ में रहने से मंत्रियों के काम में बड़ी बाधा पड़ती थी और भारतसचिव तथा गवर्नर का मंत्रियों पर, जो जनता के प्रति जिम्मेदार समझे जाते थे, पूरा अधिकार रहता था। इस कमेटी की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई, उसमें अधिकांश मेम्बरों ने यह राय दी कि राजनैतिक अशान्ति के कारण नई शासन-व्यवस्था से पूरा लाभ नहीं उठाया गया। सुधार-कानून के अन्तर्गत रहकर ही, कुछ फेर-फार करने से लाभ हो सकता है। इसके विरुद्ध कमेटी के तीन हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय थी कि दोहरी शासन-व्यवस्था से हित की सम्भावना नहीं, इसलिए 'रायल कमीशन' द्वारा फिर से जाँच कराना चाहिए और इस व्यवस्था का अन्त ही कर देना चाहिए।

लार्ड अरविन—सन् १९२६ में पार्लियामेंट ने यह नियम बना दिया कि गवर्नर-जनरल, प्रधान सेनापति, गवर्नर तथा एक्जीक्युटिव कौंसिल के मेम्बर

भी छुट्टी ले सकते हैं। इस पर लार्ड रीडिंग तीन महीने की छुट्टी लेकर भारतसचिव से परामर्श करने के लिए इंग्लैंड गया। उसके स्थान पर बंगाल का गवर्नर लार्ड लिटन काम करता रहा। वहाँ से उसके लौटने पर मालूम हुआ कि कृषि की उन्नति के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त होनेवाला है। लार्ड रीडिंग की अवधि समाप्त होने पर लार्ड अरविन वाइसराय बनाया गया। यह सर चार्ल्स बुड का पोता था, जो पहले भारतसचिव था और जिसने देशी राज्यों के प्रति लार्ड डल-हौजी की नीति को बदल था। इसी के समय में प्रारम्भिक शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया था। लार्ड अरविन को खेती में बढ़ी दिलचस्पी रही और



लार्ड अरविन

अपनी शिष्टता तथा सादगी के लिए बहुत प्रसिद्ध हुए।

भारत और साम्राज्य—गत यूरोपीय महायुद्ध के समय से साम्राज्य-सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर कई एक भारतीय नेताओं के जाने का फल यह हुआ कि उन्हें उपनिवेशों के प्रतिनिधियों को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया, जिसके कारण बहुत से भ्रम दूर हो गये। कनाडा और आस्ट्रेलिया में हिन्दुस्तानियों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार होने लगा, परन्तु दक्षिण अफ्रीका पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। गान्धीजी के साथ जो समझौता हुआ था, सन् १९१९ से उसके विरुद्ध फिर काम होने लगा। कई

बार कुलियों को निकालने तथा प्रवासी हिन्दुस्तानियों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न किया गया। इस पर भारत में फिर असन्तोष बढ़ने लगा। परस्पर का भ्रम दूर करने के लिए सन् १९२६ में भारत-सरकार ने एक डेप्यूटेशन (प्रतिनिधि मण्डल) दक्षिण अफ्रिका भेजा, वहाँ से भी एक डेप्यूटेशन भारत आया। इस तरह आपस में फिर समझौता हो गया। दक्षिण अफ्रिका में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों की, जिनकी संख्या डेढ़ लाख से भी अधिक है, देख-भाल करने के लिए वहाँ भारत का एक 'एजेंट' (प्रतिनिधि) रखना निश्चित हुआ और इस पद पर श्रीनिवास शास्त्री नियुक्त किये गये। पूर्व अफ्रिका में भी, विशेष कर कीनिया में, हिन्दुस्तानियों के साथ बड़ा अन्याय हो रहा था। साम्राज्य के सभी भागों में अपनी अधीनता के कारण भारत को अपमान सहना पड़ता था।

राष्ट्रसंघ—जब साम्राज्य के भीतर ही उसकी यह दशा थी, तब फिर संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों में उसका मान ही क्या हो सकता था? उन दिनों सबसे भारी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'राष्ट्रसंघ' (लीग ऑफ नेशंस) था, जो महायुद्ध के पश्चात्, संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिए स्थापित किया गया था। भारत भी इस संघ का सदस्य बना और उसका खर्च चलाने के लिए हर साल एक बड़ी रकम देने लगा। परन्तु उसमें जाने के लिए प्रतिनिधि सरकार द्वारा चुने जाते थे। सन् १९२८ तक इन प्रतिनिधियों का नेता कोई अँगरेज ही होता था, परन्तु सन् १९२९ में वाइसराय की कौंसिल का एक हिन्दुस्तानी मेम्बर पहली बार नेता बनाया गया।

सीमाओं का प्रश्न—सन् १९१९ में अफगान-युद्ध की चर्चा सुनकर सीमा पर के वजीरी और महसूदियों ने फिर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सेना भेजकर उन्हें दबाने का प्रयत्न किया गया और यह निश्चित किया गया कि रुपया तथा हथियार देकर रक्षा का भार उन्हीं लोगों के हाथ में सौंपने की नीति से काम न चलेगा, वजोरिस्तान में सेना रखनी पड़ेगी और रेल तथा सड़कों को जमरूद के आगे भी बढ़ाना पड़ेगा। दो वर्ष तक यह उपद्रव जारी रहा, जिसको शान्त करने में बड़ा धन फूँका गया और बहुत सी कठिनाइयाँ

उठानी पड़ीं। सन् १९२१ के अन्त में सेना हटा ली गई और रक्षा का भार फिर 'खात्सादारों' को सौंप दिया गया। इस सीमा-प्रदेश के सम्बन्ध में इस समय भी दो मत चल रहे थे—एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' का पक्षपाती था, दूसरे दल का कहना था कि इसमें बड़ा खर्च पड़ता है, इसलिए यहाँ सड़कें बनाकर सेना की चौकियाँ स्थापित कर देनी चाहिएँ और जहाँ तक सम्भव हो यहाँ पर बसनेवाली जातियों को अपने पक्ष में मिलाने रखना चाहिए। भारत-सरकार आवश्यकतानुसार दोनों नीतियों से काम लेती रही, जिसमें खूब धन उड़ा।

इस सीमा पर के निवासी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के जिलों में बड़ा ऊधम मचाया करते थे। सन् १९१९-२० में इनके ६११ धावे हुए, जिन में ३०० आदमियों के प्राण गये और ३० लाख की सम्पत्ति लुट गई। इन्हीं की वजह से इस प्रान्त की राजनैतिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ती रही। लार्ड कर्जन के समय से यह प्रान्त भारत-सरकार के अधीन हुआ। एक दल का कहना था कि इस प्रान्त में भी सुधार-योजना के अनुसार शासन होना चाहिए, पर दूसरे दल की राय थी कि सीमा प्रदेश भारत-सरकार की निगरानी में रखना ही ठीक होगा। इस प्रान्त के कुछ जिलों को पंजाब में मिला देना चाहिए, जिसमें सुधारों से वहाँ के निवासी भी लाभ उठा सकें। इस सम्बन्ध में भी हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न आ गया। सीमा प्रान्त में मुसलमानों की संख्या अधिक है, इसी लिए उसकी स्वतन्त्रता से कुछ हिन्दुओं को भय हो रहा था, परन्तु अधिकांश हिन्दू नेताओं को इसमें विशेष आपत्ति नहीं थी।

उत्तर की सीमा पर कोई ऐसा भय नहीं था। उस ओर हिमालय की दीवाल खड़ी है। उसके बाद तिब्बत है, जिसके साथ मित्रता का सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त उसकी ऐसी दशा भी नहीं थी कि वह भारत की ओर निगाह उठा सके। नैपाल के साथ एक नई सन्धि हो गई, जिसमें उसने सीमा पर निगरानी रखने का वचन दिया। इसके बदले में भारत-सरकार की ओर से उसे कई एक व्यापारिक सुविधाएँ दी गईं। पूर्व की ओर चीन की अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण बर्मा की सीमा पर सेना बढ़ाई जा रही

थी। कुछ वर्षों से बर्मा में उसे भारत से अलग करने के प्रश्न पर आन्दोलन हो रहा था। कहा जाता है कि बर्मियों का धर्म, उनकी जाति, भाषा तथा संस्कृति हिन्दुस्तानियों से भिन्न है, इसलिए भारत के साथ रहने में उनका हित नहीं। इस आन्दोलन में सरकार की ओर से बर्मियों को उत्साहित किया गया।

देशरक्षा—गत मेसोपोटामिया और अफगान-युद्ध में भारतीय सेना का कुप्रबन्ध देखकर सन् १९१९ में, लार्ड एशर की अध्यक्षता में, सेना का संगठन ठीक करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई। अक्टूबर सन् १९२० में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कई सुधार बतलाते हुए इसने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि भारतीय सेना साम्राज्य की सेना का एक अंग है, इसलिए इसकी नीति का संचालन इंग्लैंड के युद्ध-विभाग के हाथ में होना चाहिए। लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इस सिद्धान्त को मानने से इनकार कर दिया। उसका कहना था कि भारतीय सेना का मुख्य कर्तव्य भारत की रक्षा है, उसका पूरा प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ में रहना चाहिए और यथासम्भव स्वदेश-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए भारतवर्ष से बाहर उस सेना से काम न लेना चाहिए। साथ ही साथ उसने यह प्रस्ताव भी पास किया कि जल, स्थल और वायु तीनों प्रकार की सेनाओं में बिना किसी जातिभेद के हिन्दुस्तानियों को भरती करना चाहिए, हर साल बड़े बड़े ओहदों पर २५ फी सदी हिन्दुस्तानी 'शाही कमीशन' द्वारा नियुक्त करना चाहिए^१ और हिन्दुस्तानियों को सैनिक शिक्षा देने के लिए 'प्रादेशिक सेना' (टेरिटोरियल फोर्स) का संगठन ऐसा होना चाहिए, जिसमें हिन्दुस्तानी स्वदेश-रक्षा में भाग ले सकें और अँगरेजी सेना की भी अधिक आवश्यकता न रहे, जिसमें बड़ा धन खर्च होता था।

असेम्बली के बहुत जोर देने पर 'सहायक सेना' (आक्विजिलियरी फोर्स),

१ भारतीय सेना में दो प्रकार के अफसर होते थे, एक जो 'वाइसराय के कमीशन' द्वारा नियुक्त किये जाते थे और दूसरे जो 'किंग या शाही कमीशन' द्वारा 'शाही कमीशन' के अफसरों का पद ऊँचा और उनके अधिकार भी बहुत होते थे। यूरोपीय महायुद्ध के पहले किसी हिन्दुस्तानी को 'शाही कमीशन' न मिलता था।

जिसमें केवल यूरोपियन होते थे और 'प्रादेशिक सेना' (टेरिटोरियल फोर्स) के कुछ भेदों को मिटाने का प्रयत्न किया गया । विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा के लिए छोटे छोटे दल बनाये गये और देहरादून में एक सैनिक कालेज खोला गया । यहाँ की पढ़ाई समाप्त करने पर इंग्लैंड के 'सैंडहर्स्ट कालेज' में भरती होने का प्रबन्ध किया गया । इसमें हिन्दुस्तानियों के लिए दस जगहें रखी गयीं । 'शाही कमीशन' के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों के आठ दलों में धीरे धीरे सब अफसर हिन्दुस्तानी कर दिये जायें । 'सैंडहर्स्ट कालेज' में शिक्षा पाने पर प्रायः 'शाही कमीशन' मिलता था । असेम्बली के बहुत कहने पर भारत में एक ऐसे कालेज के स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए जनरल स्कीन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई । इसने सन् १९३३ में कालेज खोलने और तब तक सैंडहर्स्ट में हिन्दुस्तानियों के लिए जगहें बढ़ाने की सलाह दी, परन्तु इस ओर विशेष ध्यान न देकर भारत-सरकार 'आठ दलवाली योजना' ही पर डटी रही ।

भारत के पास कोई जहाजी सेना नहीं थी । सन् १८२९ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक ऐसी सेना बनाई थी, परन्तु सिपाही-विद्रोह के बाद वह तोड़ दी गई । तब से भारत के सागर-तट की रक्षा इंग्लैंड की जहाजी सेना द्वारा होती थी । इसके लिए हर साल इंग्लैंड को एक बड़ी रकम दी जाती थी । सन् १८९२ से भारत के पास कुछ जहाजों का एक छोटा बेड़ा रख गया जो 'रायल इंडियन मैरीन' कहलता था । सन् १९२६-२७ में इसी से भारत की जहाजी सेना (इंडियन नेवी) बनाने का प्रयत्न किया गया । इसमें कुछ हिन्दुस्तानियों के भरती करने का वचन दिया गया, परन्तु साथ ही साथ यह शर्त लगाई गई कि आवश्यकता पड़ने पर इससे साम्राज्य की रक्षा का काम लिया जायगा । असेम्बली ने इसको स्वीकार नहीं किया, इस पर यह विचार छोड़ दिया गया । इंडियन मैरीन के तीन जहाज जंगी बना दिये गये और कुछ हिन्दुस्तानियों को जहाजी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया । सरकार के पास 'रायल एअर फोर्स' के कुछ हवाई जहाज भी थे ।

स्वदेशरक्षा का भार अपने हाथ में न होने से हिन्दुस्तानी पूर्ण रूप से

अँगरेजों के अधीन हो गये। एक ओर तो उनकी सैनिक शिक्षा का कोई यथेष्ट प्रबन्ध नहीं किया जा रहा था और दूसरी ओर यह कहा जाता था कि स्वदेश-रक्षा के लिए अयोग्य होने के कारण, वे स्वराज्य के योग्य नहीं। भारत में सेना का बढ़ा खर्च था। सन् १९२१-२२ में यह ६५ करोड़ रुपया तक पहुँच गया था। इंचकेप कमेटी के कहने पर इसमें कुछ कमी की गई, परन्तु तब भी यह ५५ करोड़ रुपया था। इस तरह भारत का सैनिक खर्च आमदनी का ४२ सैकड़ा था जितना किसी देश में नहीं।

व्यापार—यूरोपीय महायुद्ध के समय व्यापार की बड़ी अनिश्चित अवस्था रही। इन दिनों जापान ने खूब लाभ उठाया। बाहर से आने-वाली चीजों का भाव बहुत बढ़ गया, यह दशा युद्ध के बाद भी कई साल तक बनी रही। भारत को बहुत सा बना हुआ माल बाहर से मँगाना पड़ता था। ६६ करोड़ रुपये साल का तो केवल कपड़ा ही आता था। पिछले दस वर्षों में लगभग ७ अरब रुपये का माल बाहर से आया। महायुद्ध के बाद विलायती कपड़े पर चुंगी बढ़ा दी गई। भारत के सम्बन्ध में स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न की जाँच करने के लिए सन् १९२१ में एक कमीशन नियुक्त हुआ, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १९२२ में 'टैरिफ बोर्ड' स्थापित किया गया। देश की किस औद्योगिक कला को सरकारी रक्षा और सहायता की आवश्यकता है, यह निश्चित करना इस बोर्ड का मुख्य काम था। सन् १९२४ में इस बोर्ड के कहने पर बाहर से आनेवाली लोहे की कुछ चीजों पर चुंगी बढ़ा दी गई और रेलों का सामान बनाने के लिए जमशेदपुर में टाटा के लोहे के कारखाने को आर्थिक सहायता दी गई। सन् १८९६ से भारतवर्ष में बने हुए कपड़े पर जो चुंगी ली जाती थी, वह सन् १९२६ में उठा दी गई।

देश की औद्योगिक कलाओं की उन्नति की ओर भी कुछ ध्यान दिया गया। सन् १९२१ में इसके लिए भारत-सरकार का एक अलग विभाग खोला गया। प्रान्तों में यह विभाग मंत्रियों के हाथ में था। लोकमत के जोर से सरकार थोड़ा-बहुत प्रयत्न इस ओर अवश्य कर रही थी, पर उसको सबसे अधिक ध्यान इंग्लैंड के लाभ का ही रहता था। साम्राज्य में बनी

चीजों का ही साम्राज्य के सब देशों में व्यवहार किया जाय इस पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। इस तरह इंग्लैंड का माल भारत के मत्थे मढ़ा जा रहा था, जिसका फल यह होता था कि भारतवर्ष को कभी कभी महँगी चीजें खरीदनी पड़तीं पर इंग्लैंड का व्यापार बढ़ता था और वहाँ की बेकारी दूर होती थी। महायुद्ध के बाद बहुत दिनों तक भारत की व्यापारिक दशा सुधर नहीं पाई थी। प्रधान नेताओं का मत था कि इसका सम्बन्ध अन्य देशों की स्थिति से है।

खेती—लार्ड अरविन के आने पर 'कृषि-कमीशन' नियुक्त हुआ। सन् १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसमें इसने पूसा के कृषि-कालेज को विस्तृत बनाकर कृषि-सम्बन्धी खाज के लिए अधिक सुविधाएँ देने को सलाह दी। इसने यह भी बतलाया कि कृषिविभाग में केवल भारत-वासियों को रखने से काम न चलेगा, विशेषज्ञों को बाहर से लाना चाहिए और किसानों को खेती की उचित शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिए। लगान की अधिकता के कारण बेचारे किसान पिसे जाते थे, इसको ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया और न मालगुजारी के प्रश्न पर ही विचार किया गया। इस कमीशन की सिफारिशों से किसानों की दशा कुछ भी नहीं सुधरी। इन्हीं दिनों बाहर से अन्न भी आना प्रारम्भ हो गया।

आर्थिक प्रबन्ध—खर्च बहुत बढ़ जाने के कारण महायुद्ध के बाद कई टैक्स बढ़ा दिये गये। कई साल तक सरकार को बड़ा घाटा होता रहा और कर्ज बढ़ता गया। सन् १९२४ में आमदनी और खर्च का हिसाब बराबर हो गया। सुधारों के समय से प्रान्तों को हर साल एक रकम भारत-सरकार को देनी पड़ती थी, जिससे उनके काम में बड़ी बाधा पड़ती थी। भारत-सरकार के बजट में बचत होने पर सन् १९२८-२९ में यह प्रबन्ध तोड़ दिया गया। चाँदी की कमी होने के कारण युद्ध के समय में एक एक रुपये के नोट चला दिये गये थे। इनसे जनता को बड़ी असुविधा होती थी। बाद में इनका छापना बन्द कर दिया गया।

जनता के विरोध करते रहने पर भी सन् १९२३ में नमक-कर फिर बढ़ा दिया गया। खर्च में कमी करने के लिए सन् १९२२ में लार्ड इंचकेप की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सेना तथा अन्य विभागों में खर्च कुछ घटाया गया। परन्तु भारतीय नौकरियों में अँगरेज युवकों की अधिक रुचि पैदा करने को दृष्टि से सन् १९२४ में 'ली कमीशन' ने तनखाहें तथा भत्ता बढ़ा देने की सलाह दी, जिसका फल यह हुआ कि भारत पर एक करोड़ रुपया साल का बोझ और लद गया।

ईस्ट इंडियन और ग्रेट इंडियन पेनिगुला रेलवे कम्पनियों के टिकटों की अवधि समाप्त होने पर सरकार ने उनका प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। सन् १९२४ से रेलों का बजट भी अलग कर दिया गया और उनका प्रबन्ध एक 'रेलवे बोर्ड' को सौंप दिया गया। तार और डाक के विभागों को भी व्यापारिक ढंग पर चलाने का प्रबन्ध किया गया। भारतवर्ष को हर साल एक बड़ी रकम विलायत भेजनी पड़ती थी, इससे बहुत सा सरकारी सामान खरीदा जाता था और अफसरों की तनखाहें तथा पेंशनें दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त व्यापार का लेन-देन भी रहता था। इसी लिए पाँड और रुपये की ठीक दर का बढ़ा ध्यान रखना पड़ता था। सन् १९२६-२७ में सरकार ने १ शिल्लिंग ६ पेंस रुपये की दर निश्चित कर दी। इस निर्णय से सरकार को अवश्य कुछ बचत हुई, पर बाहर माल भेजने में देश का बड़ा नुकसान होने लगा। 'एक्सचेंज' (विनिमय) और 'करंसी' (सिक्का) के सम्बन्ध में सरकार की मनमानी नीति के कारण भारत को करोड़ों रुपये का घाटा उठाना पड़ता था।

इन दिनों भारत की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। सन् १९२९ तक उस पर विलायती ऋज ४ अरब से भी अधिक हो गया, जो आदमी पीछे ४२ रुपया पड़ता था। इसके सूद तथा 'होम चार्ज' के नाम से अन्य खर्च के लिए उसे प्रति वर्ष ४० करोड़ रुपया इंग्लैंड भेजना पड़ता था। विलायती पूँजी तो भारत में इतनी खपी हुई थी कि उसका अनुमान करना कठिन था। इन सब रकमों के कारण देश इंग्लैंड के पास बन्धक सा हो रहा था। जनता पर टैक्सों का इतना बोझ लद गया था कि उसको पेट भर खाने तक का

ठिकाना नहीं था। भारत में आदमी पीछे प्रति दिन दो आने से अधिक की आमदनी का औसत नहीं था।

शिक्षा—सन् १९१७ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त हुआ। दो वर्ष तक देश में भ्रमण करने के बाद सन् १९१९ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने भारतीय शिक्षा के सभी प्रश्नों पर विचार किया। इसकी राय थी कि स्कूलों से निकलनेवाले हर एक विद्यार्थी के लिए विश्वविद्यालयों में पढ़ना सम्भव नहीं। ऐसी दशा में कालेजों से 'इंटरमीडियेट' के दर्जे निकालकर स्कूलों में मिला देने चाहिएँ और उनमें शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिसमें उनसे निकलने पर विद्यार्थियों को जीवन-निर्वाह में सहायता मिल सके। इन 'इंटरमीडियेट कालेजों' का निरीक्षण एक बोर्ड के हाथ में रखना चाहिए। विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में कमीशन का कहना था कि उनका मुख्य कर्तव्य "जीवन को हर तरह से उच्च बनाना" है। दूर दूर के कालेजों को एक विश्वविद्यालय में रखने का फल यह होता है कि उसका काम केवल परीक्षा लेना रह जाता है। इसलिए उसने सलाह दी कि ऐसे छोटे छोटे विश्वविद्यालय बनाने चाहिएँ, जिनमें विद्यार्थी निवास कर सकें और अध्यापकों के साथ रहकर पूरा लाभ उठा सकें।

इसी दंग पर सन् १९२०-२१ में ढाका तथा लखनऊ में नये विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये। 'अलीगढ़ कालेज' भी 'मुसलिम विश्वविद्यालय' बन गया, इसमें मुसलमानों की धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का भी नये दंग पर संगठन किया गया और दिल्ली, पटना, नागपुर, रंगून, आन्ध्रप्रान्त तथा आगरा में, कहीं नये और कहीं पुराने दंग के, विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। राजा अब्नामलै चेट्टि ने ३५ लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया, इसलिए उनके नाम से चिदम्बरम (मदरास) में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया।

सुधारों के समय से प्रान्तों में शिक्षा-विभाग मंत्रियों के हाथ में आ गया। तब से प्रारम्भिक शिक्षा की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया। कई शहरों की म्युनिसिपल्टियों ने इसको मुफ्त तथा अनिवार्य बना दिया, परन्तु धनाभाव

के कारण विशेष उन्नति न हो सकी। अनुभव से यह भी पता लगा कि केवल साहित्य की शिक्षा से अधिक लाभ नहीं। इसलिए सभी श्रेणियों में वैज्ञानिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा खेती की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। देशी भाषाओं की शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए भी कुछ प्रयत्न किया गया। सन् १९२१ की मनुष्यगणना से पता लगता है कि ब्रिटिश भारत में हजार मर्द पीछे केवल १२२ और हजार औरतों पीछे केवल १८ औरतें पढ़ी-लिखी थीं। अंगरेजी पढ़े हुए लोगों की संख्या तो नाममात्र थी। देश की अशिक्षता दूर करने के लिए सरकार से २० करोड़ रुपया साल भी खर्च नहीं किया जाता पर बेकार सेना रखने में ५५ करोड़ फूँका जाता था।

समाज-सुधार—अंग्रेजी शिक्षा के साथ साथ जनता का ध्यान धीरे धीरे तथा-कथित समाज-सुधार की ओर आकर्षित होने लगा। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज पहले ही से इस ओर काम कर रहे थे। कुछ वर्षों से कांग्रेस के साथ 'समाज-सुधार सम्मेलन' भी होने लगे। असहयोग के समय से अछूतोंद्वारा और मादक वस्तुओं के बहिष्कार पर अधिक जोर दिया जाने लगा। 'हिन्दू महा-सभा' ने भी समाज-सुधार को अपनाया। सती-प्रथा बन्द करने के बाद से धार्मिक उदासीनता की नीति का सहारा लेकर सरकार इन मामलों में चुप रही। परन्तु धारासभाओं में सुधारवादियों के आ जाने से अब कानून द्वारा हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप होने लगा। सन् १९२५ में 'सहवासवय' १२ वर्ष से बढ़ाकर १३ वर्ष कर दिया गया। इसे और बढ़ाने के लिए प्रयत्न हो रहा है। सन् १९२९ में 'बालविवाह-निषेध कानून' पास किया गया। इसके अनुसार अप्रैल सन् १९३० के बाद से १४ वर्ष से कम की लड़की और १८ वर्ष से कम के लड़के का विवाह अपराध बना दिया गया। सभी धर्मों में मादक वस्तुओं का निषेध है, पर तब भी सरकार का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा था। इनके व्यवसाय से सरकार की बड़ी आमदनी होती थी, जिसको छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं थी। पिछले ७० वर्षों में केवल शराब से सरकारी आमदनी १ करोड़ से २५ करोड़ रुपये पहुँच गई। शराब पीने का व्यसन कितना बढ़ गया, इसी से पता लगता है।

साइमन कमीशन—सुधार-कानून में प्रति दसवें वर्ष शासन-व्यवस्था की जाँच करने का नियम रखा गया था। सन् १९२१ ही में असेम्बली ने अवधि समाप्त होने के पहले ही जाँच कराने का प्रस्ताव पास किया था। मुडीमैन कमेटी के तीन मेम्बरों ने भी यही सलाह दी थी। 'लिबरल फेडरेशन' भी बराबर यही कह रहा था। परन्तु इस बात की कुछ भी सुनवाई नहीं की गई। सन् १९२७ में आप ही आप कमीशन नियुक्त करने की घोषणा कर दी गई। सन् १९३० के पहले ही जाँच कराने का कारण यह बतलाया गया कि जिसमें सबको सरकार के भावों का पता लग जाय और सन्देह दूर होकर शान्ति स्थापित हो जाय। इसमें पार्लामेंट के लिबरल (उदार) दल से एक, लेबर (मजदूर) से दो और कंजर्वेटिव (अनुदार) दल से चार मेम्बर लिये गये। लिबरल दल के प्रसिद्ध बैरिस्टर सर जान साइमन इसके अध्यक्ष बनाये गये।

इस कमीशन में एक भी भारतवासी न रखा गया। इसके कई कारण बतलाये गये। कहा गया कि भारतवर्ष के शासन का अधिकार पार्लामेंट को है, इसलिए पार्लामेंट के मेम्बर ही उसके शासनसम्बन्धी प्रश्नों का ठीक ठीक विचार कर सकते हैं और उन्हीं की राय पार्लामेंट को भी अधिक मान्य होगी। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में जातिगत झगड़े चल रहे हैं, किस किस जाति के नेता कमीशन के मेम्बर बनाये जायँ, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कमीशन के मेम्बरों की संख्या अधिक बढ़ाना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में निष्पक्ष विचार को भी बड़ी आवश्यकता है, जिसकी भारतीय नेताओं से, जो राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं, आशा करना व्यर्थ है। हिन्दुस्तानियों के सन्तोष के लिए यह निश्चित किया गया कि भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों की कमेटियाँ बना दी जायँ, जो जाँच करने में कमीशन की सहायता करें।

सारे देश ने इसको अपना घोर अपमान समझा। कांग्रेस तो पहले ही से पार्लामेंट के अधिकार को स्वीकार न करती थी। उसका मत था कि 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय भारतवासियों के

हाथ में ही होना चाहिए। लिबरल दलवाले भी कमीशन में एक भी हिन्दुस्तानी न रखना सहन न कर सके और सत्रने मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करना निश्चित किया। ता० ३ फरवरी सन् १९२८ को, जिस दिन इस कमीशन ने भारत-भूमि पर पैर रखा, देशभर में हड़ताल मनाई गई। लेजि-



लाला लाजपतराय

स्लेटिव असेम्बली और मद्रास, मध्यप्रान्त तथा युक्तप्रान्त की कौंसिलों ने कमीशन पर अपना अविश्वास प्रकट किया। उसकी सहायता करने के लिए जो भारतीय तथा प्रान्तीय कमेटियाँ बनाई गईं, उनके चुनाव में जनता के अधिकांश प्रतिनिधियों ने कोई भाग नहीं लिया। पहली जाँच के बाद नवम्बर में यह कमीशन फिर भारतवर्ष आया। इस बार भी जहाँ जहाँ यह गया हड़ताल मनाई गई और इसका बहिष्कार किया गया। काले झंडों के जलूस और “लौट जाओ” की ध्वनि से सर्वत्र इसका स्वागत किया गया। कई जगह ऐसे जलूसों पर पुलिस के डंडे चले। लाहौर में लाला लाजपतराय को चोट आई। इसके एक ही महीने बाद, सम्भवतः इसी चोट के कारण, उनका देहान्त हो गया। उनका सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत हुआ था। उन्होंने ‘सर्वेंट्स ऑफ दि पीपुल सोसायटी’ (लोकसेवक समिति) स्थापित की।

सर्वदल सम्मेलन—सन् १९२० से कांग्रेस का ध्येय ‘स्वराज्य’ था। इसमें

“यदि सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं तो उसके बाहर” दोनों भाव आ जाते थे। परन्तु असहयोग के समय से ही एक दल को यह भासित हो रहा था कि साम्राज्य में रहकर भारत का दित नहीं, इसी लिए वह पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर दे रहा था। साइमन कमीशन की नियुक्ति से रुष्ट होकर सन् १९२७ में कांग्रेस ने ध्येय में बिना कुछ परिवर्तन किये हुए ‘पूर्ण स्वतंत्रता’ को अपना अन्तिम उद्देश्य मान लिया, पर साथ ही स्वराज्य की परिभाषा पर विचार करने के लिए देश के प्रधान राजनैतिक दलों की एक कमेटी बनाना निश्चित किया। श्री पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस कमेटी ने कई महीनों तक जटिल राजनैतिक विषयों पर विचार किया। सन् १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जो ‘नेहरू रिपोर्ट’ के नाम से प्रसिद्ध है।

इसने स्वराज्य का अर्थ ‘औपनिवेशिक स्वराज्य’ मान लिया और निश्चित किया कि भारतसचिव का पद और इंडिया कौंसिल तोड़ दी जाय। भारत का शासन सम्राट् तथा एक भारतीय पार्लामेंट के हाथ में रहे। पार्लामेंट में ‘हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स’ (प्रतिनिधि-सभा) और ‘सिनेट’ (राज्य-परिषद्) दो संस्थाएँ हों। सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से गवर्नर-जनरल एक मंत्रि-मंडल की सलाह से शासन करे। यह मंत्रि-मंडल पार्लामेंट के प्रति जिम्मेदार हो, भाषाओं के अनुसार देश का विभाग प्रान्तों में किया जाय। इन प्रान्तों में भी उत्तरदायी शासन हो। प्रान्तीय कौंसिलों में प्रति लाख जन-संख्या पीछे एक मेम्बर रहे। सम्पूर्ण बालिग जनता को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। साम्प्रदायिक निर्वाचन उठा दिया जाय, परन्तु जनसंख्या के अनुसार केवल मुसलमान मेम्बरों की संख्या दस वर्षतक निश्चित रहे। इनके अतिरिक्त भी मुसलमानों को प्रतिनिधि बनने का अधिकार हो। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में थोड़ी संख्या होने के कारण हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही प्रबन्ध किया जाय। पंजाब तथा बंगाल में, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है, उनके मेम्बरों की संख्या निश्चित न रखी जाय। ‘सुप्रीमकोर्ट’ के नाम से देश भर के लिए एक सबसे बड़ी अदालत स्थापित की जाय। देशी राज्यों के साथ जिस तरह इन दिनों भारत-सरकार का सम्बन्ध है, वैसा ही इस शासन-व्यवस्था में भी रहे।

इस योजना से कुछ मुसलमान तथा सिख सन्तुष्ट नहीं हुए। मुसलमानों का कहना था कि भारतीय पार्लियामेंट में उनके तिहाई प्रतिनिधि रहने चाहिए। इसके अतिरिक्त वे अपने प्रतिनिधियों को अलग चुनने का अधिकार भी न छोड़ना चाहते थे। सिखों का कहना था कि यदि मुसलमान मेम्बरों की संख्या निश्चित रखी गई, तो पंजाब में उनके मेम्बरों की संख्या भी निश्चित रहनी चाहिए। दिसम्बर सन् १९२८ में कांग्रेस के अवसर पर कलकत्ता में नेहरू-योजना पर विचार करने के लिए देश की राजनैतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा अन्य मुख्य मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों का 'सर्वदल-सम्मेलन' किया गया। परन्तु इसमें भी मुसलमानों के साथ समझौता न हो सका। गान्धीजी के बहुत जोर देने पर कांग्रेस ने यह निश्चित किया कि यदि साल भर में 'नेहरू-योजना' के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय तब तो स्वीकार किया जाय पर यदि ऐसा न हो तो फिर से असहयोग प्रारम्भ किया जाय।

देशी राज्य—भारत की ७ लाख वर्गमील भूमि इस समय भी देशी नरेशों के अधीन थी। इसमें १०० बड़े और ४५० छोटे छोटे राज्य थे, जिनकी आबादी ७ करोड़ थी। कई राज्यों में इधर बहुत कुछ उन्नति हुई। इसमें मैसूर, त्रावणकोर और बड़ौदा मुख्य थे। इनमें शिक्षा के प्रचार तथा कलाओं की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया और शासन में प्रजा के प्रतिनिधियों को भी कुछ भाग दिया गया। बड़ौदा में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और मुक्त कर दी गयी। राजपूताने में बीकानेर ने भी अच्छी उन्नति की। परन्तु अधिकांश राज्यों में इस समय भी मनमानी शासन-व्यवस्था चल रही थी। प्रजा के प्रति राजाओं का जिम्मेदार न होना इसका मुख्य कारण था। बाहरी आक्रमण तथा भीतरी विद्रोह के भय से पहले राजाओं को प्रजा का बराबर ध्यान रखना पड़ता था, परन्तु अब दोनों से रक्षा करने के लिए ब्रिटिश सेना मौजूद थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुतों को अपनी जिम्मेदारी का कुछ भी ध्यान नहीं रहा।

बटलर कमेटी—पिछले १० वर्षों में कई कारणों से भारत-सरकार

को १८ राज्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इनमें नाभा, इन्दौर तथा भरतपुर के राजाओं से शासनाधिकार ले लिये गये। निजाम से भी बड़ी लिखा-पट्टी हुई, जिसमें लर्ड रीडिंग ने स्पष्ट कह दिया कि भारत में ब्रिटिश आधिपत्य पूर्ण रूप से है। उसके साथ किसी राज्य की बराबरी नहीं हो सकती। इस पर देशी राज्यों के साथ भारत सरकार का क्या सम्बन्ध है और सन्धियों तथा सनदों के अनुसार उनके अधिकार क्या हैं, यह प्रश्न फिर छिड़ गया। इसकी जाँच करने के लिए सन् १९२८ में सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई। 'नरेन्द्रमंडल' स्थापित हो जाने से राजाओं को आपस में मिलने का अच्छा अवसर मिल गया। उसकी ओर से कहा गया कि देशी नरेशों की सन्धियाँ 'ब्रिटिश क्राउन' अर्थात् इंग्लैंड के राजाओं के साथ हुई हैं, जिनमें उन्हें शासन की स्वतंत्रता दी गई है। ऐसी दशा में भारत-सरकार को मनमाने हस्तक्षेप का अधिकार नहीं। उसके साथ देशी राज्यों के झगड़ों को निपटाने के लिए एक स्वतंत्र अदालत रहनी चाहिए।^१ इस कमेटी के सामने राज्यों की प्रजा के प्रतिनिधियों की कोई सुनवाई नहीं हुई। इनकी ओर से कहा गया कि 'राज्य' में राजा और प्रजा दोनों शामिल हैं, यदि सन्धियों में राजाओं को शासन की स्वतंत्रता दी गई है तो उनसे यह भी वचन लिया गया है कि वे प्रजा के हित का ध्यान रखकर शासन करेंगे। पटियाला तथा अन्य कई राज्यों के साथ सन्धियों में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है। मनमाना हस्तक्षेप का भारत-सरकार को अवश्य कोई अधिकार नहीं पर प्रजाहित की दृष्टि से अधिपति होने के कारण देशी नरेशों के शासन पर निगरानी रखना उसका कर्तव्य है।^२

सन् १९२९ के प्रारम्भ में इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें देशी राज्यों का इंग्लैंड के राजाओं के साथ सम्बन्ध मान लिया गया और यह राय दी गई कि देशी नरेशों को बिना मर्जी के यह सम्बन्ध किसी ऐसी भारत-

१ ब्रिटिश क्राउन ऐंड दि इंडियन स्टेट्स।

२ स्टेट्स पोपुलर मेमोरेण्डम।

सरकार को न सौंपा जाय, जो व्यवस्थापक-सभाओं के प्रति जिम्मेदार हो। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश राजाओं का आधिपत्य पूर्ण रूप से है और जहाँ उचित जान पड़े अपने प्रतिनिधियों द्वारा हस्तक्षेप का उन्हें पूरा अधिकार है। परन्तु भारत में राजप्रतिनिधि वाइसराय है न कि गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल। नरेन्द्रमंडल ने कमेटी की सिफारिशों पर असन्तोष प्रकट किया और 'पूर्ण आधिपत्य' के सिद्धान्त का साफ शब्दों में विरोध किया। "उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत में पूर्ण ब्रिटिश आधिपत्य रहा है", कमेटी के इस मत को मंडल के अध्यक्ष महाराजा पटियाला ने ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं माना।

मजदूर-संघ—गत महायुद्ध के समय से भारत के कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में भी अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर तथा अन्य व्यापारिक केन्द्रों में उनके संघ स्थापित हो गये। सन् १९२६ में 'ट्रेड यूनियन बिल' (मजदूर-संघ कानून) पास किया गया, जिसके द्वारा ऐसे संघों के स्थापित करने का अधिकार मान लिया गया और उनके संगठन तथा रजिस्ट्री कराने के नियम बनाये गये। मजदूर लोग हड़तालों द्वारा अपनी शिकायतों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने लगे। एक दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखलाने के लिए सभी कारखानों में हड़तालें होने लगीं और उनमें रेलों के कर्मचारी भी शामिल होने लगे। हड़तालों को बढ़ते देखकर सन् १९२९ में सरकार ने 'ट्रेड्स डिस्प्यूट बिल' (व्यवसायी झगड़ा कानून) पास किया। इससे मजदूर-संघों की बहुत कुछ स्वतंत्रता नष्ट हो गई और हड़तालों के सम्बन्ध में बड़े कठिन नियम बना दिये गये। झगड़ा निपटाने के लिए पंचायतों को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। मजदूरों की स्थिति पर विचार करने के लिए हीटली की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त हुआ।

किसानों का एका—असहयोग के समय से किसानों में भी जागृति हो गई। जमीन्दारों के अत्याचारों से बचने के लिए उत्तरी भारत में 'एका

आन्दोलन चल पड़ा। दक्षिण में भी धीरे धीरे उनका संगठन होने लगा। बारडोली में बिना पूरी जाँच किये हुए लगान बढ़ा दिया गया। इस पर सन् १९२८ में वहाँ के किसानों ने सत्याग्रह किया। सरकार की ओर से बड़े अत्याचार किये गये, तब भी वे शान्त रहे। अन्त में उनकी बात मानकर जाँच करने के लिए सरकार को एक कमेटी नियुक्त करनी पड़ी, जिसने सरकारी तख्मीने को गलत बतलाया। अकालियों की तरह बारडोली के किसानों ने भी यह दिखला दिया कि यदि पूर्ण रूप से संगठन किया जाय तो व्यावहारिक दृष्टि से भी सत्याग्रह से सफलता प्राप्त करना असम्भव नहीं।

पब्लिक सेफ्टी बिल—बोलशेविक शासन से रूस का कायापलट ही हो गया। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ने लगा। साम्प्रदायिक झगड़े और सामाजिक तथा आर्थिक असमानता देश के युवकों को खटकने लगी और उसे नष्ट करने के लिए 'युवक-संघ' स्थापित होने लगे। इन सब आन्दोलनों में सरकार को रूस के कम्युनिस्ट (वर्गवादी) लोगों का हाथ दिखलाई देने लगा। इस पर दमन-चक्र फिर चल पड़ा। अहिंसात्मक असहयोग की असफलता से कुछ युवकों की प्रवृत्ति भी बदल रही थी; सरकार की दमन-नीति से वे और भी उत्तेजित हो गये। लाहोर में दिनदहाड़े पुलिस कमिश्नर सांडर्स की हत्या की गई। अन्य कई स्थानों में भी पुलिस को षड्यंत्रों का पता चला। सन् १९२८ में सरकार ने 'पब्लिक सेफ्टी बिल' (जनता-रक्षक कानून) पेश किया। इसका आशय यह था कि यदि किसी विदेशी पर भारत-सरकार को यह सन्देह हो कि वह वर्गवादी सिद्धान्त फैला रहा है, तो वह बिना किसी मुकदमा के निर्वासित कर दिया जाय। असेम्बली ने इसको राष्ट्रीय आन्दोलन पर आक्रमण समझकर नामंजूर कर दिया।

इतने ही में सरकार ने मजदूर तथा किसान आन्दोलन के कुछ नेताओं और तीन अँगरेजों पर मेरठ में एक मुकदमा चला दिया कि वे लोग रूस के 'कम्युनिस्ट' दल की सहायता से भारत में सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं। इसी के बाद सन् १९२९ में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' फिर पेश किया गया। इस पर असेम्बली के अध्यक्ष श्री पटेल ने कहा कि इस बिल का बहुत कुछ

सम्बन्ध मेरठ के मामले से है, जो अदालत के विचाराधीन है। ऐसी दशा में इस विल पर पूरी बहस नहीं हो सकती, इसलिए इसका पेश करना ठीक नहीं। अध्यक्ष पटेल की इस व्यवस्था से सरकार बड़े चक्कर में पड़ गई। इस पर वाइसराय ने अपनी विशेष आज्ञा द्वारा उस कानून को ६ महीने के लिए जारी कर दिया। अपने भाषण में उन्होंने अध्यक्ष की व्यवस्था की आलोचना की और यह प्रकट किया कि शीघ्र ही ऐसे नियम बनाये जायेंगे, जिनसे अध्यक्ष को ऐसे कार्यों में बाधा डालने का अधिकार न रहे। जिस दिन श्री पटेल अपनी व्यवस्था देनेवाले थे, उसी दिन असेम्बली में एक बम फेंका गया, जिससे बड़ी सनसनी मच गई। उधर लाहोर में कई लोगों पर सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का मुकदमा चल रहा था। जेल में व्यवहार ठीक न होने के कारण अभियुक्तों ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। इनमें ६३ दिन बाद यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गई। इसी तरह बर्मा में भी पुंगी विजय की मृत्यु हो गई। इसका फल यह हुआ कि जेलों में अभियुक्तों के प्रति व्यवहार की ओर जनता तथा

सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और उसमें कुछ सुधार किया गया।



वेजउड बेन

औपनिवेशिक स्वराज्य का

आश्वासन—सन् १९२९ में हँग्लैंड का शासन फिर मजदूर दल के हाथ में आ गया और श्री वेजउड बेन भारत-सचिव के पद पर नियुक्त किये गये। पहली मजदूर सरकार का भारत के साथ अनुदार व्यवहार और साइमन कमीशन की नियुक्ति में मजदूर दल के सहयोग के कारण भारतवासियों को नई मजदूर सरकार से कोई आशा न थी। साइमन कमीशन के पूर्ण बहिष्कार, नेहरू-योजना के सम्बन्ध में देश

के मुख्य राजनैतिक दलों की एकता और स्वतंत्रता आन्दोलन को बढ़ता हुआ देखकर वाइसराय लॉर्ड अरविन की आँखें खुल गईं। मजदूर सरकार से परामर्श करनेके लिए वे इंग्लैंड गये। वहाँ से लौटकर ता० ३१ अक्तूबर सन् १९२९ को उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इसमें कहा गया कि सन् १९१७ की विज्ञप्ति में 'उत्तरदायी शासन' देने के लिए वचन दिया गया था, उसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' है। देशी राज्यों का प्रश्न भारतीय शासन-व्यवस्था से त्रिकुल अलग नहीं। इसलिए सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार, ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन शीघ्र ही लन्दन में किया जायगा।

इस पर देश के मुख्य मुख्य नेताओं ने दिल्ली से एक वक्तव्य प्रकाशित किया। इसमें कहा गया कि सम्मेलन (राउंड टेबल कॉन्फरेंस) की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शासन में उदार नीति से काम लिया जाय और राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जायँ। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर ही सम्मेलन में शासन-व्यवस्था पर विचार किया जाय। परन्तु इसके बाद पार्लामेंट में वाइसराय की विज्ञप्ति के सम्बन्ध में जो बहस हुई, उससे कांग्रेस के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की नीति पर सन्देह होने लगा।

पूर्ण स्वराज्य की माँग—दिसम्बर सन् १९२९ में लाहोर में कांग्रेस का बड़ा महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। इसके कुछ दिन पहले ही दिल्ली के निकट वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम रखकर उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया गया। परन्तु सौभाग्यवश किसी को चोट नहीं आई। इस तरह अहिंसा-वादी भारत की लाज रह गई। कांग्रेस ने इस पर खेद प्रकट किया और वाइसराय के प्रति सहानुभूति दिखलाई। गत कलकत्ता कांग्रेस के निर्णय के अनुसार इसने निश्चित किया कि 'पूर्ण स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय है, जिसको प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह प्रारम्भ करना चाहिए। कब और किस रूप में सत्याग्रह किया जाय इसके निर्णय का अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (आल इंडिया कांग्रेस कमेटी) को दिया गया। साथ ही यह

भी निश्चित किया गया कि कौंसिल के बहिष्कार से असहयोग फिर प्रारम्भ किया जाय। अन्य दलों के साथ कांग्रेस की जो एकता हो रही थी वह इस निर्णय से नष्ट हो गई। लिबरलों ने कान्फरेंस के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और इसकी तैयारी के लिए फिर से एक सर्वदल सम्मेलन करना निश्चित किया। उनका कहना था कि वाइसराय, भारतसचिव तथा मजदूर सरकार की कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उन पर विश्वास करके सम्मेलन में शरीक होना चाहिए, पहले से शर्तें रखना ठीक नहीं।

लाहोर कांग्रेस के आदेशानुसार २६ जनवरी, १९३० को देश भर में 'पूर्ण स्वराज्यदिवस' मनाया गया। उस दिन प्रायः सभी नगरों में सभाएँ हुई, जिनमें स्वतंत्रता सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया गया। उसमें कहा गया कि "भारत की अंगरेज सरकार ने भारतीयों को न केवल उनकी स्वाधीनता से वंचित कर दिया, बल्कि वह जनता के शोषण के आधार पर ही बनी है और उसने भारत को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट कर दिया। अतः भारत को अवश्य ब्रिटिश सम्बन्ध त्यागकर पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए।" प्रस्ताव के अन्त में विश्वास दिलाया गया कि "यदि हम ब्रिटिश सरकार से सहयोग करना छोड़ दें और उत्तेजना के कारण उपस्थित होने पर भी उपद्रव न करें, तो इस अमानुषिक शासन का अन्त निश्चित है।"

नमक-सत्याग्रह—इस पर असेम्बली तथा कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्यों ने फिर इस्तीफा दे दिया। पहले तो गान्धीजी ने कहा कि "देश सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं।" परन्तु थोड़े ही दिन बाद उन्होंने अपना मत बदल दिया और घोषित किया कि "शान्तिमय सामूहिक सत्याग्रह का मैं नेतृत्व करूँगा।" १५ फरवरी को कांग्रेस कार्य-समिति ने सब अधिकार गान्धीजी को देकर उन्हें अधिनायक घोषित कर दिया। पर किसी को यह पता नहीं था कि सत्याग्रह का रूप क्या होगा। गान्धीजी ने ६ मार्च को वाइसराय को एक पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने लिखा कि "मेरा विचार नमक-कर तोड़ने का है, हजारों व्यक्ति इसमें मेरा साथ देंगे। वे सहर्ष सब दण्ड भुगतने के लिए तैयार हैं।" १२ मार्च को गान्धीजी की ऐतिहासिक 'डण्डी-यात्रा' आरंभ हुई, जिसका नारा

था 'विजय या मृत्यु।' उनके साथ आरंभ में केवल ७९ सत्याग्रही थे, पर मार्ग में उनकी संख्या बराबर बढ़ती गई। गाँवों-गाँवों में घूमते हुए यह यात्रा पैदल हो रही थी। ६ अप्रैल को गान्धीजी अपने साथियों सहित समुद्रतट पर डण्डी पहुँचे और नमक बटोर कर उन्होंने नमक-कानून भंग किया। इस पर उनके साथी गिरफ्तार कर लिये गये। साथ ही गान्धीजी ने घोषित किया कि "देश भर में नमक-कानून तोड़ना चाहिए।" उनके इस आदेश के निकलते ही देश भर में आग-सी लग गई और जगह-जगह स्त्री, पुरुष, बच्चे नमक बना-बनाकर सरकारी कानून तोड़ने लगे। हजारों की संख्या में सत्याग्रही पकड़-पकड़ कर जेलों में ठूस दिये गये, उन पर बराबर लाठी-प्रहार हुए, पर वे शान्त रहे। श्री वल्लभभाई पटेल, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, श्री सेन गुप्त आदि नेता पहले ही गिरफ्तार हो चुके थे। ४ मई को गान्धीजी भी गिरफ्तार करके पूना के यरवदा जेल में भेज दिये गये।

धरसना पर धावा—श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में लगभग २ हजार सत्याग्रहियों ने धरसना नमक गोदाम पर धावा बोल दिया। पुलिस ने लाठी-प्रहार किया, जिससे लगभग तीन सौ सत्याग्रही घायल हुए। श्रीमती नायडू को गिरफ्तार करके ९ महीने जेल की सजा दी गयी। पर धरसना, वादला आदि नमक गोदामों पर सत्याग्रहियों के धावे बराबर जारी रहे। अन्य स्थानों में भी सत्याग्रह जोरों से चलता रहा। कैम्पवेलपुर में पंडित मदनमोहन मालवीय तथा उनके कई साथी गिरफ्तार कर लिये गये। जून में कांग्रेस कार्यसमिति तथा अन्य कांग्रेसी संस्थाएँ गैरकानूनी घोषित कर दी गईं और कांग्रेस के अध्यक्ष पण्डित मोतीलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिये गये। विभिन्न प्रान्तों में 'नवजवान भारतसभा' तथा अन्य कुछ संस्थाएँ भी गैरकानूनी घोषित हुईं, परन्तु पूरा दमन होते हुए भी आन्दोलन जोर पकड़ता गया। कांग्रेस सत्याग्रह आन्दोलन के साथ ही क्रान्तिकारियों की काररवाई भी जोर पकड़ रही थी। अप्रैल में चट-गाँव के शस्त्रागार पर कुछ लोगों ने धावा बोल दिया और बहुत सी सामग्री नष्ट कर डाली। अगस्त में कलकत्ते के पुलिस कमिश्नर पर बम फेंका गया और ढाका में पुलिस के इंस्पेक्टर जेनरल को गोली मार दी गई। कलकत्ता, पेशावर, पूना

आदि स्थानों में भी सत्याग्रह के सम्बन्ध में कुछ उपद्रव हुए, जहाँ पुलिस को गोली चलानी पड़ी।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन—सरकार एक ओर तो दमन करती थी और दूसरी ओर लोगों को तृष्ट करने के प्रयत्न में भी थी। १२ मई को वाइसराय ने घोषणा की कि “२० अक्टूबर या उसके लगभग लन्दन में भारतीय वैधानिक समस्या पर विचार करने के लिए एक गोलमेज सम्मेलन होगा। मैं अनुभव करता हूँ कि भारत में राजनैतिक प्रगति के लिए उक्त इच्छा है। मुझे भारत से इतना स्नेह हो गया है कि मैं उसे अपने राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करने से विरत नहीं हो सकता।” डाक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री मुकुन्दराव जयकर ने कांग्रेस से समझौता कराने का बड़ा प्रयत्न किया। वे जेल में मोतीलालजी नेहरू तथा अन्य नेताओं से मिले, किन्तु वे अपने प्रयत्न में विफल रहे। कांग्रेसी नेता अपनी माँगों पर अड़े रहे, वे चाहते थे कि सब सत्याग्रही छोड़ दिये जायँ, नमक कानून रद्द कर दिया जाय और ब्रिटिश सरकार भारत सम्बन्धी अपना लक्ष्य स्पष्ट कर दे, ये शर्तें सरकार को मान्य न हुईं। अतः गोलमेज सम्मेलन के लिए उदार दल, देशी राज्यों तथा मुसलमानों के नेता ही प्रतिनिधि रूप में भेजे गये। १२ नवम्बर को ब्रिटिश पार्लामेंट के लार्ड सभा-भवन में बादशाह पंचम जार्ज ने सम्मेलन का उद्घाटन किया। सम्मेलन का क्या कार्यक्रम हो और किस विधि से वैधानिक जटिल समस्या पर विचार चले, इसी पर वादविवाद चलता रहा।

अरविन-गान्धी समझौता—शीघ्र ही सभी लोगों को यह ज्ञात होने लगा कि बिना कांग्रेस-सहयोग के लन्दन का गोलमेज सम्मेलन नाटक मात्र है। लार्ड अरविन ने भी यह देख लिया कि केवल दमन से काम नहीं चल सकता। केन्द्रीय असेम्बली के १७ जनवरी, १९३१ के अपने भाषण में उन्होंने कहा कि “सविनय अवज्ञा आन्दोलन सरकार के लिए खतरा है। गान्धीजी गलत रास्ते पर हो सकते हैं, पर उनके आध्यात्मिक बल से इनकार नहीं किया जा सकता। वे भारत से प्रेम करते हैं और उसके भविष्य में उन्हें विश्वास है। मैं समझता हूँ कि वे भी यह अनुभव करते हैं कि अँगरेज, जिनके हाथ में आज भारत का शासन है, उसकी सेवा करना चाहते हैं। यह दुर्भाग्य है कि आज दोनों में मतभेद

है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि भारत सुखी हो।” २५ जनवरी को उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति को गैरकानूनी घोषित करने की आज्ञा रद्द कर दी और गान्धीजी तथा कार्यसमिति के सभी सदस्यों को छोड़ देने की आज्ञा निकाली। डाक्टर तेज-बहादुर सप्रू, श्री जयकर तथा श्रीनिवास शास्त्री आदि नेताओं ने गोलमेज सम्मेलन के समय ब्रिटिश सरकार तथा प्रधान मंत्री मिस्टर रैमसे मैकडोनल्ड को बहुत समझाया और उनके परामर्श से ही लार्ड अरविन की घोषणा हुई। दो बार गान्धीजी की वाइसराय से मुलाकात हुई और दोनों में ४ मार्च को एक समझौता हुआ। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि “हिंसात्मक अपराध करने-वालों के अतिरिक्त सभी सत्याग्रही छोड़ दिये जायँ, जन्त की हुई जायदादें लौटा दी जायँ तथा दमनात्मक विशेषाज्ञाएँ रद्द कर दी जायँ। कांग्रेस अपना आन्दोलन बन्द कर दे। गोलमेज-सम्मेलन में भारत में संघ व्यवस्था स्थापित करने, भारतीयों को जिम्मेदार शासन देने, संरक्षित विषयों तथा अल्पसंख्यकों की समस्या आदि पर विचार हो।”

मुसलमानों का रुख—मुसलिम लीग का आरंभ से ही कांग्रेस के साथ मतभेद था। कांग्रेस के पूर्ण स्वराज्यवाले प्रस्ताव का विरोध किया गया और उसे देश के लिए खतरनाक बतलाया गया। मौलाना अबुलकलाम आजाद, मौलाना मजरुल हक, डाक्टर अनसारी आदि मुसलिम नेता कांग्रेस के साथ थे। इनके दल के लोग ‘राष्ट्रिय मुसलिम’ कहलाते थे। मौलाना आजाद तथा कुछ मुसलमानों ने नमक-सत्याग्रह में भाग लिया और उन्हें जेल भी हुई। मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली के, जिन्होंने प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन में गान्धीजी का पूरा साथ दिया था, विचारों में परिवर्तन हो गया। मौलाना मुहम्मद अली की लन्दन में, जहाँ वे गोलमेज-सम्मेलन में शामिल होने गये थे, मृत्यु हो गई। लीगी मुसलमानों में मियाँ मुहम्मद अली जिना, जो पहले उच्चकोटि के कांग्रेसी नेता थे पर सत्याग्रह-आन्दोलन के कारण उससे अलग हो गये थे, आगे आये। उन्होंने हिन्दू-मुसलिम मेल के लिए १४ शतें रखीं, जिनमें मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन, केन्द्रीय असेम्बली में तिहाई प्रतिनिधित्व, बम्बई प्रान्त से सिंध का एक प्रान्त के रूप में पृथक्करण आदि मुख्य थीं। मुसलमानों की ओर से इन्हें

ही पूरी करने पर जोर दिया जा रहा था। इस बीच हिन्दू-मुसलिम दंगे भी बराबर होते रहे। मार्च १९३१ में कानपुर में सबसे बड़ा दंगा हुआ। इसमें हिन्दी दैनिक 'प्रताप' के सम्पादक श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी मुसलिम मुहल्ले में, जहाँ वे मुसलमानों को बचाने के लिए गये थे, मुसलमानों द्वारा ही मारे गये। गोलमेज-सम्मेलन में मुसलिम प्रतिनिधियों ने कांग्रेस को राष्ट्रिय संस्था मानने से इनकार किया और अपनी माँगों पर ही अधिक जोर दिया। उनका नेतृत्व सर आगा खॉं कर रहे थे। ५ अप्रैल को मौलाना शौकत अली की अध्यक्षता में एक 'अखिल भारतीय मुसलिम सम्मेलन' हुआ, जिसमें हिन्दू-मुसलिम दंगों तथा कांग्रेस की नीति पर शोभ प्रकट किया गया और गृहयुद्ध छेड़ने की धमकी दी गई।

मुसलमानों के इस रुख का फल यह हुआ कि हिन्दू महासभा ने भी, जिसका नेतृत्व इस समय पण्डित मदनमोहन मालवीय जी के हाथ में था, कड़ी नीति अपनाई। मुसलमानों की माँगों का उसकी ओर से पूरा विरोध होने लगा। १९१९ के सुधारों से सिखों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार मिल ही गया था। मुसलमानों का रुख देखकर उन्होंने भी अपनी माँगें बढ़ा दीं। इन दोनों की देखा-देखी डाक्टर भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में अन्यजों के एक दल ने भी पृथक् निर्वाचन की माँग उठाई।

कराची कांग्रेस—जेल से छूटने के थोड़े ही दिनों बाद ६ फरवरी, १९३१ में पण्डित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु हो गई। शोक प्रकट करते हुए गान्धीजी ने लिखा कि "उनके न रहने से मैंने जो कुछ खोया, उसकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकती।" श्री वल्लभ भाई पटेल की, जिन्हें बारडोली के करबन्दी आन्दोलन को सुसंघटित रूप से चलाने के कारण गान्धीजी ने 'सरदार' की उपाधि दी, अध्यक्षता में कराची में कांग्रेस का ४५ वाँ अधिवेशन हुआ। इसमें गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया गया। प्रस्ताव का समर्थन करते हुए गान्धीजी ने कहा कि "मैं यह वचन नहीं दे सकता कि कांग्रेस प्रतिनिधि मण्डल पूर्ण स्वराज्य लेकर लौटेगा, पर मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वह अधिक दासता कदापि न लयेगा।" इसी अधिवेशन में मूलभूत अधिकारों की भी एक प्रस्ताव में घोषणा की गई, जिसमें "भाषण,

मिलन, प्रेस आदि की स्वतन्त्रता और सब की समानता पर जोर दिया गया।” साथ ही देश के लिए एक आर्थिक कार्यक्रम भी रखा गया, जिसमें “सैनिक खर्च कम करने, मजदूरों को अच्छी मजदूरी देने, साधारणतः सरकारी अफसरों को पाँच सौ रुपया मासिक से अधिक वेतन न देने, किसानों का लगान घटाने, आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीकरण आदि की बातें रखी गईं।” गान्धीजी ने इसे ‘भावी स्वराज्य की रूप रेखा’ बतलाया।

द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन—कांग्रेस ने गोलमेज-सम्मेलन के लिए केवल गान्धीजी को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। गान्धीजी बहुत चाहते थे कि राष्ट्रीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने के लिए डाक्टर अनसारी को भी चुना जाय, पर अधिकांश मुसलमानों के विरोध के कारण ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार न किया। बम्बई में बड़ी धूमधाम से गान्धीजी को लन्दन के लिए विदा किया गया। चलते समय उन्होंने कहा कि “मुझे कोई शुभ लक्षण नहीं दिखाई पड़ता, पर मैं आशावादी हूँ और आशा के विरुद्ध भी आशा करता हूँ। मुझे ईश्वर में विश्वास है और उसी के भरोसे मैं लन्दन जा रहा हूँ।” उन्होंने जहाज के तीसरे दर्जे में यात्रा की। लन्दन में उनका बड़ा स्वागत हुआ। शाही दावत में भी चादर और चप्पल पहन कर ही वे गये, जहाँ बादशाह के साथ उनकी बातचीत हुई। परन्तु गोलमेज-सम्मेलन में उनके सामने आरंभ से ही कठिनाइयाँ आने लगीं। सम्मेलन विभिन्न विषयों के लिए कई उप समितियों में विभक्त था। सबसे जटिल प्रश्न अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधित्व तथा संघ व्यवस्था सम्बन्धी थे। मुसलमानों, सिखों तथा अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों ने कांग्रेस को अपनी प्रतिनिधि संस्था मानने से इनकार किया। अल्पसंख्यक-समिति ने मुसलमानों, अल्पसंख्यकों, भारतीय ईसाइयों, ऐंग्लो भारतीयों, यूरोपियनों, सिखों को पृथक् निर्वाचनाधिकार देने का निश्चय किया। गान्धीजी ने कांग्रेस की ओरसे मुसलमानों तथा सिखों को छोड़कर अन्य सम्प्रदाय के अल्पसंख्यकों को इस तरह के अधिकार देने का घोर विरोध किया। नेताओं के बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार का कोई समझौता न हुआ। ब्रिटिश सरकार तथा अल्पसंख्यक-प्रतिनिधियों ने इसपर बहुत जोर

दिया कि पहले उनकी समस्या सुलझा ली जाय तब विधान पर विचार चले। राज्यों के प्रतिनिधियों ने संघ व्यवस्था में कितनी ही अड़चनें बतलाईं। फल यह हुआ कि बिना कोई अन्तिम निर्णय किये हुए ही सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन समाप्त कर दिया गया और विभिन्न विषयों का विचार उप-समितियों पर छोड़ दिया गया।

लार्ड विलिंगडन—अप्रैल १९३१ में लार्ड अरविन का कार्यकाल समाप्त हो गया और उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन, जो पहले बम्बई के गवर्नर रह चुके थे, नये वाइसराय नियुक्त हुए। लार्ड अरविन बहुत चाहते थे कि भारत और ब्रिटेन में सन्तोषजनक समझौता हो जाय और भारत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का एक सम्मानित सदस्य बना रहे। भारत से जाते समय उन्होंने यह आश्वासन दिया कि ब्रिटेन पहुँचकर वे इसीके लिए प्रयत्न करेंगे। अपने कार्यकाल में उन्हें दमन अवश्य करना पड़ा, पर हृदय से वे उसके समर्थक न थे। लार्ड विलिंगडन की नीति दूसरी ही थी। उनका विश्वास था कि “सरकार की उदारता का अर्थ उसकी कमजोरी लगाया जा रहा है।” उन्होंने आते ही दृढ़ता के साथ शासन करने का निश्चय किया।

दमनचक्र—असेम्बली में बम फेंके जाने की चर्चा की जा चुकी है। अपराधी सरदार भगतसिंह को फाँसी की सजा दी गई। गांधीजी तथा अन्य नेताओं ने बहुत प्रयत्न किया कि उसकी यह सजा माफ कर दी जाय, पर तब भी उसे फाँसी पर लटका दिया गया। इससे युवकों में बहुत क्षोभ फैला। बम्बई के स्थानापन्न गवर्नर सर अर्नेस्ट हाटसन पर पूना में गोली चलायी गई, किन्तु वे बच गये। अलीपुर के जज मिस्टर गार्लिक की गोली से हत्या की गई। इसी तरह ढाका के जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर दुर्नो का भी गोली से काम तमाम कर दिया गया। ‘यूरोपियन असोसिएशन’ के अध्यक्ष मिस्टर विलियर्स पर भी गोली चलाई गई, किन्तु निशाना खाली गया। गान्धीजी के लन्दन जाने के पहले ही कांग्रेसियों के साथ भी छेड़छाड़ आरम्भ हो गई। सरकार तथा कांग्रेस दोनों ओरसे एक दूसरे पर ‘दिल्ली-समझौता’ तोड़ने का आरोप किया जाने लगा। ब्रिटेन में मजदूर सरकार बदल गई और ‘टोरी दल’ के साथ ‘राष्ट्रीय

सरकार' स्थापित हुई, किन्तु प्रधानमंत्री मिस्टर रैमसे मैकडोनेल्ड ही रहे। मजदूर दल के मिस्टर वेजउड के स्थान पर टोरी दल के सर सैमुअल होर भारत-सचिव नियुक्त हुए। यह नई ब्रिटिश सरकार भी दमन नीति में भारत-सरकार का समर्थन करने लगी। युक्त-प्रान्त में किसान आन्दोलन ने जोर पकड़ा। प्रान्त के कांग्रेसी नेताओं ने लगानबन्दी की सलाह दी और उसके लिए किसानों का संघटन करने लगे। इस पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू कुछ अन्य नेताओं के साथ गिरफ्तार कर लिये गये। सीमाप्रान्त में "लाल कुर्ती दल" गैर कानूनी घोषित कर दिया गया और उसके नेता खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ तथा उनके भाई डाक्टर खाँ साहब गिरफ्तार कर लिये गये। सरकारी दमन बढ़ते देखकर कांग्रेस कार्यसमिति ने फिर



सरदार भगतसिंह

सत्याग्रह आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। देश की ऐसी स्थिति में गान्धीजी लन्दन से बम्बई लौटे। पहुँचते ही उन्होंने मुलकात के लिए वाइसराय को तार भेजा, पर वाइसराय ने सरकारी दमन नीति के सम्बन्ध में बात-चीत करने से इनकार कर दिया। इसके दूसरे ही तीसरे दिन बम्बई में गान्धीजी गिरफ्तार कर लिये गये।

फिर सत्याग्रह आन्दोलन जोरों से चल पड़ा। कांग्रेस कार्य-समिति गैरकानूनी घोषित कर दी गई। पुलिस द्वारा लठी प्रहार और गोली चलाना साधारण बात हो गई। प्रायः सभी कांग्रेसी नेता गिरफ्तार हो गये। इस बार के आन्दोलन में भी स्त्रियों ने बड़ा भाग लिया। गान्धीजी की स्त्री श्रीमती कस्तूरबा तथा प्रमुख कांग्रेसी

नेताओं के घर की कितनी ही स्त्रियाँ जेलों में ठूस दी गईं। दिल्ली में कांग्रेस का अधिवेशन करने का प्रयत्न किया गया। उसके मनोनीत अध्यक्ष पण्डित मदन-मोहन मालवीयजी को दिल्ली के निकट ही गिरफ्तार कर लिया गया और उसकी बैठक न होने पायी। ३१ मार्च को प्रकाशित एक सरकारी विज्ञप्ति में गिरफ्तार हुए सत्याग्रहियों की संख्या ४८,६०२ बताई गई। इस बीच क्रान्तिकारियों का ऊधम भी जारी रहा। कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरणोत्सव पर बीणा-दास नामक एक बंगाली छात्रा ने बंगाल के गवर्नर सर स्टेनले जैक्सन पर गोली चलाई, किन्तु उन्हें चोट न लगी। साथ ही हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी जारी रहे, बम्बई एक प्रकार से दंगे का क्षेत्र ही हो गया।

साम्प्रदायिक निर्णय—द्वितीय गोलमेजसम्मेलन में समझौते द्वारा अल्पसंख्यकों की समस्या न सुलझ सकी। प्रमुख नेताओं की राय से उसका निर्णय ब्रिटिश प्रधानमंत्री मिस्टर रैमसे मैकडोनाल्ड पर छोड़ दिया गया। उन्होंने अपना निर्णय १६ अगस्त १९३२ को घोषित किया। इसके अनुसार “मुसलमान, सिख, भारतीय ईसाई, ऐंग्लो इण्डियन और यूरोपियनों का अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मान लिया गया। अन्यजों के लिए यह व्यवस्था रखी गई कि वे हिन्दुओं के साथ भी निर्वाचन में भाग लें और कुछ क्षेत्रों में २० वर्ष तक अपना अलग प्रतिनिधि चुनें। ‘लखनऊ समझौते’ के अनुसार प्रतिनिधित्व में मुसलमानों के साथ जो रियायतें दी गई थीं, वे मान ली गईं और पंजाब तथा बंगाल में उन्हें बहुसंख्यक करार दे दिया गया। साम्प्रदायिक अनुपात के अनुसार स्त्रियों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया।” यह व्यवस्था प्रान्तीय धारासभाओं के लिए रखी गई, केन्द्रीय असेम्बली के लिए कोई निर्णय न किया गया। इस पर जेल में गान्धीजी ने आमरण अनशन करने का निश्चय किया। उनका कहना था कि “अन्यजों को पृथक् निर्वाचन-अधिकार देना उन्हें हिन्दू जाति से अलग करना है।” उन्होंने प्रधानमंत्री तथा भारतसचिव को लिखा कि “गोलमेज-सम्मेलन में मैं यह प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि अपने जीते जी अन्यजों को हिन्दुओं से अलग न होने दूँगा। साम्प्रदायिक निर्णय से वही प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए मैं बाध्य हुआ हूँ।” प्रधानमंत्री ने उत्तर दिया कि

“यदि अन्त्यजों के साथ कोई समझौता हो जाय, तो साम्प्रदायिक निर्णय के तत्सम्बन्धी अंश बदल देने के लिए मैं तैयार हूँ।” अनशन के समाचार से देश भर में तहलका मच गया। मालवीयजी के नेतृत्व में परस्पर समझौते के लिए बम्बई में कई हिन्दू तथा अन्त्यज नेता एकत्र हुए। अन्ततः डाक्टर अम्बेडकर के प्रस्ताव पर तय पाया कि “अन्त्यज प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित रहेगी, निर्वाचन संयुक्त होगा, किन्तु कुछ क्षेत्रों में अन्त्यज अपने प्रतिनिधि स्वयं नामजद करेंगे।” गान्धीजी ने इसे स्वीकार कर लिया और प्रधानमंत्री ने भी इसी के अनुसार साम्प्रदायिक निर्णय में परिवर्तन कर दिया। इस पर गान्धीजी ने अपना अनशन तोड़ दिया। इस समझौते का फल यह हुआ कि अन्त्यजों ने, साम्प्रदायिक निर्णय में जितना प्रतिनिधित्व दिया गया था, उससे भी अधिक प्राप्त कर लिया। अन्य सम्प्रदायवालों का प्रतिनिधित्व तो ज्यों का त्यों बना रहा, पर घाटे में रहे हिन्दू ही। जो गान्धीजी चाहते थे वह न हो सका, अन्त्यजों के अतिरिक्त हिन्दुओं को ‘सवर्ण’ या ‘जाति-हिन्दू’ की संज्ञा दे दी गई। इस तरह दोनों का भेद बना ही रहा। “सब जाति तथा सम्प्रदायवालों का एक राष्ट्र न बनने पाये,” ब्रिटेन की सदा कूटनीति रही; साम्प्रदायिक निर्णय में भी उसी का अनुसरण किया गया।

अन्त्यजोद्धार आन्दोलन—यरवदा जेल से ही अन्त्यजोद्धार आन्दोलन चलाने की गान्धीजी को सुविधाएँ दी गईं और इस सम्बन्ध में “नवजीवन” में उनके लेख प्रकाशित होने लगे। अन्त्यजों के मंदिर-प्रवेश पर बहुत जोर दिया जाने लगा। इस समय के वक्तव्यों में गान्धीजी ने स्पष्ट कहा कि “मैं अन्त्यजों के साथ जाति-हिन्दुओं के रोटी-बेटी-सम्बन्ध के पक्ष में नहीं हूँ, केवल मैं अस्पृश्यता दूर करना चाहता हूँ, इसके लिए आवश्यक है कि अन्त्यजों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार दिया जाय।” यह हिन्दुओं के धर्मशास्त्र का विषय है, उसके विरुद्ध होने के कारण सनातनी हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। गान्धीजी ने कई बार अनशन की धमकी दी, पर सनातनी हिन्दू अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। दक्षिण के गुरुबयूर मंदिर में अन्त्यजों का प्रवेश कराने के लिए श्री कलप्पन ने वहाँ अनशन आरंभ किया, पर सनातनियों का जोरदार विरोध

देखकर गान्धीजी ने उन्हें अनशन त्यागने की सलाह दी। मंदिर-प्रवेश का झगड़ा बराबर चलता रहा। मद्रास प्रान्तीय कौंसिल ने एक 'हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल' पास किया। पर वाइसराय ने उस पर स्वीकृति नहीं दी। उनका कहना था कि ऐसे विषय पर समस्त देश की राय जानना आवश्यक है।

तृतीय गोलमेज-सम्मेलन—हिन्दू, मुसलिम, सिख और ईसाइयों में समझौता कराने के लिए मालवीयजी ने फिर प्रयत्न आरंभ किया। श्री विजय गधव चारियर की अध्यक्षता में नवम्बर, १९३२ में इलाहाबाद में 'एकता सम्मेलन' हुआ, जिसकी बैठकें बहुत दिन तक चलती रहीं। किन्तु मुसलमानों के हठ के कारण कोई भी समझौता न हो पाया और यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। १७ नवम्बर से लन्दन में तृतीय गोलमेज सम्मेलन आरंभ हुआ। भारत में सत्याग्रह आन्दोलन चल ही रहा था और प्रमुख कांग्रेसी नेता जेलों में थे। अतः इस बार भी उदार दल, मुसलमानों तथा राज्यों के प्रतिनिधि ही गये। विभिन्न उपसमितियों की रिपोर्टों पर बहुत कुछ विचार हुआ। ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा देशी राज्यों का एक संघ बनाने का निश्चय किया गया। उसकी एक रूपरेखा तैयार हुई, जिसमें किसके क्या अधिकार रहेंगे, इसका स्पष्टीकरण किया गया। इस रूपरेखा के आधार पर एक बिल तैयार करके पार्लामेंट में पेश करनेका निश्चय हुआ। अन्तिम दिन के भाषणों में प्रतिनिधियों ने बड़ी सद्भावना प्रकट की। कांग्रेस के असहयोग का सभी ने अनुभव किया और यह आशा प्रकट की कि "वह शीघ्र ही अपना सहयोग प्रदान करेगी।" वादशाह की ओर से भी एक सन्देश पढ़कर सुनाया गया, जिसमें उन्होंने कहा कि "समस्या बड़ी जटिल थी। मुझे प्रसन्नता है कि आप लोगों के प्रयत्न से वह मुलझ गई। मुझे विश्वास है कि आप लोगों के प्रयत्न से दोनों देशों की मित्रता सुदृढ़ होगी।"

सत्याग्रह की प्रगति—मई १९३३ के आरम्भ में गान्धीजी ने यरवदा जेल से यह घोषित किया कि 'हरिजनोद्धार' के सम्बन्ध में २१ दिन अनशन करेंगे। इस पर सरकार ने उन्हें छोड़ दिया और उन्होंने पूना की एक कोठी में अनशन आरम्भ किया। इसका उद्देश्य बतलाया गया 'आत्मशुद्धि और विरोधियों का

हृदय-परिवर्तन।' छूटते ही उन्होंने सत्याग्रह एक मास तक स्थगित करने की घोषणा की। इस पर श्री विठ्ठलभाई पटेल तथा श्री सुभाषचन्द्र बसु ने एक वक्तव्य में कहा कि "यह तो कांग्रेस द्वारा अपनी पराजय की स्वीकृति है। हमारा स्वयं मत है कि नेता के रूप में गान्धीजी विफल रहे। अब कांग्रेस को उनका नेतृत्व छोड़ना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो एक नया दल बनाना पड़ेगा।" २१ दिन के पश्चात् गान्धीजी का अनशन सकुशल समाप्त हुआ। गान्धीजी पहले ही से आग्रह कर रहे थे कि सत्याग्रही जेलों से रिहा कर दिये जायँ, पर सरकार इसके लिए तैयार न थी। उसका कहना था कि "जब तक सत्याग्रह पूर्णतया छोड़ नहीं दिया जाता वह ऐसा नहीं कर सकती।" इस पर सत्याग्रह की बात फिर चल पड़ी और गान्धीजी, उनकी स्त्री कस्तूरबा और सावरमती आश्रम के ३२ सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। श्री राजगोपालाचारी तथा अन्य नेताओं की भी, जो जेलसे बाहर थे, धरपकड़ आरम्भ हो गई। गान्धीजी को एक वर्ष कैद की सजा दी गई। उन्होंने धमकी दी "कि यदि पहले की तरह जेल में हरिजन सुधार कार्य की सुविधाएँ न दी गयीं तो वे फिर अनशन करेंगे।" इस पर २३ अगस्त को बिना किसी शर्त के वे सहसा छोड़ दिये गये। छूटने पर उन्होंने कहा कि "अब मैं जेल जाने की अपेक्षा बाहर रहकर शान्ति के लिए प्रयत्न करना पसन्द करूँगा।" धीरे-धीरे सत्याग्रह शिथिल पड़ गया और साढ़े तीन वर्ष बाद बम्बई में श्री राजेन्द्र प्रसादजी की अध्यक्षता में कांग्रेस का नियमित अधिवेशन हुआ। कांग्रेस नेताओं से अहिंसा, खदर आदि के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो जाने के कारण गान्धीजी कांग्रेस से अलग हो गये, पर राजनीति में नेतृत्व उन्हीं का बना रहा।

सन् ३१ की जन-गणना—इधर प्रति दसवें वर्ष देश भर की जनगणना होती थी। १९३१ में जो जन-गणना हुई उसका विवरण सितम्बर १९३३ में प्रकाशित हुआ। यह जन-गणना १८ वर्ग मील के क्षेत्र में हुई और कुल जनसंख्या ३५ करोड़ ३० लाख पाई गई। इस हिसाब से प्रतिवर्ग मील १९५ जनसंख्या पड़ी। १९२१ की जनसंख्या से इस बार ३ करोड़ ३८ लाख अर्थात् १० प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत की यह जनसंख्या संसार की जनसंख्या की पंचमांश रही। देश

में २२५ प्रचलित भाषाएँ पाई गईं। हिन्दुओं की संख्या १० हजार पीछे ६८२४ रही। जनगणनाओं में मुसलमानों की संख्या बढ़ाकर दिखलाने का बराबर प्रयत्न होता रहा।

बिहार का भूकम्प—१५ जनवरी १९३४ में उत्तरी भारत के कई प्रान्तों में भूकम्प आया। इसका सबसे अधिक वेग बिहार में रहा। पटना जिले में पाँच सौ और मुंगेर तथा मुजफ्फरपुर जिलों में लगभग १२ हजार लोग मरे। इन दोनों शहरों में कोई भी मकान सहीसलामत नहीं बचा। समस्त प्रान्त में कई हजार व्यक्तियों के प्राण गये। कितने ही पशु मर गये, मकानों को बड़ी क्षति पहुँची। बाइसराय की ओर से एक सहायता-कोष खोला गया, जिसमें बादशाह और उनकी रानी ने भी चन्दा दिया। कांग्रेस की ओर से भी एक कोष खोला गया और उसका प्रबन्ध श्री राजेन्द्रप्रसादजी को सौंपा गया। गान्धीजी ने यह मत प्रकट किया कि “विपत्ति हरिजन-विरोध के पाप का फल है।” इस पर कविवर रवीन्द्र ने ठीक ही पूछा कि “इसके लिए बिहार ही क्यों चुना गया?”

समाजवादी दल—मई में काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष श्री नरेन्द्रदेवजी के नेतृत्व में प्रथम समाजवादी सम्मेलन हुआ। उन्होंने कहा कि ‘कांग्रेस धारा-सभाओं में जाने का फिर विचार कर रही है, पर इस सम्बन्ध में उसकी कोई निश्चित नीति नहीं। स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु दास ने, जो स्वराज्य-दल स्थापित किया था, उसका एक निश्चित लक्ष्य था। अब कांग्रेस फिर एक सुधारवादी दल बनने जा रही है, क्रांति उसका लक्ष्य नहीं रहा। अतः एक समाजवादी दल की आवश्यकता है, जो कांग्रेस के भीतर ही रह कर उसे क्रांतिकारी बना सके।’ यह दल धीरे धीरे जोर पकड़ता गया और उसने देश को राजनीति में एक निश्चित स्थान प्राप्त कर लिया। अन्ततः यह कांग्रेस विरोधी दल बन गया, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा।

नया शासन विधान—गोलमेज सम्मेलन और विभिन्न समितियों की सिफारिशों के आधार पर प्रभावित शासन सुधारों की रूपरेखा मार्च १९३३ में एक ‘श्वेतपत्र’ के रूप में प्रकाशित हुई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं और विभिन्न दलों द्वारा उसकी आलोचना चलती रही। १९३४ के अन्त में वे

एक बिल के रूप में पार्लमेण्ट में पेश हुए। उसकी दोनों सभाओं में कई महीनों तक बहस चलती रही। अन्ततः कानून के रूप में अगस्त १९३५ में उसे बादशाह की स्वीकृति प्राप्त हुई। भारतीय शासन के सम्बन्ध में जितने बिल पास हुए उनमें यह सबसे अधिक लम्बा तथा विस्तृत था। पूरा बिल ३२३ पृष्ठों में था। इसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि भारत एक संघ के रूप में रहे, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य दोनों शामिल रहेंगे। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति बादशाह द्वारा होगी। राज्यों के साथ सम्बन्ध वाइसराय द्वारा होगा। इन दोनों पदों पर किसी एक ही व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है। संघ धारासभा में दो सभाएँ होंगी, जिनमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त और राज्यों के प्रतिनिधि रहेंगे। ऊपरी सभा में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर जनता द्वारा चुने जायँगे, पर दूसरी सभा के लिए प्रान्तीय सभाओं द्वारा। दोनों सभाओं के लिए देशी राज्यों के प्रतिनिधि उनके नरेशों द्वारा चुने जायँगे। प्रान्तों की तरह इन सभाओं में भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व रहेगा। केन्द्र तथा प्रान्तों के अधिकारों का विभाग होगा और शेषाधिकार गवर्नर-जनरल के हाथ में रहेंगे। उसे सलाह देने के लिए १० मंत्रियों का एक मंत्रिमण्डल होगा, जो धारासभा के प्रति जिम्मेदार होगा। किन्तु सुरक्षा तथा पर-राष्ट्र नीति के लिए दो कौंसिलर रहेंगे, जिनके लिए धारासभा का सदस्य होना आवश्यक नहीं और जो सीधे गवर्नर-जनरल के प्रति जिम्मेदार होंगे। विधान के लिए संकट उत्पन्न होने पर समस्त शासन अपने हाथ में ले लेने का गवर्नर-जनरल को अधिकार रहेगा। अल्प-संख्यकों, देशीराज्यों तथा भारतमंत्री द्वारा नियुक्त अधिकारियों और व्यापारिक हितों के संरक्षण का गवर्नर-जनरल पर विशेष उत्तरदायित्व रहेगा। समस्त देश के लिए सर्वोच्च अदालत के रूप में नयी दिल्ली में एक न्यायालय होगा। भारतमंत्री का पद बना रहेगा और उन्हें परामर्श देने के लिए एक छोटी परिषद् रहेगी।

किसी राज्य की इच्छा प्रकट करने पर बादशाह की स्वीकृति से वह राज्य संघ में शामिल कर लिया जायगा। उस समय से संघ, धारासभा, संघ-न्यायालय

आदि के अधिकार उन राज्यों में भी मान लिये जायँगे। बर्मा भारत से अलग कर दिया जायगा। ब्रिटिश भारत में उड़ीसा तथा सिन्ध के दो नये प्रान्त बना दिये जायँगे, जो अन्य प्रांतों के समान ही होंगे। प्रांतों की धारासभाएँ 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' कहलायेंगी। कुछ प्रांतों में 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' नाम की दूसरी सभाएँ भी रहेंगी। प्रांतों के सभी विषय निर्वाचित मंत्रिमण्डल के हाथ में रहेंगे, जो धारासभाओं के प्रति जिम्मेदार होगा। 'पूना समझौता' द्वारा किये गये परिवर्तनों सहित 'साम्प्रदायिक निर्णय' के अनुसार धारा सभाओं में प्रतिनिधित्व होगा। केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों में विषय विभाजन के अनुसार जो विषय प्रान्तीय होंगे, उनके सम्बन्ध में प्रांतीय सरकारों को स्वतंत्रता रहेगी। गवर्नरों के विशेषाधिकार प्रायः वही होंगे, जो गवर्नर-जनरल के हैं। विधान के लिए कोई खतरा उत्पन्न होने पर गवर्नर को समस्त शासन अपने हाथ में लेने का अधिकार होगा। परामर्श देने के लिए वह कुछ सलाहकार नियुक्त कर सकता है। प्रांतों में नया विधान १९३७ से ही लागू हो जायगा, किन्तु पर्याप्त संख्या में देशी राज्यों के शामिल हो जाने पर ही केन्द्र में संघ-शासन-व्यवस्था चालू हो सकेगी। तब तक केन्द्र की व्यवस्था १९१९ सुधार कानून के अनुसार ही चलती रहेगी।

परिच्छेद १७

साम्राज्य का अन्त

सुधारों से असंतोष—१९३५ के सुधारों से किसी भी दल को संतोष नहीं हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने उक्त कानून को 'दासता का नया पत्र' बतलाया और कहा कि 'कांग्रेस के लिए पद ग्रहण करना भारी भूल होगी। उसका अर्थ होगा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग।' नेहरूजी की अध्यक्षता में ही अप्रैल १९३६ में लखनऊ में कांग्रेस का ४९ वाँ अधिवेशन हुआ। उसके एक प्रस्ताव में कहा गया कि 'नये कानून द्वारा भारत के निरंतर शोषण और दासता के लिए व्यवस्था की गयी है।' उदार दल के नेता भी उससे संतुष्ट नहीं हुए। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों के विशेषाधिकार पर उन्होंने आपत्ति की। उक्त कानून द्वारा मुसलमानों की कई माँगें पूरी हो गईं। सिन्ध का अलग प्रान्त बन गया, उनका विशेष प्रतिनिधित्व बना रहा, पर उन्होंने भी असंतोष ही प्रकट किया। मुसलिम लीग के अधिवेशन में मियाँ मुहम्मद अली जिना ने कहा कि "उक्त कानून द्वारा गवर्नर-जेनरल के हाथ में ९८ प्रतिशत संरक्षण और २ प्रतिशत जिम्मेदारी है और वह भी दो संघ धारासभाओं के अधिकारों से सीमित। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा मुसलमानों की सब माँगें पूरी नहीं होतीं।" साम्प्रदायिक निर्णय का इसमें समावेश हो जाने के कारण हिन्दू-महासभा ने भी इसकी कटु आलोचना की।

वादशाह छुटे जाज—जनवरी १९३६ में वादशाह पाँचवे जार्ज की मृत्यु हो गई। वे अपने सदाचरण, सरल स्वभाव तथा शिष्टता के लिए प्रसिद्ध थे। सभी देशों में उनके लिए शोक मनाया गया। उनके बड़े लड़के आठवें एडवर्ड के नाम से गद्दी पर बैठे। वे युवराज की हैसियत से भारत आ चुके थे। उनके

विचार बड़े स्वतंत्र थे। तलाक दी हुई एक अमेरिकन महिला से उन्होंने विवाह करना चाहा। यह ब्रिटिश राजवंश-परम्परा तथा मर्यादा के प्रतिकूल समझा गया।



छोटे जार्ज

इस पर उन्होंने दिसम्बर में गद्दी छोड़ दी और उनके स्थान पर उनके छोटे भाई छोटे जार्ज के नाम से बादशाह हुए। नयी दिल्ली में भी उनके राज्याभिषेक करने का विचार था। पर भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उनका भारत आना न हो सका।

विधान सम्मेलन की माँग—सत्याग्रह शिथिल पड़ चुका था, पर तब भी सरकार की ओर से दमन जारी था। श्री सुभाषचन्द्र बोस बहुत दिनों पर विदेशों से लौटें, वे कांग्रेस अधिवेशन में लखनऊ जानेवाले थे,

इतने ही में उन्हें १८१८ कानून ३ के अनुसार नजरबन्द कर दिया गया। इस पर देश भर में बड़ा क्षोभ फैला। अप्रैल के मध्य में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसके एक प्रस्ताव में कहा गया कि “श्री सुभाषबोस की नजरबंदी इसका प्रमाण है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत में किस तरह व्यक्तिगत तथा साधारण राजनैतिक जीवन का दमन कर रहा है।” कांग्रेस के इस अधिवेशन में उसके अध्यक्षपद से जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में प्रथम बार भारत का शासन-विधान बनाने के लिए एक विधान-सम्मेलन की माँग की। उन्होंने कहा कि “दासता पत्र किमी दास के लिए कानून नहीं। हमें कुछ काल के लिए नया सुधार कानून मानना पड़े, पर हमें उसके प्रति विद्रोह करने का अधिकार है। नये कानून के अनुसार चुनाव में भाग लेना हमारे लिए अनिवार्य

हो गया है, पर अपनी निर्वाचन घोषणा में हमें एक विधान सम्मेलन की माँग रखनी चाहिए। इसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए, मेरा विश्वास है कि केवल इसी के द्वारा हम अपने लिए उपयुक्त विधान बना सकते हैं। इसी तरह अन्य स्वतंत्र देशों के विधान बने हैं।”

लार्ड लिनलिथगो—यह पहले ही घोषित हो चुका था कि लार्ड विलिंगडन का कार्यकाल समाप्त होने पर लार्ड लिनलिथगो भारत के वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल होंगे। १८ अप्रैल को उन्होंने कार्यभार ग्रहण किया। वे भारत से अपरिचित न थे, ‘शाही कृपि कमीशन’ के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने देश का भ्रमण किया था और गाँवों तक में घूमे थे। सुधार कानून के सम्बन्ध में स्थापित कई समितियों में उन्होंने भाग लिया था। भारत के ग्राम्यजीवन से वे परिचित हैं और सुधार कानून का उन्हें ज्ञान है, इसी दृष्टि से उन्हें वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल बनाया गया। पद ग्रहण करते समय उन्होंने अपने रेडियो भाषण में नये सुधारों के लाभ दिखलये और अन्त में कहा कि ‘मैं अपना हृदय, मन और शरीर आपके देश की सेवा में लगाऊँगा। मैं यही चाहता हूँ कि अपनी प्रार्थनाओं में आप मेरा ध्यान रखें। हम और आप दोनों को सर्वसाधारण की स्थिति सुधारने तथा संसार में भारत की प्राचीन प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए श्रद्धा तथा साहस के साथ आगे बढ़ना चाहिए।



लार्ड लिनलिथगो

निर्वाचन का फल—नये सुधारों का विरोध करते हुए भी सभी दलों ने निर्वाचन में भाग लेने का निर्णय किया। नये कानून से केंद्रीय व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, वह १९१९ के कानून के अनुसार ही चलती रही। पहले केंद्रीय असेम्बली का निर्वाचन हुआ। इसमें ४४ स्थान कांग्रेस को और उतने ही स्थान अन्य दलों को मिले। इनके अतिरिक्त २६ सरकारी अफसर और १३ सरकार द्वारा नामजद सदस्य रहे। इस तरह बहुमत कांग्रेस को प्राप्त हुआ। केंद्रीय असेम्बली में कांग्रेस दल का मुसलिम लीग दल से एक प्रकार का समझौता हुआ, जिसके अनुसार कुछ मामलों में दोनों का सहयोग रहा। इसके फलस्वरूप सरकारी

त्रजट अस्वीकृत हो गया और गवर्नर-जनरल को अपने विशेषाधिकार से उसे पास करना पड़ा।

१९३६ के अन्त में सबसे अधिक चहुल-पहुल प्रान्तीय निर्वाचनों के सम्बन्ध में रही। नये सुधार कानून के अनुसार निर्वाचकों की संख्या ७० लाख से ३॥ करोड़ तक पहुँच गई। स्त्रियों को भी मत देने तथा सदस्यता के लिए खड़े होने का अधिकार मिल गया। कांग्रेस की निर्वाचन घोषणा में कहा गया कि 'कांग्रेसजन ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए निर्वाचन में भाग ले रहे हैं।' गाँव गाँव तक में कांग्रेस का प्रचार जोरों से चल पड़ा। इस निर्वाचन में भी कांग्रेस की ही विजय रही। १५८५ स्थानों में से ७११ कांग्रेस को मिले। मद्रास, युक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रान्त में कांग्रेस दल का स्पष्ट बहुमत रहा। बर्मा में उसे आधे स्थान मिले, पर कुछ अन्य दलों के समर्थन से उसका बहुमत हो गया। इन सब प्रान्तों में हिन्दू बहुसंख्यक हैं। सीमाप्रान्त सर्वथा मुसलिम-बहुल प्रान्त है, वहाँ बहुमत लालकुरती दलवालों को प्राप्त हुआ पर उक्त दल द्वारा कांग्रेस कार्यक्रम और योजना अपना लेने से इस प्रान्त में भी कांग्रेस की ही सफलता रही। किन्तु पंजाब, बंगाल, आसाम और सिन्ध में मुसलिम दलों की विजय हुई। कांग्रेसी मुसलमानों की बुरी तरह हार हुई, देश भर में ४८२ मुसलिम निर्वाचन क्षेत्र थे, जिनमें से केवल ५८ के लिए कांग्रेसी मुसलिम खड़े हुए, पर २६ से अधिक स्थान प्राप्त न कर सके। जिन प्रान्तों में मुसलिम बहुमत हुआ, वहाँ भी उनकी आपसमें दलबन्दी थी। मुसलिम लीग का अधिक जोर उन प्रान्तों में रहा, जहाँ मुसलिम अल्पसंख्यक थे, अतः वहाँ की असेम्बलियों में लीग के सुदृढ़ अल्पसंख्यक दल बन गये। ऐसा सबसे शक्तिशाली दल युक्तप्रान्तीय असेम्बली में बना।

पदग्रहण का प्रश्न—कई प्रान्तों में बहुमत प्राप्त करने के साथ कांग्रेस के सामने सरकार बनाने का प्रश्न आ गया। पदग्रहण के सम्बन्ध में बहुत दिनों से आपस में ही मतभेद चल रहा था। इस पर विचार करने के लिए फरवरी १९३७ में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की एक बैठक हुई। उसके एक प्रस्ताव में कहा गया कि "भारत की जनता की ओर से समिति की माँग है कि नया विधान का पद ले लिया जाय। इस बीच असेम्बलियों के कांग्रेसी सदस्य

विधान कार्यान्वित करने के मार्ग में बाधा डालें और इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्रवाद की निहित प्रतिकूलता प्रत्यक्ष करें।” पदग्रहण के सम्बन्ध में बहुमत से यह निश्चित हुआ कि “यदि गवर्नर यह आश्वासन दें कि वे मंत्रियों की वैधानिक काररवाइयों को निष्फल करने के लिए अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करेंगे तो प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें बनाई जायँ।” पहली अप्रैल १९३७ से नया विधान प्रान्तों में लागू हो गया। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहाँ के गवर्नरों ने कांग्रेस दलों को मंत्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। तब उनसे कांग्रेस महासमिति के निर्णयानुसार आश्वासन माँगा गया, जिसे देने में उन्होंने असमर्थता प्रकट की। उनका कहना था कि “विशेष परिस्थितियों के लिए किसी विधान द्वारा उन्हें जो विशेषाधिकार दिये गये, जनहित की दृष्टि से वे अपने को उन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकते।” इस पर कांग्रेसदलवालों ने सरकारें बनाने से इनकार कर दिया। तब अल्पसंख्यक दलों के मंत्री नियुक्त किये गये। परन्तु यह प्रबन्ध असम्भव था, क्योंकि बहुमत कांग्रेसदल का था, अल्पसंख्यकों की सरकार को असेम्बलियों में बराबर हारना पड़ता।

इस सम्बन्ध में बहुत दिनों तक कांग्रेस तथा भारत सरकार के बीच वार्ता चलती रही, गान्धीजी ने मध्यस्थ का काम किया। अन्ततः जूनमें गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो ने यह समझाया कि “संरक्षण के अधिकार केवल विशेष परिस्थितियों के लिए रखे गये हैं। साधारण कार्यों में गवर्नरों द्वारा विशेषाधिकारों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। भारत में पूर्णरूप से पार्लमेण्टी व्यवस्था स्थापित हो, इसके लिए मैं स्वयं प्रयत्न करूँगा।” इस पर कांग्रेसदलवालों ने मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकृत कर लिया। अल्पसंख्यकों के जो मंत्रिमण्डल बने थे, वे स्वतः भंग हो गये और उनके स्थान पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए।

प्रथम कांग्रेसी सरकारें—मद्रास, बम्बई, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, उड़ीसा और सीमाप्रान्त—इन सात प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें बनीं। श्री जवाहर-लाल नेहरू, सरदार पटेल, श्री राजेन्द्रप्रसाद, मौलाना अबुलकलाम आजाद जैसे अखिल भारतीय नेता अलग हो रहे। कांग्रेसी सरकारों पर निरीक्षण रखने

और उचित परामर्श देने के लिए ऐसे लोगों का एक पार्लमेण्टी बोर्ड बना। प्रमुख प्रान्तीय नेता ही प्रान्तों के प्रधान मन्त्री बनाये गये। सरकारों में कांग्रेसी विचार के कुछ मुसलमानों और कुछ हरिजनों को भी लिया गया। युक्तप्रान्तीय सरकार में नेहरूजी की बहन श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित स्वास्थ्य-मन्त्री के पद पर नियुक्त की गयीं। कांग्रेसी प्रान्तों के शासन का आरम्भ बड़े अच्छे ढंग से हुआ। प्रायः सभी प्रान्तों में एक ही प्रकार की नीति चलती रही। कराची कांग्रेस के प्रस्तावानुसार मंत्रियों ने केवल पाँच सौ रुपया मासिक वेतन लेना स्वीकार किया। सभी प्रान्तीय असेम्बली में एक प्रस्ताव द्वारा विधान सम्मेलन की माँग की गयी। कांग्रेसी नीति के अनुसार मद्यनिषेध के लिए कानून बनाये गये। शिक्षा, चिकित्सा तथा अन्य लोकोपयोगी कार्यों के लिए पहले से कहीं अधिक रुपया बजटों में रखा गया। शिक्षा में 'बुनियादी शिक्षा' की योजना, जो 'वर्धा योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई, अपनायी गयी। इसकी विशेषता यह रही कि प्रारम्भ में बच्चों को चर्खा तथा अन्य उद्योगों द्वारा शिक्षा दी जाय। सोचा यह गया था कि इस तरह बच्चों को किसी उद्योग की शिक्षा मिल जायगी, जो पैसा कमाने में सहायक होगी, खर्च कम पड़ेगा और कुछ दिनों में शिक्षा-संस्थाएँ स्वयं अपना खर्च उठा सकेंगी। चिकित्सा में देशी पद्धतियों की उन्नति की ओर कुछ ध्यान दिया गया। पिछले दमन से जो पीड़ित थे, उन्हें भी सहायता पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। बहुत से राजनीतिक कैदी छोड़ दिये गये। कुछ नजरबन्दों के संबंध में युक्तप्रान्त तथा बिहार में वहाँ के गवर्नरों तथा सरकारों में मतभेद उत्पन्न हो गया। इस पर दोनों प्रान्तों की सरकारों ने पद त्याग दिया, जिससे वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया। किन्तु गवर्नर-जनरल तथा गांधीजी के बीच में पड़ने से जैसे-तैसे मामला निबट गया और सरकारों ने त्याग-पत्र वापस ले लिया। देशी उद्योगों में विशेषकर चर्खे का प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया गया। किसानों तथा मजदूरों की दशा सुधारने के लिए भी कुछ कानून बनाये गये। समाजसुधार का कांग्रेसी कार्यक्रम अपनाया गया। हरिजनों को शिक्षा, नौकरी आदि की विशेष सुविधाएँ दी गयीं। अस्पृश्यता-निवारण, मन्दिर-प्रवेश आदि के सम्बन्ध में भी कुछ

बिल पेश किये गये। जनता को सैनिक शिक्षा देने की भी योजनाएँ बनाई गईं। कई उपयोगी योजनाएँ कार्यान्वित करने में मुख्य बाधा अर्थ की पड़ती रही। मध्यप्रान्त में प्रधान मन्त्री डाक्टर खरे का केन्द्रीय बोर्ड से मतभेद हो गया और उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ा।

गैर कांग्रेसी प्रान्त—यह पहले लिखा जा चुका है कि बंगाल, आसाम, पंजाब तथा सिंध की असेम्बलियों में बहुमत मुसलमानोंका रहा, पर उनमें किसी एक दल का इतना बहुमत नहीं रहा कि वह अपनी सरकार बना सके। अतः इन प्रान्तों में कुछ दलों की संयुक्त सरकारें बनीं। उनमें अल्पसंख्यकों के भी कुछ प्रतिनिधि लिये गये। एक दल की सरकार न होने का फल यह हुआ कि ये प्रान्त दलबन्दी के अखाड़े बन गये। सिन्ध में तो १९३७-४३ तक ५ सरकारें बनीं। पर तब भी उन प्रान्तोंकी सरकारों ने कई बातों में कांग्रेसी प्रान्तों के अनुकरण करने का प्रयत्न किया। किसानों की स्थिति सुधारने के लिए कुछ नियम बनाये गये। शिक्षा पर भी पहले से अधिक रकम रखी गयी। इन प्रान्तों में विरोधी दल का कार्य प्रायः कांग्रेसदलवाले करते रहे। इसमें वे अन्य दलों की सहायता भी लेते रहे।

पाकिस्तान का बीज—हिन्दू तथा मुसलिम धर्म और संस्कृति में बड़ा भेद है। कई बातों में दोनों एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हैं। पर तब भी सैकड़ों वर्ष से साथ रहने के कारण भेदों की उग्रता बहुत कुछ दूर हो गई। दोनों सम्प्रदायों के मध्यकालीन सन्तों ने साम्प्रदायिक कटुता दूर करने के बहुत कुछ प्रयत्न किये, उन्होंने दोनों धर्मों की तात्त्विक एकता पर जोर दिया। कई मुसलिम शासकों ने उदारता की नीति से काम लिया। हिन्दू स्वभाव से ही सहिष्णु होते हैं। आर्थिक जीवन में दोनों के लिए ही परस्पर सहयोग अपेक्षित है। इन्हीं सब कारणों से अधिकांश हिन्दू-मुसलमान बड़े मेलजोल से रहने लगे। पर अंग्रेजों ने इन दोनों में भेद बनाये रखने से ही अपना शासन चलाया। अतः प्रारम्भ में ही उन्होंने 'विभाजन और शासन' की नीति अपनायी! अंगरेजों द्वारा लिखे इतिहासों में हिन्दुओं पर मुसलमानों के अत्याचारों का खूब वर्णन किया गया। इधर मुसलमानों को यह दिखलाया जाने लगा कि हिन्दू बहुसंख्यक हैं, स्वतन्त्रता

प्राप्त करके वे मुसलमानों से बदला लेंगे। सिपाही विद्रोह में हिन्दू-मुसलिम एकता अंगरेजों को बहुत खटकी और उसके बाद निश्चित रूप से दोनों को लड़ाते रहने की नीति से काम लिया जाने लगा। मुसलमानों की मनोवृत्ति बदलने लगी और उनके हृदय में यह भाव बैठ गया कि हिन्दुओं के साथ रहने में उनका हित नहीं, अतः उनका राज्य अलग होना चाहिए। १९३० में मुसलिम लीग का अधिवेशन प्रयाग में हुआ। उसके अध्यक्ष थे उर्दू के प्रसिद्ध कवि सर मुहम्मद इकबाल, जिनका 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' गीत बड़ा प्रसिद्ध है। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि "भारत में कई जाति, कई संप्रदाय, कई भाषाओं के लोग बसते हैं, अतः यह आवश्यक है कि भाषा, जाति, संप्रदाय तथा आर्थिक हितों के आधार पर भारत में पूर्ण सत्ता प्राप्त राज्य स्थापित किये जायँ, तभी उसकी शासन व्यवस्था में स्थायित्व आ सकता है। मुसलमानों की दृष्टि से इसके लिए पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान का एक राज्य बनाया जा सकता है।" लंदन में जिन दिनों गोलमेज सम्मेलन हो रहे थे, वहाँ रहनेवाले मुसलमानों में पाकिस्तान राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया गया। इसके नेता थे पंजाब निवासी चौधरी रहमत अली। इस विषय पर उनकी एक पुस्तिका निकली। उसमें उन्होंने लिखा है कि "भारत में मुसलमान एक राष्ट्र के रूप में बारह सौ वर्षों से रह रहे हैं। उनका इतिहास, उनकी संस्कृति, उनकी सभ्यता अलग है। जिस प्रदेश में उनकी अधिकता है, वह मुख्य भारत का भाग नहीं। यमुना नदी से वह भाग अलग हो जाता है। वहाँ के निवासियों के पूर्वज मध्य एशिया से आये थे। केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, यहाँ के रहनेवालों के जीवन की प्रत्येक बात में हिन्दुओं से भेद है।" गोलमेज सम्मेलन के समय इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, पर यह आन्दोलन बढ़ने लगा। १९३९ में पंजाब के प्रधान मन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ ने एक योजना निकाली, जिसमें उन्होंने यह सुझाव रखा कि भारत के पश्चिम-उत्तर और पूर्व-उत्तर के मुसलिमबहुल प्रदेशों का एक स्वतन्त्र समूह बना दिया जाय। इसीतरह बाकी हिन्दूबहुल प्रदेशों का एक समूह रहे। इन दोनों का एक संघ हो, पर केंद्रीय संघ सरकार के हाथ में सुरक्षा,

परराष्ट्र नीति, मुद्रा, यातायात जैसे विषय रहें। इस तरह की योजनाएँ मियाँ मुहम्मद अली जिना के दिमाग में काम करने लगीं और उन्होंने इन्हीं दिनों अपने एक लेख में लिखा कि “भारत में दो राष्ट्र हैं, उन दोनों का अपनी मातृभूमि के शासन में साझा होना चाहिए।” इस तरह पाकिस्तान की बात उठी, पर उस समय तक उसे सर्वथा अलग करने का भाव न आया था। चौधरी रहमत अली की पुस्तिका का जो दूसरा संस्करण निकला उसमें पाकिस्तान में काश्मीर, बंगाल, आसाम और हैदराबाद को भी शामिल कर लिया गया।

कांग्रेस और लीग—मियाँ जिना के नेतृत्व में मुसलिम लीग की नयी नीति से यह स्पष्ट होने लगा कि उसके साथ कांग्रेस का समझौता नहीं हो सकता। कांग्रेस का यह विश्वास था कि हिन्दू-मुसलिम एकता के स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। अतः वह यथा-सम्भव लीग की माँगें मानने और हिन्दुओं को दबाने का प्रयत्न करती थी। मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिए ही उसने लखनऊ समझौते में मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के अधिकार मान लिये, जिसका परिणाम भयंकर हुआ। कांग्रेस की सद्भावना को मुसलमान उसकी निर्वलता समझने लगे और अपनी माँगें बढ़ाने लगे। प्रान्तों में पदग्रहण करने के समय यह प्रयत्न किया गया कि कांग्रेसी प्रान्तों में कांग्रेस और लीग की संयुक्त सरकारें बनें, पर लीग की अनुचित माँगों तथा हठ के कारण यह सम्भव न हुआ। इसका फल यह हुआ कि लीग ने कांग्रेसी प्रान्तों की असेम्बलियों तथा उनके बाहर कांग्रेसी सरकारों को विफल करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। मियाँ जिना ने यह घोषित किया कि “कांग्रेसी शासन में मुसलमानों के साथ न्याय नहीं हो सकता। उसकी तान शाही नीति की चट्टान पर साम्प्रदायिक शान्ति की आशा चकनाचूर हो गई।” असेम्बलियों में कांग्रेसी सरकारों की कटु आलोचना होने लगी। कांग्रेसी ‘तिरंगा झण्डा’ राष्ट्रिय नहीं माना गया, उसके साथ लीग का भी झण्डा लगाने का दुराग्रह किया जाने लगा। ‘वन्दे मातरम्’ गान पर भी आपत्ति की जाने लगी और उसके कुछ अंश निकाल दिये गये। हिन्दू-मुसलिम दंगों ने फिर जोर पकड़ा। कांग्रेसी प्रान्तों में ५७ बड़े बड़े दंगे हुए, जिनमें १३० की मृत्यु हुई और १७०० घायल हुए। गैर कांग्रेसी प्रान्तों में भी दंगे होते रहे। कांग्रेसी प्रान्तों में लीग की ओर से

कहा जाने लगा कि उन मुसलमानों पर बड़े अत्याचार हो रहे हैं। उनकी जाँच करने के लिए लीग ने एक समिति नियुक्त की। युक्तप्रान्त में लीग का बड़ा जोर था। उसने कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध बड़ा मिथ्या प्रचार किया। पर तब भी सरकार उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करती रही। उसने एक पुस्तिका निकाल कर यह दिखलाया कि मुसलमानों के साथ उसने कितनी रियायत की और कई मामलों में हिन्दुओं को कितना दबाया। किन्तु लीगियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।



श्री विनायक दामोदर सावरकर

की खुशामद नहीं कर सकते।” महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन में उन्होंने कहा कि “अब से हिन्दू-मुसलिम एकता का यह सिद्धान्त रहेगा कि यदि तुम आगे आते हो तो हम तुम्हारे साथ हैं, यदि नहीं तो तुम्हारी पर्वाह किये बिना हम स्वतंत्रता युद्ध लड़ेंगे।” १९३९ में नागपुरके अधिवेशन के अध्यक्षपद से

हिन्दू राष्ट्र का भाव—

मुसलिम पृथक् राष्ट्र है, और उनका भारत में स्वतंत्र राज्य होना चाहिए, मुसलमानों में यह भाव बढ़ते और एकता की दृष्टि से उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिए कांग्रेस को दबते देखकर हिन्दू महासभा के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आरम्भ हुआ। लाहोर के श्री भाई परमानन्द और पूना के श्री विनायक दामोदर सावरकर जैसे राष्ट्रवादी महासभा में शामिल हो गये। श्री सावरकर इस बात पर जोर देने लगे कि “हिन्दुस्थान हिन्दुओं का ही देश है। वस्तुतः हिन्दू ही राष्ट्र हैं। वे मुसलमानों

उनका बड़ा उग्र भाषण हुआ। उसमें ऐतिहासिक विवेचन से उन्होंने दिखलाया कि “कम से कम गत ५ हजार वर्षों से हिन्दुत्व का भाव हिन्दूराष्ट्र का निर्माण कर रहा है, हिन्दूराष्ट्र यह एक तथ्य है, उसे बनाना नहीं है। हिन्दुस्थान में ‘हिन्दू पद पादशाही’ स्थापित करना प्राचीनकाल से हिन्दुओं का आदर्श रहा है।” अपने भाषण का अन्त उन्होंने इन शब्दों से किया “हिन्दू धर्म की जय ! हिन्दू राष्ट्र की जय !! वन्दे मातरम् !!!” इस तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों ओर से विलगाव जोर पकड़ने लगा और दोनों के मिलाने का कांग्रेसी प्रयत्न विफल होने लगा।

अग्रगामी दल—कांग्रेस में सदा ही दो दल रहे हैं—एक नरम और दूसरा गरम। इन दोनों में मतभेद चलता रहता है और कभी-कभी वह बहुत उग्र हो जाता है। इन दिनों भी ऐसा ही हुआ। श्री सुभाषचन्द्र बसु हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। उनका कहना था कि “नरमी से काम नहीं चल सकता, कांग्रेस को उग्र कार्यक्रम बनाना चाहिये और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार को बाध्य करना चाहिये।” कांग्रेस में अधिकांश नेता उनके विचारों से सहमत न थे। कांग्रेस का अगला अधिवेशन त्रिपुरी में होनेवाला था, उसकी अध्यक्षता के लिए श्री सुभाष बसु फिर खड़े हुए, गान्धीजी, सरदार पटेल, नेहरूजी आदि उन्हें न चाहते थे, तब भी बहुमत से वे चुन लिये गये। गान्धीजी ने इसे ‘अपनी हार’ मानी। तेज ज्वर से पीड़ित होते हुए भी श्री बसु त्रिपुरी गये। वहाँ उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि “ब्रिटिश सरकार को ६ महीने की अवधि दी जाय और यदि इस बीच वह पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान न करे तो भारत को उसे स्वयं घोषित कर देना चाहिये।” इसका विरोध करते हुए नेहरूजी ने कहा कि “कोरी धमकियों से कुछ नहीं होता।” बहुत बहस के बाद प्रस्ताव गिर गया। कार्यसमिति बनाने के सम्बन्ध में भी बड़ा विवाद चला। श्री सुभाष बाबू के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गयी कि उन्हें अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। इस पर उन्होंने कांग्रेस के अन्तर्गत ही अपना एक “अग्रगामी दल” (फारवर्ड ब्लॉक) बनाया। उसका ध्येय रखा गया “सभी साम्राज्य विरोधी उग्र विचारवालों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना।”

राजकोट का मामला—काठियावाड़ में राजकोट एक छोटी-सी रियासत है। गान्धीजी के पिता वहाँ के दीवान रह चुके थे, अतः गान्धीजी का राज्य से निकट संबंध था। अपने कुछ कष्टों के कारण वहाँ के किसानों ने सत्याग्रह आरंभ किया। अन्ततः यह समझौता हुआ कि दोनों ओर के कुछ प्रतिनिधियों की एक समिति बना दी जाय जो जाँच करके उचित सुधार बतलाये। इस समिति के संघटन के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो गया, इसपर गान्धीजी ने वहाँ जाकर अनशन आरम्भ कर दिया। मतभेद में किसका पक्ष उचित है, इसका निर्णय संघन्यायालय के अध्यक्ष पर छोड़ा गया और उन्होंने गान्धीजी के पक्ष में अपना मत दिया। इसपर राजकोट के ठाकुर साहब की ओर से दरबार श्री वीरबाला ने कहा कि “यह तो नाजायज दबाव डालना हुआ, इसे अहिंसा की जीत नहीं कहा जा सकता।” गान्धीजी ने भी इसे माना। अन्ततः ठाकुर साहब ने गान्धीजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और शिकायतें दूर करने का वचन दिया। इस तरह यह मामला समाप्त हुआ। उन दिनों इसका रूप बड़ा जटिल हो गया था और देश भर में इसकी चर्चा थी। विदेशों तक का ध्यान इसने आकृष्ट किया था।

दूसरा महायुद्ध—सितम्बर १९३९ में यूरोप का दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर वसेई की सन्धि द्वारा जर्मनी के कुछ प्रदेश फ्रांस, बेलजियम, डेन्मार्क आदि को दिये गये। पूर्व में एक लम्बा गलियारा जैसा प्रदेश नवस्थापित पोलैण्ड राज्य को दिया गया। इसके फलस्वरूप पूर्वी प्रशिया, मुख्य जर्मन राज्य से अलग पड़ गया। कुछ क्षेत्रों पर राष्ट्रसंघ तथा मित्रराष्ट्रों का अस्थायी अधिकार हो गया। बचे हुए प्रदेश में एक प्रजातन्त्र राज्य स्थापित कर दिया गया। उसके सभी उपनिवेश छीन लिये गये और एक बड़ी रकम हर-जाने में माँगी गई। उसे राष्ट्रसंघ का सदस्य तक नहीं बनाया गया। जर्मन स्वभाव से ही बड़े अभिमानी तथा लड़ाकू होते हैं, वे अपने देश का यह अपमान सहन न कर सके। खोया गौरव पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से युवकों का एक गुप्त आंदोलन चल पड़ा। कारखानों के मजदूरों में उसका खूब प्रचार हुआ। उसमें राष्ट्रीयता का भाव मुख्य था और साथ ही समाजवाद के भी कुछ अंश थे। इसीलिए सिद्धान्त की दृष्टि से वह ‘राष्ट्रीय समाजवाद’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दल के रूप में

उसका नाम 'नाजी दल' पड़ा। उसका नेतृत्व हिटलर के हाथ में आया, उन्होंने उसे खूब संगठित बनाया। १९३३ में वे जर्मन प्रजातन्त्र राज्य के अध्यक्ष (चांसलर) चुन लिये गये। उन्होंने प्रजातन्त्र व्यवस्था हटाकर समस्त शक्ति अपने हाथ में कर ली। एक एक करके उन्होंने जर्मनी के खोये सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।

उनका दिमाग बड़ा तेज था, उन्होंने ऐसा कुचक्र रचा कि बिना लड़े मिड़े ही आस्ट्रिया और चेको-स्लोवाकिया पर उनका आधिपत्य हो गया। अपने ही दंग के एक साथी उन्हें इटली के मुसोलिनी मिल गये। प्रथम महायुद्ध के कुछ दिन बाद ही उन्होंने इटली में 'फासिस्ट दल' संगठित किया था। उसके द्वारा धीरे धीरे उन्होंने सब अधिकार अपने हाथ में ले लिया। राजा नाममात्र के लिए रह गये, पार्लमेण्ट भंग कर दी गई और प्रधानमन्त्री के रूप में मुसोलिनी इटली के वास्तविक शासक बन गये। जर्मनी में नाजी दल संगठित करने तथा वहाँ के सर्वेसर्वा बनने में



हिटलर

हिटलर ने बहुत कुछ मुसोलिनी के विचारों और कार्यक्रम का अनुकरण किया। उन दोनों का एक प्रबल गुट बन गया। जिस तरह हो अपने सभी विरोधियों को दबाकर सैनिक तथा मुल्की समस्त शक्ति अपने हाथ में रखना दोनों का सिद्धान्त था। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री इस समय मिस्टर चेम्बरलेन थे, वे झगड़ा बचाने के लिए बराबर दबते जाते थे। पर जब रूस से सन्धि करके हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तब बाध्य होकर ब्रिटेन तथा फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी।

भारत भी शामिल—३ सितम्बर को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की और उसी दिन भारत में वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने घोषित किया कि “भारत का भी जर्मनी से युद्ध है।” उन्होंने गांधीजी, मियाँ जिना तथा अन्य कई नेताओं को परामर्श करने के लिए बुलाया। युद्ध में ब्रिटेन के पक्ष का तो सभी दलों ने समर्थन किया, पर क्रियात्मक सहायता पहुँचाने के सम्बन्ध में मतभेद खड़ा हो गया। कांग्रेस की ओर से एक वक्तव्य निकाला गया, जिसमें कहा गया कि “ब्रिटिश सरकार को पहले युद्ध का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में घोषित करना चाहिए। यदि मुख्य उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा है, जैसा कि कहा जाता है तो उसे बतलाना चाहिए कि भारत में साम्राज्यवाद का अन्त करके किस तरह की व्यवस्था होगी कि जिस में वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र होकर अपने भविष्य का निर्णय कर सके।” मुसलिमलीग ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि “नयी शासन व्यवस्था से कई प्रान्तों में हिन्दू राज्य स्थापित हो गया, जिससे मुसलिम जान, माल तथा स्वतन्त्रता को खतरा है। यदि युद्ध में मुसलमानों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना है तो सरकार को उन्हें इस अत्याचार से मुक्त करना चाहिए और यह वचन देना चाहिए कि बिना मुसलिम लीग की पूर्ण स्वीकृति के कोई भी नवीन शासनव्यवस्था निश्चित न की जायगी।” हिन्दू महासभा ने इस अवसर से साम्प्रदायिक लाभ उठाने की मनोवृत्ति की निन्दा करते हुए यह मत प्रकट किया कि “केन्द्र में जिम्मेदार सरकार स्थापित होनी चाहिए और शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करने का आश्वासन मिलना चाहिए।”

वाइसराय की घोषणा—इसपर वाइसराय ने घोषित किया कि “सम्राट् की सरकार चाहती है कि युद्ध का अन्त होने पर भारत के प्रधान राजनीतिक दलों तथा देशी नरेशों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके शासन व्यवस्था में उचित संशोधन किये जायें। इस बीच प्रतिनिधियों की एक सलाहकार समिति बनायी जाय, जो सरकार को युद्ध सम्बन्धी विषयों में अपनी सम्मति देती रहे।” इसपर गांधीजी ने लिखा कि “यदि घोषणा न की गयी होती तो अच्छा था। वाइसराय के लम्बे वक्तव्य से ज्ञात होता है कि ब्रिटिश सरकार अब भी ‘विभाजन और शासन’ की नीति नहीं छोड़ना चाहती। कांग्रेस इसमें कदापि

साथ नहीं दे सकती। युद्ध का अन्त होने पर फिर एक गोलमेज सम्मेलन का वचन दिया गया है। पहले की तरह उसका विफल होना निश्चित है। कांग्रेस ने माँगी रोटी और उसे मिले पत्थर।”

कांग्रेसी सरकारों का पदत्याग—सभी कांग्रेसी प्रान्तों की असेम्बलियों में यह प्रस्ताव पास किया गया कि “असेम्बली को खेद है कि जनता से बिना पूछे ही ब्रिटिश सरकार ने भारत की ओर से युद्ध घोषित कर दिया।” ब्रिटिश सरकार से कोई सन्तोषजनक उत्तर न पाकर कांग्रेस कार्यसमिति ने यह निश्चित किया कि “सभी प्रान्तीय सरकारों को अपने पद से इस्तीफा दे देना चाहिए।” मियाँ जिना ने यह माँग की कि “मुसलमानों पर कांग्रेसी अत्याचारों की जाँच के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया जाय” और यह आदेश निकाला कि “कांग्रेसी सरकारों द्वारा पदत्याग करने पर २२ दिसम्बर को मुसलमान सर्वत्र ‘मुक्ति-दिवस’ मनायें। उस दिन सभाएँ करके कांग्रेसी अत्याचार के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये जायँ और उससे मुक्ति प्राप्त होने के उपलक्ष्य में धन्यवादपूर्वक प्रार्थनाएँ की जायँ।” थोड़े ही दिनों में कार्यसमिति के आदेशानुसार कांग्रेसी प्रान्तों की सरकारों ने अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। शासन विधान की धारा ९३ के अनुसार वहाँ के गवर्नरों ने शासन अपने हाथ में ले लिया और परामर्श देने के लिए कुछ सलाहकारों को नियुक्त कर दिया।

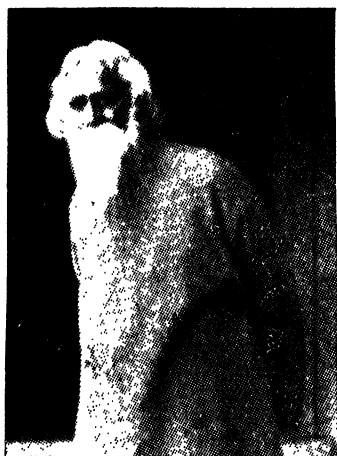
खाकसार संघटन—१९३२ में मौलाना अल्लामा मशरिकी द्वारा खाकसार संघटन स्थापित हुआ। इसमें बहुत कुछ जर्मनी के ‘नाजी’ दलों का अनुकरण किया गया। यह एक प्रकार का अर्द्धसैनिक संघटन था। इसके सदस्य काँधे पर एक बेलचा रखकर चलते थे। इसका उद्देश्य यह बतलाया जाता था कि “अपने सदाचरण द्वारा समस्त संसार पर अधिपत्य स्थापित करना।” यद्यपि इसमें सभी सम्प्रदायों की सेवा करने का कार्यक्रम रखा गया था पर वस्तुतः यह एक सर्वथा साम्प्रदायिक संघटन था। पंजाब में इसने कई मसजिदों पर अधिकार कर लिया। कई जगह इसके कारण उपद्रव हुए और पंजाब सरकार को इस पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। भारत सरकार को भी यह पता लगा कि इसका कुछ सम्बन्ध शत्रुओं से है और उसने उसे गैर कानूनी घोषित कर दिया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—अगस्त १९४० में वाइसराय ने घोषित किया कि “कुछ भारतीय नेताओं को शामिल करने की दृष्टि से शासनपरिषद् की सदस्य संख्या बढ़ायी जायगी और सभी दलों के प्रतिनिधियों की एक ‘युद्ध सलाहकार समिति’ नियुक्त की जायगी। भारी शासन-विधान के सम्बन्ध में भी रुमर आने पर ब्रिटिश सरकार प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आमंत्रित करेगी।” गांधीजी के साथ वाइसराय की बहुत बातचीत हुई पर शासनपरिषद् में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए कांग्रेस राजी न हुई। गान्धीजी ने वाइसराय से यह अनुमति चाही कि “युद्ध में भाग न लेने के लिए प्रचार करने का अधिकार कांग्रेसी नेताओं को मिलना चाहिए,” वाइसराय ने इससे साफ इनकार कर दिया। मुसलिम लीग को शासनपरिषद् में दो स्थान दिये गये। उसने भी उन्हें स्वीकृत नहीं किया, पर यह स्पष्ट कर दिया कि वह युद्धप्रयत्न में सरकार का साथ देगी। नवम्बर में युद्ध विरोधी भाषण करने के कारण श्री जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें १६ महीने सख्त कैद की सजा दी गयी। गान्धीजी ने सत्याग्रह की योजना तैयार की और १५०० चुने हुए व्यक्तियों की उसके लिए सूची बनायी। ‘युद्ध में भाग लेना पाप है’ केवल इतना कह देना ही अपराध मान लिया जाता था और गिरफ्तारी हो जाती थी। इसमें कांग्रेस के कितने ही नेता गिरफ्तार हो गये। जनवरी १९४१ में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद की गिरफ्तारी से देश भर में बड़ी सनसनी फैली। उन्हें १८ महीने कैद की सजा दी गयी। २७ जनवरी को पता लगा कि श्री सुभाष बसु अपने घर से जहाँ वे नजरबन्द थे कहीं गायब हो गये। उधर लीग की तरफ से पाकिस्तान दिवस मनाये जा रहे थे।

रवीन्द्रनाथ की मृत्यु—अगस्त १९४१ में भारत के विश्वविख्यात कवि ठाकुर रवीन्द्रनाथ की मृत्यु हो गयी। वे प्रायः अपनी मातृभाषा बंगला में ही लिखा करते थे। अंग्रेजी भाषा भी वे खूब अच्छी बोलते तथा लिखते थे। उनकी रचनाओं से सभी देशों के लोग प्रभावित थे। उनकी पुस्तकों का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ। अपनी रचनाओं के लिए उन्हें प्रसिद्ध ‘नोबेल पुरस्कार’ प्राप्त था। वे केवल साहित्यिक ही नहीं उच्चकोटि के दार्शनिक, कलाकार और राजनीतिज्ञ भी थे। साम-यिक समस्याओं पर उनके बड़े विचारपूर्ण लेख निकला करते थे। उनका स्थापित

किया हुआ 'शान्ति निकेतन' सांस्कृतिक शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र है। उनकी मृत्यु पर सर्वत्र शोक मनाया गया।

महायुद्ध की प्रगति—पोलैण्ड जीतकर जर्मनी और रूस ने आपस में बाँट लिया। फिर रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया, पर थोड़े दिन बाद दोनों में सन्धि हो गयी। नावें, डेन्मार्क,, हालैण्ड, बेलजियम आदि ने जर्मनी के सामने हथियार डाल दिये। जब हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण किया तब इटली भी, जो तबतक तटस्थ था,



रवीन्द्रनाथ ठाकुर

उसके साथ हो गया और इस तरह जर्मनी-इटली की एक 'युरी' स्थापित हो गयी। यूनान पर आक्रमण करके हिटलर ने उसे भी जीत लिया। रूमानिया, बल्गारिया आदि बाल्कन राज्यों पर भी उसने अधिकार कर लिया। ब्रिटेन पर उसके बराबर हवाई हमले होते रहे। अमेरिका भी युद्ध में शामिल हो गया। वह और ब्रिटेन 'मित्रराष्ट्र' कहे जाने लगे। जून १९४१ में जर्मनी ने बिना किसी सूचना के सहसा रूस पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि दोनों में ही अधिनायकवाद चल रहा था, पर रूसी 'वर्गवाद' और जर्मन 'राष्ट्रिय-समाजवाद' में सैद्धान्तिक मतभेद था। स्वार्थवश दोनों ने सन्धि करके पोलैण्ड हड़प लिया। पर दोनों की मित्रता अधिक दिनों तक न टिक सकी, दोनों एक दूसरे पर सन्देह करने लगे और आक्रमण करने की सोचने लगे। इसमें पहला कदम जर्मनी ने उठाया, इसपर रूस भी अमेरिका-ब्रिटेन के साथ हो गया। अफ्रीका में भी जर्मनी और इटली की सेनाएँ पहुँच गईं और वहाँ युद्ध छिड़ गया। उसकी लपटोंमें मिस्र भी आ गया, इस तरह पश्चिम में युद्ध भारत के निकट पहुँच गया। दिसम्बर १९४१ में जापान भी युद्ध में शामिल हो गया। बिना किसी सूचना के वह हवाई द्वीप के पर्ल बन्दरगाह में

खड़े अमेरिकन जहाजी बेड़ेपर टूट पड़ा और उसे नष्ट कर डाला। इसपर अमेरिका और ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध भी युद्ध घोषित कर दिया। जापान ने थाईलैण्ड (स्याम), मलाया, फिलिपाइन, हांगकांग आदि पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया। जनवरी १९४२ में मलाया का प्रसिद्ध ब्रिटिश जहाजी अड्डा सिंगापुर उसके हाथमें पड़ गया। उसने कई ब्रिटिश जंगी जहाज डुग दिये। ब्रिटिश प्रधान मंत्री मिस्टर चर्चिल ने इस अपनी 'गहरी हार' बतलाई।

भारत पर आक्रमण—जावा पर अधिकार करके जापान ने बर्मा पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने जापानियों के रोकने का बहुत प्रयत्न किया, पर सब विफल हुआ और बर्मा जापान के हाथ चला गया। इस तरह युद्ध भारत के पूर्वी द्वार पर पहुँच गया। जापानी जहाज भारत सागर में आ डटे और उन्होंने अण्डमन द्वीप पर, जो 'काला पानी' के नाम से प्रसिद्ध था, अधिकार कर लिया। लंका पर भी उसके हवाई हमले हुए और भारत में विजगापट्टम तथा कोकोनद पर बम गिराये गये। इस समय बड़ी चिन्तनीय स्थिति हो गई, भारत की अधिकांश सेनाएँ बाहर युद्ध में फँसी थीं। कुछ ब्रिटिश तथा अमेरिकन सेनाएँ भारत में थीं। उनके द्वारा इतने विशाल देश की रक्षा एक कठिन प्रश्न था। प्रति दिन पूरे जोर के साथ जापानी आक्रमण की आशंका हो रही थी।

क्रिप्स का आगमन—महायुद्ध आरम्भ होते ही ब्रिटेन में युद्धकालिक सरकार बन गई थी, जिसके प्रधान मंत्री 'टोरी' दल के नेता मिस्टर चर्चिल थे। जापानी आक्रमण के भय से ब्रिटिश सरकार भी चिन्तित थी। अमेरिका और चीन इसके निवारण के लिए भारतीय समस्या शीघ्रातिशीघ्र सुलझी हुई देखना चाहते थे। इस तरह कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय दबाव, कुछ भारत की स्थिति और कुछ अपने हित की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या सुलझाने का पुनः प्रयत्न किया। उसने 'उचित और अन्तिम' हल के प्रस्ताव देकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। वे ब्रिटेन के साथ रूस का मेल कराने में सफलता प्राप्त कर चुके थे, उनके विचार समाजवादी थे, भारतीय नेताओं से भी उनका परिचय था, और १९३९ में वे भारत आकर प्रमुख नेताओं से मिल भी गये थे। अतः इस कार्य में ब्रिटिश सरकार के दूत बनकर आने में वे बहुत उपयुक्त थे। अपने

साथ ब्रिटिश सरकार की ओर से वे जो योजना लाये, वह संक्षेप में इस प्रकार थी—
 “भारत संघ एक सत्ताप्राप्त उपनिवेश (डोमीनियन) के रूप में हो, सम्राट् के प्रति राज्यभक्ति के कारण वह अन्य ऐसे उपनिवेशों से सम्बद्ध रहे। प्रत्येक बात में वह सबके समकक्ष होगा और भीतरी तथा बाहरी किसी बात में वह किसी के अधीन न समझा जायगा। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् शीघ्र ही निर्वाचित विधान-परिषद् स्थापित की जायगी, जो नया विधान बनायेगी। इसमें देशी राज्य भी भाग ले सकेंगे। यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नया विधान अपनाने के लिए तैयार न हो तो वह वर्तमान विधान रख सकता है। भारतसंघ में सम्मिलित न होनेवाले प्रान्तों को, यदि वे चाहें तो सम्राट् की सरकार एक नया विधान बना देने के लिए तैयार रहेगी, जिसके अनुसार उन्हें भारतसंघ जैसा पद मिल जायगा। सरकार और विधान-परिषद् में एक सन्धि होगी,



सर स्टैफर्ड क्रिप्स

जिसमें उन सब बातों का उल्लेख होगा जो अंग्रेजों से भारतीयों के हाथ में उत्तरदायित्व देने के संबंध में होंगी। सम्राट् सरकार द्वारा दिये गये वचनों के अनुसार उसमें जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा की व्यवस्था होगी। संघ में शामिल होने या न होनेवाले राज्यों की सन्धियाँ उनके निर्णयानुसार दुहराई जायँगी। युद्ध समाप्त होने पर प्रांतों में नया निर्वाचन होगा, तत्पश्चात् प्रांतीय व्यवस्थापक-मण्डलों की छोटी सभा का एक निर्वाचनसंघ बनेगा जो अनुपातीय प्रतिनिधित्व

प्रणाली के अनुसार विधानपरिषद् चुनेगा। जबतक नया विधान तैयार न हो जाय सम्राट् सरकार को भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व तथा उसका नियन्त्रण, तत्सम्बन्धी विश्वव्यापी प्रयत्न के साथ अपने हाथ में रखना होगा, किन्तु भारतीय दैशिक, वैदेशिक तथा अन्य साधनों के पूर्ण रूप संघटित करने का उत्तरदायित्व भारतीय जनता के सहयोगपूर्वक भारत सरकार का होगा।” योजना के अन्त में कहा गया कि “सम्राट् की इच्छा है और उनकी सरकार भारतीय जनता के प्रमुख वर्गों के नेताओं को आमन्त्रित करती है कि वे अपने देश, राष्ट्रसमूह और संयुक्त राष्ट्रों के विचारों में शीघ्रातिशीघ्र प्रभावशाली भाग लें।”

प्रस्ताव अस्वीकृत—सर स्टैफर्ड क्रिप्स मार्च १९४२ में नयी दिल्ली पहुँचे। उन्होंने गान्धीजी, कांग्रेस, लीग, महासभा और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों तथा अन्य कितने ही लोगों को अपनी योजना समझाई पर किसी भी भारतीय प्रमुख राजनीतिक दल को उससे सन्तोष नहीं हुआ। कांग्रेस को आपत्ति थी कि “घोषणा का सम्बन्ध युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भविष्यत् से था, विधानपरिषद् की सघटन व्यवस्था दोषपूर्ण थी, उसमें राज्यों की जनता का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया, प्रान्तों को संघ से अलग रहने का अधिकार देकर प्रकारान्तर से देश का विभाजन मान लिया गया और देश की रक्षा का भार ब्रिटिश नियन्त्रण में ही रहा।” मुसलिम लीग का मत था कि “उक्त व्यवस्था से स्वतन्त्र राष्ट्र की मुसलिम माँग पूरी नहीं होती।” उसके अध्यक्ष जिना ने कहा कि “हमारा दृढ़ निश्चय और अन्तिम लक्ष्य है—पाकिस्तान ! पाकिस्तान !! पाकिस्तान !!!” हिन्दू महासभा के अध्यक्ष श्री सावरकरजी ने कहा कि “प्रान्तों को अलग रहने की अनुमति होने से उनके स्वतन्त्र राज्य बन जायेंगे और देश खण्डित हो जायगा। हम हिन्दुओं के लिए अपनी मातृभूमि पवित्र भारत की एकता धार्मिक विश्वास है।” इसपर “ब्रिटिश सरकार अपना प्रस्ताव वापस लेती है” यह घोषित करके सर स्टैफर्ड लन्दन लौट गये।

‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन—क्रिप्स की विफलता से कांग्रेसजनों की यह धारणा हो गई कि ब्रिटिश सरकार केवल टाल-मटोल करना चाहती है, भारत को वास्तविक स्वतन्त्रता देने का उसका विचार नहीं। गान्धीजी को क्रमशः यह स्पष्ट

हो गया कि भारतीय समस्याओं के जटिल होने का मुख्य कारण देश में अंग्रेजों का रहना है, अतएव उन्हें भारत छोड़ना चाहिये। २६ अप्रैल के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा—“भारत और ब्रिटेन की रक्षा इसीमें है कि अंग्रेज ठीक समय में अनुशासित ढंग से हट जायँ। शासक यह पूछते हैं कि भारत छोड़ने के समय वे सत्ता किसे सौंपे ? मेरा उत्तर है ईश्वर को और यदि यह अत्यधिक है तो अराजकता को।” उसी आधार पर कांग्रेसकार्यसमिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि “कांग्रेस का सुझाव मानकर अंग्रेजों को भारत छोड़ देना चाहिये और यदि वे ऐसा नहीं करते तो गान्धीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक आन्दोलन पूरे जोर के साथ चलाया जायगा।” बम्बई में कांग्रेसमहासमिति के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा गया। उसपर बोलते हुए गान्धीजी ने कहा कि “प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसात्मक होकर हड़ताल, कामबन्दी तथा अन्य अहिंसात्मक साधनों से अधिक से अधिक दूरी तक जाना चाहिए। सत्याग्रहियों को जीने के लिए नहीं मरने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। जब लोग इस प्रकार मृत्यु की खोज तथा उसका सामना करने के लिए तैयार हो जायँगे तभी वे राष्ट्र को सजीव बना सकेंगे।” महासमिति का कार्य भी समाप्त न होने पाया कि इतने ही में ७ अगस्त (१९४२) को गान्धीजी, कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्य, प्रान्तीय समितियों के अध्यक्ष तथा मन्त्री आदि गिरफ्तार कर लिये गये। सरकार की ओर से गवर्नर-जनरल की शासनपरिषद् के एक प्रस्ताव में कहा गया कि “सरकार के लिए यह अपनी जिम्मेदारियों के विरुद्ध होता यदि वह एक ऐसी माँग पर बहस चलने देती, जिसकी स्वीकृति से देशभर में अराजकता फैल जाती और मानव-स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रयत्नों में बाधा पड़ती।” भारतसचिव मिस्टर एमरी ने कहा कि “यह तो भारत के युद्ध-प्रयत्नों को प्रत्यक्ष विफल बनाना है।”

सरकारी दमन—नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार मिलते ही देशभर में तहलका मच गया। इस बार के आन्दोलन ने नया रूप धारण किया। तार काटे गये, रेल की पटरियाँ उखाड़ी गईं, थानों में आग लगाई गई, सरकारी अफसरों पर आक्रमण किये गये और रेलों के स्टेशन तथा डाकखाने लूटे गये। इसमें अधिकतर छात्रों ने भाग लिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों ने बहुत काम

किया। फलतः गोरी फौज विश्वविद्यालय में रख दी गई। सरकार की ओर से भी पूरा दमन हुआ, निरपराधी भी पकड़ कर जेलों में ठूस दिये



गये, अन्धा-धुन्ध गोलियाँ चलीं, जिसमें सैकड़ों युवकों के प्राण गये। सरकार की ओर से इसे 'खुला विद्रोह' कहा गया और इसकी सारी जिम्मेदारी कांग्रेस के मध्ये मदी गई। एक पुस्तिका में इसे सप्रमाण सिद्ध किया गया।^१ गान्धीजी ने इसका खण्डन किया, उनका कहना था कि "आन्दोलन का रूप अहिंसात्मक ही रहता पर नेताओं की सहसा गिरफ्तारी से जनता क्षुब्ध हो उठी और हिंसात्मक कार्य कर बैठी।" किन्तु नेहरूजी ने अन्ततः कांग्रेस की जिम्मेदारी मानी और इस आन्दोलन को 'क्रान्ति' का नाम दिया। गान्धीजी

श्रीमती कस्तूरबा

को पूना में सर आगा खाँ के महल में रखा गया। वहाँ उन्होंने फिर एक बार तीन सप्ताह का उपवास किया। वहीं फरवरी १९४४ में उनकी स्त्री श्रीमती कस्तूरबा की मृत्यु हो गई। उनका जीवन एक आदर्श भारतीय महिला का था, गान्धीजी के सुधारवादी सिद्धान्तों में उन्हें विश्वास न था, पर एक पतिभक्ता नारी के नाते उन्होंने सब बातों में उनका पूरा साथ दिया। उनके लिए देशभर में शोक मनाया गया और ब्रिटिश पार्लमेण्ट में भी सरकार की ओर से शोक प्रकट किया गया।

बंगाल का दुर्भिक्ष—इन्हीं दिनों बंगाल में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। बहुत-सा खाद्यान्न फौजों के काम में आ रहा था, इस तरह अन्न की वैसे ही कमी थी। जो अन्न उपलब्ध था, उसके वितरण की व्यवस्था भी ठीक न थी, कुछ प्राकृतिक

१ टॉटनहम—'कांग्रेस रिपॉसिबिलिटी फॉर दि डिस्टर्बेंसेज १९४२-४३।'

कारण भी थे। इस समय समस्त बंगाल की बड़ी बुरी दशा हो गई, पुरुषों ने अपनी स्त्रियों को, माताओं ने अपने बच्चों को छोड़ दिया। बड़े नगरों की सड़कों पर पेड़ की सूखी पत्तियों की भाँति मनुष्य गिरते और मरते दिखायी दिये। बहुत से व्यापारी मुनाफा खाने में लगे थे, बंगाल सरकार वास्तविक परिस्थिति जानने तक प्रयत्न नहीं करती थी। भारत के वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने इस संकट के अवसर पर बंगाल का एक बार दौरा तक नहीं किया। बाद में उस दुर्भिक्ष सम्बन्धी सभी शिष्यों की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की गई। उसकी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि कई लाख व्यक्तियों की इसमें मृत्यु हुई। सरकारी अव्यवस्था और असावधानी के कारण दुर्भिक्ष का इतना भीषण रूप हो गया।

कण्ट्रोल और राशन—महायुद्ध के कारण सभी वस्तुएँ महँगी हो रही थीं, व्यापारी उनका मनमाना दाम ले रहे थे, जनता में बड़ा असन्तोष था। इसपर कितनी वस्तुओं के आयात-निर्यात, क्रय-विक्रय पर सरकारी कण्ट्रोल (नियन्त्रण) लगाया गया। अन्न, वस्त्र, चीनी, मिट्टी के तेल आदि के सम्बन्ध में राशन व्यवस्था चलाई गई। इसके अनुसार लोगों को कार्ड दिये गये, जिन पर उन्हें उक्त वस्तुएँ नियमित मात्रा और निश्चित मूल्य पर राशन की दुकानों से दी जाने लगीं। देश में यह नयी व्यवस्था थी, इतने बड़े देश में वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती थी। प्रायः शहरों में ही उसे लागू किया गया। इससे शहर के लोगों को अन्न, वस्त्र आदि उचित मूल्य पर पाने की कुछ सुविधा अवश्य हुई, पर साथ ही उसके दो परिणाम भयंकर हुए। एक तो 'चोर बाजार' चल पड़ा, लोग छिपा-छिपाकर कण्ट्रोल की वस्तुओं को मनमाने दाम पर बेचने लगे, आवश्यकता से विवश होकर जिनके पास धन था वे उन्हें खरीदते थे। दूसरे, सरकारी कर्मचारियों तथा जनता में भ्रष्टाचार फैल गया। राशन जितना मिलता था, उससे जनता का काम न चलता था। एक दिन के लिए केवल ६ छटाँक अन्न दिया जाता था, उससे पेट भरना कैसे सम्भव था, अतः जनता अनुचित उपायों से अन्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदती थी और इससे सरकारी कर्मचारी खूब घूस खाते थे। इस व्यवस्था से व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों और जनता का बहुत कुछ नैतिक पतन हुआ।

च्यांग कार्ई शेक—फरवरी १९४२ में चीन सरकार के अध्यक्ष तथा सेनाधिपति जेनरल च्यांग कार्ई शेक सपत्नीक भारत आये। उनके आने का मुख्य उद्देश्य था चीन तथा भारत की सुरक्षा के लिए संयुक्त सैनिक व्यवस्था पर विचार करना। चीन में कितने ही दिनों से जापान का अघोषित युद्ध चल रहा था। महा-युद्ध में जापान के शामिल हो जाने पर चीन के साथ उसका प्रत्यक्ष विरोध हो गया। भारत पर जापानी आक्रमण रोकने के लिए चीन की रक्षा आवश्यक थी। भारत में उनका शानदार स्वागत हुआ। वे चाहते थे कि किसी तरह भारत की राजनीतिक समस्या सुलझ जाय। वे गान्धीजी, नेहरू तथा अन्य नेताओं से मिले। उनका विश्वास था कि विश्वशान्ति के लिए



च्यांग कार्ई शेक

आवश्यक है कि चीन तथा भारत दोनों पूर्ण रूप से स्वतंत्र हों। भारत से जाते समय उन्होंने अपने सन्देश में कहा “मैं अपने भारतीय भाइयों को बतला देना चाहता हूँ कि सभ्यता के इतिहास की इस संकट की घड़ी में हमलोगों को समस्त मानवजाति की स्वतंत्रता के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि स्वतंत्र संसार में ही भारत तथा चीन स्वतंत्र रह सकते हैं। साथ ही यदि चीन या भारत स्वतंत्रता से वंचित रखा गया तो विश्व में शान्ति कदापि नहीं हो सकती।”

लार्ड वेवल—महायुद्ध के कारण लार्ड लिनलिथगो का कार्यकाल एक वर्ष बढ़ा दिया गया था। जून १९४३ में यह घोषित किया गया कि उनके स्थान पर लार्ड वेवल भारत के वाइसराय तथा गवर्नर-जनरल होंगे। लार्ड वेवल ने पहले लीबिया में और फिर बर्मा में युद्ध का संचालन किया था, पर दोनों में असफल ही रहे। इसके बाद वे भारत के प्रधान सेनापति बना दिये गये। इस पद पर रह कर उन्होंने एक-दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद और नेहरूजी से भी परामर्श किया। उनकी सैनिक योग्यता चाहे जो रही हो, उनकी राजनीतिक योग्यता का कोई परिचय न मिला था। इसलिए उनकी नियुक्ति की घोषणा से बहुतों को आश्चर्य हुआ। पर यह अनुमान किया गया

कि सम्भवतः युद्ध-परिस्थिति के कारण ऐसा किया गया। २० अक्टूबर को नयी दिल्ली में उन्होंने पदग्रहण किया। इसके पाँच ही दिन बाद वे कलकत्ते गये और घूम घूमकर दुर्भिक्ष-पीड़ितों के शिविर देखे। अन्न पहुँचाने की व्यवस्था करने के लिए उन्होंने सेनाविभाग को आदेश दिया। उनके इस कार्य का अच्छा प्रभाव पड़ा। अप्रैल १९४४ में गान्धीजी मलेरिया ज्वरसे बहुत निर्बल हो गये थे, इसपर लार्ड वेवल ने मई के आरम्भ में उन्हें बिना किसी शर्त के छोड़ दिया। गान्धीजी ने कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों से, यदि यह सम्भव न हो तो स्वयं उनसे, मिलने की अनुमति माँगी, पर लार्ड वेवल ने दोनों के लिए साफ इनकार कर दिया।



साम्प्रदायिक समझौते का

प्रयत्न—श्री राजगोपालाचारी की,

लार्ड वेवल

जो मद्रास कांग्रेसी सरकार में प्रधानमन्त्री रह चुके थे, कुछ दिनों से यह राय थी कि लीग की कुछ बातें मानकर समझौता कर लेना चाहिए और फिर उसके सहयोग से भारत में राष्ट्रीय सरकार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। मई १९४२ में इलाहाबाद में कांग्रेसमहासमिति की एक बैठक हुई, जिसमें उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि “मुसलिम लीग का पाकिस्तान का दावा मान लेना चाहिए” पर बहुमत से वह गिर गया और उसके स्थान पर भारत-विभाजन के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। किन्तु श्री राजगोपालाचारी, अपने प्रयत्न में लगे ही रहे—उन्होंने मियॉ जिना के सामने यह सुझाव रखा कि “लड़ाई समाप्त होने पर भारत के

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

उत्तरी-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों के समीपस्थ प्रदेशों के जहाँ मुसलमानों की संख्या समस्त जनसंख्या की आधी से अधिक है, निश्चित करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाय। उनसे वयस्क मताधिकार के आधार पर मत संग्रह किया जाय। यदि बहुमत भारत से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता के पक्ष में हो तो इस प्रकार का निर्णय कार्यान्वित किया जाय। ऐसी दशा में रक्षा, व्यापार, यातायात के सम्बन्ध में परस्पर समझौता हो। निवासियों का परिवर्तन उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर रहे और यह समझौता तभी लागू हो जब ब्रिटेन भारत को स्वशासन सम्बन्धी समस्त उत्तरदायित्व और अधिकार हस्तान्तरित कर दे।” पर मियाँ जिना को यह भी पसन्द न आया। गान्धीजी पहले तो उसके विरुद्ध थे, पर बाद में पक्ष में हो गये। नजरबन्दी से छूटने पर मियाँ जिना के साथ उनका लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ। बम्बई में दोनों की कई बार मुलाकात भी हुई, पर कोई फल न निकला।

महायुद्ध में विजय—

रूस ने जर्मनों के छके छुड़ा दिये। वहाँ फँस जाने के कारण जर्मनी की सभी क्षेत्रों में हार होने लगी। मित्रराष्ट्रों ने इटली और यूनान पर धावा कर दिया। ९ मई १९४५ को बर्लिन के युद्ध में जर्मनों ने हथियार डाल दिये।

हिटलर का कुछ पता न लगा, कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने

आत्महत्या कर ली और कुछ लोगों की राय में वे कहीं भाग गये। इटली में मुसोलिनी पकड़े गये और भीड़ ने उन्हें गोली मार दी। जापान कुछ दिन तक युद्ध चलाता



मुसोलिनी

रहा। अमेरिका ने उस पर दो 'एटम बम' फेंके, ये परमाणु शक्ति से चलनेवाले नये प्रकार के बम थे, जिसका आविष्कार अमेरिका ने किया था। इनके फूटने से जापान के दो विशाल नगर ध्वस्त हो गये। इसपर १५ अगस्त को जापान ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। महायुद्ध में भारत ने मित्रराष्ट्रों को पूरी सहायता पहुँचाई। उसकी ४ लाख ३० हजार सेना विदेशों में बढ़ती रही। अफ्रीका में विजय बहुत कुछ उसी की वीरता से हुई। यूरोपीय देशों को स्वतंत्र करने में भी उसने भाग लिया। सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने की ओर लोगों की रुचि हुई। स्थल, जल और नभ सेना तीनों विभागों में बहुत कुछ वृद्धि हुई। स्त्रियों का भी एक सहायक दल तैयार किया गया। देशी राज्यों की ओर से बहुत कुछ नकद सहायता दी गई। युद्धऋण में करोड़ों रुपया जनता का लगा। सेना के लिए सामान, रसद, आदि में तो भारत का इतना व्यय हुआ कि ब्रिटेन का ऋणी न रह कर वह उसका महाजन बन गया। १९४५ में हिसाब होने पर ब्रिटेन के जिम्मे उसका १३ अरब ६३ करोड़ रुपया निकला जो 'पौण्डपावना' के नाम से प्रसिद्ध है।

शिमला सम्मेलन—जैसे जैसे युद्ध में सफलता होती गई, भारत की राजनीतिक माँग की उपेक्षा होती रही। अमेरिका और ब्रिटेन की ओर से प्रकाशित अतलांतक घोषणापत्र में राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक चार प्रकार की स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया गया था। पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री मिस्टर चर्चिल ने कह दिया कि "यह आश्वासन शत्रु द्वारा पददलित राष्ट्रों के लिए था, भारत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।" किन्तु जर्मनी के पराजित होनेपर अनुभव होने लगा कि भारत के मामले का कोई हल निकालना पड़ेगा। मार्च में अनायास ही लार्ड वेवल लन्दन गये और ६ सप्ताह परामर्श करने के बाद १४ जून को शिमला रेडियो से भारतीय जनता के सामने उन्होंने यह योजना रखी—"शासन-परिषद् का पुनः संघटन किया जाय, उसमें पाँच जातिहिन्दू और पाँच मुसलमान रहें। वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त परिषद् के सभी सदस्य भारतीय होंगे। सदस्यों का चुनाव, राजनीतिक नेताओं के परामर्श से होगा, पर उनकी नियुक्ति

सम्राट् की अनुमति पर निर्भर होगी। परराष्ट्र-संबंध-संचालन एक भारतीय सदस्य के हाथ में रहेगा। परिषद् मौजूदा विधान के अन्तर्गत कार्य करेगी। विशेषाधिकार के प्रयोग में गवर्नर-जनरल बहुत विवेक से काम लेंगे। नया विधान बनने तक इस परिषद् के द्वारा शासन होगा।” साथ ही उन्होंने कांग्रेसकार्यसमिति के सदस्यों की रिहाई की घोषणा की और उक्त योजना पर विचार करने के लिए नेताओं का एक सम्मेलन शिमला में आमन्त्रित किया। इस घोषणा से भारत के निस्तब्ध वातावरण में फिर स्फूर्ति आ गई। कांग्रेसी नेता जेल से मुक्त कर दिये गये और ३॥ वर्ष बाद कांग्रेसकार्यसमिति की फिर बैठक हुई।

२५ जून को शिमलासम्मेलन बड़े आशापूर्ण वातावरण में आरम्भ हुआ, पर शीघ्र ही मतभेद खड़ा हो गया। शासनपरिषद् में हिन्दू-मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व दे दिया गया, तब भी मियाँ जिना सन्तुष्ट न हुए। उनका कहना था कि “हरिजन तथा सिख प्रतिनिधि सदा हिन्दुओं का साथ देंगे, इसलिये मुसलमानों का फिर भी अल्पमत रहेगा।” इसके अतिरिक्त उनका आग्रह था कि “मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था लीग मानी जाय और उसे ही सत्र प्रतिनिधि नामजद करने का अधिकार हो। कांग्रेस किसी राष्ट्रीय मुसलमान को नामजद न करे।” फिर सब से बड़ी उनकी आपत्ति यह थी कि “इस योजना में पाकिस्तान की कोई चर्चा ही नहीं।” कांग्रेस को इनमें से कोई बात मान्य न थी। इसपर लार्ड वेवल ने अपनी ओर से परिषद् के लिए सदस्यों की एक सूची उपस्थित की, जिसमें उन्होंने किसी राष्ट्रीय मुसलमान को नहीं रखा—पर पंजाब ‘यूनियनिस्ट दल’ के मलिक खिज़्र हयात खाँ का नाम रख दिया। पहली बात कांग्रेस को पसन्द न आयी और दूसरी मियाँ जिना को। इस तरह शिमला सम्मेलन भी विफल हुआ। यदि लार्ड वेवल चाहते तो मियाँ जिना को ठीक रास्ते पर ला सकते थे। पर इस समय तो लीग और कांग्रेस में फूट बनाये रखना ही ब्रिटिश अधिकारियों को अभीष्ट था।

हिन्दू कानून समिति—विधवाविवाह, बालविवाहनिषेध, सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकार आदि कई कानून पास हो चुके थे, जिनसे हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में ‘सुन्नारों’ के नाम से हस्तक्षेप होता था! इस समय सोचा गया

कि इधर-उधर कुछ सुधार करने की अपेक्षा उचित परिवर्तन सहित समस्त हिन्दू कानूनों का 'हिन्दू कोड' के नाम से एक संग्रह तैयार किया जाय। इससे देश में एक ही प्रकार के कानून से हिन्दू शासित होंगे और उनमें अन्य सुधार भी होंगे। इस पर विचार करने के लिए जनवरी १९४४ में एक 'हिन्दू कानून समिति' नियुक्त की गई। इसने 'हिन्दू कोड' की रूपरेखा तैयार की, जिसमें कई क्रान्तिकारी सुधारों का समावेश किया गया। पिता की सम्पत्ति में लड़की को भी हिस्सा दिलाने, बहुविवाह को अपराध बनाने, विवाह में जाति, गोत्र आदि के प्रतिबन्ध हटाने, कुछ विशेष अवस्थाओं में तलाक की सुविधा देने, स्त्री को अपनी सम्पत्ति पर पूरा अधिकार प्राप्त करने और उसे बिना जाति, कुलभेद के गोद ले लेने का अधिकार देने की सिफारिश की गई। इस पर लोकमत जानने के लिए उक्त समिति ने तीन महीने तक देश का दौरा किया, प्रस्तावित हिन्दू कोड का केवल सनातनी हिन्दुओं की ओर से ही नहीं, आर्यसमाजी, जैन और सिखों की ओर से भी घोर विरोध किया गया। दौरे में समिति को काले झण्डे दिखलाये गये, सबसे अधिक विरोध तो स्त्रियों की ओर से ही हुआ, जिनके हित के लिए कोड बतलाया जाता था। विरोधियों का पक्ष यह था कि पहले तो सरकार को कानून द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार ही नहीं, दूसरे इन तथाकथित सुधारों से हिन्दुओं की प्राचीन समाजव्यवस्था नष्ट हो जायगी और उसमें लड़कियों को हिस्सा देने का मुसलिम और विवाह तथा तलाक सम्बन्धी ईसाई सिद्धान्तों का प्रवेश हो जायगा। इससे हिन्दू कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो जायगा। विरोध में लाखों की संख्या में पत्र और तार सरकार के पास भेजे गये। उक्त विरोध के कारण हिन्दू कोड बिल कुछ काल के लिए टाल दिया गया।

पार्लमेण्टी शिष्टमण्डल—महायुद्ध समाप्त होने पर ब्रिटेन में नया निर्वाचन हुआ, जिसमें टोरी दल की, जिसके नेता मिस्टर चर्चिल थे, हार हुई और शासनसत्ता मजदूर दल के हाथ में फिर आयी। प्रधानमंत्री मिस्टर एटली और भारतमंत्री लार्ड पेथिक लारेंस हुए। नयी सरकार का ध्यान भारत की ओर गया। लार्ड वेवल ने प्रान्तीय गवर्नरों की एक सभा बुलाई,

जिसमें यह निश्चित हुआ कि कांग्रेसी संस्थाओं पर से प्रतिबन्ध हटा लिये जायँ, राजनीतिक कैदी रिहा कर दिये जायँ, प्रान्तों में धारा ९३ की व्यवस्था के स्थान पर फिर साधारण शासनव्यवस्था चले और इसके लिए शीघ्र ही नया चुनाव हो। लार्ड वेवल को लंदन बुलाया गया और वहाँ से लौटकर उन्होंने यह घोषणा की कि “सम्राट् सरकार का ख्याल है कि जितनी जल्दी सम्भव हो एक विधानपरिषद् स्थापित की जाय। अतएव चुनाव के पश्चात् प्रान्तीय असेम्बलियों के प्रतिनिधियों से मुझे यह जानने का अधिकार दिया गया है कि क्या वे इस सम्बन्ध में क्रिप्स योजना या उसका संशोधित रूप स्वीकार करना चाहते हैं या कोई नयी दूसरी योजना। साथ ही उसने मुझे यह अधिकार दिया है कि चुनाव के पश्चात् मैं अपनी शासनपरिषद् इस प्रकार निर्मित करूँ कि उसे देश के प्रमुख दलों का सहयोग प्राप्त हो।” इस घोषणा का कांग्रेस पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। पर यह बात अवश्य हुई कि इस बार जेल से छूटने के बाद कांग्रेसी नेताओं का यह मत हो गया कि असहयोग की नीति छोड़ कर यथासम्भव सरकार के साथ सहयोग करते हुए सत्ता प्राप्त करनी चाहिए। इसी बीच दिसम्बर में भारतमन्त्री ने पार्लमेण्ट की लार्ड सभा में यह घोषित किया कि “भारत में सम्राट् सरकार के विषय में भ्रामक विचारों के कारण वह सोचती है कि भारत और ब्रिटेन के वैधानिक सम्पर्क के अवसर, जो महायुद्ध के समय लुप्त हो गये थे, क्या पुनः बढ़ाये नहीं जा सकते? इसी दृष्टि से वह पार्लमेण्ट की सभी दल का एक शिष्टमण्डल भारत भेजना चाहती है।” भारत आकर यह शिष्टमण्डल प्रायः सभी नेताओं से मिला। फरवरी १९४६ में विलायत लौटने पर उसके एक सदस्य मिस्टर सोरेनसेन ने कहा कि “भारत के दो प्रभावशाली दलों की अवस्था सर्वथा निराशाजनक नहीं। किन्तु इससे कुछ नहीं किया जा सकता। ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट रूप से बतलाना चाहिए कि कब तक अधिकार हस्तांतरित किये जायँगे। चुनाव के पश्चात् केवल मध्यकाल व्यवस्था के लिए शासनपरिषद् का निर्माण उस सूची के आधार पर होना चाहिए, जिसे प्रान्तीय प्रधानमन्त्री तैयार करें। यदि मुसलिम बहुसंख्यक प्रान्तों को सत्ताप्राप्त उपनिवेश (डोमीनियन) के पृथक् पद का आश्वासन

दे दिया जाय तो अखिल भारतीय विषयों में शेष भारत के साथ, उनके सह-योग की समस्या कुछ अंशों में हल की जा सकती है।”

नया चुनाव—भारत में ९ वर्ष बाद नये निर्वाचन का समय आया। इतने दिनों में ही महायुद्ध के कारण संसार में कितने ही उथलपुथल हो गये थे। भारत में भी गहरी राजनैतिक चेतना हुई और बहुत सी विवादात्मक कठु समस्याएँ उपस्थित हो गईं। कांग्रेस ने चुनाव में भाग लेना निश्चित किया। वर्ष के अन्त में पहले केंद्रीय असेम्बली का चुनाव हुआ, जिसमें कांग्रेस का फिर बहुमत हुआ। मुसलमानों में बहुमत लीग का रहा, राष्ट्रीय मुसलमान बहुत कम घुस पाये। कांग्रेस दल की ओर से मनोनीत श्री मावलंकर असेम्बली के अध्यक्ष चुने गये। सबसे अधिक चहल-पहल प्रान्तीय चुनाव में रही, जो १९४६ के आरम्भ में हुआ। कांग्रेस की ओर से जो चुनाव को घोषणा हुई, उसमें निम्न-लिखित बातों पर जोर दिया गया—“प्रत्येक नागरिक को अधिकार और सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों, सब सम्प्रदायों और धार्मिक वर्गों में ऐक्य तथा परस्पर सहिष्णुता एवं सद्भाव हो, प्रान्तों का भाषा और संस्कृति के आधार पर पुनः संगठन हो, सामाजिक क्रूरता तथा अन्याय से पीड़ितों के अधिकार की रक्षा हो और उनके प्रति समानता के मार्ग की बाधाएँ दूर हों। सभी नागरिकों की स्वतन्त्रता निश्चित रहे, और मूलभूत अधिकारों से अपनी स्वतन्त्र लोकतन्त्रात्मक प्रादेशिक सरकार कायम हो, ऐसी सरकारें एक संघशासन के अन्तर्गत हों। गरीबी का पातक दूर हो, कृषि तथा उद्योग आधुनिक शैली पर उन्नत हों, साधन, उत्पादन के तरीके एवं वितरणव्यवस्था सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकारी रूप से विकसित हो और साम्राज्यवाद मिटाने में सभी पराधीन राष्ट्रों का साथ दिया जाय।” प्रान्तीय घोषणा में जमींदारी-उन्मूलन तथा कुछ अन्य प्रान्तीय विषय भी जोड़ लिये गये। चुनाव का फल बहुत कुछ पिछले चुनाव जैसा ही रहा। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहाँ इस बार भी बना रहा। हिन्दू महासभा तथा अन्य विरोधी दलों को कोई सफलता नहीं मिली। पर मुसलमानी स्थानों पर लीग का पहले से कहीं अधिक कब्जा हुआ। बंगाल तथा सिन्ध में उसका बहुमत था। सीमाप्रान्त में पर्याप्त बहुमत कांग्रेस का रहा पर

विरोधी दल में लीग का काफी जोर रहा, पंजाब में लीग असफल रही। चुनाव के फलस्वरूप कांग्रेसी प्रान्तों में फिर कांग्रेसी सरकारें स्थापित हो गईं। मद्रास को छोड़कर अन्य प्रान्तों में प्रायः पुराने प्रधानमंत्री और उनके साथी ही नियुक्त हुए। सिंध तथा बंगाल में प्रथम बार लीगी सरकारें बनीं और पंजाब में कुछ दलों की संयुक्त सरकार बनी।

आजाद हिन्द फौज—यह लिखा जा चुका है कि १९४१ में श्री सुभाषचन्द्र बसु अपने घर से, जहाँ वे नजरबन्द थे, गायब हो गये। वे भेष बदलकर



श्री सुभाषचन्द्र बसु

‘आजाद हिन्द फौज’ का संघटन चल रहा था। श्री बसु उन्हें योग्य नेता मिल गये और ‘नेताजी’ के नाम से प्रसिद्ध हो गये। इसमें किसी प्रकार का जाति या सम्प्रदायभेद न रखा गया। ‘जय हिन्द’ इसका अभिवादन और

अफगानिस्तान होते जर्मनी पहुँचे, जहाँ हिटलर से उनकी भेंट हुई। वहाँ से वे जापान गये और बाद में बर्मा पहुँचे। उनका उद्देश्य था जापान की सहायता से भारत को स्वतंत्र करना। बर्मा तथा मलया में अंग्रेज अफसरों के व्यवहार से भारतीय सेना में बड़ा असन्तोष था। सिंगापुर में अंग्रेज अफसर अपने भारतीय सिपाहियों की बिना कुछ चिन्ता किये उन्हें छोड़ कर चल दिये। जापान के पास एक बड़ी संख्या में भारतीय अफसर तथा सैनिक युद्धबन्दी थे। उनके साथ श्री बसु का सम्पर्क स्थापित हुआ। पहले ही से उनमें एक

‘दिल्ली चलो, दिल्ली चलो’ मुख्य नारा हुआ। बर्मा तथा मलाया में बसने वाले भारतीयों ने अपने धन से दिल खोलकर इसकी सहायता की। बड़े उत्साह के साथ श्री बसु की अध्यक्षता में ‘आजाद भारत सरकार’ स्थापित हुई। २१ अक्तूबर १९४३ को दक्षिण पूर्व एशियाई प्रतिनिधियों के सामने उसके प्रति स्वामिमक्ति की शपथ लेते हुए श्री बसु ने कहा कि “परमात्मा को स्मरण कर मैं यह पवित्र प्रतिज्ञा करता हूँ कि ३८ करोड़ देशवासियों को स्वतंत्र करने के लिए आजादी की लड़ाई मैं आखिरी दम तक चलाऊँगा।” अपने रेडियो भाषण में उन्होंने कहा कि “परमात्मा का स्मरण कर, उन पूर्वजों का स्मरण कर, जिन्होंने भारत को एक राष्ट्र में परिणत कर दिया तथा उन शहीदों के नाम पर, जिन्होंने हमारे लिए बहादुरी तथा त्याग की विरासत छोड़ी है,— हम भारतीयों को पुकारते हैं कि हमारे झण्डे के नीचे इकट्ठे हों और भारतीय स्वतन्त्रतासंग्राम में भाग लें। हम उनका आवाहन करते हैं कि वे अंग्रेजों के खिलाफ आखिरी लड़ाई बोल दें तथा उसे तब तक बहादुरी, टेक तथा अन्तिम विजय में पूर्ण विश्वास के साथ चलायें, जब तक कि दुश्मन भारतभूमि से हटा नहीं दिया जाता और भारतीय जनता एक राष्ट्र में नहीं बदल जाती।” बर्मा में अंग्रेजों की विजय होने पर अपने साथियों की सलाह से उन्हें हटना पड़ा। चलते समय आजाद हिन्द सेना के वीरों से उन्होंने कहा कि “आप लोगों को अपने ही तरह यह विश्वास रखने के लिए कहूँगा कि महान् अन्धकार की घड़ी के बाद उषाकाल आता है। भारत बहुत शीघ्र ही स्वतन्त्र होगा। जय हिन्द!” बाद में समाचार प्राप्त हुआ कि सिंगापुर से जिस हवाई जहाज में वे जापान जा रहे थे, वह गिर गया और उनकी मृत्यु हो गई। पर बहुतों का अनुमान है कि यह समाचार गलत है और वे जीवित हैं। गुप्त रूप से वे किसी देश, सम्भवतः रूस में हैं और उपयुक्त समय पर भारत आयेंगे।

अफसरों पर मुकदमा—युद्ध समाप्त होने पर आजाद हिंद फौज के सैनिक तथा अफसर भारत लाये गये। दिल्ली के लाल किले में कई अफसरों पर सम्राट् के प्रति विद्रोह और उनके विरुद्ध युद्ध करने का अभियोग चलाया गया। अफसरों की ओर से कांग्रेसी नेता श्री बूला भाई देसाई ने पैरवी की। बैरिस्टर

पास करके विलायत से लौटने के बाद नेहरूजी ने कुछ दिन इलाहाबाद में बैरि-स्टरी का काम किया था। फिर तो वे राजनीति में ऐसे कूदे कि उन्होंने उसका कभी नाम तक नहीं लिया। किन्तु उस अवसर पर उन अफसरों की ओर से बहस करने के लिए उन्होंने २५ वर्ष बाद फिर वकीलों का गाउन पहना। उस समय ऐसे कई मुकदमे चले। अफसरों तथा सैनिकों ने बड़ी निर्भीकता पूर्वक बयान दिये। सूत्रेदार शिगारा सिंह ने कहा कि “पहले मैं ब्रिटिश भारतीय सेना में था और कहूँगा कि ब्रिटिश भारतीय सेना के सिपाही भाड़े के टट्टू हैं। भारतीय सेना में हमारे भर्ती होने और काम करने का एक ही उद्देश्य था अर्थात् चांदी के चंद टुकड़ों में अपने को बेच देना। सिंगापुर में आत्मसमर्पण करके हमारे ब्रिटिश सेनापति कर्नल हण्टने हमें जापानियों के हवाले कर दिया। उस समय यह बात सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट हो गई कि हमारे अँग्रेज प्रभुओं ने हम भारतीय सैनिकों को भेड़ समझ रखा है, जिनका वे व्यापार करते हैं। वह विदेशी अँग्रेज सम्राट्, जिसकी सूरत हमने कभी स्वप्न में भी नहीं देखी, हमारी वफादारी का हकदार है, यह बात हमारे दिमाग से धुँआ की तरह एकदम उड़ गई। तब हमने अपने को पूर्ण स्वतंत्र मान लिया। इस अदालत का फैसला मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखता। यदि किसी के फैसले का सम्मान और मूल्य मैं करता हूँ तो वह स्वदेश और स्वदेशवासियों के फैसले का।” जमादार फतेहखाने ने अपने बयान में कहा कि “मैं एक पक्का और सच्चा मुसलमान हूँ और एक सच्चे मुसलमान का सबसे बड़ा धर्म गुलामी के विरुद्ध विद्रोह करना है। जो देश के लिए मरते हैं वे शहीद कहलाते हैं और कुरान के अनुसार अमर हैं। देश का ध्यान करने पर मैंने सोचा कि देशकी आजादी के लिए आजाद हिन्द फौज में भर्ती होकर लड़ना ब्रिटिश सेना में रहकर लड़ने से उत्तम ही नहीं मोक्ष का साधन भी है। आज भी मैं घोषित करता हूँ कि यदि मैं जीवित रहा तो भारत को स्वतंत्र करके रहूँगा और यदि शहीद हुआ तो मेरा यह सौभाग्य होगा कि स्वदेश के निर्माण में मेरे जीवन ने एक ईंट का काम दिया।” उक्त मुकदमों में कुछ अफसरों को अपने पद से हटा दिया गया और कुछ को जेल का दण्ड दिया गया। उनकी वीरतापूर्ण कहानी का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा

और 'आजाद हिन्द फौज' के लोग बड़े लोकप्रिय हो गये। 'बन्दे मातरम्' की तरह 'जय हिन्द' भी एक नारा बन गया।

सेना में अशान्ति—इसका प्रभाव सेना पर भी पड़ा और उसने अशान्ति के चिन्ह दिखायी पड़ने लगे। फरवरी १९४५ में बम्बई के शाही नौसैनिकों ने विद्रोह कर दिया। इसका कारण भारतीय सैनिकों के प्रति अंग्रेज अफसरों का अपमानसूचक बर्ताव था। नौसैनिककेंद्र तलवार के ध्वज-स्तम्भ पर 'जय हिन्द' और 'भारत छोड़ो' के नारे अंकित करते हुए एक सैनिक गिरफ्तार हुआ, इससे पूरी भारतीय नौ सेना क्षुब्ध हो उठी। हड़ताल की आग कराची और कलकत्ते की नौसेना में भी पहुँच गई। कराची में गोरी और काली पलटनों की मुठभेड़ हो गई और बन्दूकों का जवाब तोपों से दिया गया। विमान-सेना में आतंक छा गया। कराची और बम्बई में तोपों का ताण्डव मच गया और विद्रोहियों ने २० जहाजों तथा शस्त्रागार पर कब्जा कर लिया। बम्बई में गोरी द्वारा अन्धाधुन्ध नरसंहार किया गया। इसमें २॥ सौ मरे और १३ सौ घायल हुए। भारतीय स्थलसेना में भी विद्रोह की चिनगारी पड़ गई। जबलपुर में सैनिकों ने 'नेताजी' के चित्र को सैनिक सलामी दी। पर कांग्रेसी नेता सरदार पटेल की सलाह मानकर नौसेना के विद्रोहियों ने आत्म-समर्पण कर दिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यदि स्वतन्त्रतायुद्ध छिड़ा तो इस बार भारतीय सेना भी उसमें भाग लेगी। तभी तो 'स्वतन्त्र मजदूर दल' के नेता मिस्टर फेनर ब्राकवे ने अपने २४ फरवरी के भाषण में कहा कि "पिछले कुछ दिनों की घटनाओं से प्रकट होता है कि भारत में ब्रिटिशराज के दिन अब इने-गिने हैं।"

अमात्यमण्डल भेजने की घोषणा—भारत की स्थिति विगड़ते देखकर १९ फरवरी १९४६ को पार्लमेण्ट में यह घोषणा की गई कि "भारत-मन्त्री लार्ड पेथिक लॉरेंस, व्यापारमण्डल के अध्यक्ष सर स्टेफर्ड क्रिप्स और नौसेना विभाग के अध्यक्ष मिस्टर अलबर्ट अलेक्जेंडर का एक मण्डल शीघ्र ही भारत जायगा। इसके मुख्य तीन कार्य होंगे—एक तो यह जानना कि सन् ४२ की क्रिप्स-योजना भारत को मान्य है या उसके बदले कोई अन्य संशोधित

रूप पसन्द है। दूसरे, भारतीय नेताओं की सहायता से विधानसभामेम्ब्लन संचयित करने में सहायता देना और तीसरे, वाइसराय की नयी शासनपरिषद् का रूप निश्चित करना। इस तरह लार्ड वेवेल की पिछली घोषणा ही को, जिसकी चर्चा की जा चुकी है, अमात्यमण्डल की वार्ता का आधार बनाया गया।



मिस्टर एटली

११ मार्च को पार्लमेण्ट में प्रधानमन्त्री मिस्टर एटली ने कहा कि “वर्तमान सरकार के स्थान पर कैसी सरकार हो इसका निर्णय स्वयं भारत ही करेगा। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहना न रहना उसकी इच्छा पर निर्भर है। भारत को पूर्णतः स्वाधीन हो जानेका अधिकार है। हम समझौते में कोई ऐसी शर्त न रखेंगे जो हमारे ही लाभ की हो और जिससे भारत का कोई अहित हो। भारतीय जो विधान स्वीकृत कर लेंगे पार्लमेण्ट उसे पूर्णतः मानने के लिए तैयार है। नये विधाननिर्माण तक के लिए हम भारत में एक ऐसी अस्थायी सरकार स्थापित करना चाहते हैं, जिसे नेताओं और जनता का व्यापक सहयोग

प्राप्त हो। इस कार्य में वाइसराय को पूर्ण स्वतन्त्रता है। हमें अल्पसंख्यकों के अधिकारों का ध्यान है; किन्तु हम उन्हें बहुसंख्यकों की उन्नति में बाधक नहीं होने दे सकते।”

अमात्यमण्डल का आगमन—इस घोषणा का भारतीय नेताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपना सन्तोष प्रकट किया। ब्रिटेन के सभी दलों के आशापूर्ण सन्देश और शुभकामनाओं सहित उक्त अमात्यमण्डल १९ मार्च को लन्दन से रवाना होकर २३ को कराची पहुँचा। वहाँ लार्ड पेथिक लॉरेंस ने पत्र-

प्रतिनिधियों से कहा कि “अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा और वादे पूर्ण करने को सर्वदा तैयार हैं। पार्लमेण्ट के सभी दलों का समर्थन हमें प्राप्त है। पाकिस्तान या अन्य किसी सम्बन्ध में हम कोई निश्चित मन लेकर नहीं आये हैं। हमें पगस्पर विरोधी दावों के बीच समन्वय कर भारतीयों को अधिकार सौंपने का रास्ता निकालना है। इसी लिए हम यहाँ आये हैं और लौटेंगे तभी जब काम पूरा हो जायगा।” इसके बाद नयी दिल्ली में पहले वाइसराय तथा प्रान्तीय गवर्नरों से अमात्यमण्डल का परामर्श हुआ और फिर नेताओं से बातचीत आरम्भ हुई। कांग्रेस तथा लीग के अतिरिक्त नरेशों, अंत्यजों तथा अन्य वर्गों के नेताओं से बातचीत चली। अमात्यमण्डल सबसे अलग ही अलग मिलता रहा।

कांग्रेस की शर्तें—कांग्रेस की ओर से चार शर्तें रखी गईं—(१) पूर्ण स्वाधीनता, (२) संयुक्तभारत, (३) पूर्ण सत्ता प्राप्त प्रान्तों का एकसंघ, जिसमें प्रान्तों को अवशिष्ट अधिकार भी प्राप्त रहें और (४) केन्द्र की अधीनता स्वीकार करने के लिए दो प्रकार के विषयों की दो सूचियाँ ‘एक ऐच्छिक और दूसरी अनिवार्य।’ इन शर्तों में लीग के दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा गया, उनसे देश का विभाजन तो नहीं होता था पर मुसलमानों को पूरे अधिकार मिल जाते थे। जिन प्रान्तों में उनका बहुमत है उनमें उनकी स्वतन्त्रता रहती थी और अवशिष्ट अधिकार भी मिल जाते थे। लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने इन शर्तों में हिन्दू-हितों का पूरा ध्यान नहीं रखा। अपने अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के कहने से प्रान्तों के लिए उसने ‘आत्मनिर्णय का सिद्धान्त’ मान लिया था, पर वास्तव में भारत विभाजन की यह जड़ थी, इसे स्वीकार करना ही भूछ हुई। पर लीग को इतने से भी सन्तोष न हुआ। उसने समझ लिया था कि वह अपनी माँगें जितनी बढ़ायेगी उतना ही अधिक उसे मिलेगा। उसने यह भी समझ लिया था कि हिन्दू मुसलिम एकता बनाये रखने की दृष्टि से कांग्रेस बराबर झुकती जायगी। इसके साथ ही साथ उसने धमकियाँ देना भी आरंभ कर दिया।

लीग की धमकी—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय असेम्बलियों के लीगी सदस्यों का नयी दिल्ली में एक सम्मेलन हुआ। उसके अध्यक्षपद से मियाँ जिना ने

कहा कि “मुसलमानों के लिए अखण्ड भारत की बात असम्भव है। यदि उन पर दबाव डाला गया तो वे उसका सब प्रकार से विरोध करेंगे। अपने अधिकारों की लड़ाई में हम बालभर भी पीछे नहीं हटेंगे, मरना पड़ेगा तो मरेंगे पर लक्ष्य अवश्य प्राप्त करेंगे। हमारी योजनानुसार हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए दो विधान परिषदें होनी चाहियें। इस बार यदि कांग्रेस ने अंग्रेजों से संघर्ष छोड़ा तो मुसलमान चुन न बैठेंगे।” सरफिरोज ख़ाँ नून ने कह डाला कि “हमारे ऊपर एक बहुत बड़ा संकट आनेवाला है। हमारी अन्तर्भावना की गहराई न तो हिन्दू समझते हैं न अंग्रेज। यदि हिन्दू हमें पाकिस्तान और स्वतन्त्रता देंगे तो वे हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं और यदि अंग्रेज देंगे तो वे। लेकिन यदि इसमें से कोई न देगा तो रूस हमारा सर्वश्रेष्ठ मित्र होगी। यदि ब्रिटेन हमें हिन्दू राज्य के अधीन रखेगा तो हम उसे यह बतला देना चाहते हैं कि मुसलमान इस देश में इतनी अधिक सत्यानाशी और तबाही करेंगे कि उसके सामने चंगेज ख़ाँ के कारनामे भी फीके पड़ जायेंगे।”

दूसरा शिमला सम्मेलन—नयी दिल्ली की वार्ता का कोई फल न निकला। इसपर शिमला में फिर दोनों दलों के एक सम्मेलन करने का निश्चय किया गया, पर वहाँ भी दोनों दल अपने अपने पक्ष पर अटल रहे। तीन दिन बाद सम्मेलन की ओर से यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि “दोनों दलों द्वारा उपस्थित मतों पर विचार कर सम्मेलन इस नतीजे पर पहुँचा है कि आगे परामर्श से कोई फल न होगा। अमात्यमण्डल की धारणा है कि वार्ता भंग होने का दोष किसी भी दल को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि दोनों ने समझौते की पूरी चेष्टा की।” अमात्यमण्डल बीच बीच में बराबर ब्रिटिश प्रधान मंत्री मिस्टर एटली से फोन पर परामर्श करता रहा। गान्धीजी से भी उसकी कई बार बात हुई। अन्ततः उसने एक अपनी योजना उपस्थित करने का निश्चय किया।

अमात्यमण्डलयोजना—उक्त निश्चय के अनुसार १६ मई १९४६ को नयी दिल्ली से अमात्यमण्डल-योजना घोषित हुई। इसके आरम्भ में कहा

गया कि “वाइसराय और हम लोगों ने अपनी शक्तिभर भारत के विभिन्न दलों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, पर अन्त में हमारे प्रयत्न विफल हुए। हम लोगों ने निष्पक्ष भाव से भारत के विभाजन की समस्या पर विचार किया है। मुसलमानों की इस आशंका से कि अखण्ड भारत में उन्हें सदा बहुसंख्यक हिन्दुओं का गुलाम होकर रहना पड़ेगा, हमलोग अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। भारत में शान्तिस्थापन के लिए ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि जिसके द्वारा मुसलमानों की संस्कृति, धर्म और आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर उनका नियन्त्रण रहे। पर भारत में एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पाकिस्तान कायम करने से शासन सम्बन्धी, आर्थिक तथा फौजी कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो जायेंगी। अतः हम यह सिफारिश नहीं कर सकते कि दो पृथक् स्वतन्त्र राज्यों को अधिकार हस्तान्तरित किया जाय। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम मुसलमानों की माँगों की उपेक्षा कर रहे हैं या उनकी आशंकाओं पर विश्वास नहीं करते।”

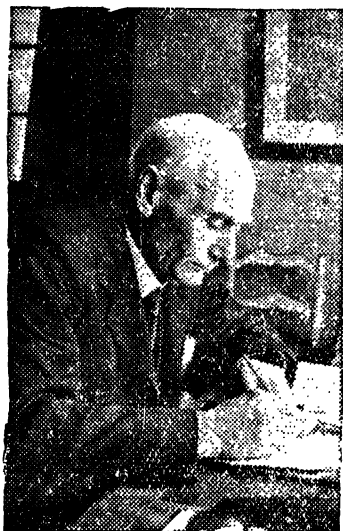
संघव्यवस्था—योजना में निम्नलिखित शर्तें रखी गईं—(१) एक अखिल भारतीय संयुक्त राष्ट्र या संघ होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों और जिसके अधीन परराष्ट्र सम्बन्ध, रक्षा और यातायात के विषय हों। इस संघ सरकार को अपने विषयों के व्यय के लिए आवश्यक धन उगाहने का भी अधिकार होना चाहिए। (२) संघ में एक शासक मण्डल और एक व्यवस्थापक मण्डल रहना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि रहें। व्यवस्थापक मण्डल में कोई महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक मामला प्रस्तुत होने पर उसके निर्णय के लिए दो प्रमुख वर्गों के जो प्रतिनिधि उपस्थित हों उनका पृथक् पृथक् तथा समस्त उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (३) केंद्रीय संघटन के लिए निर्धारित विषय छोड़कर अन्य समस्त विषय तथा अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को प्राप्त होंगे। (४) देशी राज्य उन सब विषयों तथा अधिकारों को अपने अधीन रखेंगे, जिन्हें वे केन्द्र को समर्पित न करेंगे। (५) प्रान्तों को अपने पृथक् समूह बनाने का अधिकार होना चाहिए, जिनके अपने शासक मण्डल तथा व्यवस्थापक मण्डल

हों। प्रत्येक प्रान्तसमूह यह निश्चित करेगा कि कौन से विषय समान रूप से सामूहिक शासन में रहें। (६) भारतीय संयुक्त राष्ट्र तथा प्रान्तसमूहों के विधानों में इस प्रकार की एक धारा होनी चाहिए जिसके द्वारा कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापक सभा के बहुमत से प्रथम दस वर्ष पश्चात् और फिर प्रति दस वर्ष पश्चात् विधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके।

विधानसम्मेलन—इसे संघटित करने की दृष्टि से भारतीय प्रान्त क, ख, ग इन तीन समूहों में विभक्त किये जायें। 'क' समूह में मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा प्रान्त शामिल रहें। 'ख' समूहमें पंजाब, सीमा प्रान्त तथा सिन्ध और 'ग' समूह में बंगाल तथा आसाम प्रान्त शामिल हों। प्रत्येक प्रान्त के लिए जनसंख्या के अनुपातानुसार अधिकतम स्थान निश्चित कर दिये जायें। स्थूल रूप से प्रत्येक १० लाख व्यक्तियों के पीछे एक स्थान दिया जाय। इस प्रकार निश्चित स्थानों को प्रत्येक प्रत्येक प्रान्त के प्रमुख सम्प्रदायों के बीच उनकी जनसंख्या के अनुपातानुसार बाँट दिया जाय। जनसंख्या में तीन समुदाय माने जायें—साधारण, मुसलिम तथा सिख। हिन्दुओं की गणना साधारण में होगी। यह व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक समुदाय के लिए निश्चित स्थानों के प्रतिनिधि प्रान्तीय व्यवस्था-मण्डल के उसी सम्प्रदाय के सदस्यों द्वारा चुने जायें। इस तरह ब्रिटिश भारत के लिए २९२ और राज्यों के लिए ९३ प्रतिनिधि होंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि-निर्वाचन की व्यवस्था विचार-विनिमय द्वारा बाद में निश्चित की जाय। इसके लिए एक वार्तासमिति नियुक्त कर दी जाय जो राज्यों से परामर्श करे। इस सम्मेलन की आरम्भिक बैठक में कार्य का सामान्य क्रम निश्चित किया जाय और अध्यक्ष द्वारा अन्य अधिकारियों का निर्वाचन हो। फिर प्रान्तीय प्रतिनिधि तीन समूहों में विभक्त होकर अपने अपने समूह के प्रान्तों का विधान तैयार करें। अन्त में इन समूहों और देशी राज्यों के प्रतिनिधि एक साथ मिलकर संयुक्त भारत का विधान तैयार करें।

शासनपरिषद्—यह योजना कार्यान्वित होने में समय लगेगा। किन्तु भारत का शासन चलाने तथा युद्धोपरान्त उन्नति से सम्बद्ध अनेक महत्वपूर्ण

मामलों के निर्णय के लिए यह आवश्यक था कि एक ऐसी अन्तःकालीन सरकार स्थापित की जाय, जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। अपनी शासनपरिषद् को यह रूप देने का कार्य वाइसराय को सौंपा गया। अन्त में अमात्य-मण्डल ने भारतीय नेताओं का ध्यान परस्पर सद्भावना और आदान-प्रदान की ओर आकृष्ट करते हुए अधिकार हस्तांतरण के कारण ब्रिटेन तथा भारत-विधान-सम्मेलन के बीच एक सन्धि की चर्चा की और यह आशा प्रकट की कि “नया स्वतन्त्र भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना स्वीकार करेगा। यह उसके स्वतन्त्र निर्णय की बात है। जो भी हो संसार के महान् राष्ट्रों में भारत अधिक समृद्धशाली होता जायगा और उसका भविष्य अतीत से भी अधिक गौरवपूर्ण होगा।”



लर्ड पेटिक लारेंस

राजनीतिक दौंचपेंच—बाहर से देखने में योजना बड़ी महत्वपूर्ण थी। गान्धी-जी ने लिखा कि “योजना ऐसी है, जिसका हमें गौरव होना चाहिए। उसमें ऐसा बीजारोपण किया गया है, जिसके द्वारा यह दुःखी देश दुःख तथा कष्ट-विहीन हो सकता है।” कांग्रेसी नेताओं को इसमें पाकिस्तान की ‘कब्र’ देख पड़ी। पर वस्तुतः यह झगड़े की पुड़िया थी और नाम से नहीं पर सिद्धान्त से इसमें पाकिस्तान मान लिया गया। आरम्भ से ही योजना के कई अंशों के वास्तविक अर्थ पर विवाद खड़ा हो गया। कांग्रेस ने प्रान्तों के समूहीकरण के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की माँग और साथ ही अन्तःकालीन सरकार की व्यवस्था प्राप्त करने पर जोर दिया, क्योंकि उसकी राय में दोनों योजनाओं का

अभिन्न संबंध था। लीग की ओर से मियाँ जिना ने यह आलोचना की कि “उसमें पाकिस्तान नहीं माना गया, पाकिस्तानी प्रान्त दो प्रधान विभागों में विभाजित किये गये और दो के स्थान पर एक ही विधान-सम्मेलन रखा गया।” इस पर २५ मई को अमात्यमण्डल ने एक दूसरा वक्तव्य निकाला, जिसमें कहा गया कि “समस्त योजना एक इकाई के रूप में है, वह तब सफल हो सकती है, जब पूर्ण रूप से स्वीकार करके उसे सहयोग की भावना से कार्यान्वित किया जाय। प्रान्तों का समूहीकरण योजना का एक आवश्यक अंग है। उसमें यदि कोई संशोधन हो सकता है तो वह दलों के बीच समझौता होने पर ही। विधाननिर्माण का कार्य समाप्त हो जाने पर समूहों से अलग होने का अधिकार स्वयं जनता द्वारा अमल में लाया जायगा। नया विधान बन जाने पर भारत की इच्छा के विरुद्ध वहाँ ब्रिटिश सेना रखने का कोई इरादा नहीं, किन्तु मध्य काल में, जो आशा है छोटा ही होगा, वर्तमान विधान के अनुसार भारत की सुरक्षा कायम रखने के लिए ब्रिटिश पालमेण्ट ही उत्तरदायी रहेगा और इसलिए वहाँ तब तक ब्रिटिश सेना रखना आवश्यक होगा।” कांग्रेस शासनपरिषद् में समान प्रतिनिधित्व और प्रान्तों के समूहीकरण के विषय में स्पष्टीकरण और आश्वासन लेने में संलग्न रही कि इतने में लीग की कौंसिल ने ६ जून की बैठक में समस्त योजना स्वीकार कर ली। मियाँ जिना ने अपने भाषण में कहा कि “मैं बतला देना चाहता हूँ कि मुसलमान तबतक चैन न लेंगे जबतक वे पूर्ण स्वतंत्र पाकिस्तान स्थापित न कर लेंगे। अमात्य-मण्डल ने जो दलीलें दी हैं, कारण बतलाये हैं, तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा है, वह सब केवल कांग्रेस को सन्तुष्ट करने के लिए। पर वस्तुतः उसके वक्तव्य में पाकिस्तान की योजना का आधार मौजूद है। कांग्रेसी पत्र और हिन्दू दल चीनी लपेटी कड़वी गोली देख कर बहुत प्रसन्न हुए हैं। पर शीघ्र ही उन्हें मालूम होगा कि उसमें चीनी बहुत थोड़ी है। वास्तव में वह बिना चीनी की गोली है। अब तो हम लोगों ने पासा फेंक ही दिया, फल चाहे जो कुछ भी हो।” १६ जून को प्रतिनिधिमण्डल का तीसरा वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिसमें बतलाया गया है कि “परस्पर समझौता न हो सकने और सुदृढ़ अन्तःकालीन सरकार की आवश्यकता के कारण वाइसराय १४ प्रमुख व्यक्तियों के पास सरकार में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण भेजेंगे। उसमें पाँच

कांग्रेसी, पाँच लीगी और चार अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि रहेंगे। दोनों प्रमुख दलों अथवा उनमें किसी एक के द्वारा अन्तःकालीन सरकार में निर्दिष्ट आधार पर सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रकट करने पर वे संयुक्त दलीय सरकार के निर्माणकार्य में अग्रसर रहेंगे। जो १६ मई की योजना स्वीकार करते हैं, उस सरकार में उनका अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व रहेगा।” आमंत्रित व्यक्तियों के लिए व्यक्तिगत हैसियत से निमन्त्रण स्वीकार करना सम्भव न था, अतएव दलों के नेताओं से परामर्श लिया गया। लीग ने निमन्त्रण स्वीकार करने की अनुमति दे दी। कांग्रेस ने दीर्घकालीन योजना तो स्वीकार कर ली, पर अन्तःकालीन सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप उसके संघटन का यह प्रयत्न भी विफल हुआ और वाइसराय को सरकारी अधिकारियों की एक काम चलाऊ सरकार बनानी पड़ी। इस पर मियाँ जिना बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने वाइसराय पर वचन-भंग का आरोप किया। उनका कहना था कि “जब लीग ने पूर्ण योजना स्वीकृत कर ली थी, तब १६ जून वाले वक्तव्य के अनुसार उसकी सहायता से तुरत अस्थायी सरकार बननी चाहिए थी।” इस तरह जो अमात्यमण्डल भारत की समस्या सुलझा कर लौटने का संकल्प करके आया था उसे विफल होकर लौटना पड़ा। चलते समय तारीख २९ जून को भारतमंत्री ने कराची में कहा कि “आशा है कि भारत शीघ्र ही उसे प्राप्त कर लेगा, जिसे वह चाहता है।”

विधान-सम्मेलन की तैयारी—कांग्रेस ने दीर्घकालीन योजना स्वीकृत कर ली थी, अतः उसने विधान-सम्मेलन संघटित करने की ओर ध्यान दिया। कांग्रेसी प्रान्तों की असेम्बलियों द्वारा उपयुक्त प्रतिनिधि चुनने की व्यवस्था की गई। इनमें योग्य गैर-कांग्रेसी व्यक्तियों के भी चुनने की व्यवस्था रखी गई। मियाँ जिना ने आग्रह किया कि जबतक योजना के विवादग्रस्त अंशों का स्पष्टीकरण न हो जाय तबतक विधानसम्मेलन का चुनाव स्थगित रखा जाय, परन्तु वाइसराय ने इसे मानने से इनकार कर दिया। सिख अपनी पंथ-सभा में १० जून को यह निर्णय कर चुके थे कि अमात्यमण्डल की पूर्ण योजना उन्हें स्वीकृत नहीं, क्योंकि उसके द्वारा उनके हितों की समुचित रक्षा नहीं होती। उसी के अनुसार सिखों ने विधानसम्मेलन के बहिष्कार का निश्चय किया, किन्तु नेहरूजी द्वारा कांग्रेस की ओर

से यह आश्वासन दिये जाने पर कि भारत के भावी विधान में उनके हितों का पूरा ध्यान रखा जायेगा, सिखों ने भी विधानसम्मेलन के निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया। कांग्रेसी प्रान्तों में कांग्रेसी नेताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य दलों तथा स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति भी चुने गये। पर मुसलमानों में सबसे अधिक संख्या में लीगी ही चुने गये।

प्रान्तीय शासन—इन दिनों प्रायः सभी प्रान्तों में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। अन्न-वस्त्र का भी बड़ा संकट था, कण्ट्रोल से कुछ लोगों को अवश्य सुविधा मिल गई थी, पर अधिकांश जनता व्रत थी। सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार बढ़ जाने के कारण जनता में बड़ा असन्तोष था। प्रान्तीय सरकारों का बहुत कुछ समय इस स्थिति का सामना करने में ही जा रहा था। वह स्थिति उनकी उत्पन्न की हुई नहीं थी, इसके अन्तर्राष्ट्रीय तथा राजनीतिक कारण थे, जिन्हें हल करना उनके वश की बात न थी। निर्वाचन के समय कांग्रेस की ओर से जनता को आश्वासन दिया गया था कि उसके शासन में वह अन्न-वस्त्र के संकट से मुक्त हो जायगी। इससे जनता की आशाएँ बढ़ी हुई थीं, पर कांग्रेस के हाथ में शासन आने पर भी उसने कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा, तो उसमें निराशा का भाव आ गया। इसके अतिरिक्त शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें कई कानून भी बनाने पड़ गये थे। अतः इस बार कांग्रेसी सरकारें आरम्भ में उतनी लोकप्रिय न बन सकीं, जितनी कि पहली बार। गैर-कांग्रेसी प्रान्तों में लीग का अन्य मुसलिम दलों के ही साथ संपर्क चल रहा था। सिन्ध की राजनीति बहुत ही गन्दी हो रही थी। वहाँ फिर से चुनाव कराने पर जोर दिया जा रहा था, जिसमें कि लीग का पूरा बहुमत हो। पंजाब में यूनियनिस्ट दल की सरकार थी, इससे लीगी चिढ़े हुए थे। सीमाप्रान्त में लीगियों का जोर बढ़ रहा था। इन प्रान्तों के अंग्रेज गवर्नर आपसी झगड़े बढ़ाने में सहायक हो रहे थे और अपना लीगी पक्षपात छिपा न पाते थे। इस तरह सभी प्रान्तों में अशान्ति और असन्तोष था।

काश्मीर में आन्दोलन—काश्मीर के नरेश तो हिन्दू हैं, पर वहाँ की अधिकांश जनता मुसलमान है। अन्य राज्यों की तरह वहाँ भी स्वतन्त्रता-आन्दोलन चल रहा था। वहाँ शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में एक 'राष्ट्रीय सम्मेलन'

था, जिसकी सदस्यता में जातीय या साम्प्रदायिक भेद न था। उसके जवाब में एक 'मुसलिम सम्मेलन' था, जिसका लक्ष्य मुसलिम सत्ता स्थापित करने का था। 'राष्ट्रीय सम्मेलन' को भारतीय कांग्रेस का और 'मुसलिम सम्मेलन' को मुसलिम लीग का समर्थन प्राप्त था। इन्हीं दिनों शेख अब्दुल्ला ने 'काश्मीर छोड़ो' आन्दोलन उठाया। उनका कहना था कि "अमृतसर की सन्धि के समय जम्मू के राजा गुलाब सिंह ने अंग्रेजों को कुछ रुपया देकर काश्मीर खरीद लिया था। उनका डोगरा वंश काश्मीर के लिए विदेशी है, और उसे वहाँ शासन करने का कोई अधिकार नहीं।" इस आन्दोलन के जोर पकड़ने पर शेख अब्दुल्ला को गिरफ्तार कर लिया गया। मुकदमे में उनकी पैरवी करने के लिए भारत से लोग भेजे गये। नेहरूजी वहाँ जा रहे थे, पर रास्ते में ही वह राज्य की ओर से यह कह कर कि 'उनके आने से शांति भंग होने की आशंका है' गिरफ्तार कर लिये गये। इस पर भारत में बड़ा क्षोभ फैला। पंजाब कांग्रेस समिति के मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि "इस घटना का प्रभाव बहुत दूर तक पहुँचेगा। पंजाब इसे सहन नहीं कर सकता।" कांग्रेस कार्यसमिति की भी बैठक हुई और उसके अध्यक्ष मोलाना आजाद ने नेहरूजी को तार दिया कि "आपको मेरी और कार्यसमिति की सलाह है कि आप तुरत लौट आइये।" साथ ही उन्होंने काश्मीर-नरेश को भी तार दिया कि "नेहरूजी को दिल्ली लौटने की अनुमति दी जाय और शेख अब्दुल्ला का मुकदमा स्थगित रखा जाय।" उन्होंने उत्तर दिया कि "नेहरूजी के लौटने पर कोई रोक नहीं।" इस तरह नेहरूजी वापस आ गये और यह काण्ड भयानक रूप धारण करने से बच गया। नेहरूजी ने लौटते समय कहा कि "अवकाश मिलने पर मैं फिर काश्मीर जाऊँगा और सत्कारी प्रतिबन्ध तोड़ूँगा।" शेख अब्दुल्ला को उनके मुकदमे में कैद की सजा दी गई।

हड़तालों का जोर—महायुद्धजनित परिस्थिति के कारण सभी वस्तुएँ महँगी हो रही थीं। कर्मचारियों तथा मजदूरों को कुछ महँगाई मिलने लगी, पर उतने से काम न चलता था। अतः सर्वत्र वेतन और मजदूरी बढ़ाने की माँग थी। इसके लिए कारखानों, मिलों और नौकरिया के विभागों में हड़तालें हो रही थीं। इन्हीं दिनों रेलवे कर्मचारियों ने अपनी माँगें पेश कीं और उनके

पूरी न होने पर हड़ताल की धमकी दी। तब उनकी शिकायतें सुनने तथा उन्हें दूर करने के उपाय बतलाने के लिए एक पंचायत नियुक्त की गई। उनका मामला तब भी न होने पाया कि इतने ही में डाक-तार-कर्मचारियों ने अपनी माँगें रखते हुए हड़ताल की सूचना दे दी। समझौते का प्रयत्न विफल हुआ, तब हड़ताल करना गैर कानूनी घोषित किया गया। पर डाक-तार-विभाग के कर्मचारियों ने ११ जुलाई से हड़ताल कर दी। इससे देशभर में बड़ी असुविधा हो गई। बड़े शहरों में उच्च अपसर कुछ लोगों की सहायता से जैसे तैसे काम चलाते रहे। लगभग एक सप्ताह हड़ताल चलती रही। देश के नेताओं ने भी हड़तालियों को बहुत समझाया और अन्ततः उनकी कुछ माँगें मान ली गईं तथा कुछ पर विचार करने के लिए एक पंचायत नियुक्त हुई। रेलवे और डाक ये दोनों सार्वजनिक संस्थाएँ हैं, इनका काम रुक जाने से तो कोई व्यवस्था ही नहीं चल सकती। मिलों या कारखानों में हड़ताल की ओर जनता का विशेष ध्यान न जाता था; पर रेल, डाक आदि ऐसे विभाग हैं, जिनसे सभी का सम्बन्ध है। इनमें हड़ताल हो जाने से तो सब का काम रुक जाता है। डाक-हड़ताल का बड़ा प्रभाव पड़ा, पर हड़ताली अधिकतर शान्त रहे, जिससे उन्हें जनता की सहानुभूति प्राप्त रही।

दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह—दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए भारतीयों के प्रति कितना अन्याय होता था, इसकी चर्चा की जा चुकी है। गान्धीजी ने सर्वप्रथम वहीं सत्याग्रह आरम्भ किया था। इन दिनों वहाँ के भारतीयों पर जमीन खरीदने, गोरी बस्तियों में बसने आदि के सम्बन्ध में नये प्रतिबन्ध लगाये गये। इसपर वहाँ के प्रवासी भारतीयों ने फिर सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। जिन स्थानों में बसने की मनाही थी, वहाँ जाकर वे डेरा लगाते थे, इस पर उनकी गिरफ्तारी होती थी। सत्याग्रह के विषय में गान्धीजी ने कहा कि “मेरा जन्म भारत में पर निर्माण दक्षिण अफ्रीका में हुआ। मेरे जीवन के २० वर्ष वहाँ बीते हैं। समय आ सकता है कि यह कर्तव्य समझ कर, मुझे विशुद्धतम रूप का सत्याग्रह काना पड़े।” यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया।

सक्रिय विरोध की धमकी—लीग को यह आशा थी कि मध्यवर्ती सरकार बनाने के लिए उसे बुलाया जायगा, क्योंकि उसने सम्पूर्ण अमात्यमण्डल-योजना मान ली थी, जब कि कांग्रेस ने केवल उसका एक अंश और वह भी कुछ शर्तों के साथ माना था। पर जब ऐसा नहीं हुआ तब लीगमण्डली में बड़ा क्षोभ फैला। जुलाई के अन्त में उसकी कार्यसमिति तथा कौंसिल की बैठक बम्बई में हुई। उसमें एक प्रस्ताव द्वारा समस्त योजना अस्वीकृत कर दी गई और कहा गया कि “यद्यपि लीग की माँग स्वतन्त्र पाकिस्तान के लिए थी तथापि यह सोच कर कि अमात्यमण्डल की योजना में उसका आधार मौजूद है, उसे स्वीकृत किया गया। किन्तु मध्यवर्ती सरकार के सम्बन्ध में उसे धोखा दिया गया। नेहरूजी के भाषणों से स्पष्ट है कि अपने बहुमत के बल कांग्रेस विधान-सम्मेलन में मनमानी करने जा रही है। ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि अपने दिये बचनों को जिस तरह टाल गये उसे देखते हुए लीग कौंसिल को यह विश्वास हो गया कि विधान सम्मेलन में उसके प्रतिनिधियों का रहना खतरे से खाली नहीं। इसलिए योजना-स्वीकृति का पूर्वनिर्णय वापस लिया जा रहा है।” साथ ही एक दूसरा प्रस्ताव पास किया गया, जिसमें कहा गया कि “चूँकि अमात्यमण्डल-योजना अस्वीकृत कर दी गई, अपनी माँग की पूर्ति के लिए सभी वैधानिक उपाय करके देख लिये गये, कांग्रेस ब्रिटेन की सहायता से भारत में जातिहिन्दुओं का राज्य स्थापित करने पर तुली हुई है, अतः अब मुसलमानों के लिए सक्रिय विरोध या प्रत्यक्ष काररवाई करने का समय आ गया है। इसी के द्वारा मुसलमान पाकिस्तान प्राप्त करके ब्रिटेन की गुलामी और आयोजित भावी हिन्दू प्रभुत्व से छुटकारा पा सकते हैं।” इसे कार्यान्वित करने के लिए यह निश्चित हुआ कि पहले सरकारी उपाधियाँ त्यागी जायँ और बाद का कार्यक्रम एक ‘कर्मसमिति’ निश्चित करती रहे। प्रस्तावों की बहस में बड़ा जोश दिखलाया गया। इस तरह लीग ने भी वही मार्ग अपनाने का निर्णय किया, जिसपर इतने दिनों तक कांग्रेस चलती रही।

मध्यवर्ती सरकार बनाने का निमन्त्रण—वाइसराय लार्ड वेवल ने ब्रिटिश सरकार के परामर्श से भारत में मध्यवर्ती सरकार बनाने की बातचीत

फिर आरम्भ की। उन्होंने नेहरूजी तथा मियाँ जिना दोनों को लिखा, पर मियाँ जिना ने जवाब दिया कि “लीग सम्पूर्ण अमात्यमण्डल योजना अस्वीकृत कर चुकी, अतः वे मध्यवर्ती सरकार बनाने में सहायता देने में असमर्थ हैं।” किन्तु कांग्रेस की ओर से उसके अध्यक्ष नेहरूजी ने इसे स्वीकार कर लिया। इसपर १२ अगस्त को वाइसराय के यहाँ से यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि “सरकार बनाने का निमन्त्रण पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार कर लिया और वे शीघ्र इस सम्बन्ध में वाइसराय से मुलाकात करेंगे।” नेहरूजी ने पहले मियाँ जिना को पत्र लिखा और बम्बई में उनसे मिलकर सहयोग प्रदान करने के लिए उन्हें बहुत समझाया पर वे उस से मस न हुए। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी घोषणा निकाली कि “१६ अगस्त को देशभर में मुसलमान की ओर से ‘प्रत्यक्ष काररवाई दिवस’ मनाया जाय।”

कलकत्ते में ‘प्रत्यक्ष काररवाई दिवस’—१६ अगस्त को प्रातःकाल से ही कलकत्ते में मारकाट आरम्भ हो गई। बंगाल की लीगी सरकार ने पहले ही से उस दिन ‘सार्वजनिक छुट्टी’ घोषित कर रखी थी। इसके कारण उपद्रवियों को निश्चित रूप से कुकृत्य करने का अवसर मिल गया। हिन्दुओं में इसके लिए कोई तैयारी न थी, उनकी दूकानें लूटी गईं। डाक्टर विधानचन्द्र राय जैसे प्रशिष्ट व्यक्तिों के घर जला दिये, बच्चों के पेट में लुरा भोंक दिया गया। यह काण्ड वहाँ पाँच दिन तक जारी रहा। एक एक दिन में हजार-हजार अग्निकाण्ड हुए। दक्षिणी कलकत्ते की सड़कें लशों से भर गईं। पहले तो हिन्दू चुप रहे, उन्होंने सोचा कि सरकार उनकी रक्षा करेगी। पर जब उन्होंने देखा कि पुलिस खड़े-खड़े तमाशा देखती है और मुसलमान गुण्डों को मनमानी करने देती है, तब आत्मरक्षार्थ उन्होंने भी मुसलमानों की खबर लेना आरम्भ किया। दोनों ही ओर से लूट-पाट और मारकाट होने लगी। पेट्रोल पर नियंत्रण था तब भी मुस्लिम गुण्डे लारियों पर दौड़-दौड़ कर धावा बोल रहे थे और शस्त्रास्त्रों से सुसज्ज थे। अनुमान किया जाता है कि इन पाँच दिनों में लगभग १० हजार व्यक्तियों के प्राण गये, २५ हजार घायल हुए और कई करोड़ रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई। आरम्भ में ही यदि उपद्रव दबा दिया गया होता तो यह नौबत न आती, पर सरकार सर्वथा विफल रही।

इस पर बङ्गाल असेम्बली में कांग्रेस दल की ओर से अविश्वास का प्रस्ताव लाया गया। बहस में सरकार की ओर से कहा गया कि 'प्रत्यक्ष काररवाई दिवस' शान्तिपूर्वक मनाया जानेवाला था। इसके लिए उचित आदेश दे दिया गया था, पर हिन्दुओं की ओर से छेड़छाड़ हुई, जिससे मुसलिम जनता बेकाबू हो गई।" मियाँ हाशिम ने कहा कि "नेहरू जी भारत में हिन्दू राज्य स्थापित करने जा रहे हैं, उसी को मुसलमानों पर यह प्रतिक्रिया है। इस उपद्रव को हिन्दुओं ने स्वयं ही आन्त्रित किया।" लीगी पत्र 'डान' ने लिखा कि "कांग्रेसी प्रचार ने रात को दिन बना दिया। आग लगाई कांग्रेसियों ने और दोष मढ़ा जा रहा है प्रधान मन्त्री बेचारे सुहरवर्दी और उनके साथियों पर। सारे काण्ड के लिए दण्ड मिलना चाहिए कांग्रेस और हिन्दू महासभा के गुण्डों को।"

सरकार का पदग्रहण—

२४ अगस्तको वाइसराय ने घोषित किया कि "नयी सरकार में १४ सदस्य होंगे, जिन में पाँच सदस्य लीग नामजद कर सकती है, शेष ६ कांग्रेस तथा ३ अल्पसंख्यकों के सदस्य रहेंगे। मुझे आशा है कि लीग इस पर पुनः विचार करेगी।"



जवाहरलाल नेहरू

किन्तु लीग अपने बहिष्कार के निर्णय पर ही दृढ़ रही और २ सितम्बर को नेहरू जी द्वारा संघटित सरकार ने पदग्रहण किया। यह सरकार गवर्नर-जेनरल की शासनपरिषद् के रूप में ही थी। विधान के अनुसार गवर्नर-जेनरल ही उसका अध्यक्ष रहता था। अतः श्री जवाहरलाल नेहरू उपाध्यक्ष बनाये गये। सरदार

पटेल गृह-सदस्य और सरदार बलदेव सिंह रक्षा-सदस्य नियुक्त हुए। इसके तीन दिन पहले गान्धीजी ने अपनी प्रार्थना-सभा में कहा कि “कांग्रेसी नेता मध्यवर्ती सरकार में जनता के लिए स्वतन्त्रता का मार्ग यकिनचित् सुगम बनाने जा रहे हैं। २ सितम्बर को नेहरू, सरदार पटेल आदि ताज धारण करने जा रहे हैं, जो सोने का नहीं, काँटों का है और जिसमें उनकी अग्निपरीक्षा होगी। जनता का यह न समझ लेना चाहिए कि भारत २ सितम्बर को स्वतंत्र हो जायगा। स्वतंत्रता इतनी सस्ती नहीं, उसके लिए तो कीमत चुकानी होगी। जनता अपने इन नेताओं की मदद में बलिदानों के लिए तैयार रह कर स्वयं काँटों का ताज पहने।” पदग्रहण करते हुए नेहरू जी ने कहा कि “अभी हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचना है, मार्ग कठिन है। मैं अपने देशवासियों से पूर्ण सहयोग की आशा रखता हूँ। मुझे खेद है कि मुसलिम लीग ने विपरीत मार्ग चुना, पर मैं उसके सहयोग की आशा रखता हूँ और उसके लिए दरवाजा हमेशा खुला रहेगा। भाग्य ने नये तरीकों से हमारी परीक्षा लेनी चाही है और हम उसके लिए तैयार हैं। हम जिस स्वतंत्रता का स्वप्न देखा करते थे अब वह हमारे त्रिलकुल नजदीक है। हमारी यही हार्दिक कामना है कि हम भारत और जनता के योग्य सेवक प्रमाणित हों।” लीग प्रतिनिधियों के स्थानों पर कुछ लोगों की अस्थायी नियुक्ति कर दी गई और यह कह दिया गया कि जब लीगी सदस्य आना चाहेंगे तो वे लोग हट जायेंगे।

‘जेहाद’ के लिए भर्ती—एक ओर नयी दिल्ली में मध्यवर्ती सरकार का पदग्रहण सम्पन्न हो रहा था और दूसरी ओर देश के कई स्थानों में दंगे मच रहे थे। लीग ने पहले से ही आदेश निकाला था कि मध्यवर्ती सरकार स्थापन के विरोध में ‘काला दिवस’ मनाया जाय। कलकत्ते में छुरेबाजी बल ही रही थी, बम्बई में भी उपद्रव हो गया, जहाँ लगभग चार सौ व्यक्ति मारे गये। सीमाप्रान्त के कोटा शहर में भी उपद्रव हुआ। पञ्जाब प्रान्तीय मुसलिम लीग कार्यसमिति ने घोषित किया कि “सभी समर्थ पुरुष मुसलमान ‘मुसलिम राष्ट्रीय संरक्षक दल’ (मुसलिम नेशनल गार्ड) में भर्ती हो जायँ। स्वतन्त्र और सम्मानित राष्ट्र के रूप में जीवित रहने के लिए मुसलमानों को युद्ध करना होगा। ऐसे लोगों की आवश्यकता है जिन्होंने इस्लाम

और पाकिस्तान के लिए अपनी जान कुर्बान कर देने का संकल्प कर लिया है। उन्हें सैनिक आदेश और अनुशासन का पालन आँख मूँदकर करना होगा।”

पूर्वी बंगाल की बर्बरता—उधर पूर्वी बंगाल में मुसलिम बर्बरता की लहर उमड़ पड़ी। १४ अक्तूबर को प्रकाशित बंगाल प्रेस सलाहकार समिति की एक विज्ञप्ति में बतलाया गया कि “१० अक्तूबर से ही नोआखाली जिलेके दो सौ वर्ग मील में अराजकता व्याप्त है। बाहर से आने वालों को रोक रखने के लिए प्रभावित क्षेत्र के चतुर्दिक सशस्त्र गुण्डे तैनात हैं। लोगों को जीते ही जला दिया जाता है। गणनातीत व्यक्तियों को तलवार के घाट उतार दिया गया। मन्दिर ध्वस्त किये जा रहे हैं, स्त्रियों का सतीत्व दिन दहाड़े लूटा जा रहा है। मृत्युभय दिखल कर लोगों को मुसलमान बनाया जा रहा है। पता नहीं कितनी भद्र महिलाएँ अब तक गुण्डों द्वारा भगायी जा चुकी हैं। नोआखाली जिले के सर्वश्रेष्ठ जमींदार और बार असोसियेशन के अध्यक्ष सपरिवार जला डाले गये।” चाँदपुर सब-डिविजन में लूट-पाट, मार-काट, अग्निकाण्ड मच गया। लगभग २५ हजार पीड़ित जान बचाने के लिए भाग निकले। इत्याकाण्ड में बहुत से सीमाप्रान्त के पठान भाग ले रहे थे। सतीत्वरक्षार्थ हिन्दू नारियाँ आग में कूद पड़ीं। इसका प्रभाव कलकत्ते पर भी पड़ा और वहाँ फिर उपद्रव मच गया। वहाँ बम, बन्दूक और तेजाब का खुला प्रयोग हो रहा था। सैनिकों पर आक्रमण किया जाता था। बंगाल के समाचारों से समस्त देश के हिन्दुओं में क्षोभ व्याप्त हो गया। स्त्रियों के अपहरण, उनके सतीत्व नष्ट होने और जबरदस्ती लोगों के मुसलमान बनाये जाने से गान्धीजी भी बड़े दुःखी हुए।

नेहरूजी की सीमाप्रान्तयात्रा—अक्तूबर के मध्य में नेहरूजी, खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ, और सीमाप्रान्त के प्रधान मन्त्री डाक्टर खाँ साहब के साथ सीमाप्रान्त तथा उसके कबीली क्षेत्रों का दौरा करने गये। वहाँ लीगियों की ओर से बड़ा उपद्रव मचाया गया। पेशावर हवाई अड्डे पर उतरते ही हरी वर्दीधारी भाले लिये हुए पाँच हजार लीगी स्वयंसेवकों ने ‘कांग्रेस सरकार मुर्दाबाद’ के नारे लगाये। उनकी मोटर पर टेले फेंके गये। कबीली क्षेत्र में तो उनकी मोटर गोलियों की गड़गड़ाहट से होकर निकली। खाँ बन्धुओं ने बड़ी सतर्कता से काम

लिया, इसीलिए कोई दुर्घटना न हो पायी। कहा तो यह जाता है कि वहाँ नेहरूजी को उड़ा ले जाने की योजना बनी हुई थी। ख़ाँ अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने अपने एक भाषण में कहा कि “आज देश के कोने-कोने में उपद्रवों की जो धूम मची है, उसके कर्ताधर्ता भियाँ जिना और लार्ड वेवल हैं। आज का समय शुभाशापूर्ण नहीं। जब नेहरूजी जैसे नेता पर ईंट-पत्थर फेंके जायँ तब कोई मंगलाशा कैसे की जाय ?”

संयुक्त राष्ट्रसंघ में शिकायत—दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रति दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर भारत सरकार अपना प्रतिनिधि वहाँ से वापस बुला कर



उसके साथ व्यापारिक सन्धि पहले ही विच्छेद कर चुकी थी। अब उसने यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में पेश किया। भारत की ओर से प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व नेहरूजी की बहन श्रीमती विजयालक्ष्मी ने किया। उनकी जोरदार बहस से सभी लोग चकित रह गये। दक्षिण अफ्रीका की ओर से यह तर्क रखा गया कि यह उसका घरेलू मामला है, इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। इसका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए श्रीमती विजयालक्ष्मी ने कहा कि “लोगों के नागरिक अधिकारों की हत्या की जाय, जाति और धर्म

श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित

की भिन्नता के कारण तरह तरह के अन्याय किये जायँ और समस्त संसार चुपचाप देखना रहे ? संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म ही विश्व में शान्ति और सुव्यवस्था करने के लिए हुआ है। कौन कहता है कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के प्रश्न पर

विचार करने का उसे अधिकार नहीं।” बहुत बहस के बाद यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि “राष्ट्रसंघ के अधिकारपत्र के सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए दोनों देशों को शान्तिपूर्वक आपस में समझौता कर लेना चाहिए।” पर इसमें पर्याप्त बहुमत न मिलने के कारण यह प्रस्ताव भी निरर्थक ही रहा।

सरकार में लीग का प्रवेश—कांग्रेस और लीग में समझौते का बराबर प्रयत्न होता रहा, पर कोई सफलता न मिली। लार्ड वेवल और मियाँ जिना में भी लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ। उसमें मियाँ जिना ने माँग की कि “सरकार का कोई नेता न होना चाहिए, शासनपरिषद् के सदस्यों की हैसियत मन्त्री की न रहनी चाहिए और न उनकी सामूहिक जिम्मेदारी ही रहनी चाहिए।” अन्ततः १५ अक्टूबर की बैठक में लीग कार्यसमिति ने मध्यवर्ती सरकार में प्रवेश करने का निश्चय किया। प्रस्ताव में कहा गया कि “लीग अपने अधिकार के आधार पर ऐसा कर रही है।” उसके प्रतिनिधियों की सूची में बंगाल के अन्त्यज श्री योगेन्द्रनाथ मण्डल का नाम भी रखा गया। सरकार के अस्थायी सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर लीगी प्रतिनिधियों ने २५ अक्टूबर को पद ग्रहण किया। लीग किस उद्देश्य से सरकार में घुसी थी, यह उसके प्रतिनिधियों के भाषण से ही स्पष्ट था। मियाँ लियाकत अली ने, जो अर्थसदस्य बनाये गये, कहा कि “वर्तमान विधान में एक व्यक्ति द्वारा सरकार के नेतृत्व करने की कोई बात ही नहीं। सरकार में कांग्रेस और लीग दलों के अलग अलग नेता रहेंगे। भारत में एक दल की सरकार बनाना अवांछनीय ही नहीं असम्भव है।” राजा गजनगर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा कि “हम सरकार के भीतर पाकिस्तानी मोर्चा खोलने जा रहे हैं।” इस तरह पहले ही से यह स्पष्ट हो गया कि सरकार में दोनों दलों में सहयोग नहीं संघर्ष होगा।

बिहार में बदला—बिहार के प्रधान मंत्री ने पहले ही यह चेतावनी दे दी थी कि “पूर्वी बङ्गाल के कारण बिहार की स्थिति अति गंभीर हो चली है। यदि बङ्गाल का उपद्रव तुरत बन्द न किया गया तो आशंका है कि बिहार की स्थिति बेकाबू हो जाय।” हुआ भी ऐसा ही, पटना, भागलपुर, सारन, मुंगेर जिले के कई स्थानों में साम्प्रदायिक दंगा आरम्भ हो गया। पूर्वी बङ्गाल की मुसलिम आसुरी

लीलाओं के समाचारों से हिन्दू जनता क्षुब्ध हो उठी थी। मुसलमानों की छेड़छाड़ से वह अपने को काबू में न रख सकी। बिहार सरकार ने बड़ी दृढ़ता से काम लिया, उसने गोरी पलटनें तैनात कर दीं। नेहरूजी भी विमान द्वारा वहाँ पहुँच गये। सैनिकों और पुलिस की गोलियों से हजारों हिन्दुओं के प्राण गये। बम गिराने की भी धमकी दी गई। निरपराध किसान गिरफ्तार किये गये। शान्तिरक्षा के नाम पर 'आर्डिनेंस राज्य' चल पड़ा। गान्धीजी ने आमरण अनशन करने की धमकी दी। फलतः बिहार का उपद्रव एक सप्ताह में ही शान्त हो गया, पर प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार की नीति से हिन्दू जनता में बड़ा असन्तोष फैला। कहा गया कि "यदि केन्द्रीय सरकार ने पूर्वी बङ्गाल में इसी दृढ़ता से काम लिया होता तो वहाँ हिन्दुओं की दुर्दशा न होती।" बिहार में मुसलमानों की रक्षा के लिए पूरा प्रबंध किया गया, पर तब भी लाखों की संख्या में मुसलमान बंगाल की ओर भागने लगे। बिहारकाण्ड लीगियों के लिए एक नयी शिकायत हो गया। यह प्रचार किया जाने लगा कि "बिहार में मुसलमानों का सफाया कर दिया गया, और जो बच रहे वे त्रस्त होकर भाग रहे हैं।" इन्हीं दिनों युक्तप्रान्त में कानपुर तथा गढ़मुक्तेश्वर और दिल्ली में भी साम्प्रदायिक उपद्रव हुए।

मालवीय जी का महाप्रयाण—श्री मदनमोहन मालवीय जी का स्वास्थ्य बहुत दिनों से गिर रहा था। पूर्वी बंगाल की घटनाओं से उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा। दो नवम्बर के अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि "मैं अनुभव करता हूँ कि मानवता सङ्कट में है। हिन्दू संस्कृति और धर्म खतरे में हैं। आज एक असाधारण वस्तुस्थिति उत्पन्न हो गई है। हिन्दुओं को चाहिए कि वे सर्वसाधन-सम्पन्न होकर संघटित हो जायें और अपनी रक्षा की समुचित व्यवस्था कर लें। आत्मरक्षा, आत्मसंयम हमारा व्रत और इस भूमि में स्वयं रहना तथा मुसलमानों को रहने देना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। वर्षों से हिन्दू जी-जान से अथक परिश्रम करते रहे कि सच्ची हिन्दू-मुसलिम एकता कायम हो। वे सहयोग करते रहे और सहिष्णु भी बने रहे, पर दुःख है कि अधिकांश मुसलमानों द्वारा सहिष्णुता का अर्थ निर्बलता लगाया जा रहा है। वे हिन्दुओं से सहयोग भी नहीं करना चाहते।

उन लोगों के प्रति हम दया नहीं दिखला सकते जो हिंदुओं को शांतिपूर्वक रहने नहीं देना चाहते। बङ्गाल की घटनाओं से किस हिंदू का हृदय क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर कुछ कर डालने के लिए फड़क न उठेगा। अब यदि हिंदू संघटित नहीं हुए तो वे बच नहीं सकते।” उनका हृदय यह आघात सहन न कर सका और १३ नवंबर को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अपने निवासस्थान पर उनका शरीर छूट गया। वे धर्म के महान सेवक, राष्ट्र के कर्मठ नेता, निरभिमान होते हुए भी हिंदुत्व के परम अभिमानी, सरस्वती के सच्चे पुजारी, भारतमाता के सपूत और आदर्श ब्राह्मण थे। ‘हिंदी, हिंदू, हिंदुस्थान’ उनका मंत्र था। काशी हिंदू विश्वविद्यालय उनकी देश को सब से बड़ी देन है। इसके लिए उन्होंने राजा से रक तक के सामने हाथ फैलाया और सार्वजनिक सेवा के मामलों में अपने को सर्वाधिक निपुण याचकराज सिद्ध कर दिया।

‘तलवार का जवाब तलवार से’—केंद्रीय सरकार के कांग्रेसी तथा लीगी दलों में पट नहीं रही थी, यह बात धीरे धीरे प्रकाश में आने लगी। लीगियों का कहना था कि “नेहरूजी सरकार के नेता नहीं हो सकते, उसका संघटन १९१९ के विधान के अनुसार हुआ है। अतः उसके प्रत्येक सदस्य का गवर्नर-जेनरल के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।” इस तरह संयुक्त जिम्मेदारी की बात ही न रही। असेंबली और कौंसिल में सरकार के कांग्रेसी तथा लीगी सदस्य एक दूसरे की आलोचना करने लगे। राज्यपरिषद् (कौंसिल) में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए यातायात सदस्य सरदार अब्दुर्रब निस्तर (लीगी) ने बतलाया कि “पूर्वी बंगाल में लगभग दो तीन सौ बेगुनाह मारे गये हैं, पर बिहार में उनकी संख्या दस हजार से कम नहीं और वहाँ करोड़ों रुपये की सम्पत्ति को हानि हुई।” इसका खण्डन करते हुए खाद्यसदस्य डाक्टर राजेंद्र प्रसाद (कांग्रेसी) ने कहा कि “बिहार की हालत पूर्वी बंगाल से बदतर नहीं।” नवम्बर के अन्त में श्री जीवतराम भगवान्दास कृपालनी की अध्यक्षता में मेरठ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर भारत सरकार के कांग्रेसी सदस्यों ने सब भण्डा फोड़ दिया। विषयसमिति की बैठक में नेहरूजी ने कहा कि “सरकार में लीगी सदस्यों के शरीक होते ही तरह तरह की अड़चनें पैदा होने लगी हैं। परिस्थिति इतनी विकट हो चली है कि इस बीच हम

लोगों ने दो बार त्यागपत्र तक दे डालने का निश्चय कर लिया था। हम लोगों के धैर्य की पराकाष्ठा हो रही है। यदि उसकी सीमा टूटी तो महासमर की दावाग्नि भभक उठेगी। वाइसराय की गतिविधि भी विचित्र होती जा रही है। सरकार की स्थापना के समय उन्होंने जो स्फूर्ति दिखायी अब वह जाती रही। उनका नीति-चक्र विपरीत दिशा में घूम रहा है और उनके वर्तमान रुख के कारण ही स्थिति क्षण-प्रतिक्षण विकट होती जा रही है।” गृहसदस्य सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा कि “लीगी नेता और ब्रिटिश अफसर एक दूसरे के अभिन्न मित्र हैं। वे रात दिन इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि कांग्रेसी सदस्य सरकार से हट जायें। पर उनकी यह



सरदार वल्लभभाई पटेल

इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। जब तक हम ब्रिटिश सरकार के मुख पर भलीभाँति कालिख न पोत लेंगे तबतक मध्यवर्ती सरकार की उद्देश्य-पूर्ति नहीं हो सकती। पूर्वी बंगाल की घटनाओं से मेरे हृदय को जो ठेस लगी है, वह सर्वथा वर्णनातीत है। उस घृणास्पद कुकृत्य के सामने अकालग्रस्त ३० लाख बंगालियों का मरना नगण्य है। लीगी नेता कान खोल कर सुन लें कि अब तलवार का जवाब तलवार से दिया जायगा।”

जनसंख्या-परिवर्तन का सुभाव—सरदार पटेल के भाषण का उत्तर देते हुए लीग के अध्यक्ष मियाँ जिना ने पत्र-प्रतिनिधियों से अपनी २५ तारीख की मुलाकात

में कहा कि “लोग कहते हैं कि सरदार पटेल दृढ़ व्यक्ति हैं और वे हैं भी दृढ़, पर बातों से हड़ियाँ नहीं टूटती। वर्तमान मध्यवर्ती सरकार शासनपरिषद् है,

जिसका संघटन १९१९ के विधान के अनुसार हुआ है। वैधानिक दृष्टि से यह मंत्रिमण्डल नहीं। देश के विभिन्न भागों में नृशंस हत्याकाण्ड हुआ है, अतः केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों को चाहिए कि वे जनसंख्या की अदलाबदली करें। अल्पसंख्यकों के बहुसंख्यकों के द्वारा मारे जाने की घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने के लिए यह आवश्यक है।” कांग्रेसी नेताओं ने इसे अव्यावहारिक तथा शरारतपूर्ण बतलाया। सिखों ने भी इसका विरोध किया, उनकी ओर से कहा गया कि “पंजाब हमारी मातृभूमि है। वहाँ हमारे गुरुद्वारे, विशाल सम्पत्ति और शिक्षासंस्थाएँ हैं। हमारी सैनिक परम्परा बेजोड़ रही है। ऐसे वीर खालसा को मियाँ जिना कहाँ भेजना चाहते हैं? वे जो सोच रहे हैं, उसे हम कदापि सहन न करेंगे।”

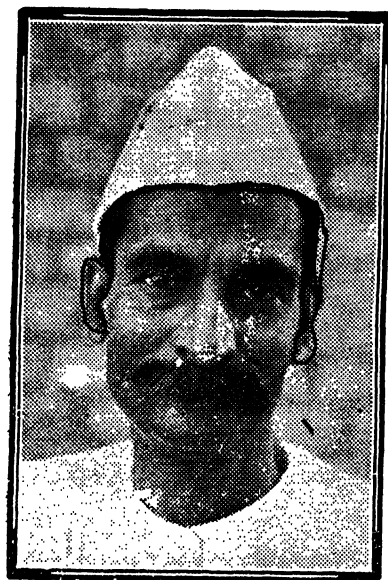
समूहीकरण की व्याख्या—लार्ड वेवल ने नेहरूजी से कहा था कि “मियाँ जिना ने मुझे यह वचन दिया है कि मुसलिम लीग मध्यवर्ती सरकार और विधान-सम्मेलन में सहयोग करने के लिए शामिल होगी।” इसी आश्वासन पर कांग्रेसी दल ने सरकार में लीग के शामिल होने का स्वागत किया था। पर सरकार के भीतर तो दोनों में असहयोग चल ही रहा था, अब मियाँ जिना ने कहा कि “जबतक कुछ बातों का स्पष्टीकरण न हो जाय, ९ दिसम्बर से विधान-सम्मेलन का जो अधिवेशन आरम्भ होने वाला है, वह स्थगित कर दिया जाय।” इसे कांग्रेस ने स्वीकार न किया। इस पर मियाँ जिना ने यह घोषित किया कि “ऐसी दशा में मुसलिम लीग विधान-सम्मेलन में भाग न लेगी।” इस तरह अमात्यमण्डल की स्थायी योजना भी खटाई में पड़ गई। मुख्य झगड़ा था उसकी प्रांतों के समूहीकरण वाली धाराओं के सम्बन्ध में। इसे निवटाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने दो कांग्रेसी, दो लीगी और एक सिख प्रतिनिधि के साथ वाइसराय को लन्दन निमंत्रित किया। इसकी घोषणा करते हुए भारतसचिव लार्ड पेथिक लारेंस ने पार्लमेण्ट में कहा कि “प्रतिनिधियों को बुलाने का एक मात्र प्रयोजन है कांग्रेस और लीग के बीच विवादग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में समझौता कराने का।” पहले तो कांग्रेस ने निमंत्रण अस्वीकृत कर दिया। पर प्रधान मंत्री मिस्टर एट्लो के विशेष आग्रह करने पर नेहरूजी जाने को तैयार हुए। सिखों की ओर से सरदार बलदेवसिंह और लीग की ओर से मियाँ जिना

तथा मियाँ लियाक़त अली गये। लन्दन में कई दिन तक बहुत विवाद चलता रहा। अन्ततः ब्रिटिश सरकार का यह वक्तव्य प्रकाशित हुआ कि “विधान-सम्मेलन में सब दलों का सहयोग प्राप्त करना इस सम्मेलन का उद्देश्य था। जो कठिनाई उपस्थित हुई वह अमात्यमण्डलयोजना की प्रान्तों के समूहीकरण धाराओं के सम्बन्ध में है। अमात्यमण्डल का निरन्तर यह मत रहा कि समूहों के निर्णय, किसी समझौते के अभाव में, समूहों के प्रतिनिधियों के साधारण बहुसंख्यक मतों द्वारा किये जायँ। मुसलिम लीग ने यह मत स्वीकार कर लिया किन्तु कांग्रेस ने दूसरा मत प्रस्तुत किया। उसका कहना है कि समस्त योजना पढ़ने में वास्तविक अर्थ यह निकलता है कि प्रांतों को समूह निर्माण और अपने निजी विधान दोनों के बारे में निर्णय करने का अधिकार है। विधान-सम्मेलन को सफलता केवल स्वाकृत कार्य-पद्धति द्वारा ही सम्भव है। यदि कोई विधान किसी ऐसे सम्मेलन द्वारा तैयार किया गया हो, जिसमें भारतीय जनता के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व न हो, तो सम्राट् सरकार यह कभी भी इरादा नहीं रखती और कांग्रेस भी कह चुकी है कि वह भी विचार नहीं रखती कि ऐसा विधान देश के किसी अनिच्छुक भाग पर लादा जाय।”

यह व्याख्या सर्वथा लीग के पक्ष में हुई और समस्त योजना सफल या विफल बनाने की कुंजी मियाँ जिना के हाथ में आ गई। “अनिच्छुक प्रांतों पर कोई विधान लादा न जायगा” कांग्रेस अपने इस कथन से फँस गई। ब्रिटिश सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि लीग विधान-सम्मेलन में शामिल नहीं होती तो उसका निर्णय ब्रिटिश सरकार मानने के लिए बाध्य नहीं। ब्रिटिश सरकार की इस व्याख्या का आसाम और सिखों की ओर से घोर विरोध किया गया। पर कांग्रेस ने इसके सम्बन्ध में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। उसकी ओर से सब मामला संघन्यायालय में भेजने पर जोर दिया जाने लगा।

विधान-सम्मेलन आरम्भ—पूर्व निर्णय के अनुसार विधान-सम्मेलन बिना लीगी सदस्यों के ही ९ दिसंबर से नयी दिल्ली में आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम सदस्यों में सबसे वयोवृद्ध श्री सच्चिदानन्द सिंह सम्मेलन के अस्थायी अध्यक्ष चुने गये। उनकी अध्यक्षता में सम्मेलन के स्थायी अध्यक्ष डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद सर्व-

सम्मति से चुने गये। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि “सम्मेलन सर्वोच्च सत्ता-प्राप्त स्वतः स्वाधीन संघटन है। उसे अधिकार है कि जो बन्धन या नियन्त्रण



उस पर लदे जायें वह उन्हें दूर फेंक दे। मुझे आशा है कि आप संसार के सम्मुख ऐसा विधान उपस्थित करेंगे, जिसमें प्रत्येक भारतीय के लिए समान सुविधा और स्वतन्त्रता रहेगी। किसी भी जाति या वर्ग के साथ पक्षपात न होगा वरन् प्रत्येक भारतीय नर-नारी के लिए अभ्युदय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। लीगी सदस्यों के आसन रिक्त रहने का मुझे दुःख है, पर मुझे आशा है कि हमारे लीगी दोस्त शीघ्र आकर अपना आसन ग्रहण करेंगे और विधान बनाने में अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।”

डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद

लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव—

विधान-सम्मेलन के सामने नेहरूजी ने विधान के लक्ष्य के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रखा। बहस में कुछ लोगों ने यह सुझाव रखा कि “लीगी और राज्यों के प्रतिनिधि विधान-सम्मेलन में शामिल नहीं; अतः वह अधूरा है। ऐसी दशा में प्रस्ताव पर अंतिम निर्णय कुछ समय तक स्थगित रहना चाहिए।” पर अन्ततः वही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जो इस प्रकार है—“भारत एक स्वतंत्र, अधिपति या सर्वशक्तिसम्पन्न जनतंत्र (रिपब्लिक) रहेगा। उसमें ब्रिटिश भारत, देशी राज्य तथा अन्य प्रदेश जो सम्मिलित होना चाहें, उनका एक संघ बनाया जायगा। ये प्रदेश अपनी वर्तमान सीमाओं या उन सीमाओं के भीतर

जिन्हें विधान-सम्मेलन निर्धारित करे स्वायत्त सत्ताप्राप्त राज्य होंगे। उन विषयों या अधिकारों को छोड़ कर जो भारत की सङ्घ सरकार के हाथ में रहेंगे, उन्हें सभी अधिकार प्राप्त रहेंगे। स्वतंत्र भारत, उसके अंगभूत प्रान्तों तथा शासन-संस्थाओं की शक्ति और अधिकार का मूलस्रोत जनता होगी। प्रत्येक नागरिक के साथ पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय होगा और उस कानून की दृष्टि से समान पद तथा उन्नति के लिए समान अवसर दिया जायगा। कानून तथा सदाचार के अन्तर्गत सब को विचार, भावना, विश्वास, व्यवसाय और मिलन की स्वतंत्रता रहेगी। अल्पसंख्यकों और पिछड़े क्षेत्रों तथा कार्यों के समुचित संरक्षण की व्यवस्था होगी।” प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए नेहरू जी ने कहा कि “आज हम यहाँ युगों को सन्धि पर खड़े हैं, मेरा मन भारत के पाँच हजार वर्ष के इतिहास, उस इतिहास के अरुणोदय की ओर जा रहा है, जो मनुष्यता का भी अरुणोदय है। वह उसको उठाता भी है और दबता भी। क्या मैं इस योग्य हूँ? फिर मैं भविष्य की ओर, महान् भविष्य की ओर भी देखता हूँ और इस महान् अतीत और इस महत्वा भविष्य के बीच इस वर्तमान की तलवार की धार पर खड़ा होकर अपने महान् कर्तव्य के बोझ से कुछ लड़खड़ा भी जाता हूँ।”

व्याख्या पर विवाद—अमात्यमण्डल-योजना के प्रान्तों के समूहीकरण संबंधी अंश पर ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई ६ दिसम्बर वाली व्याख्या पर देश-भर में बड़ा कटु विवाद छिड़ गया। उक्त व्याख्या से लीग का हौसला बढ़ गया। मध्यवर्ती सरकार के लीगी वाणिज्य मन्त्री मियाँ चुँदरीगर ने अपने एक भाषण में कहा कि “ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेसी व्याख्या अस्वीकार कर दी। बात यह है कि अब उसने मुसलिम लीग के अधीन संघटित मुसलिम जनता की शक्ति एवं दृढ़ता को अच्छी तरह समझ लिया है।” कांग्रेस ने संघन्यायालय द्वारा निर्णय करने का प्रस्ताव रखा था, पर ब्रिटिश सरकार ने उसे अस्वीकृत कर दिया। १६ दिसम्बर को ब्रिटिश पार्लमेण्ट की लार्ड सभा में भारतसचिव लार्ड पेथिक लारेंस ने घोषित किया कि “६ दिसम्बरवाले वक्तव्य में सम्राट् सरकार की व्याख्या स्पष्ट कर दी गई है। वह चाहती है कि सभी दलवाले उसे स्वीकार कर लें। मैं साफ साफ कह देना चाहता हूँ कि सम्राट् सरकार अपनी

व्याख्या पर दृढ़ है और वह उसपर से हटने वाली नहीं, चाहे उसे संघन्यायालय में क्यों न पेश किया जाय ।” इधर विधान-सम्मेलन में सरदार पटेल ने खुले तौर पर घोषित कर दिया कि “सम्राट् सरकार की ६ दिसम्बरवाली व्याख्या मान्य नहीं ।” सीमाप्रान्त की ओर से कहा गया कि “उसे पंजाब के साथ सम्मिल करने में कोई न्याय नहीं, वह इस तरह का समूहीकरण कदापि नहीं मान सकता ।” आसाम ने भी घोषित किया कि “बंगाल के साथ सम्मिल होना उसे स्वीकृत नहीं” और अपने प्रतिनिधियों को विधान सम्मेलन में भाग न लेने का आदेश दिया । सिखों ने भी ब्रिटिश व्याख्या का घोर विरोध किया । स्वयं गांधीजी ने आसाम तथा सिखों को सलाह दी कि “यदि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की व्याख्या मान ले तो उन्हें उसके विरुद्ध सत्याग्रह करना चाहिए । कांग्रेस संघन्यायालय के निर्णय पर जोर दे रही है पर उसका निर्णय भी कांग्रेस के विरुद्ध ही होगा, क्योंकि वह न्यायालय अंग्रेजों की ही रचना है ।” गांधीजी के इस सुझाव पर मियाँ जिना ने कहा कि “उनकी बात का कोई ठिकाना नहीं, वे जैसा अवसर देखते हैं कह देते हैं ।”

कांग्रेस-रुख में परिवर्तन—व्याख्या का प्रश्न लेकर कांग्रेस कार्यसमिति में इस समय दो दल हो गये थे । अधिकांश सदस्य उसे मान लेने के पक्ष में थे । उन्हें आशा थी कि “यदि व्याख्या मान ली गई तो विधान-सम्मेलन में लीग भी शामिल हो जायगी और विधान बनाने में सहयोग प्रदान करेगी ।” उन्होंने गांधीजी को भी समझा-बुझा कर अपने पक्ष में कर लिया । ६ जनवरी १९४७ को नयी दिल्ली में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई । उसने बहुमत से ब्रिटिश व्याख्या स्वीकार करनेवाला नेहरूजी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । प्रस्ताव उपस्थित करते हुए उन्होंने कहा कि “हमारे सामने मुख्य प्रश्न विधान-सम्मेलन बनाये रखना है । मुसलिम लीग के लिए हम उसका द्वार खुला रखेंगे । हमें ऐसी स्थिति न पैदा करनी चाहिए कि कोई भी हमारे ऊपर ब्रिटिश योजना भंग करने का दोषारोपण कर सके ।” प्रस्ताव का विरोध करते हुए युक्तप्रान्तीय असेम्बली के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने कहा कि “कांग्रेस ऐसा निर्णय कर के एक दो सीढ़ी नीचे गिर गई ।” समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण

ने कहा कि “इस तरह तो कांग्रेस ने पाकिस्तान स्वीकार कर लिया।” श्री सुभाष-चन्द्र बसु के बड़े भाई श्री शरच्चन्द्र बसु ने तो क्षुब्ध होकर कांग्रेस महासमिति की सदस्यता से इस्तीफा ही दे दिया। अग्रगामी दल के नेता सरदार शार्दूल सिंह कवीश्वर ने कहा कि “कांग्रेस का यह निर्णय वस्तुतः लीग के सामने उसका आत्म-समर्पण है।” केन्द्रीय अकाशी दल और अखिल भारतीय सिख संघ के अध्यक्ष बाबा खड़ग सिंह ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि “ब्रिटिश व्याख्या मान कर कांग्रेस ने विभाजन-सिद्धांत पर केवल स्वीकृति ही नहीं दी, अल्पसंख्यकों के प्रति घोर विश्वासघात भी किया।”

गांधीजी की बङ्गालयात्रा—बंगाल की दशा से चिन्तित होकर गांधीजी पहले कलकत्ते गये। उन्हीं दिनों बिहार में उपद्रव आरम्भ हो गया। इसपर बिहार के हिंदुओं के हृदय-परिवर्तन के लिए उन्होंने आमरण अनशन करने का विचार किया। परन्तु बिहार का उपद्रव शांत हो जाने तथा लोगों के समझाने-बुझाने पर उन्होंने वह विचार त्याग दिया। कलकत्ते से वे पूर्व बङ्गाल गये, वहाँ स्त्रियों के मुख से अत्याचार-बलात्कार की कहानियाँ सुनकर उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा। जब तक शांति स्थापित न हो जाय उन्होंने पूर्व बङ्गाल में ही रहने का निश्चय किया। साथ ही २ जनवरी से उन्होंने पूर्वी बङ्गाल के गाँवों की ऐतिहासिक पैदल यात्रा आरम्भ की। उनका नारा था ‘कलूंगा या मलूंगा’। वे इस तरह पैदल चल कर कभी कभी किसी मुसलमान के यहाँ ठहर जाते थे और उसे अपने उच्च आदर्शों से प्रभावित करते थे। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने अपने साथ पुलिस रखना स्वीकृत न किया था, पर तब भी सरकार की ओर से उनसे कुछ दूर रह कर सशस्त्र पुलिसदल रखा के लिए बराबर तैनात रहता था। मुसलमानों की असहनशीलता का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। उनकी एक प्रार्थना-सभा में ज्यों ही रामधनु आरम्भ हुई मुसलमान उठ कर चल दिये। उस पर उन्होंने कहा कि “अब मुझे अपनी स्थिति मालूम हुई। मुसलमान समझते हैं कि ईश्वर का नाम केवल खुदा है पर उसके नाम तो अनेक हैं। मुझसे कहा गया था कि पाकिस्तान में सब को साम्प्रदायिक स्वतंत्रता रहेगी। परन्तु मैंने आज जो यहाँ देखा वह तो कुछ दूसरी ही चीज है। यहाँ हिंदुओं से यह कामना की जा रही है

कि वे हिंदुत्व भूल जायँ और ईश्वर को खुदा कह कर पुकारें ।” उनकी इस यात्रा का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा पर जो वे चाहते थे वह न हो सका । हिंदुओं के प्रति मुसलमानों की असहिष्णुता बनी रही और वे उन्हें बराबर परेशान करते रहे ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—१९२५ में नागपुर में यह संस्था स्थापित हुई । इसके संस्थापक डाक्टर केशव बलिराम हेडगेवार थे, जिनका जन्म एक सनातनी कुटुम्ब में हुआ था । देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार की संस्थाओं में वे बराबर भाग लेते थे । कांग्रेस के भी वे बहुत दिनों तक सदस्य रहे थे । हिन्दू समाज में पैली हुई दुर्बलता, विशृंखलता, परस्पर ईर्ष्या-द्वेष एवं कलह देख कर वे बहुत खिन्न हुए और उन्हें दूर करने की दृष्टि से ही उन्होंने उक्त संघटन की नींव डाली । उनका मत था कि “भारत की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व से भिन्न नहीं; हिन्दू सम्प्रदाय नहीं राष्ट्र है । भारतीय अथवा हिन्दू राष्ट्र का वही घटक है, जो यहाँ की परम्परागत संस्कृति का पुजारी हो, जो भारत को अपनी मातृभूमि तथा सर्वस्व समझता हो और जिसका किसी भी विदेशी राष्ट्र से ममत्व का सम्बन्ध न हो ।” पहले तो इसमें दो ही चार व्यक्ति शामिल हुए पर धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ चला । १९४० में उनकी मृत्यु हो जाने पर उनकी ही इच्छा से श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी) सरसंघसंचालक नियुक्त हुए । उनके नेतृत्व में संघ का बड़ा विस्तार हुआ । विद्यार्थियों में वह बड़ा लोकप्रिय बन गया । उसका ध्वज भगवा था, उसके स्वयंसेवक काली टोपी, सफेद कमीज तथा जाँघिया पहनते थे । उसके अनुशासन के नियम बड़े कठोर थे । उसके स्वयंसेवक कवायद करते थे, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता था । कवायद के आरम्भ तथा अन्त में वे अपने ध्वज को प्रणाम अर्पित करते थे । उनके राष्ट्रीय गीत बड़े जोशीले होते थे । एक साथ दस दस हजार स्वयंसेवक का प्रदर्शन होता था । साम्प्रदायिक दंगों में हिन्दुओं के बचाने में उसके स्वयंसेवक बड़ा साहस दिखलाते थे । मुसलमानों की धारणा हो गई थी कि यह संघटन उन्हीं के विरुद्ध बनाया गया है । कहा जाता था कि “वह एक निजी सैनिक संघटन है और गुप्त रूप से शस्त्रों का संग्रह करता है । “सिन्ध की लीगी सरकार ने उसे गैरकानूनी घोषित करने का कई बार विचार किया ।

लीगी नेशनल गार्ड—इन्हीं दिनों लीग की ओर से भी 'नेशनल गार्ड' नाम से एक स्वयंसेवक दल सङ्घटित हुआ था। इस दल के लोग कौजी वर्दी पहन कर कवायद करते थे, उनके पास गुप्त शस्त्रास्त्र भी रहते थे। कहा जाता था कि इसके रूप में लीग अपनी निजी सेना तैयार कर रही है। पंजाब में इसका सब से अधिक जोर था, उसके बड़े बड़े सशस्त्र जुलूस निकलते थे, जिनसे जनता आतंकित रहती थी। उपद्रव बढ़ते देख कर पंजाब सरकार ने इस पर तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दोनों का प्रदर्शन बन्द कर दिया गया।

पंजाब में लीगी आन्दोलन—लीगी नेशनल गार्ड पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाने के साथ ही लीग ने पंजाब में जोरों के साथ सत्याग्रह आन्दोलन आरंभ कर दिया। जन-अधिकारों की रक्षा करना उसका मुख्य उद्देश्य बतलाया गया और नागरिक स्वतंत्रता पर लगे सब प्रतिबन्ध उठा लेने की माँग की गई। पर उसका मुख्य उद्देश्य लीगी अध्यक्ष भियाँ इफ्तिखार उद्दीन के भाषण से प्रकट हो गया। उन्होंने लाहौर के मोची दरवाजा पर मुसलमानों की एक विराट सभा में कहा कि "हम नागरिक स्वतंत्रता के साथ साथ पाकिस्तान भी प्राप्त कर लेंगे। मुसलमानों को पंजाब का वर्तमान मंत्रिमंडल पदच्युत करना है, क्योंकि उसमें हिन्दुओं और सिखों को मिलाकर हमपर अत्याचार किया जा रहा है।" लगभग ५०० लीगी नेता गिरफ्तार कर लिये गये, परन्तु शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से उन्हें छोड़ दिया गया। इस पर उन लोगों ने फिर सत्याग्रह आरंभ किया। लगभग १ महीने तक यह आन्दोलन चलता रहा, जिसमें कई जगह उपद्रव हुए और पुलिस को गोली तक चलानी पड़ी। अन्ततः सरकार के साथ समझौता हो गया। उसमें यह तय पाया गया कि "सार्वजनिक सभाओं पर से रोक उठा ली जाय, जन-रक्षा-आज्ञा के बदले कोई कानून बनाया जाय और हिंसा के अपराधियों के अतिरिक्त आंदोलन में गिरफ्तार लीगी छोड़ दिये जायें।" इस पर लीग की ओर से बड़े जोश के साथ 'विजय दिवस' मनाया गया।

लीग की नयी माँग—जनवरी के अन्त में कराची में लीग कार्यसमिति की बैठक हुई। ब्रिटिश व्याख्या स्वीकृत करते हुए उसके एक प्रस्ताव में कहा गया कि "लीगी विधान-सम्मेलन में आमंत्रित करनेवाला कांग्रेसी प्रस्ताव 'बेइमानी से भरा

हुआ, धोखेबाजी और शब्दजाल मात्र है। कांग्रेस ने उसके द्वारा ब्रिटिश सरकार, मुसलिम लीग, और जनमत ठगने का प्रयत्न किया। विधान-सम्मेलन में, जिसमें कांग्रेस की प्रधानता है, सिद्धांत तथा कार्यविधि सम्बंधी ऐसे निर्णय किये गये हैं जो १६ मई के वक्तव्य द्वारा निर्धारित सीमा का उल्लंघन करते हैं। इस प्रकार कांग्रेस ने अमात्यमण्डल-योजना के सर्वथा विपरीत कार्य किया। अतः कार्य-समिति ब्रिटिश सरकार से अनुरोध करती है कि “अमात्यमंडल-योजना विफल हो गई। विधान सम्मेलन संबंधी चुनाव और उसका आवाहन गैरकानूनी हो गया अतः उसे विघटित कर देना चाहिए।” एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस-शासित प्रांतों में मुसलिम जनता के प्रति अत्याचारों की निन्दा की गई। उसमें कहा गया, कि “मुसलमानों के राजनीतिक भावों को ही नहीं कुचला जा रहा है, वरन् उनके आर्थिक जीवन को भी प्रत्येक प्रकार से ध्वस्त करने की चेष्टा की जा रही है। आवश्यक वस्तुओं के वितरण की जिम्मेदारी प्रांतीय सरकारों के ही ऊपर है और वे उसमें मनमानी कर रही हैं। कई प्रांतों में अल्पसंख्यक मुसलमानों को लूट, हत्या और भयंकर अग्निकाण्ड का शिकार बनना पड़ा है। प्रांतीय सरकारें उपद्रवियों को दण्ड नहीं दे रही हैं। बिहार, बम्बई, अहमदाबाद, गढ़मुक्तेश्वर आदि की घटनाएँ इसका प्रबल प्रमाण हैं।” कांग्रेसी नीति का मुसलिम लीग पर जो प्रभाव पड़ने की कई लोगों को आशां थी, लीग के इन प्रस्तावों से उसकी पुष्टि हो गई।

स्वतन्त्रता-तिथि की घोषणा—२० फरवरी को ब्रिटिश पार्लमेण्ट में प्रधानमंत्री मिस्टर एटली ने घोषित किया कि “ब्रिटिश सरकार यह स्पष्ट कह देना चाहती है कि वह जून १९४८ के पूर्व भारतीय शासन की बागडोर भारतीयों के हाथ में अवश्य सौंप देगी। वर्तमान वाइसराय लार्ड वेवल की नियुक्ति केवल युद्धकाल के लिए हुई थी। अब उनके स्थान पर लार्ड लुई माउण्ट बैटन नियुक्त किये गये हैं। वे आगामी मार्च के भीतर ही अपना कार्यभार ग्रहण कर लेंगे। यद्यपि सत्ता सौंपने की अंतिम काररवाई जून १९४८ के पहले न हो सकेगी, फिर भी इस दिशा में आरंभिक काररवाइयाँ शीघ्र ही होने लगेंगी। प्रगति की दृष्टि से १९३५ के विधान कानून के अनेक अंशों का पालन करना कठिन हो गया है। अतः सत्ता सौंपने की आवश्यक काररवाई के लिए एक नया कानून बनाया

जायगा। यदि निश्चित अवधि के पूर्व सम्पूर्ण भारतीयों का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी विधान-सम्मेलन द्वारा उचित विधान तैयार न किया जा सका तो ब्रिटिश सरकार स्वयं निश्चित करेगी कि शक्ति किसे हस्तान्तरित की जाय—केन्द्रीय सरकार को या प्रदेशविशेषों में प्रांतीय सरकारों को? यह भी सम्भव है कि सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए कोई नया ही रास्ता निकालना पड़े। देशी राज्यों पर जो प्रभुसत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथ में है वह ब्रिटिश भारत की किसी सरकारविशेष को हस्तान्तरित न करके सीधे राज्यों को सौंप दी जायगी। ब्रिटिश सरकार जिन दलों को सत्ता सौंपना चाहेगी उनके प्रतिनिधियों से समझौते की बात आरम्भ कर देगी। ब्रिटिश जनता भारतीयों के प्रति शुभ कामना व्यक्त करती है और चाहती है कि भारत अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पथ में शीघ्रातिशीघ्र प्रगति करे।”

ब्रिटिश पार्लेमेण्ट में इस घोषणा पर बड़ी बहस हुई, विरोधी दल की ओर से यह मजदूर सरकार की ‘कमजोरी ओर भूल’ बतलायी गई। स्थिति स्पष्ट करते हुए सरकार की ओर से सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा कि “प्रांतीय स्वशासनाधिकार प्रदान कर राष्ट्रवादियों को शक्ति का आस्वादन करा दिया गया, जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि राष्ट्रवादी भारतीय जनता अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए बुभुक्षित हो गई। भारत के ब्रिटिश अधिकारियों की राय लेने से ज्ञात हुआ कि जून ४८ तक ही हम लोग किसी प्रकार भारतीय शासन में हाथ लगाये रह सकते हैं। उसके बाद भीषण अवस्था उत्पन्न हो सकती है। अतः स्वतंत्रता प्रदान की अवधि निश्चित कर देना ही उचित जान पड़ा।”

घोषणा का प्रभाव—स्वतंत्रता प्रदान की अवधि निश्चित कर देने का स्वागत किया गया, पर साथ ही यह धारणा भी बन गई कि देश का विभाजन हुए बिना नहीं रह सकता। नेहरूजी ने घोषणा पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि “ब्रिटिश सरकार का प्रस्तुत निश्चय बुद्धिमानी एवं साहस का परिचायक है। यह घोषित करना कि जून १९४८ में सारी सत्ता भारतीयों को सौंप दी जायगी, ब्रिटिश सरकार ने समस्त भ्रान्तियों और सन्देहों का निर्मूलन कर दिया। हम लोगों के लिए यह खुली चुनाती है, और अब यह हमारा कर्तव्य है कि उसे स्वीकार करें।” लीग के मुख-पत्र ‘डान’ ने लिखा कि “ब्रिटिश सरकार

की इस घोषणा से स्पष्ट है कि विधान-सम्मेलन का वर्तमान कार्य व्यर्थ है। मध्यवर्ती सरकार के सम्बन्ध में कुछ न कहना कांग्रेस के मुँह पर तमाचा है।” हिन्दू महासभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मण बलवन्त भोपटकर ने घोषणा ‘खतरनाक’ बतलाते हुए कहा कि “इसके द्वारा भारत केवल दो भागों में ही नहीं, अनेक भागों में बँट जायगा। हिन्दुओं को इससे सावधान रहना चाहिए।” ब्रिटिश पत्रों ने यह आशा प्रकट की कि “कांग्रेस इस समय समझदारी और नीतिमत्ता से काम लेते हुए विधान-सम्मेलन में लीग का शामिल होना सुगम बना देगी।” घोषणा का अभिप्राय यही था कि या तो कांग्रेस लीग से समझौता कर ले या राजसत्ता दोनों की सरकारों को सौंप दी जायगी। साथ ही देशी नरेशों को भी कह दिया गया कि “जून १९४८ के बाद वे स्वतन्त्र हो जायँगे।” इस तरह देश के विभाजन का द्वार खोल दिया गया।

नमक-कर की समाप्ति—यह ध्यान रखने की बात है कि १९३१ का गांधीजी का सत्याग्रह नमक-कर लेकर ही चला था। तब से गांधीजी तथा कांग्रेस बराबर उसे रद्द कराने का प्रयत्न करती रही, पर सफलता न मिली। नेहरूजी के नेतृत्व में मध्यवर्ती सरकार स्थापित होने पर यह आशा की गई कि उसके द्वारा यह कार्य शीघ्र ही होगा। पर सरकार में लीग का प्रवेश होने पर अड़चन खड़ी हो चली। अर्थ-विभाग लीगी प्रतिनिधि मियाँ लियाक़त अली ख़ाँ को सौंपा गया। नमक-कर से लगभग ८ करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती थी। वे इतनी बड़ी रकम हाथ से जाने देने के लिए राजी न थे। पर सरकार के कांग्रेस सदस्यों को उस पर बहुत जोर देते देख कर उन्होंने इसे मान लिया और १९४७-४८ के बजट में उसे उठा देने की घोषणा की। उनके इस बजट में कुल मिलाकर ५६॥ करोड़ रुपये का घाटा दिखलाया गया, जिसकी पूर्ति के लिए एक लाख रुपये से अधिक व्यापारिक आय पर २५ प्रतिशत कर लगाने का निश्चय किया गया।

पंजाब के प्रधान मन्त्री का इस्तीफा—३ मार्च को पंजाब के प्रधान-मन्त्री सर खिन्न हयात ख़ाँ ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि “ब्रिटिश सरकार ने अपने नयी घोषणा में यह स्पष्ट घोषित

कर दिया है कि प्रान्तों के सभी दल देश की प्रस्तुत समस्याओं का समान रूप से समाधान करें और परस्पर समझौता कर शासनकार्य चलायें। इसे ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं त्यागपत्र दे दूँ ताकि मुसलिम लीग को मन्त्रिमण्डल में प्रविष्ट होकर अन्य दलों से आवश्यक समझौता करने का सुअवसर प्राप्त हो। मैं पहले ही से मुसलमानों के स्वभाग्य-निर्णयाधिकार का पक्षपाती हूँ।” इससे लोगों को ऐसा अनुमान हो ने लगा कि ‘जानबूझ कर पंजाब में लीग द्वारा आन्दोलन कराया गया और समझौता कराने का बहाना लेकर लीग के सरकार में प्रवेश का द्वार खोल दिया गया।’ गवर्नर ने लीगी नेताओं को नयी सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। इसपर कांग्रेसी दल तथा सिखों में बड़ा क्षोभ फैला और दोनों ने ११ मार्च को ‘पाकिस्तान विरोधी-दिवस’ मनाने का निर्णय किया। लाहौर में हिन्दू-सिख छात्रों के जुलूस यह नारा लगाते हुए कि ‘साम्प्रदायिक सरकार न बनने देंगे’ निकलने लगे। पुलिस को कई बार गोली चलायी पड़ी, जिससे कितने ही लोगों के प्राण गये। लीग को सरकार बनाने में सफल होते न देख कर गवर्नर ने १९३५ के विधान की धारा ९३ के अनुसार प्रान्त का शासन अपने हाथ में ले लिया।

गृहयुद्ध की आग—पंजाब के मुसलमानों ने अल्पसंख्यक हिन्दू तथा सिखों पर खुलेआम आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। चारों ओर मारकाट, लूटपाट, गृह-दाह और स्त्रियों का अपहरण चल पड़ा। चलती हुई रेखाडियाँ रोक कर लूट ली गईं। लीगियों की ओर से कहा गया कि “बिहार में मुसलमानों पर जो अत्याचार हुए उसकी यह प्रतिक्रिया है।” पर वस्तुतः पंजाब में इस समय जो हुआ, उसने पूर्वी बंगाल की काली करतूतों को भी मात कर दिया। अमृतसर में भाषण करते हुए नेहरूजी ने कहा कि “आततायियों ने जो कुछ किया वह सर्वथा अमानुषिक है। यहाँ की ध्वंसात्मक काररवाइयों का राजनीति से गहरा सम्बन्ध है। पर देश की स्वतन्त्रता इन दंगों के कारण रुक नहीं सकती।” गवर्नर की ओर से शान्ति स्थापन के लिए कई विशेष आज्ञाएँ जारी की गईं, सेना भी बुलाई गई, पर उपद्रवों का जोर बढ़ता ही गया। इसकी प्रतिक्रिया सीमाप्रान्त में भी हुई और वहाँ भी पंजाब के दंग का लीगी आन्दोलन चल

पड़ा। बिहार के मुसलमानों पर हिन्दुओं के अत्याचार की अतिरंजित कथाएँ वहाँ फैलाई गईं। पंजाब के हत्याकाण्ड में सीमाप्रान्त के कितने ही पठानों ने प्रमुख भाग लिया। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर सिखों और हिन्दुओं ने भी डँटकर मुकाबला किया। इस तरह पंजाब में पूर्ण रूप से गृह-युद्ध चल पड़ा और यह भय होने लगा कि इसकी लपेट में कहीं समस्त देश न आ जाय।

लार्ड वेवल का प्रस्थान—भारत से प्रस्थान करने के पूर्व २१ मार्च को लार्ड वेवल ने अपने रेडियो भाषण में कहा कि “आपके सामने खतरनाक और मुसीबत का समय आनेवाला है, किन्तु उसपर आप विजय पायेंगे। भारत में १३ साल से भी अधिक मेरी जिन्दगी बीती है। इन वर्षों में मुझसे जो गलती हुई, उसे मैं समझता हूँ। किन्तु आप लोग जानते ही होंगे कि मैं सदा भारत-वासियों की भलाई और उनके स्वराज्य के लिए प्रयत्न करता रहा।” उनके सम्बन्ध में नेहरूजी ने कहा कि “मुझे उनके जाने का दुःख है। मैं उनका आदर करता हूँ। उनसे मतभेद अवश्य हुए, पर मुझे उनकी ईमानदारी और भारत-प्रेम पर कभी शक नहीं हुआ।” इसके विपरीत बहुतों का मत है, जैसा कि उनके कार्यों से प्रमाणित होता है कि उनकी नीति से लीग को प्रोत्साहन मिलता रहा। शिमला सम्मेलन में उन्होंने कांग्रेस और लीग के समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त रखा। लीग से बिना यह स्वीकार कराये कि वह विधान-सम्मेलन में सहयोग करेगी उसे मध्यवर्ती सरकार में प्रविष्ट कर लिया। बंगाल और पंजाब के उपद्रव दबाने में उन्होंने वह कुशलता तथा तत्परता नहीं दिखलायी जो एक योग्य सैनिक में होनी चाहिए। वे चाहते तो सेना की सहायता से शीघ्र उपद्रव दबा सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, जिससे सन्देह होता है कि उन्हें उपद्रव चलने देना ही अभीष्ट था। ब्रिटिश सरकार ने देख लिया कि उनका काम पूरा हो गया—आगे का कार्य उनसे अधिक चतुर कूटनीतिज्ञ ही कर सकता है। अतः उन्हें वापस बुलाकर उनके स्थान पर लार्ड माउण्ट बैटन को नियुक्त किया गया।

लार्ड माउण्ट बैटन का आगमन—लार्ड लुई माउण्ट बैटन का सम्बन्ध ब्रिटेन के शाही घराने से है। बर्मा के पुनर्विजय में उन्होंने बड़ी कुशलता दिखलायी थी। शिष्टता, मधुरभाषण, कार्यतत्परता उनके गुण हैं। लोगों में समझौता कराने

की उनमें विशेषता बतलायी जाती थी। वे बड़े नीतिनिपुण समझे जाते थे। सिगापुर में उनका नेहरूजी से परिचय भी हुआ था। पहले कुछ दिन नयी दिल्ली रहकर उन्होंने भारतीय परिस्थिति का अध्ययन किया था। इन्हीं सब



लार्ड माउण्ट बैटन

कारणों से उनकी नियुक्ति हुई। लन्दन से चलते समय उनकी पत्नी ने कहा कि 'यदि भारत की समस्या कोई हल कर सकता है तो वह मेरे पति ही।' भारत आकर २४ मार्च को उन्होंने पदग्रहण की शपथ ली। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि "आगे कुछ महीनों के भीतर समझौते का कोई न कोई मार्ग निकालना ही पड़ेगा। जून १९४८ तक ब्रिटिश सरकार सत्ता हस्तान्तरित करने का निश्चय कर चुकी है। अब नये वैधानिक प्रबन्ध और शासन सम्बन्धी कठिनाइयों को हल करना है। इस समय हम सब को ऐसे कार्यों तथा बातों से दूर रहना चाहिए, जिनसे आपस की कटुता बढ़ती है और

निरीह व्यक्तियों को उस कटुता के लिए अपना जीवन कर के रूप में देना पड़ता है। मैं जानता हूँ कि कितने ही लोग यह ध्येय दृष्टि में रखकर कार्य करना चाहते हैं, मैं उनकी हर प्रकार से सहायता करूँगा।"

एशियाई सम्मेलन—नयी दिल्ली में एक सम्मेलन करने के लिए नेहरूजी ने पदग्रहण करनेके कुछ ही दिन बाद सभी एशियाई राज्यों के पास निमंत्रण भेजा था। वह सम्मेलन २३ मार्च से आरम्भ हुआ। इसका अध्यक्ष पद श्रीमती सरोजिनी नायडू को दिया गया। इसमें ३० एशियाई राष्ट्रों के २३० प्रतिनिधि शामिल थे। दिल्ली के पुराने किले की भूमि पर इसके लिए विशाल पण्डाल तैयार

किया गया था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए नेहरूजी ने कहा कि “परमाणु बम के इस युग में एशिया को प्रभावशाली रूप से शान्ति के लिए कार्य करना होगा। प्राचीन साम्राज्यवाद के विलीन होने के साथ ही वे दीवारें भी ढहती जा रही हैं, जिन्होंने उसे घेर रखा था। हम ‘एकविश्व’ के आदर्श के लिए प्रयत्नशील होंगे। हम संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन करते हैं। हम संकीर्ण राष्ट्रवाद नहीं चाहते। प्रत्येक राष्ट्र में राष्ट्रीयता का स्थान है और होना चाहिए, पर उसे अन्तरराष्ट्रीय प्रगति में बाधक न बनने देना चाहिए। हम यहाँ किसी देश की आन्तरिक राजनैतिक समस्याओं पर विचार न करेंगे। हम चाहते हैं कि इस सम्मेलन के फलस्वरूप कोई ऐसी एशियाई संस्था स्थापित हो जाय, जहाँ समान हित की समस्याओं का अध्ययन किया जा सके और एशियाई राष्ट्रों में सम्बन्ध घनिष्ठतर



श्रीमती सरोजिनी नायडू

हो।” अपने दंग का यह पहला सम्मेलन था। लीग ने इसमें सहयोग नहीं दिया। उसका कहना था कि यह ‘नेहरूजी का तमाशा’ है। इसमें भाग लेने वाले मुसलिम राज्यों के प्रतिनिधियों में उसने अपना प्रचार भी खूब किया। यह सम्मेलन कई दिन तक चलता रहा। इसमें गांधीजी का भी भाषण हुआ। आर्थिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए कई समितियाँ बनायी गईं। सम्मेलन का अगला अधिवेशन तीसरे वर्ष चीन में करना निश्चित हुआ।

पंजाब तथा बंगाल विभाजन का सुभाव—कुछ सिलों द्वारा यह माँग चल ही रही थी कि पंजाब का सिल प्रदेश एक भिन्न प्रान्त के रूप में कर

दिया जाय। नेहरूजी ने एक दूसरी योजना रखी, जिसमें प्रान्तीय एकता के साथ प्रादेशिक स्वायत्त शासन व्यवस्था का सुझाव रखा गया। इसके अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार जिलों के कुछ क्षेत्र बना देने और उनमें साम्प्रदायिक अनुपात के आधार पर मंत्री नियुक्त करने की सलाह दी गई। सिखों की ओर से दो शर्तें रखी गई कि पंजाब असेम्बली में ३० प्रतिशत हिन्दू, ३० प्रतिशत सिख तथा ४० प्रतिशत मुसलिम सदस्य रखे जायें या वर्तमान तंत्र में हिन्दू अथवा सिख प्रधान मंत्री बनाया जाय। उधर बंगाल में हिन्दू महासभा के तथा अन्य कुछ नेताओं द्वारा यह आन्दोलन चला कि बंगाल के पश्चिमी तथा उत्तरी गैर-मुसलिम क्षेत्रों का एक अलग प्रान्त बना दिया जाय। राजनीति की विचित्र गति रहती है। १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा किये गये वंग-विभाजन का कितना विरोध किया गया और उसे रद्द कराने के लिए कितने जोरों का आन्दोलन चलाया गया था, पर अब स्वयं बंगालियों द्वारा ही वंग-विभाजन की माँग की जाने लगी। कांग्रेस कार्य-समिति ने भी एक प्रस्ताव द्वारा पंजाब-विभाजन का समर्थन किया। बात यह थी कि पाकिस्तान का बनना निश्चित सा जान पड़ा था, अतः सोचा यह जा रहा था कि जहाँ तक हो सके पंजाब और बंगाल के, जो दोनों प्रान्त पाकिस्तान के अन्तर्गत पड़ते थे, गैरमुसलिम क्षेत्र बचा लिये जायें। श्री शरच्चन्द्र वसु ने इसका विरोध किया। उनका कहना था 'कि इस तरह प्रान्तों की एकता नष्ट हो जायगी'।

सिन्ध में लीगी अन्याय—यद्यपि सिन्ध में लीगी सरकार बन गई थी, पर असेम्बली में उसका पूरा बहुमत न होने के कारण उसकी स्थिति डाँवाडोल रहती थी। अतः वह असेम्बली भंग करके नया चुनाव करवाया गया। गवर्नर की यह कार्रवाई सर्वथा अवैधानिक थी, पर तब भी कोई सुनवाई नहीं हुई। चुनाव में सरकारी अफसरों की ओर से लीग का खुले आम पक्षपात किया गया। फलतः लीग को पूरा बहुमत प्राप्त हुआ। इस तरह अपनी स्थिति दृढ़ कर के लीग सरकार ने हिन्दुओं के विरुद्ध नियम बनाना आरम्भ किया, सिन्ध में एक नया विश्वविद्यालय बनाने के लिए एक बिल रखा गया, उसका संघटन ऐसा रखा गया कि जिसमें हिन्दू-हितों की अवहेलना की गई। साम्प्रदायिक आधार पर नौकरियाँ के बटवारे का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार ७३ प्रतिशत नौकरियाँ मुसलमानों

को और २७ प्रतिशत गैरमुसलमानों को देना निश्चित किया गया। इसके विरोध में कांग्रेसी दल असेम्बली से उठ कर चला गया। भूमि के अधिकार और व्यापार से भी हिन्दुओं के हटाने के लिए तरह-तरह के कानून बनाये गये। सरकार की नीति से ऐसा जान पड़ रहा था कि मानों सिन्ध में अल्पसंख्यकों को कोई अस्तित्व ही नहीं। असेम्बली के लीगी दल ने अपनी एक बैठक में यह निर्णय किया कि 'सिन्ध-को स्वतन्त्र राज्य घोषित किया जाय।' पीर इलाही बख्श ने कहा कि "यदि बर्गीकरण की पद्धति पर दो प्रमुख भारतीय दलों में समझौता नहीं होता और अंग्रेज संयुक्त केंद्र को अधिकार सौंपते हैं, तो सिन्ध को भारतीय संघ से अलग रहने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।"

नेताओं से परामर्श—लार्ड माउण्ट बैटन ने दिल्ली पहुँचने के दो ही दिन बाद नेताओं से बातचीत आरम्भ की। सबसे पहले वे गांधीजी और मियाँ जिना से मिले। अन्य नेताओं से मिलने का क्रम लगभग एक महीने जारी रहा। देशी नरेशों के प्रतिनिधियों से भी मिलकर उन्होंने राज्यों के भविष्य के सम्बन्ध में बातचीत की। केन्द्रीय असेम्बली तथा परिषद् के ११ बङ्गाली सदस्यों ने बङ्गाल के तुरत विभाजन की माँग की। उनकी ओर से उपस्थित एक स्मृतिपत्र में कहा गया कि "कलकत्ता तथा बङ्गाल के अन्य भागों में लूट, हत्या, अग्निकाण्ड, बलात्कार, अबलाहरण तथा विवशतापूर्वक धर्मपरिवर्तन आदि जो दुष्कार्य हुए हैं उनकी एक मात्र जिम्मेदारी लीगी सरकार पर है। यदि शीघ्र ही प्रान्त का विभाजन न हुआ तो प्रान्त के गैर-मुसलिमों की मर्यादा, स्वतन्त्रता, संस्कृति, शिक्षा, भाषा तथा उनके धर्म एवं उनके आर्थिक साधन नष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।" साथ ही यह शिकायत भी की गई कि "मुसलिम नेशनल गार्ड एक सैनिक सङ्गठन है, जिससे प्रान्त की शान्ति तथा व्यवस्था भङ्ग होने का खतरा है।" 'जालियानवाला बाग दिवस' के अवसर पर भाषण करते हुए नेहरूजी ने कहा कि "पाकिस्तान या तो परस्पर विचार-विमर्श करने से मिल सकता है या युद्ध द्वारा। इसकी प्राप्ति का कोई तीसरा साधन नहीं। अखण्ड आ विभक्त भारत का प्रश्न शीघ्र ही तय हो जाना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त पाकिस्तान अथवा हिन्दुस्तान में स्वेच्छानुसार सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र है। यदि बङ्गाल आर पञ्जाब के कुछ भाग पृथक् होना

चाहते हैं तो उन्हें ऐसा करने से कोई गोक नहीं सकता। यह खेद की बात है कि वाइसराय को हमारे आन्तरिक मतभेद दूर करने का कार्य करना पड़ रहा है।” वैशाखी उत्सव के अवसर पर एकत्र स्त्रियों की एक विराट सभा में पञ्जाब के विभाजन का प्रस्ताव पास किया गया। समस्त जनसमूह ने व्रत लिया कि “हम अपने रक्त के अन्तिम बून्द तक पाकिस्तान के विरुद्ध संग्राम करेंगे।” पञ्जाब के राज्यों के नरेशों से आग्रह किया गया कि वे अपना पृथक् समूह संघटित करें। इस तरह मियाँ जिना के सामने खण्डित पाकिस्तान का प्रश्न उपस्थित हो गया। जिन तर्कों के आधार पर वे देश का विभाजन चाहते थे उन्हीं के आधार पर पञ्जाब तथा बङ्गाल के विभाजन की माँग की जाने लगी। वाइसराय के सामने यह जटिल समस्या उपस्थित हो गई।

शान्ति के लिए अपील—वाइसराय के विशेष, अनुरोध से गांधीजी तथा मियाँ जिना की ओर से १५ अप्रैल को एक अपील प्रकाशित हुई। उसमें कहा गया कि “हिंसा और उपद्रवों की हाल की घटनाओं पर, जिनसे भारत का नाम कलंकित हुआ है और निर्गोष जनता को कल्पनातीत कष्ट एवं क्षति पहुँची है, हम दुःख प्रकट करते हैं और आक्रमणकारी अथवा आक्रान्त की छान-बीन किये बिना ही हम ऐसे सभी दुष्कृत्यों की हृदय से निंदा करते हैं। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए बलप्रयोग अग्राह्य तथा निन्दनीय ठहराते हुए हम समस्त सम्प्रदायों तथा समुदायों से आग्रह करते हैं कि न केवल हिंसात्मक कार्यों वरन् हिंसाप्रेरक शब्दों के प्रचार भी अविलम्ब बन्द होने चाहिए।” परन्तु इस अपील का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बंगाल तथा पंजाब में उपद्रव बराबर जारी रहे, सीमाप्रान्त में भी लीगी आन्दोलन चल पड़ा और नये चुनाव की माँग की जाने लगी। लीग की ओर से पंजाब तथा बङ्गाल के बटवारे का जोरदार विरोध आरंभ हुआ।

पेथिक लारेंस का इस्तीफा—अप्रैल में भारत-सचिव लार्ड पेथिक लारेंस ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। अपने पत्र में उन्होंने ब्रिटिश प्रधान-मंत्री मिस्टर एटली को लिखा कि “अब भारत को सच्चा समर्पण करना है, इसलिए भारत-सचिव का कार्य अत्यधिक बढ़ता जायगा। मैं वृद्ध हूँ, यह कार्य किसी युवक को सौंपना चाहिए।” इस्तीफा स्वीकार करते हुए मिस्टर एटली ने लिखा कि

“आपने भारतीय मामलों के सुलझाने में जो तत्परता दिखायी उसके लिए आप की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।” लार्ड पेथिक लारेंस के स्थान पर लार्ड लिस्टोवेल, जो पहले पोस्टमास्टर-जनरल थे, नियुक्त किये गये।

धर्म-युद्ध-आन्दोलन—देश में ‘भारतधर्ममहामंडल’ और ‘वर्णाश्रम स्वराज्य संघ’ दो प्रमुख सनातनी संस्थाएँ रहीं। पंजाब में ‘सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा’ का बहुत जोर था और मालवीयजी के प्रयत्न से ‘सनातनधर्म महासभा’ भी स्थापित हुई थी। १९४० में श्री

स्वामी करपात्रीजी (हरिहरानंद सरस्वती) की प्रेरणा से धर्मसंघ की स्थापना हुई। ‘धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो’ उसके इन चार नारों में ही उसका लक्ष्य तथा, उसकी समस्त नीति आ जाती है। थोड़े ही दिनों में इसका बहुत प्रचार बढ़ गया। दिल्ली, कानपुर, काशी तथा बम्बई में विश्वशान्ति के संकल्प से इसके बड़े बड़े यज्ञ हुए। ‘हिन्दू कोड’ जैसे बिलों द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करने का इसने घोर विरोध किया, प्रस्तावित देश-विभाजन के



स्वामी करपात्रीजी

विरुद्ध भी इसने जोरदार आवाज उठायी और विधान-सम्मेलन में सनातनी हिन्दुओं के प्रतिनिधित्व तथा कानून द्वारा गोवध बन्द करने की माँग की। जनवरी १९४७ में इसका वार्षिक अधिवेशन बम्बई में हुआ, जिसमें यह निर्णय किया गया कि “यदि उक्त माँगें पूरी न हों तो अक्षय तृतीया से शान्तिपूर्ण सत्याग्रह के रूप में धर्मयुद्ध आरम्भ किया जाय।” इस बीच भारत-सरकार से

बराबर लिखा-पढ़ी चलती रही, कोई सफलता न मिलने पर २८ अप्रैल से दिल्ली में यह आन्दोलन आरम्भ हुआ। पहले ही दिन श्री स्वामीजी लगभग ५० धर्म-वीरों सहित गिरफ्तार कर लिये गये। स्वामीजी पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें एक मास की कैद का दण्ड देकर लाहौर भेज दिया गया। धर्मयुद्ध की मुख्य माँगें थीं—“गोवध बन्द हो, भारत अखण्ड हो, धर्म में हस्तक्षेप न हो, मन्दिरों की मर्यादा भंग न हो, विधान शास्त्रीय हो।” धर्मवीरों के जत्थे गिरफ्तार होने लगे, उनपर लाठी-प्रहार भी हुआ। साथ में दण्ड ले जाने की अनुमति न मिलने पर श्री स्वामी कृष्णानन्दजी ने जेल में अनशन किया, जिससे उनके प्राण गये। गिरफ्तारी के लिए धर्मवीरों की संख्या बढ़ती देखकर उन्हें गिरफ्तार करके दूर ले जाकर जंगल में छोड़ देने का उपाय निकाला गया, पर आन्दोलन बराबर जोर पकड़ता गया। कुल मिला कर लगभग ५ हजार गिरफ्तारियाँ हुईं। आन्दोलन ने विदेशी पत्रकारों का भी ध्यान आकृष्ट किया। अधिकारियों की ज्यौदती होते हुए भी वह शान्तिपूर्ण तथा अहिंसात्मक रहा। जेल से छूटने के बाद स्वामीजी फिर कई बार गिरफ्तार हुए किन्तु उन्हें छोड़ दिया गया। जिस दिन देश-विभाजन की घोषणा हुई, केवल उसी की ओर से दो सौ धर्मवीरों ने वाइसराय-भवन के सामने प्रदर्शन किया और वे गिरफ्तार हुए। दिल्ली में साम्प्रदायिक उपद्रवके उग्र रूप धारण करने पर सरकार को संकट में न डालने की दृष्टि से वह स्थगित कर दिया गया।

ब्रिटिश सरकार से परामर्श—प्रमुख राजनीतिक दलों से परामर्श करके लार्ड माउण्ट बैटनने एक योजना तैयार की। ब्रिटिश सरकार से वे बीच-बीच फोन द्वारा परामर्श करते थे। योजना की रूप-रेखा निश्चित हो जाने पर उसके सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए १८ मई को वे स्वयं लंदन गये। जाने के १ दिन पूर्व उन्होंने नयी दिल्ली में फिर नेताओं से बातचीत की। इस बीच मियाँ जिना की माँगें बढ़ती गईं। पंजाब और बंगाल के विभाजन के सम्बन्ध में उन्होंने २१ मई को एक पत्र-प्रतिनिधि से कहा कि “हिन्दुओं तथा सिखों को याद रखना चाहिए कि सबसे अधिक क्षति उन्हीं को उठानी पड़ेगी। उनकी माँग मूर्खतापूर्ण है, विभाजन से दोनों प्रान्त के दोनों भागों में अभूतपूर्व

कटुता उत्पन्न हो जायगी। यदि उक्त दोनों प्रान्तों का विभाजन किया तो गया, निश्चय ही भविष्य में अशान्ति होगी। मुसलमान प्रत्येक इच्छा भूमि के लिए लड़ें मरेंगे, मैं इस विभाजन का पूर्ण विरोधी हूँ और इसे सहन न करूँगा।” साथ ही उन्होंने सेना के बटवारे की माँग की और यह भी कहा कि “पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान का सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक गलियारा चाहिए।” उधर पंजाब में उपद्रव बढ़ता ही गया। मई के अन्त में लार्ड माउण्ट बैटन लन्दन से वापस आ गये और २ जून को नयी दिल्ली में प्रमुख नेताओं के सामने ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत अपनी योजना उपस्थित की।

स्वतंत्रता और विभाजन की घोषणा—३ जून को सम्राट सरकार की ऐतिहासिक घोषणा हुई। उसमें कहा गया कि “ब्रिटिश सरकार की सदा यही इच्छा रही कि भारतीय जनता स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करे। यदि भारत के दिलों में एक मत होता तो यह कार्य बड़ी सरलता से हो गया होता। किन्तु ऐसा न होने के कारण भारतीय जनता की इच्छा जानने का उपाय ढूँढ़ने का भार ब्रिटिश-सरकार पर आया। वह स्पष्ट कह देना चाहती है कि उसका इरादा भारत का अन्तिम विधान बनाने का नहीं, यह काम भारतीयों का ही है। न इस योजना में ही कोई ऐसी बात है जिससे भारत की अखण्डता के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में समझौता होने में कोई बाधा पड़े। ब्रिटिश-सरकार का उद्देश्य वर्तमान विधान सम्मेलन का कार्य रोकना नहीं, पर उसका बनाया विधान देश के उन भागों पर लागू नहीं हो सकता जो उसे स्वीकार नहीं करना चाहते। ऐसे भागों के निवासियों का मत जानने का व्यावहारिक उपाय इस प्रकार है—यूरोपियन सदस्यों को छोड़कर बंगाल तथा पंजाब प्रान्तीय असेम्बलियों की दो अलग-अलग भागों में बैठक होगी। एक भाग में मुसलिम बहुमतवाले जिलों के प्रतिनिधि बैठेंगे और दूसरे में शेष प्रान्त के। इन भागों के सदस्यों को इस पर मत देने का अधिकार होगा कि प्रान्त का विभाजन हो या नहीं। यदि किसी एक भाग ने भी साधारण बहुमत से विभाजन का समर्थन किया तो प्रान्त का विभाजन हो जायगा और उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध किया जायगा। यदि विभाजन निश्चित हुआ तो दोनों भागों को यह भी निर्णय करना होगा कि वे वर्तमान विधान-सम्मेलन

में जायँ या दूसरे में। इसीतरह यूरोपियन सदस्य छोड़कर सिंध प्रान्तीय असेम्बली भी निश्चय करेगी कि विधान-सम्मेलन के सम्बन्ध में कौन-सा मार्ग ग्रहण किया जाय। सीमाप्रान्त की स्थिति असाधारण है, अतः वहाँ की असेम्बली के मतदाताओं से यह पूछा जायगा कि वे किस विधान-परिषद् में शामिल होना चाहते हैं। यह मत-गणना गवर्नर-जेनरल के आदेश तथा प्रान्तीय सरकार की राय से होगी। बलूचिस्तान को भी पुनर्विचार का मौका दिया जायगा। आसाम प्रधानतः गैर-मुसलिम प्रान्त है, पर इसका सिलहट जिला जो बङ्गाल से सटा है, मुसलिम-बहुल है। यदि बङ्गाल का विभाजन हुआ तो इस जिले में भी मत लिया जायगा कि वह आसाम में रहना चाहता है या पूर्वी बंगाल में। विभाजन निश्चित हो जाने पर शासन-विभागों में तदनुकूल परिवर्तन करने के लिए बातचीत प्रारम्भ होगी। देशी राज्यों के सम्बन्ध में इस घोषणा से कोई परिवर्तन न होगा। उनके सम्बन्ध में वही नीति रहेगी जो अमात्यमण्डलयोजना में स्पष्ट की गई है। प्रमुख राजनीतिक दलों ने बारबार इस बात पर जोर दिया है कि शीघ्रातिशीघ्र भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित की जाय। ब्रिटिश सरकार की इस माँग के साथ पूरी सहानुभूति है और उसकी इच्छा है कि एक या दो भागों के भारत की स्वतन्त्र सरकारों को जून १९४८ से पहले ही पूरे अधिकार सौंप दिये जायँ। इसके लिए सरकार ने पार्लमेण्ट के इसी अधिवेशन में कानून पेश करने और भारत को इसी वर्ष औपनिवेशिक पद देने का निश्चय किया है। भारत के विधान-सम्मेलनों के यह निश्चय करने के अधिकार में इस योजना से कोई बाधा नहीं उपस्थित होगी कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे या उससे बाहर।”

नेताओं का मत—पार्लमेण्ट में उक्त घोषणा करते हुए प्रधानमन्त्री मिस्टर एटली ने कहा कि “यदि हिन्दू और मुसलमान यह निश्चित करेंगे तो इसके लिए प्रबन्ध कर दिया जायगा।” विरोधी दल के नेता मिस्टर चर्चिल ने भी योजना का समर्थन किया। भारत में वाइसराय लार्ड माउण्ट बैटन ने अपने सन्देश में कहा कि “मैंने कांग्रेस और लीग में समझौता कराने का बहुत प्रयत्न किया, पर सफल न हो सका। भारत-विभाजन के लिए लीग जो दलीलें देती

थी, कांग्रेस कुछ प्रान्तों को विभाजन के लिए वही दलीलें देने लगी, उसका यह तर्क अकाट्य था। मैं देश तथा प्रान्त दोनों के विभाजन के विरुद्ध था कोई समझौता न करा सकने पर मैंने विभाजन का प्रश्न तय करने का भार स्वयं भारतीयों पर छोड़ देना आवश्यक समझा। विभाजित प्रान्तों की सीमाएँ एक सीमा कमीशन द्वारा निर्धारित की जायँगी। सिख पंजाब में इस प्रकार फैले हुए हैं कि किसी भी विभाजन से वे स्वयं बँट जायँगे। सत्ता दो सरकारों को सौंपी जायगी। लन्दन का 'इण्डिया आफिस' समाप्त कर दिया जायगा। इस घोषणा से देशी राज्यों का सम्बन्ध नहीं। मुझे भारत के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास है और इस ऐतिहासिक क्षण में आपके साथ होने का मुझे गर्व है।" नेहरूजी ने अपने रेडियो भाषण में कहा कि "यद्यपि उक्त योजना स्वीकार कर मैं प्रसन्न नहीं हूँ फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि वर्तमान समस्या के समाधान के लिए यही सबसे उपयुक्त रास्ता है। भारत का इतिहास और भूगोल बदला नहीं जा सकता। आज हम आजादी की मंजिल पर पहुँच गये।" मियाँ जिना ने कहा कि "वाइसराय ने बड़ी ईमानदारी और साहस से भारतीय मसला सुलझाया। योजना पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार लीगकौंसिल को है। इस अवसर पर मैं किसी को दोष नहीं देना चाहता। जिन लोगों को क्षति पहुँची है उनके प्रति मेरी सहाभूति है।" नेहरूजी ने अपने भाषण का अन्त 'जय हिन्द' कह कर किया और मियाँ जिना ने 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' कह कर। भारत सरकार के रक्षासदस्य सरदार बलदेव सिंह ने यह आशा प्रकट की कि "किसी दिन हिन्दू, मुसलिम और सिख सभी आपस में मिलेंगे और सैनिकों से अनुरोध किया कि देश की मर्यादा को अपनी मर्यादा समझ कर सेवा-भाव से कार्य करें।" १५ जून को भारतीय कांग्रेस महासमिति ने ब्रिटिश सरकार की योजना बहुमत से स्वीकृत कर ली, पर साथ ही उसने यह भी निर्णय किया कि 'देशी राज्यों को स्वाधीनता का अधिकार नहीं।' पाकिस्तान खण्डित करने के प्रयत्न का विरोध करते हुए लोग-कौंसिल ने भी योजना स्वीकृत कर ली। गांधोजी पहले तो विभाजन का विरोध करते रहे, पर ९ जून के अपने एक सन्देश में उन्होंने कहा कि "मैं विभाजन के विरोध में जनता की राय जाहिर कर रहा था, पर मुझे विदित हुआ कि अधि-

कांश भाई विभाजन के पक्ष में ही हैं। अतः मैं जनता पर अपना मत नहीं लदना चाहता। यदि मेरे साथ केवल गैर-मुसलिम भारत भी रहे तो मैं वह मार्ग दिखला सकता हूँ, जिससे बटवारा रद्द हो सकता है।” पर जनता से तो इस सम्बन्ध में कभी पूछा ही नहीं गया। हिन्दू महासभा, अन्य संस्थाओं तथा कुछ नेताओं ने विभाजन का घोर विरोध किया।

राज्यों का रुख—विधान-सम्मेलन में राज्य किस तरह भाग लें, उनके प्रतिनिधि नरेश चुनें या जनता, विधान-सम्मेलन को उनके सम्बन्ध में क्या अधिकार हों इन प्रश्नों पर बहुत विवाद चल पड़ा। विधान-सम्मेलन तथा राज्यों की ओर से एक वार्तासमिति नियुक्त हुई और दोनों का बराबर परामर्श होने लगा। नरेशों में स्वयं ही मतभेद था, नरेन्द्रमण्डल में भी गुटबन्दी हो गई थी। उसके अध्यक्ष नवाब भोपाल की नीति से हिन्दू नरेशों को बहुत असन्तोष था। मतभेद बहुत बढ़ जाने पर उन्हें अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। ब्रिटिश घोषणा से यह स्पष्ट ही हो गया था कि भारत के दो भागों को स्वतन्त्रता मिलते ही राज्यों पर से ब्रिटिश प्रभुसत्ता समाप्त हो जायगी। इसपर लार्ड माउण्ट बैटन ने योजना की व्याख्या करते हुए यह राय प्रकट की कि “राज्यों को दो में से किसी एक संघ में शामिल हो जाना चाहिए, पर इसमें भौगोलिक सम्बन्ध का ध्यान रखना चाहिए।” हैदराबाद, त्रिवांकुर, काश्मीर, भोपाल आदि कुछ राज्यों ने स्वतन्त्र रहने की इच्छा प्रकट की। पर भारतीय नेताओं की ओर से यह स्पष्ट किया गया कि “यदि किसी राज्य ने ऐसा किया तो उसका यह कार्य शत्रुतापूर्ण समझा जायगा।” नेहरूजी ने अपने जुलाई १ के भाषण में कहा कि “गत वर्ष अंग्रेजों ने घोषित किया कि प्रभुसत्ता समाप्त कर दी जायगी और देशीराज्य उनके उत्तराधिकारी बन जायँगे। मेरी समझ में यह बहुत गलत बात थी। यदि मेरा नियन्त्रण मानकर देशीराज्य भारतसंघ में शामिल हो जाते हैं तो उनका लाभ होगा, क्योंकि वे बराबरी की हैसियत के सदस्य बन जायँगे। यदि उन्होंने हमारे आग्रह की उपेक्षा की तो कोई भी प्रबल केन्द्रीय सरकार उनकी स्वतन्त्रता सहन न करेगी। यह कानून नहीं तथ्य का प्रश्न है।”

बटवारे की काररवाई—जून के अन्त में बङ्गाल असेम्बली ने बटवारे के पक्ष में निर्णय किया। इसपर डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा कि “विभाजन ही एक ऐसा मार्ग बच रहा था, जिससे हिन्दू अपनी सभ्यता, मान-मर्यादा और जीवन की रक्षा कर सकते थे।” पर बङ्गाल के लीगी प्रधानमन्त्री मियाँ सुहरवर्दी ने कहा कि “स्वतन्त्र सर्वाधिकार प्राप्त बङ्गाल की पीठ में छुरा भोंक कर उसका विभाजन किया गया।” बहुमत द्वारा पंजाब असेम्बली ने भी प्रान्त के विभाजन का निश्चय किया। सिन्ध ने बहुमत से वर्तमान विधान-सम्मेलन में शरीक न होने का निर्णय किया। सीमाप्रान्त में मतभेद खड़ा हो गया। खाँ अब्दुल गफ्फार ने कहा कि “अंग्रेज पठानों के दुश्मन हैं। वे रूस के विरुद्ध सीमाप्रान्त में अपना अड्डा कायम करने के उद्देश्य से पठानों की इच्छा के विरुद्ध सीमाप्रान्त पाकिस्तान में घुसेड़ना चाहते हैं।” बहुत सोच-विचार कर कांग्रेस ने मतगणना में भाग न लेना निश्चित किया। इससे लीग का रास्ता साफ हो गया और पाकिस्तान में शामिल होने के पक्ष में ५०॥ प्रतिशत मतों से निर्णय हुआ। बलूचिस्तान ने भी पाकिस्तान में मिलने का निर्णय किया। इस तरह विभाजन का निर्णय हो जाने पर इन पाकिस्तानी प्रान्तों के प्रतिनिधियों का एक अलग विधान-सम्मेलन संघटित हुआ। नये प्रान्तों की सीमा निर्धारित करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। देश की सेना, सैनिक तथा मुल्की सम्पत्ति, रेल, डाक, देना-पावना आदि के बटवारे के लिए लार्ड माउण्ट बैटन की अध्यक्षता में कांग्रेस तथा लीग-प्रतिनिधियों की एक बटवारा समिति नियुक्त हुई, जिसने शीघ्रता के साथ अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

भारतीय स्वतन्त्रता बिल—४ जुलाई को ब्रिटिश पार्लमेण्ट में भारतीय स्वतन्त्रता बिल पेश हुआ। उसका पहला वाचन एक सेकेण्ड में ही समाप्त हो गया। इस बिल में कहा गया कि “१५ अगस्त से ब्रिटिश सरकार भारत सम्बन्धी सभी जिम्मेदारी से मुक्त हो जायगी। भारत दो स्वतन्त्र राज्यों (डोमीनियन) में विभक्त हो जायगा, जिनमें एक का नाम ‘इण्डिया’ और दूसरे का नाम ‘पाकिस्तान’ होगा। १९३८ का शासन-विधान समाप्त कर दिया जायगा, किन्तु गवर्नर-जेनरल को उक्त शासन-विधान के आवश्यक नियमों को

लागू करने का अधिकार होगा। वे ही सैन्य-विभाजन की व्यवस्था करेंगे। धीरे-धीरे ब्रिटिश सैना भारत से हटायी जायगी। पर राजसत्ता हस्तान्तरित होने के पूर्व दोनों देशों में रहनेवाली ब्रिटिश सेना पर इस बिल का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। प्रत्येक डोमीनियन के शासन के लिए सम्राट द्वारा नियुक्त एक गवर्नर-जेनरल होगा। जब तक दोनों राज्यों की धारासभाओं द्वारा कोई विरोधात्मक नियम न बन या जाय एक ही व्यक्ति दोनों का गवर्नर-जेनरल हो सकेगा। बाइसराय का पद तोड़ दिया जायगा। दोनों राज्यों की सभाओं को अपने राज्य-सम्बन्धी सभी नियमों के, जिनमें बाहर लागू होनेवाले नियम भी शामिल हैं, बनाने का पूर्ण अधिकार होगा। निर्धारित तिथि (१५ अगस्त) से सम्राट की 'यूनाइटेड किंगडम' की सरकार पर उन प्रदेशों के शासन का कुछ भी उत्तरदायित्व न रह जायगा, जो उस तिथि तक ब्रिटिश भारत में सम्मिलित थे। उसी दिन भारत के देशी राज्यों के सम्बन्ध में सम्राट की प्रभुसत्ता समाप्त हो जायगी। साथ ही वे संधियाँ तथा समझौते भी जो बिल के पास होने के समय तक लागू थे, वे सब अधिकार जो राज्यों के सम्बन्ध में सम्राट को प्राप्त थे, समाप्त सन्धि जायेंगे। यही व्यवस्था कबीली जातियों तथा ऐंग्लो इण्डियनों के सम्बन्ध में भी होगी। भारतमन्त्री का पद और उनकी इण्डिया कौंसिल तोड़ दी जायगी। भारतमन्त्री द्वारा नियुक्त नौकरियों का भी अन्त कर दिया जायगा, किन्तु मौजूदा पदाधिकारियों के अधिकारों तथा वेतन आदि की रक्षा की व्यवस्था रहेगी।” संक्रमण काल के लिए यह व्यवस्था रखी गई कि “दोनों राज्यों के विधान-सम्मेलन ही केन्द्रीय धारासभाओं का कार्य करते रहेंगे। निर्धारित तिथि से दोनों की न तो उभयनिष्ठ सरकार रह जायगी और न धारासभा। उस दिन से किसी बिल पर सम्राट की स्वीकृति आवश्यक न होगी।”

सम्राट की स्वीकृति—११ जुलाई को बिल के दूसरे वाचन के अवसर पर प्रधानमंत्री मिस्टर एटली ने पार्लमेण्ट में घोषित किया कि “पाकिस्तान के गवर्नर-जेनरल पदपर मियाँ मुहम्मद अली जिना को नियुक्त करने की सिफारिश की गई है। भारत के गवर्नर जेनरल पद पर वर्तमान बाइसराय लार्ड माउण्ट बैटन ही रहेंगे। दोनों नियुक्तियाँ स्वयं भारतीय नेताओं की सिफारिश पर की

गई हैं।” उसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि “आलोचक लजित हों, विश्व में किसी भी राष्ट्र ने इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक सत्ता का त्याग नहीं किया।” विरोधी दल की ओर से मिस्टर हेराल्ड मैकिमलन ने कहा कि “अनुदार (कंजर्वेंटिव) दल कभी भारतीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं था। मतभेद केवल उसकी सिद्धि के उपायों के सम्बन्ध में था। दुनियाँ के जो लोग ब्रिटिश नेकनीयती की खिल्ली उड़ाया करते थे, उन्हें आज लजित होना चाहिए।” १५ जुलाई को उसका तीसरा वाचन हुआ। १६ जुलाई को उसे सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हुई, और इस तरह वह कानून बन गया। मिस्टर एटली ने दोनों राज्यों को सन्देश दिया कि “ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश जनता दोनों की ओर से मैं भारतीयों एवं पाकिस्तानियों के प्रति शुभ कामना प्रकट करता हूँ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भारत का भविष्य अति उज्ज्वल है। थोड़े दिनों के भीतर ही भारत सम्बन्धी समूची शासनसत्ता भारतीयों के हाथ में चली जायगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारत और ब्रिटेन में अब नयी मित्रता स्थापित होगी और दोनों देश शान्त एवं अम्युदयशाली विश्व के निर्माण में दत्तचित्त होंगे।”

स्वतन्त्रता का सुप्रभात—१५ अगस्त १९४७ भारत का एक ऐतिहासिक दिन है। उस दिन भारत में केवल ब्रिटिश साम्राज्य का ही अन्त नहीं हुआ, देश ने सहस्रों वर्ष की राजनीतिक दासता से मुक्त हो कर एक बार पुनः स्वतन्त्रता की साँस ली, पर साथ ही उसका विभाजन भी हो गया और चिरकाल से चली आयी अखण्डता नष्ट हो गई। उसी तारीख को १२ बजे रात में शंखध्वनि और जयकारों के बीच नयी दिल्ली में भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा हुई। यह कार्य विधान-सम्मेलन-भवन में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन के अध्यक्ष डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने घोषित किया कि “आधी रात के १२ बज गये। वाइसराय को सूचित कर देना है कि शासन का उत्तरदायित्व विधान-सम्मेलन ने ग्रहण कर लिया।” तत्पश्चात् प्रधानमंत्री नेहरूजी तथा उन्होंने जाकर लार्ड माउण्ट बैटन को सूचित किया कि “स्वतन्त्र भारत के आप प्रथम गवर्नर-जेनरल नियुक्त हुए हैं।” सम्मेलन के सभी सदस्यों ने भारत के प्रति आस्था की शपथ ली। उसमें कहा गया कि “भारत की सेवा ही हमारा धर्म तथा लक्ष्य होगा, जिसमें

कि यह पुरातन देश विश्व के राष्ट्रमण्डल में अपना उपयुक्त स्थान पुनः प्राप्त कर सके और संसार को शान्ति तथा स्वतन्त्रता का प्रकाश दे सके।” प्रधान-मंत्री होते ही नेहरूजी को एक पण्डित ने वेदमंत्रों सहित आशीर्वाद दिया। धार्मिक कृत्यों के साथ उन्हें राजदण्ड भेंट किया गया और उनके मस्तक पर कुंकुम का तिलक लगाया गया। सभा का आरम्भ ‘वन्दे मातरम्’ गान के साथ हुआ। विभिन्न देशों के राजदूत, सरकारी सैनिक एवं मुलकी अफसर, तथा कई नरेश उपस्थित थे। उसी दिन प्रातः लार्ड माउण्ट बैटन ने गवर्नर-जेनरल का पद ग्रहण किया। वे भारत के अंतिस वाइसराय और स्वतंत्र भारत के प्रथम गवर्नर-जेनरल हुए। पदग्रहण के बाद वे सभा-भवन गये, जहाँ उन्होंने बादशाह का यह संदेश पढ़कर सुनाया—“भारतीय और ब्रिटिश जनता की चिर-संचित अभिलाषा पूरी हुई। हम परमपिता परमात्मा से भारत के कल्याण और सुख की कामना करते हैं। मुझे विश्वास है कि आप लोग अपने देश को सुखी, समृद्ध तथा गौरवशाली बना सकेंगे। मैं सदा भारत का हितैषी बना रहूँगा।”

लार्ड माउण्ट बैटन ने अपने भाषण में कहा कि “किसी को आशा नहीं थी कि विभाजन का टेढ़ा प्रश्न रहते हुए भी इतनी शीघ्र सत्ता हस्तान्तरित की जा सकेगी। किन्तु इंग्लैण्ड से यहाँ पहुँचते ही मुझे ज्ञात हो गया कि विलम्ब घातक होगा। समस्त देश गृहयुद्ध की आग में द्रुतगति से कूदता हुआ दिखायी पड़ा। अवश्य विभाजन से कुछ लोगों को पीड़ा हुई और संयुक्त भारत का स्वप्न पूर्ण नहीं हुआ, फिर भी अधिकांश भारत एकछत्र राज्य में सम्मिलित हो गया। हैदराबाद छोड़कर प्रायः सभी देशीराज्य भारतसंघ में शामिल हो गये। इस तरह ३० करोड़ जनता संघराज्य की छत्र-छाया में रहेगी। आशा है भारत पुनः संयुक्त हो जायगा।” सभा-भवन से बाहर निकलते हुए लार्ड माउण्ट बैटन और उनकी पत्नी को अपार जनसमूह ने घेर लिया। कुछ लोग जोश में आकर ‘पण्डित माउण्ट बैटन की जय’ पुकारने लगे। तोपों की गड़गड़ाहट के साथ राष्ट्रीय झण्डा का अभिवादन हुआ और वह सभी सरकारी भवनों पर लगाया गया। लगभग ढाई लाख भीड़ के बीच नेहरूजी ने दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले पर तिरंगा झण्डा फहराया। प्रान्तीय राजधानियों में

भी बड़े समारोह के साथ शपथ लेने का कार्य सम्पन्न हुआ। नगरों तथा गाँवों में भी रोशनी की गई और उत्सव मनाया गया। इस तरह भारत के इतिहास में सहस्रों वर्ष से छाया दासता की अँधेरी रात व्यतीत हुई और परमपिता परमेश्वर की अनुकम्पा से स्वतन्त्रता का मंगलमय सुप्रभात हुआ।

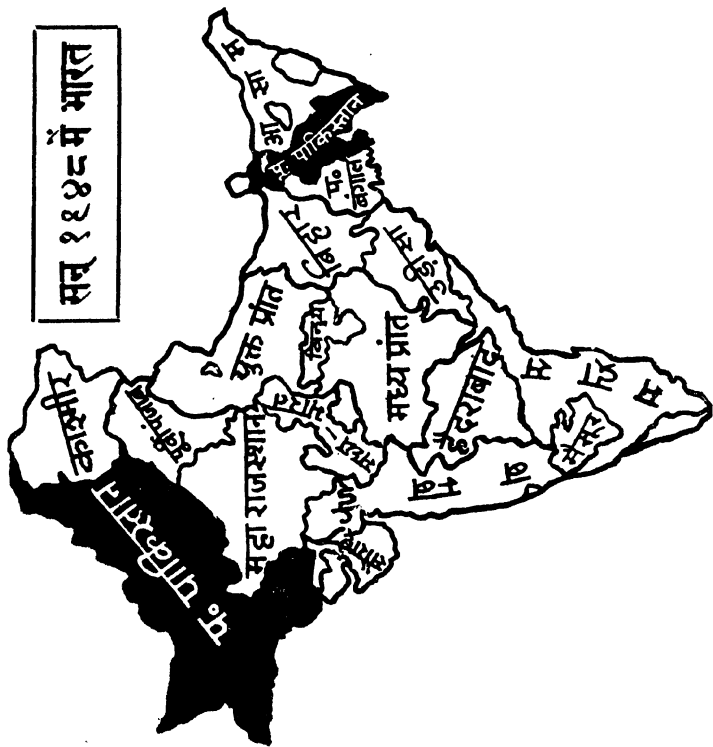
परिशिष्ट (१)

स्वतंत्रता का प्रथम वर्ष

राष्ट्रीय सरकार—पुस्तक का विषय तो १५ अगस्त को 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' के अन्त के साथ समाप्त हो जाता है। पर स्वतंत्रतासूर्य की प्रथम रश्मियों की एक झलक दिखला देना आवश्यक जान पड़ता है। श्री जवाहरलाल नेहरूजी के नेतृत्व में सच्चे अर्थ में प्रथम राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई। पिछली सरकार में नेहरूजी वाइसराय की शासन-परिषद् के केवल उपाध्यक्ष थे। सरकार के लीगी सदस्य तो उन्हें उसका नेता तक नहीं मानते थे। अब वे पूर्ण रूप से प्रधान-मन्त्री हुए। मन्त्रिमण्डल में सम्प्रदायों की दृष्टि से सिख, अन्त्यज, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी का प्रतिनिधित्व रखा गया। स्वास्थ्य-मन्त्री का पद श्रीमती अमृत कौर को दिया गया। इस तरह सरकार में स्त्रियों का भी प्रतिनिधित्व हो गया। बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों में कुछ काल के लिए अंग्रेज गवर्नर बने रहे, बाकी प्रान्तों में भारतीयों को गवर्नर नियुक्त किया गया। युक्तप्रान्त की गवर्नरी श्रीमती सरोजिनी नायडू को दी गई। प्रान्तों की सरकार पहले ही से राष्ट्रीय बनी हुई थीं। अतः उनके संघटन में कोई परिवर्तन नहीं हुए।

प्रान्तों का विभाजन—पंजाब, बंगाल तथा आसाम प्रान्तों के बटवारे के लिए सर सीरिल रैडक्लिफ की अध्यक्षता में कमीशन नियुक्त हुआ था। १८ अगस्त को उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसके आरम्भ में ही सर सीरिल ने लिखा कि "मेरे साथियों में तीव्र मतभेद पैदा हो गया था, अतः वे किसी सर्वसम्मति निर्णय पर न पहुँच सके। साथियों की राय से निर्णय का उत्तरदायित्व मुझी को ग्रहण करना पड़ा।" इस तरह यह निर्णय उनका लादा हुआ था, कमीशन का नहीं। इसके अनुसार पंजाब के दो भाग किये गये—पश्चिमी और पूर्वी। समूचे मुल्तान तथा रावलपिंडी डिवीजन और लाहौर नगर तथा उस डिवीजन

सन् १९४८ में भारत



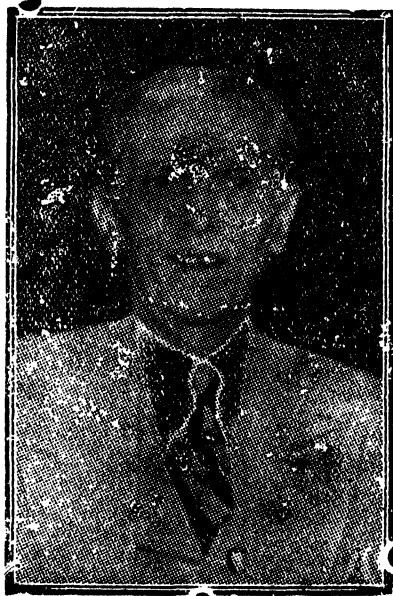
के गुजरांवाला, शेखूपुरा और स्यालकोट के जिले पश्चिमी पंजाब में चले गये, जो पाकिस्तान का प्रान्त हो गया। पूर्वी पंजाब में, जो भारतसंघ को मिला, पूरा अमृतसर और लाहौर तथा गुरुदासपुर जिलों के कुछ भाग एवं रावी नदी के पूर्व में स्थित प्रदेश आया। इसी तरह बंगाल का पूर्वी भाग, जिसमें ढाका और चटगाँव के पूरे डिवीजन आ गये, पाकिस्तान का अंग बना। पश्चिमी बंगाल में, जो भारतसंघ के हिस्से में आया, समस्त बर्दवान डिवीजन, कलकत्ता नगर, मुर्शिदाबाद आदि रखे गये। राजशाही डिवीजन और नदिया, जैसोर, दीनाजपुर, जलपाई-गुड़ी तथा मालदा को दोनों प्रान्तों में बाँट दिया गया। सिलहट के चार जिले आसाम को दिये गये और बाकी पूर्व बंगाल को। इस बटवारे से न भारत तथा पाकिस्तान राज्य ही और न उन प्रान्तों के निवासी ही सन्तुष्ट रहे। सीमाओं पर बराबर झगड़ा चलता रहा।

उत्पीड़ितों की समस्या—सूर्य की प्रभातकिरणें लालिमामय होती हैं। भारत के स्वतंत्रतासूर्य की भी प्रथम किरणें लाल थीं, पर उनकी लालिमा थी भारतीय सन्तानों के रक्त की। मियाँ जिना ने, जिनकी उपाधि अब 'कायदे आजम' हो गई थी, पहले ही भारत और पाकिस्तान के बीच जनसंख्या की अदला-बदली का प्रस्ताव रखा था, पर तब उसकी उपेक्षा की गई। अब पाकिस्तान में उसे जबरदस्ती लागू करने का धृणित प्रयत्न आरम्भ हुआ। गान्धीजी के बहुत प्रयत्न करने पर भी पूर्व बंगाल में हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था। सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब में मार-काट तो पहले ही से चल रही थी, अब हिन्दू तथा सिखों को उन प्रान्तों से निकाल बाहर करने के लिए उन पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण होने लगा। इस पर पूर्वी पंजाब और दिल्ली से मुसलमानों को भी निकालने का प्रयत्न आरम्भ हो गया। फलतः दोनों ओर से उत्पीड़ितों का ताँता बँध गया। लाहौर में हिन्दू सिखों की संख्या लगभग ३ लाख थी, जिनमें से वहाँ चार-पाँच हजार भी नहीं बचे। इसी तरह अमृतसर से ७० हजार मुसलमान भाग निकले। जिस दिन नयी दिल्ली में स्वतंत्रता समारोह सम्पन्न हो रहा था, उसी दिन पंजाब के दोनों भागों तथा स्वयं दिल्ली में हाहाकार मचा था। दिल्ली में उसी दिन उपद्रव करने के एक मुसलिम षडयंत्र का भी पता लगा। कहा जाता है कि कुछ

लोगों ने मुसलमान बनकर इसका पता लगाया था। इस पर पुलिस और सेना को कड़ी कार्रवाई करनी पड़ी। करोड़ों की संख्या में जनता का इस प्रकार सामूहिक परिवर्तन इतिहास में कभी नहीं हुआ। आठ लाख हिन्दू सिलों का एक काफिला पाकिस्तानी पंजाब से पैदल चलकर पूर्वी पंजाब पहुँचा। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने बड़े पैमाने पर उत्पीड़ितों का भागना चल रहा था। यदि यह शान्तिपूर्वक हुआ होता तो दूसरी बात थी, पर इसमें पशुता और बर्बरता का परिचय दिया गया। सब सम्पत्ति लूट ली गई, युवती स्त्रियों को छीन लिया गया और बच्चों को मार डाला गया। उत्पीड़ितों से भरी रेलगाड़ियाँ रोककर यात्रियों का नाश कर डाला गया। भारत तथा पाकिस्तान दोनों सरकारों के लिए उत्पीड़ितों की विकट समस्या उपस्थित हो गई। लाखों की संख्या में लोगों को अपने राज्य में सुरक्षित रूप से लाना, उनके रहने, खाने-पीने, स्वास्थ्य और भविष्य में जीवननिर्वाह के लिए प्रयत्न करना सहज कार्य न था। पाकिस्तान में गैर-मुसलिमों को मार कर भगाया गया, भारत के पूर्वी पंजाब में आवेश के कारण मुसलमानों के साथ कुछ ज्यादती हुई हो, पर कई प्रान्तों के मुसलमान कुछ आतंकित होकर और कुछ पाकिस्तान में स्वर्ग के सुख की आशा करके भाग निकले। पर जब वहाँ उन्हें कुछ न मिला तो वे फिर भारत वापस आने लगे। दोनों सरकारों का प्रथम वर्ष बहुत कुछ उन्हीं की व्यवस्था में समाप्त हुआ और रचनात्मक कार्यों को ओर विशेष ध्यान न जा सका। उत्पीड़ितों की समस्या इस समय भी बनी हुई है। सिन्ध तथा पूर्वी बंगाल से भी हिन्दू भाग रहे हैं।

पाकिस्तान की स्थापना—यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से भारतका कुछ प्रदेश 'पाकिस्तान' के नाम से अलग हो गया, किन्तु भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश से पृथक् नहीं माना जा सकता। इसलिए भारत के इतिहास में उसके इतिहास का समावेश करना ही पड़ेगा। नयी दिल्ली में जिस दिन स्वतंत्रता-समारोह सम्पन्न हुआ उसी दिन १२ बजे रात को कराची में पाकिस्तान-राज्य की स्थापना हुई। वहाँ के गवर्नर-जेनरल कायदे आजम मुहम्मद अली जिना ने अपने रेडियो भाषण में कहा कि "यह १५ अगस्त सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पाकिस्तान का जन्म-दिवस है। जो मुसलिम राष्ट्र गत कई वर्षों से अपनी मातृभूमि कायम करने

के लिए संघर्ष कर रहा था, आज उसकी अभिलाषा पूरी हो गई। हमारे राष्ट्रीय इतिहास का विपत्ति-काल आज समाप्त हो रहा है और महान युग प्रारम्भ हो रहा है।” लार्ड माउण्ट बैटन दिल्ली का कार्य सम्पन्न करके तुरत हवाई जहाज द्वारा कराची गये, वहाँ बादशाह का संदेश सुनाने के बाद उन्होंने कहा—“आज मैं बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में यहाँ बोल रहा हूँ। कल पाकिस्तान राज्य के शासन की बागडोर स्वयं आप के ही हाथ में चली जायगी। उसका जन्म इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। शान्ति-पूर्वक सत्ता हस्तान्तरित करने में सहायक होने के लिए मैं आप के नेताओं को बधाई देता हूँ।” देश के नेताओं ने विभाजन इस आशा से स्वीकार किया था कि इससे स्वतन्त्रता मिल जायगी, देश में शान्ति होगी और दोनों राज्य परस्पर सहयोग से समस्त देश को समृद्धिशाली बनायेंगे; किन्तु इस आशा पर शीघ्र ही पानी फिर गया। सीमाप्रान्त, पश्चिमी



कायदे आजम जिना

पंजाब में हिंदुओं का जो संहार हो रहा था उसपर बिना एक शब्द बोले कायदे आजम जिना ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि “पूर्वी पंजाब में अगणित मुसलमान मारे गये हैं और लाखों मुसलमानों को यातनाएँ सहनी पड़ी हैं। इन घटनाओं से मुसलमान क्षुब्ध हो उठे हैं। पाकिस्तान के शत्रु पाकिस्तान के क्षेत्र में गदर की स्थिति उत्पन्न कर देना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि पाकिस्तान में ऐसा उपद्रव मचे कि उसकी समूची राज्यशृङ्खला ही छिन-भिन्न हो जाय।”

कायदे आजम जिना और पाकिस्तानी नेता भारत को सदा शत्रु कहकर ही पुकारते रहे। पाकिस्तान में जो नारा लगाया जाता था वह यह है—‘हँस कर लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिन्दुस्तान।’ इसकी प्रतिध्वनि कहीं-कहीं भारत में भी सुनायी पड़ रही थी, जहाँ विभाजन हो जाने पर भी ४॥ करोड़ मुसलमान बसे हुए थे। फलतः वहाँ उपद्रवों का अन्त न हुआ।

कलकत्ते में गांधी जी का अनशन—बंगाल में शान्ति स्थापित करने को दृष्टि से गांधी जी कलकत्ते में ठहरे थे, पर स्वयं कलकत्ते में ही उपद्रव बढ़ा। वहाँ बम के गोले और बन्दूकें चल रही थीं। एक दिन उत्तेजित भीड़ ने गांधी जी पर हमला कर दिया, पर वे बच गये। उन्होंने फिर अनशन का निश्चय किया। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि “जो शक्ति मेरे शब्दों में नहीं वह मेरे अनशन में है। अब तक वह मेरा अमोघ अस्त्र रहा। अनशन तब तक चलता रहेगा जब तक कलकत्ते में पूर्ण शान्ति न हो जायगी। मुझे विश्वास है कि मेरे अनशन का प्रभाव कलकत्ते के साथ ही पंजाब पर भी पड़ेगा।” उनका यह अनशन ७३ घंटे तक चलता रहा। अन्ततः पश्चिमी बंगाल के कई नेताओं ने, जिनमें संयुक्त बंगाल के भूतपूर्व मंत्री मियाँ सुहरवर्दी भी शामिल थे, उन्हें लिखित आश्वासन दिया कि वे कलकत्ते में शान्ति बनाये रखने के लिए पूरा प्रयत्न करेंगे। इसपर गांधी जी ने अपना अनशन भंग किया। कलकत्ते की जनता पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा और वहाँ शान्ति स्थापित हो गई।

उपद्रवों की आग—अन्य स्थानों में उपद्रवों की आग बढ़ने लगी, उसने सबसे अधिक उग्र रूप दिल्ली में धारण किया। नगर के विभिन्न क्षेत्रों में गोली-वर्षा, बमविस्फोट, छुरेबाजी, लूट, हत्या और अग्निकाण्ड की घटनाएँ होने लगीं। हिसार में मुसलमानों ने तोपों से आक्रमण किया, अमृतसर की सीमा पर मुसलमानों ने धावा बोल दिया। बीकानेर, बरेली, प्रयाग, कानपुर आदि में भी दंगे हुए। कई प्रान्तों के विभिन्न स्थानों में मुसलमानों के घरों में, मस्जिदों में, कब्रगाहों में ढेरों के ढेर अस्त्र बरामद हुए, जिससे स्पष्ट हो गया कि देश भर में उपद्रव की व्यापक योजना बनायी गई थी। पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की तत्परता से सभी जगह थोड़े ही काल में उपद्रव दबा दिया गया।

जूनागढ़ का झगड़ा—काठियावाड़ की जूनागढ़ रियासत भारतसंघ से सम्बद्ध देशी रियासतों से घिरी हुई है इतना ही नहीं, उसके भीतर अन्य रियासतों के प्रादेशिक टुकड़े धुसे हुए हैं। पर तब भी वहाँ के नवाब ने पाकिस्तान में शामिल होने का निश्चय किया। वहाँ की जनसंख्या ६ लाख ७१ हजार है जिसमें ५ लाख ४३ हजार हिन्दू, उनसे इस सम्बन्ध में पूछा तक न गया। इसपर जनता में बड़ा खोभ फैल, उसकी ओर से अलग एक स्वतन्त्र सरकार स्थापित हुई। नवाब खजाने की एक बड़ी रकम लेकर कराची भाग गये, राज्य में अराजकता फैलते देखकर स्वयं वहाँ के दीवान ने भारतीय सेना को शान्ति स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया। इसपर भारतीय सेना ने राज्य पर कब्जा कर लिया। पाकिस्तान की ओर से कहा गया कि “भारत-सरकार का यह जूनागढ़ पर आक्रमण है। १९४७ के भारतीय स्वाधीनता कानून के अन्तर्गत सभी रियासतों को भारत या पाकिस्तान किसी एक संघ में शामिल होने का अधिकार है।” उत्तर में भारत-सरकार का कहना था कि “लार्ड माउण्ट बैटन ने उक्त कानून के इस अंश की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी संघ में शामिल होते समय राज्यों को अपनी भौगोलिक स्थिति का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त नवाब ने जनता की इच्छा का कुछ भी ध्यान नहीं रखा। जूनागढ़ किसमें शामिल हो इसका निर्णय मतगणना द्वारा कराया जा सकता है, जिसके लिए भारत-सरकार तैयार है। जूनागढ़ पर कोई आक्रमण नहीं किया गया, दीवान के बुलाने पर ही भारतीय सेना ने वहाँ प्रवेश किया और शान्ति स्थापित की, अतः इसे आक्रमण नहीं कहा जा सकता।” जो स्वतन्त्र सरकार स्थापित हुई थी उसी के हाथ में राज्य का शासन सौंप दिया गया। पाकिस्तान के साथ इसके सम्बन्ध में बराबर झगड़ा चलता रहा। भारतसरकार की ओर से जो मतगणना करायी गई उसमें ९९ प्रतिशत मत भारतसंघ में शामिल होने के पक्ष में आये। पर पाकिस्तान का कहना था कि “वह मतगणना निष्पक्ष नहीं कही जा सकती, भारत-सरकार ने अनुचित दबाव डालकर ऐसा कराया।”

गोवधबन्दी आन्दोलन—ऊपर यह लिखा जा चुका है कि दिल्ली में उपद्रव होने पर वहाँ धर्मयुद्ध आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। उसी समय

उसके नेता श्री स्वामी करपात्रीजी ने ब्रज में गोवध बन्द कराने के लिए मथुरा में धर्मयुद्ध का दूसरा मोर्चा खोला। आन्दोलन आरम्भ होने के एक दिन पहले ही वे वृन्दावन में गिरफ्तार कर लिये गये और जनसुरक्षा कानून के अन्दर ६ महीने कैद की सजा देकर उन्हें आगरा जेल भेज दिया गया। पर मथुरा में सत्याग्रह चलता रहा और धर्मवीर बराबर गिरफ्तार होते रहे। देश की अन्य संस्थाओं तथा कुछ नेताओं ने भी गोवध बन्द करने पर जोर दिया। युक्तप्रान्त के कई नगर तथा जिला बोर्डों ने अपनी सीमाओं के भीतर गोवध बन्द करने के नियम बनाये। अन्ततः मथुरा नगर-बोर्ड ने भी ऐसा ही निर्णय किया। मुसलमानों की ओर से भी कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। काशी, प्रयाग, अयोध्या तथा कई प्रमुख नगरों के बोर्डों ने इसी तरह के प्रस्ताव पास किये। इसपर प्रान्तीय सरकार ने स्वीकृति प्रदान कर दी और यह घोषित कर दिया कि “नगर तथा जिला बोर्डों को गोवध बन्द करने के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार है।” बम्बई के धर्मसंग्र अधिवेशन में मथुरा में गोवधबन्दी करने के लिए ही सत्याग्रह का निर्णय हुआ था उसको वह माँग पूरी हो गई। केवल ब्रज में ही नहीं, युक्तप्रान्त के प्रमुख तीर्थों तथा नगरों में गोवध बन्द हो गया। इस सम्बन्ध में मुसलिम दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। बकरीद के अवसर पर गोवध न करने के लिए उनके नेताओं ने अपने भाइयों से अपील की। पशुधन-रक्षा की दृष्टि से भारत-सरकार का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त हुई। ३ महीने बाद श्री स्वामीजी तथा अन्य धर्मवीर नेता जेल से छोड़ दिये गये।

काश्मीर पर आक्रमण—काश्मीर का राज्य हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों से मिला हुआ है। वहाँ की अधिकांश जनता मुसलमान है, पर नरेश हैं हिन्दू। यह पहले बतलाया जा चुका है कि “जम्मू के राजा गुलाब सिंह ने १८४६ में हजारों और काश्मीर के इलाके अंग्रेजों से ३५ लाख रुपये में ले लिये थे।” उन्हीं के वंशज सर हरीसिंह वहाँ के शासक हैं, जो जम्मू और काश्मीर राज्य के नरेश माने जाते हैं। भारत का विभाजन हो जाने पर उनके सामने यह समस्या उपस्थित हो गई कि काश्मीर तथा जम्मू का राज्य भारतसंघ में

शामिल हो या पाकिस्तान में। राज्य में काश्मीर-नरेश के विरुद्ध 'राष्ट्रीय सम्मेलन' की ओर से आन्दोलन चल ही रहा था और यह मांग हो रही थी कि शेख अब्दुल्ला छोड़ दिये जायें। गांधीजी और लार्ड माउण्ट बैटन भी सर हरीसिंह से परामर्श करने के लिए वहाँ गये। उधर पाकिस्तान की ओर से काश्मीर-सरकार के विरुद्ध मिथ्या प्रचार किया जाने लगा और काश्मीर पर पाकिस्तान में शामिल होने के लिए दबाव डाला जाने लगा। बड़े जोरों से यह प्रचार किया गया कि "राज्य की सेना मुसलमानों का सफाया कर रही है। राज्य के ही मुसलमानों ने कुछ उपद्रव किया और उनके सहायतार्थ कबीलियों ने आक्रमण कर दिया।" काश्मीर के प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल के पास यह तार भेजा कि "पाकिस्तान सरकार यथास्थित समझौते के विरुद्ध काररवाई कर रही है। पश्चिमी पञ्जाब की ओर से पेट्रोल, तेल, खाद्य, नमक, चीनी आदि भेजने में बाधा डाली जा रही है। साथ ही डाक और अन्य यातायात विषयक काम भी अव्यवस्थित कर दिये गये हैं। डाकखाने तथा बैंकों के हिसाब गड़बड़ा दिये गये हैं। पाकिस्तानी आक्रमणकारियों ने सैकड़ों काश्मीरियों का वध किया है। पूँच में गैर-मुसलमानों के ऊपर जो अत्याचार किये गये हैं वे सर्वथा वर्णनातीत हैं। पाकिस्तान की धाँधली कदापि सहन नहीं की जा सकती। उसका यह कार्य अमैत्रीपूर्ण तथा शत्रुतापूर्ण है।" पर पाकिस्तान में इसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। उल्टे काश्मीर-सरकार को लिखा गया कि "वह मिथ्या प्रचार कर रही है जिससे स्पष्ट है कि वह भारतसंघ में शामिल होना चाहती है। वहाँ के राज्य में मुसलमानों पर घोर अत्याचार हो रहा है, सरकार की नीति से ८५ प्रतिशत मुसलिम जनता मर्माहत हो रही है।"

काश्मीर भारत में शामिल—यह स्थिति देखकर भारत-सरकार के आग्रह से काश्मीर-नरेश ने शेख अब्दुल्ला को छोड़ दिया और भारतसंघ में शामिल होने की सूचना देते हुए सैनिक सहायता की याचना की। उन्होंने लार्ड माउण्ट बैटन के नाम अपने पत्र में लिखा कि "हमारे राज्य में इस समय अत्यन्त असाधारण स्थिति उत्पन्न हो गई है। भारत-सरकार से सहायता माँगने के अतिरिक्त मेरे पास कोई दूसरा मार्ग नहीं रहा। स्वभावतः जबतक मैं भारतीय

संघ में सम्मिलित नहीं हो जाता, भारत मुझे सहायता नहीं पहुँचा सकता। अतएव मेरा राज्य भारतसंघ में सम्मिलित हो रहा है। मैं आप की सरकार को यह भी सूचित कर देना चाहता हूँ कि राज्य में शीघ्र ही अस्थायी सरकार स्थापित की जायगी जिसमें शेख अब्दुल्ला मेरे प्रधानमन्त्री के साथ उत्तरदायित्व ग्रहण करेंगे।” उत्तर में लार्ड माउण्ट बैटन ने लिखा कि “भारत-सरकार ने अपनी राजनीति के अनुसार कि दोनों राज्य भारत तथा पाकिस्तान किसी एक में शामिल होने का प्रश्न विवादग्रस्त होने पर वहाँ की जनता ही इसका निर्णय करे, आप द्वारा उल्लिखित विशेष परिस्थिति में काश्मीर राज्य का भारतीय संघ में शामिल होने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मेरी सरकार की यह भी इच्छा है कि ज्यों ही काश्मीर में शान्ति-व्यवस्था स्थापित हो जाय और आक्रमणकारी वहाँ से हटा लिये जायँ त्यों ही जनमत द्वारा भारतीय संघ में राज्य के शामिल होने का प्रश्न हल किया जाय। आप तथा आपकी प्रजा के जीवन, सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा के रक्षार्थ भारतीय सेना तुरत भेजी जा रही है। मुझे तथा मेरी सरकार को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने शेख अब्दुल्ला को अस्थायी मन्त्रिमण्डल संघटित करने के लिए आमन्त्रण दिया है।” इस तरह २७ अक्टूबर को काश्मीर राज्य भारतसंघ में शामिल हो गया और उसी दिन उसके रक्षार्थ भारतीय सेना हवाई जहाजों से काश्मीर रवाना हो गई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में शिकायत—काश्मीर के आक्रमणकारियों में पाकिस्तानियों के शामिल होने के पूरे प्रमाण मिल रहे थे। उनकी सेना के अस्त्र-शस्त्र, बर्दियाँ आक्रमणकारियों के पास बरामद हो रही थीं। कई सैनिक भी पकड़े गये थे। कुछ ऐसे कागज भी मिले थे जिनसे पाकिस्तान का युद्ध में भाग लेना सिद्ध होता था, पर तब भी पाकिस्तान की ओर से यही कहा जा रहा था कि “पाकिस्तानका उसमें कोई हाथ नहीं।” राज्य के मुसलमानों पर काश्मीर-सरकार के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर कश्मीलियों ने आक्रमण किया। काश्मीरी मुसलमानों को एक आजाद काश्मीर सरकार स्थापित हो गई है, जो युद्ध का संचालन कर रही है।” यह स्थिति देखकर भारत-सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की ‘सुरक्षा समिति’ में शिकायत पेश की। उसमें कहा गया कि “१. काश्मीर पर आक्रमण करनेवालों को पाकिस्तान से आने दिया जाता है, २. पाकिस्तान में उन्होंने अड्डा बना रखा है,

३. आक्रमणकारियों में पाकिस्तान के नागरिक हैं, ४. उन्हें पाकिस्तान से शस्त्रास्त्र तथा पेट्रोल मिलता है और ५. पाकिस्तान के अफसर उन्हें शिक्षा देते तथा उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। अतएव भारत की माँग है कि “सुरक्षासमिति पाकिस्तान को आदेश दे कि वह अपने नागरिकों को आक्रमण में भाग लेने से रोके, आक्रमणकारियों को अपने यहाँ से होकर न जाने दे और उनकी किसी प्रकार से सहायता न करे।” नेहरूजी ने यह आशा प्रकट की थी कि “सुरक्षासमिति शीघ्र ही काररवाई करेगी और महीनों में नहीं कुछ हफ्तों में ही पाकिस्तान को आदेश दे देगी।” पर सुरक्षासमिति में लम्बी बहस छिड़ गई। पाकिस्तान की ओर से कहा गया कि “उसकी ओर से काश्मीर के आक्रमणकारियों को कोई सहायता नहीं दी जाती। आजाद काश्मीर-सरकार काश्मीर-नरेश से लड़ रही है, भारत-सरकार उसमें हस्तक्षेप करके काश्मीरराज्य को भारतसंघ में रखना चाहती है। पूर्वी पंजाब में असंख्य मुसलमानों का वध किया गया। भारत-संघ के मुसलमानों पर तरह-तरह के अत्याचार किये जा रहे हैं। जूनागढ़ पर भारत-सरकार ने जबरदस्ती कब्जा कर लिया। पाकिस्तान से किये हुए समझौते पर भारत-सरकार अटल नहीं रहती। इन सब प्रश्नों से काश्मीर का प्रश्न अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए भारत और पाकिस्तान के समस्त सम्बन्ध पर विचार होना चाहिए।” भारत की ओर से इन आरोपों का खण्डन किया गया और कहा गया कि “आक्रमणकारियों के हटते ही वह काश्मीर में निष्पक्ष मतगणना द्वारा यह निर्णय कराने के लिये तैयार है कि वह भारत या पाकिस्तान किसमें शामिल होगा।” पाकिस्तान का कहना था कि “जबतक भारत की सेना वहाँ से हटती नहीं वहाँ निष्पक्ष मतगणना होना असम्भव है।” काश्मीर की सीमाओं तथा अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के कारण काश्मीर के मामले में पाश्चात्य राष्ट्रों का भी स्वार्थ घुसा हुआ था। इसलिए उसपर महीनों बहस चलती रही और अन्ततः यह निश्चित हुआ कि “मामला केवल काश्मीरका ही नहीं, भारत और पाकिस्तान के समस्त सम्बन्ध का है। उसपर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से एक कमीशन भेजा जाय, जो पहले काश्मीर का मामला ही हाथ में ले। वहाँ पहले वह युद्ध बन्द कराये और फिर निष्पक्ष मतगणना की व्यवस्था कराये।”

हैदराबाद से समझौता—भारत को स्वतंत्रता प्रदान की जब बात चल रही थी तब हैदराबाद के निजाम ने यह बात फिर उठाई कि 'बराबर हैदराबाद को वापस मिलना चाहिए' पर उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। १५ अगस्त को भारत स्वतंत्र हो जाने के बाद निजाम ने भी यह घोषित किया कि "हैदराबाद राज्य स्वतंत्र है।" हैदराबाद का राज्य चारों ओर से भारतसंघ के प्रदेश से घिरा हुआ है, वहाँ ८० प्रतिशत से अधिक हिन्दू रहते हैं, इन सब दृष्टियों से उसका भारत-संघ में ही शामिल होना उचित था, पर निजाम को दूसरी ही सनक सवार थी। राज्य में 'इत्तिहादुल मुसलमीन' नाम की एक संस्था स्थापित हो गई थी, जो मुसलमानों का आधिपत्य बनाये रखने पर तुली हुई थी। इसका एक स्वयंसेवक दल बना, जिसके सदस्य 'रजाकार' कहलाते थे। यह दल हिन्दू जनता में आतंक फैलाये था। उसको निजाम तथा उनकी सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त था। मुख्य नौकरियाँ मुसलमानों को ही दी जाती थीं और शासन में हर तरह से उनका पक्षपात हो रहा था। हैदराबाद में एक राज्य कांग्रेस स्थापित हो गई थी, जो राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन चला रही थी। उसके नेताओं को जेल में ठूस दिया गया। निजाम की ओर से शासन-सुधार के सम्बन्ध में केवल कोरे-कोरे फरमान निकल रहे थे। उनमें भी यह कहा जा रहा था कि "मुसलमानों को हिन्दुओं के समान प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।" हैदराबाद की स्थिति से भारत-सरकार बहुत चिन्तित हो रही थी और बहुत दिनों से दोनों में समझौते की बात चल रही थी। अन्ततः दोनों में समझौता हो गया, जिसकी शर्तें इस प्रकार हैं—“१५ अगस्त के पूर्व तक भारत-सरकार और हैदराबाद राज्य में पारस्परिक सम्बन्ध की जो व्यवस्था थी वही बनी रहेगी। पर-राष्ट्र, रक्षा तथा यातायात की कोई नयी व्यवस्था न की जायगी। सन्धि की शर्तों का सम्यक पालन हो रहा है या नहीं इस की देख-रेख के लिए दोनों सरकार के एक दूसरे के यहाँ प्रतिनिधि रहेंगे, जो एजेण्ट-जेनरल कहलायेंगे। इस समझौते से 'प्रभुसत्ता' के प्रश्न पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इससे किसी राज्य को कोई नया या अतिरिक्त अधिकार प्राप्त न होगा। सन्धिविषयक मतभेद की स्थिति में पंचायत द्वारा निर्णय न होगा। निजाम बिदेशों में अपने व्यापारदूत रख

सकेंगे, जो भारतीय व्यापार दूतों के सम्पर्क में काम करेंगे। निजाम किसी विदेशी राज्य से शस्त्रास्त्र न खरीद सकेंगे। शस्त्रास्त्र सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति भारत-सरकार करेगी। शस्त्रास्त्र की आवश्यकता तथा उसकी मात्रा का निर्णय भी भारत-सरकार ही करेगी। युद्ध की दशा में भारत सरकार राज्य में अपनी सेना रख सकेगी, और उसकी समाप्ति के ६ महीने बाद उसे हटा लेना होगा। इस समय सिकन्दराबाद में जो भारतीय सेना नियुक्त है, हटा ली जायगी। साधारणतः निजाम के निमंत्रण पर ही हैदराबाद में भारतीय सेना भेजी जा सकेगी। यह समझौता तुरत लागू होगा और इसकी अवधि एक वर्ष होगी।” समझौते पर हस्ताक्षर करने के पूर्व निजाम ने भारत के गवर्नर-जेनरल लार्ड माउण्ट बैटन को लिखा कि “मैं पड़ोसी होने के नाते भारतसंघ से ‘यथास्थित समझौता’ करने के लिए तैयार हूँ। यद्यपि उसके अनुसार मेरे कुछ अधिकार स्थगित हो जायेंगे फिर भी मेरी प्रभुसत्ता अक्षुण्ण बनी रहेगी। शीघ्र ही एक फरमान जारी होगा, जिसमें यह घोषित किया जायगा कि राज्य सम्प्रदाय तथा जातिसम्बन्धी भेद भुलाकर समान रूप से समस्त प्रजा की रक्षा करेगी।” लार्ड माउण्ट बैटन ने भी आश्वासन दिया कि “साम्प्रदायिक सौहार्द बढ़ाने और शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के अपने उद्देश्य पर भारत-सरकार अविचल रहेगी।” बहुतों को सन्देह था कि “अपनी तैयारी पूरी करने के लिए समय प्राप्त करने की दृष्टि से निजाम ने समझौते पर हस्ताक्षर किया है। वे उसकी शर्तों का कभी पालन न करेंगे। सिकन्दराबाद से भारतीय सेना हटाना भूल होगी।” पर भारत-सरकार ने निजाम की नेकनीयती पर विश्वास कर के स्थिति सुधारने का एक अवसर उन्हें और दिया। उसकी ओर से हैदराबाद में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी प्रथम एजेण्ट-जेनरल नियुक्त हुए।

भारतीय परराष्ट्र नीति—स्वतंत्रता प्राप्त होने के साथ ही भारत के सामने अपनी परराष्ट्र नीति निर्धारित करने का प्रश्न आ गया। पहले तो कई देशों में भारतीय राजदूतों की नियुक्ति हुई। मध्यवर्ती सरकार के समय ही रूस में श्रीमती विजया लक्ष्मी और अमेरिका में मियाँ आसफ अली की नियुक्ति हो चुकी थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कई यूरोपीय तथा एशियाई देशों में भारतीय राज-दूत या प्रतिनिधि नियुक्त किये गये। इस समय अन्तरराष्ट्रीय जगत में दो राज-

नैतिक गुट बने हुए थे। एक तो अमेरिका और ब्रिटेन का था, जिसमें पश्चिमी यूरोप के राज्य शामिल थे और दूसरा था रूस का, जिसमें पूर्वी यूरोप के कुछ राज्य थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रत्येक मामले पर इन दोनों गुटों में विरोध चला करता था। इस गुटबन्दी से भारत ने अलग रहना निश्चित किया। उसकी परराष्ट्र नीति का विवेचन करते भारत के प्रधान तथा परराष्ट्र मंत्री नेहरूजी ने संघभारा सभा के एक भाषण में कहा कि “भारत गुटबन्दीयों में नहीं पड़ना चाहता। इसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्भवतः उसे अकेले ही काम करना पड़ेगा, वर्तमान परिस्थिति में भारत के लिए यही उत्तम मार्ग है। मुझे विश्वास है कि ऐसा करने से ही वह राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर सकेगा। हम अमेरिका के साथ मित्रता रखेंगे और रूस के साथ भी पूरा सहयोग करेंगे। हम भावी विश्व युद्ध से यथासम्भव दूर रहेंगे, पर यदि उसमें पड़ना अनिवार्य हुआ तो भारत उसका साथ देगा, जिसका साथ देने में उसका सबसे अधिक हित हो।”

कण्ट्रोल हटाने का निर्णय—कण्ट्रोल व्यवस्था से बड़ी चोरबाजारी और भ्रष्टाचार फैल रहा था। आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने के लिए बिना झूठ बोले और अधिकारियों को घूस दिये जनता का काम ही नहीं चलता था। इससे नैतिक पतन हो रहा था। अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों से जनता त्रस्त, असन्तुष्ट तथा क्षुब्ध थी। गान्धीजी ने इसका अनुभव किया और उन्होंने कण्ट्रोल-नीति के विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाई। इस पर सरकार ने धीरे-धीरे कण्ट्रोल हटाने का निर्णय किया। पहले चीनी पर से कण्ट्रोल हटाया गया, फिर धीरे-धीरे कपड़ा तथा अन्न को उससे मुक्त किया गया।

औद्योगिक शान्ति का प्रयत्न—स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद देश को औद्योगिक उन्नति की ओर ध्यान गया। पर इसमें मालिक-मजदूरों के संघर्ष से बड़ी बाधा पड़ रही थी। मजदूरों की ओर से बराबर हड़तालें हो रही थीं, जिनसे उत्पादन घट रहा था और बड़ी आर्थिक क्षति उठानी पड़ रही थी। दिसम्बर १९४७ में नयी दिल्ली में एक औद्योगिक सम्मेलन किया गया, जिसमें सरकार, मिल-मालिक तथा मजदूरों के प्रतिनिधि शामिल हुए। उसका उद्घाटन करते

हुए प्रधान मंत्री नेहरू जी ने कहा कि “विश्व की शान्ति किसी क्षण समाप्त हो सकती है, यदि उत्पादन की दृष्टि से देश समुन्नत न हुआ तो वह संकट काल का सामना न कर सकेगा।” सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव द्वारा मजदूरों की स्थिति में सुधार कर, उन्हें उचित मजदूरी देने और शान्तिपूर्ण ढंग से झगड़े तय करने की सिफारिश की गई। आगामी ३ वर्ष तक समझौता कायम रखने, हड़ताल आदि अवांछनीय कार्रवाई न करने, कारखाने आदि बन्द न करने और उत्पादन में कमी न आने देने की अपील की गई। यद्यपि यह समझौता हो गया पर औद्योगिक शान्ति स्थापित न हुई। मिल-मालिक अपना स्वार्थ देखने लगे और मजदूर कम्युनिस्टों के बहकावे में आकर अपनी माँगें बढ़ाने तथा हड़ताल करने लगे।

कांग्रेस तथा लीग भी विभक्त—देश का विभाजन तथा स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर कांग्रेस और लीग के भविष्य तथा उनके विधान का प्रश्न खड़ा हो गया। कराची में लीग कौंसिल की एक बैठक हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि “पाकिस्तान और भारत की लीग पृथक् कर दी जाय और दोनों अपना पृथक् विधान बनायें तथा दोनों का चुनाव पृथक् हो।” पिछले दिनों लीग का मुख्य उद्देश्य पाकिस्तान स्थापित करना हो गया था। उसके स्थापित हो जाने पर उसका कोई कार्य न था। भारत में बसने वाले मुसलमान अपनी रक्षा राष्ट्रीय जीवन में भाग लेकर कर सकते थे, पर भारत में लीगी नीति चलाते रहने के लिए उसे भारत में बनाये रखना आवश्यक समझा गया। कांग्रेस ने भी निश्चित किया कि “पाकिस्तानी प्रान्तों का कांग्रेस में प्रतिनिधित्व न रहे। यदि वहाँ के लोग उचित समझें तो अपने प्रान्तों में कोई दूसरी संस्था कायम करें, जिसका नाम भले ही कांग्रेस हो।”

गांधी जी का अन्तिम अनशन—पाकिस्तान के साथ अपहृत स्त्रियों की वापसी, उत्पीड़ितों की सम्पत्ति, अल्पसंख्यकों की रक्षा के सम्बन्ध में कई समझौते हुए, पर पाकिस्तान की ओर से किसी का समुचित पालन न हुआ, उल्टे वह भारत ही पर उन्हें भंग करने का दोषारोपण करता रहा। काश्मीर में आक्रमणकारियों की पूरी सहायता करते हुए भी वह उससे इनकार करने लगा। जो मुसलमान पाकिस्तान भाग गये थे वे भी वापस आने लगे। उससे भारत-सरकार

की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं। इन सबसे बाध्य होकर भारत-सरकार को एक निर्णय करना पड़ा। बटवारे में ५५ करोड़ की रकम पाकिस्तान को भारत से मिलनी थी। भारत-सरकार ने रिजर्व बैंक को आदेश दिया कि “यह रकम रोक ली जाय।” उसका कहना था कि “जब तक पाकिस्तान सब झगड़े निपट नहीं देता और काश्मीर के आक्रमणकारियों को सहायता देना बंद नहीं करता, वह इसे पाने का अधिकारी नहीं।” पाकिस्तान ने इसे विश्वासघात बतलाया। पाकिस्तानी प्रान्त विशेषकर पश्चिमी पंजाब में हिन्दुओं के मन्दिर तथा सिखों के गुरुद्वारे नष्ट-भ्रष्ट कर डाले गये। उसके बदले में दिल्ली की कुछ मसजिदों पर हिंदुओं ने भीकूँज कर लिया और किसी को गुरुद्वारा तो किसी को मंदिर बना दिया, कुछ में उत्पीड़ितों को बसा दिया। इस आपसी विरोध और बदले की भावना से दोनों राज्यों में तनातनी बढ़ रही थी। इस पर गांधीजी ने १२ जनवरी को अपनी प्रार्थनासभा में घोषित किया कि “मैं भारत के भीतर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य-स्थापन के लिए कल से अनशन आरम्भ करने जा रहा हूँ। इसकी अवधि सर्वथा अनिश्चित है, यह तभी समाप्त होगा जब लोगों के भीतर स्वाभाविक सौहार्द की भावना जग उठेगी। यदि भारतीय जनता के बीच ऐक्य-भावना उत्पन्न हो जाय तो भारत अपना वास्तविक गौरव शीघ्र प्राप्त कर लेगा, अन्यथा भारत के लिए ही नहीं दुर्भावनाग्रस्त विश्व के लिए भी कल्याण का कोई मार्ग न रह जायगा। जब मैं कलकत्ते से आया तो सोच रहा था कि पश्चिमी पंजाब जाऊँ, पर जब देखा कि दिल्ली की सड़कें लाशों से पटी हैं तब मैंने दिल्ली ही रहने का निश्चय किया। मेरे अनशन-सम्बन्धी निर्णय से लोग क्रुद्ध न हों। जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों को अपने विचारानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता है, उसी प्रकार मुझे भी। मैं ईश्वर-प्रेरणा से ही ऐसा कर रहा हूँ। मेरा एकमात्र परामर्शदाता वही है।” गांधीजी का शरीर पहले ही से निर्बल था। उनके इस अनशन से सबको बड़ी चिन्ता हुई। अनशन से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करके भारत-सरकार ने पाकिस्तान के हिसाब का जो ५५ करोड़ रुपया रोक रखा था दे देने का निश्चय किया। १५ जनवरी की एक प्रकाशित विज्ञप्ति में कहा गया कि “भारत-सरकार अपने पूर्व निर्णय के औचित्य पर अब भी दृढ़ है। गांधीजी के अनशन से विश्व-व्यापी चिन्ता

पैल गयी। भारत-पाकिस्तान का विषाक्त सम्बन्ध दूर करने में गांधीजी की सहायता करने के उद्देश्य से सरकार रकम दे देने का निश्चय कर रही है।” अपने पहले निर्णय से भारत-सरकार के इस तरह फिसल पड़ने पर बहुतांश को असन्तोष तथा क्षोभ हुआ। गांधीजी की दशा चिन्ताजनक होते देखकर कई हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं ने उनकी सात शर्तें पूरी करने का लिखित आश्वासन दिया तब उन्होंने अपना अनशन भंग किया। शर्तों में मुख्य ये थी कि “दंगों के बाद दिल्ली की जो मसजिदें मन्दिर या उत्पीड़ितों के वासस्थान के रूप में परिवर्तित कर ली गयी हैं, वे मरम्मत कराकर मुसलमानों को वापस की जायें। दिल्ली से भागकर जो मुसलमान पाकिस्तान चले गये, उन्हें वापस आने की सुविधा दी जाय। मुसलमानों का आर्थिक बहिष्कार न हो। रेलों में उनकी निरापद यात्रा की व्यवस्था हो और दिल्ली के मुसलिम बहुल मुहल्लों में गैर-मुसलिम रहनेवाले मुसलमानों की मर्जी से बसाये जायें।”

गांधीजी का आत्म-बलिदान—अधिकांश हिन्दुओं की यह धारणा हो रही थी कि गांधीजी मुसलमानों का बड़ा पक्षपात करते हैं। हिन्दू उत्पीड़ितों में इससे क्षोभ था। उनके पिछले अनशन के विरोध में प्रदर्शन भी हुआ था। नयी दिल्ली के विड़ल्य-भवन के मैदान में २ जनवरी को जब उनकी प्रार्थना-सभा हो रही थी १५ गज की दूरी पर एक बम का धड़ाका हुआ, पर गांधीजी बाल-बाल बच गये और, किसी दूसरे को भी कोई चोट नहीं आयी। बम चलानेवाला एक उत्पीड़ित हिन्दू था, जिसने अपना नाम मदनलाल बतलाया। उसने कहा कि “मैं गांधीजी को हिन्दू-धर्म का शत्रु समझता हूँ, अतः हिन्दू-धर्म के रक्षार्थ मैंने यह काम किया। पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपये दिये जाने के और मसजिद से निकाले जाने से मैं बहुत धुन्ध हो उठा।” इस घटना से गांधी जी किंचित भी विचलित न हुए। अभियुक्त के प्रति दया दिखलाने की सलाह देते हुए उन्होंने अपने भाषणमें कहा कि “मेरे प्राण लेने से हिन्दू-धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। यदि ईश्वर किसी पर धर्म-रक्षा का भार रखेगा तो वह मैं ही हूँगा। मेरे बताये हुए मार्ग पर चलने ही से हिन्दू धर्म बच सकेगा।” गांधी जी के विरुद्ध भावना बढ़ती देख कर सरकार उनकी रक्षा

के लिए पूरा पुलिस-प्रबन्ध करना चाहती थी, पर गांधीजी ने उसके लिए अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा कि “यदि मेरी रक्षा करनेवाला ईश्वर है तो मुझे कौन मार सकता है।” पर ३० जनवरी की शाम को बिड़ला-भवन में जब अपने निवास-स्थान से वे प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, एक मराठा युवक ने, जिसने अपना नाम नाथूराम विनायक गोडसे बतलाया, उन पर चार बार गोली चलायी। गोली उनके पेट में लगी और वे गिर पड़े। उनके मुख से अन्तिम शब्द निकले— ‘हा, राम।’

विश्वव्यापी शोक—यह समाचार सुनकर समस्त संसार स्तब्ध हो गया। आधुनिक इतिहास में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसके लिए संसार भर में इतना शोक मनाया गया हो। भारत तो शोकमग्न हो गया। दिल्ली में यमुना तट पर उनकी अन्त्येष्टि की गयी और प्रयाग-संगम में उनकी अस्थियों का विसर्जन। उनकी चिता-भस्म तो सभी तीर्थों और विभिन्न देशों में भेजी गयी। गांधीजी केवल भारत की ही नहीं विश्व की विभूति थे। उनके विचारों से भले ही मतभेद रहा हो, पर उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा सभी के हृदय में थी। जिस समय सर्वत्र पाशविकता बढ़ रही थी उन्होंने सत्य और अहिंसा का सन्देश संसार को सुनाया। भले ही उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता न मिली, पर इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जो मार्ग दिखलाया उसीमें विश्वका कल्याण है। जिस प्रकार उनका अन्त हुआ, उसने तो उन्हें इतिहास का ‘अमरशहीद’ बना दिया। भारत तो उनका सदा ऋणी रहेगा, कांग्रेस में उनके प्रवेश करते ही उसमें एक नयी स्फूर्ति आ गयी। लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने स्वातन्त्र्य-युद्ध का संचालन किया और अपने अन्तिम दिनों में भारत को स्वतन्त्र देखा लिया। पाश्चात्य सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव को उन्होंने बहुत कुछ रोका। आज देश में जो जागृति दिखलायी दे रही है, उन्हींकी देन है। देश ने उन्हें जो उपाधि दी, उसमें इसका पूरा भाव आ जाता है। वह उपाधि है ‘राष्ट्रपिता’।

क्षोभ की लहर—गांधीजी की जघन्य हत्या से देश भर में क्षोभ की लहर उठ पड़ी। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गांधी-विरोधी

आन्दोलन के कारण बहुतें को सन्देह हुआ कि उनकी हत्या में इन दोनों का हाथ है। नाथूराम गोडसे उग्र हिन्दू महासभाई था और पूने से 'अग्रणी' नामक पत्र निकालता था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से भी उसका सम्बन्ध बतलाया जाता था। इससे उक्त सन्देह और भी पुष्ट हो गया। फलतः उनके सदस्यों के प्रति जनता में प्रतिशोध की भावना आ गयी और उन्हें त्रस्त किया जाने लगा। सरकार भी इस निर्णय पर पहुँची कि गांधीजी की हत्या की जिम्मेदारी उस मनोवृत्ति पर है, जिसे मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी 'साम्प्रदायिक' संस्थाओं ने लोगों में उत्पन्न की। सरकार के आदेशानुसार देश भर में अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियाँ आरम्भ हो गयीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और मुसलिम लीग नेशनल गार्ड गैर-कानूनी घोषित कर दिये गये। इस परिस्थिति का कुछ लोगों ने अनुचित लाभ उठाया और उन्होंने दूसरों से बदला निकाला। दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा बहुत दिनों से चल रहा था। गांधीजी का हत्यारा एक ब्राह्मण था, इसलिए बम्बई प्रान्त के कुछ स्थानों में हजारों ब्राह्मणों के घर फूँक दिये गये और उन्हें लूट लिया गया। चाहे जिसको यह कहकर गिरफ्तार करा दिया गया कि 'उसने गांधीजी के न रहने पर मिठाई बाँटी।' स्वप्न में भी जिन पर कभी यह सन्देह नहीं हो सकता था कि गांधीजी की जघन्य हत्या जैसे कुकृत्य से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध होगा, उन्हें भी पकड़ कर जेल में ठूस दिया गया। विभिन्न प्रान्तों में स्वीकृत जनसुरक्षा कानून का, जिसके अन्तर्गत ऐसी गिरफ्तारियाँ हुईं, बहुत कुछ दुरुपयोग किया गया। बहुतें की तो यह भावना हो गयी कि गांधीजी की हत्या का बहाना लेकर कांग्रेसी सरकारें सभी प्रकार का विरोध समाप्त कर देना चाहती हैं। इस समय जो भी हुआ उसके समर्थन में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि परिस्थिति बहुत विषम थी।

राज्यों का विलयन—भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व ५८५ राज्यों का पृथक् अस्तित्व था। देश की एकता और दृढ़ता के लिए यह आवश्यक समझा गया कि इन सबको देश के साथ एक कर दिया जाय। इसके लिए दो उपाय निकाले गये—एक तो राज्यों को संघबद्ध करना और दूसरे उन्हें प्रान्तों में

विलीन कर देना। भारत-सरकार का राज्य-विभाग सरदार पटेल के हाथ में था, उन्होंने यह काम सम्पन्न करने में बड़ी नीति-निपुणता दिखलाई। राज्यों के संघर्ष अथवा प्रान्तों में विलीन करने के सम्बन्ध में तीन योजनाएँ बनायी गयीं। एक योजना के अनुसार २१९ छोटे-छोटे राज्य पड़ोसी प्रान्तों में मिला दिये गये। दूसरी योजना के अनुसार २२ राज्य केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित क्षेत्रों में संघटित कर दिये गये। ऐसे दो क्षेत्र हिमाचल प्रदेश और कच्छ हुए। तीसरी योजना के अनुसार १,५०,४०० वर्गमील क्षेत्रफल के २९१ राज्य संघर्ष किये गये। इनमें सौराष्ट्र (काठियावाड़ के राज्य), मत्स्य (अलवर, भरतपुर, धौलपुर के राज्य) विन्ध्यप्रदेश (बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड के राज्य), राजस्थान (राजपूताने के राज्य), मध्यभारत (ग्वालियर, इन्दौर आदि मध्यभारत के राज्य), पटियाला, पूर्वी पंजाब (पटियाला तथा पूर्वी पंजाब के राज्य) संघ बनाये गये। इन संघों में उनके प्रदेशों के मुख्य नरेशको राजप्रमुख बनाया गया। राजस्थान संघके राजप्रमुख महाराजा उदयपुर हुए। संघों में शामिल राज्यों की शासन तथा न्याय व्यवस्था एक कर दी गयी। राजप्रमुख के अधीन सबका एक मन्त्रिमण्डल बना दिया गया और धारासभा भी एक कर दी गयी। नरेशों की पेश्वनें निश्चित कर दी गयीं, उनकी मान-मर्यादा रक्षित रखी गयी, उत्तराधिकार भी उन्हींके वंश में बना रहा पर शासन के सब अधिकार ले लिये गये। काश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, भोपाल, त्रावणकोर, कोचीन जैसे कुछ बड़े-बड़े राज्य बच रहे, जो भारत संघसे सम्बद्ध हैं, उनकी परराष्ट्र-नीति, सुरक्षा तथा यातायात-व्यवस्था भारत-सरकार के हाथ में है। बनारस, रामपुर, टेहरी, त्रिपुरा जैसे कुछ छोटे राज्य भी इस समय तक छुटे हुए हैं, पर किसी न किसी रूप में उन सबके विलीन करनेका यत्न चल रहा है। इस योजना से भारत का नकशा ही बदल गया। इसका परिणाम क्या होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। पर इतना तो निश्चित है कि नरेशों की संस्थाका एक प्रकार से अन्त हो गया। इनमें कितने ही अति प्राचीन काल से चले आ रहे थे।

व्यापार में उन्नति—स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से भारत ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में प्रशंसनीय कदम उठाया। ३० अक्टूबर १९४७ को जिनेवा में टटकर एवं व्यापार सम्बन्धी समझौते के बारेमें २३ राष्ट्रों का जो सम्मेलन हुआ,

उसमें भारत-सरकार ने बड़ी कुशलता से अपने राष्ट्र का प्रतिनिधित्व किया। उपर्युक्त समझौते के अनुसार नवम्बर १९४७ में अर्थशास्त्रियों की परामर्श-दात्रि समिति तथा व्यापार-नीति समिति का संयुक्त अधिवेशन बम्बई में हुआ, जिसमें देशोंको कुछ तट-कर सम्बन्धी रियायत देने का निश्चय हुआ। १८७८ के समुद्र-कर कानून में भी आवश्यक संशोधन किया गया। सरकार ने आयात-नीति सुनिश्चित कर व्यापार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। व्यापार के लिए जहाजों की समुचित व्यवस्था की गयी। जहाजी सम्मेलनों में भी भारतने योगदान किया।

वैज्ञानिक अनुसन्धान—भारत-सरकार के अधीन यह नया विभाग खोला गया। औद्योगिक अभ्युत्थान में विज्ञान की सहायता देने के लिए दिल्ली, पूना, जमशेदपुर, कलकत्ता और धनबाद में राष्ट्रीय अनुसन्धानशालाएँ खोली गयीं। मद्रास में चर्म-अनुसन्धान और कराईकुडी में रासायनिक अनुसन्धानशाला स्थापित की गयी। 'परमाणु-शक्ति अनुसन्धान बोर्ड' परमाणु-शक्ति के विकास-कार्य में सचेष्ट हुआ। इसके लिए आवश्यक धातु 'थोरियम' दैवयोग से त्रावणकोर राज्यमें प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गयी। कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धान में भी प्रगति हुई। देश भर में ८६ जल अन्तरिक्ष अनुसन्धान केन्द्र खोले गये।

डाक-तार की व्यवस्था—भारत-विभाजन के अनन्तर डाक-तार के लगभग ९ हजार कर्मचारी पाकिस्तान चले गये, फिर भी व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान न होने पाया। पूर्वी पंजाब में तार-टेलिफोन की नयी लाइनें खड़ी की गयीं। पटने से गौहाटी तक भी टेलिफोनकी लाइन बनायी गयी और काश्मीर से टेलिफोन-सम्बन्ध स्थापित किया गया। १६ अगस्त १९४७ को देशी डाक-खानों की संख्या १६९९४ और शहरी डाकखानों की ३५४८ थी, वह बढ़कर क्रमशः १८,४३८ और ३,७७९ हो गयी। गांधी जी के स्मारक रूप में गांधी छाप के डाक टिकट चले, जिनकी बड़ी बिक्री हुई।

यातायात-साधन—खर्च बढ़ जाने के कारण रेल-भाड़ा कुछ बढ़ाना पड़ा। रेल-व्यवस्था में सुधार किया गया। पहले रेलों में पहला, दूसरा, ड्योढ़ा और तीसरा ये चार दर्जे रहते थे। इनमें दूसरा तथा ड्योढ़ा दर्जा मिलकर एक कर दिया गया। तीसरे दर्जे के यात्रियों की सुविधा की ओर अधिक ध्यान दिया

गया। उनके लिए नये दृढ़ के अच्छे डब्बे बनाये गये। देश में ही इंजन तथा डब्बे तैयार करने के लिए कारखाने खोले गये। यात्रा तथा व्यापार के नये जहाज भी तैयार हुए। इसमें सिंधिया नेविगेशनकम्पनी ने बहुत काम किया। हवाई यात्रा की लोकप्रियता बढ़ने लगी। भारत-सरकार ने ७ करोड़ रुपये की पूँजी से 'एयर इंडिया इण्टरनेशनल' नाम की कम्पनी खोली। विदेशों से महत्वपूर्ण हवाई समझौते हुए। हवाई जहाज के चालकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गयी। देश में हवाई जहाज बनाने के लिए भी कारखाने खुले। देश के भीतर कई नये हवाई मार्ग खोले गये। बिड़ला, डालमिया आदि पूँजीपतियों ने हवाई यात्रा के लिए अपनी कम्पनियाँ स्थापित कीं।

सुरक्षा-व्यवस्था—भारत से अंग्रेजी सेना हट जानेसे देश की समुचित सुरक्षा का भार भारत सरकार पर आ पड़ा। स्वतंत्र भारत की सेनाका प्रथम प्रधान सेनापति एक अंग्रेज ही रहा। स्थल सेनामें प्रायः सभी अफसर भारतीय कर दिये गये। सलाहकार के रूप में कुछ अंग्रेज अफसर रह गये। जल सेना-बढ़ाने के लिए ब्रिटेन से तीन जंगी जहाज खरीदे गये और उन्हें भारतीय नाम दिया गया। नौ-सेना की शिक्षा देने के लिए व्यवस्था की गयी। हवाई सेना बढ़ाने का भी प्रयत्न हुआ। इन दोनों विभागों में कुछ समय तक अंग्रेज अफसरों से ही सहायता लेनी पड़ी। प्रादेशिक सेना के रूप में सेना की दूसरी पंक्ति संघटित की गयी। शिक्षा-संस्थाओं में सैनिक शिक्षा की व्यवस्था की गयी, उनमें शिक्षाप्राप्त लोगों के सैनिक दल बनाये गये। इनमें लड़कियों का भी एक दल रखा गया। प्रान्तोंमें प्रान्तीय रक्षकदल नियुक्त हुए।

प्रान्तीय शासन—प्रान्तों में बहुत कुछ प्रगति हुई। नदियों के बाँध बाँधने और बिजली के कारखाने खोलने की योजनाएँ बनायी गयीं। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्राम-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। ग्राम पंचायत कानून पास हुए, जिनके द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर ग्राम-पंचायतोंको संघटित करना निश्चय हुआ। इन्हें ग्राम-प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकार दिये गये। जमींदारी उन्मूलन के लिए बिल पेश हुए। मद्यनिषेध कानून लागू करने के क्षेत्र बढ़ाये गये। युक्तप्रान्त तथा बिहार में देवनागरी में लिखी जानेवाली हिन्दी प्रान्तभाषा मानी गयी।

मध्यप्रान्त में भी हिन्दी प्रान्तभाषा मानी गयी पर साथ ही मराठी को भी मान्यता दी गयी। प्रान्तीय विषयों की मुख्य जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों पर रही, किन्तु उनमें एकरूपता लाना भारत-सरकार का काम रहा। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि प्रान्तीय विषय हैं, पर केन्द्रीय सरकार के भी वे विभाग हैं। उनके द्वारा प्रान्तोय व्यवस्था का निरीक्षण होता और उनमें एकरूपता लाने का प्रयत्न किया जाता है।

काश्मीर कमीशन—काश्मीर में भारतीय सेना ने बड़ा पराक्रम दिखलाया। वह पहाड़ी तथा बर्फीला प्रदेश है। अनेक कष्ट सहते हुए भारतीय सेनाने थोड़े ही काल में शत्रु के हाथ से बहुत कुछ भाग जीन लिया। मार्च में संयुक्तराष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त काश्मीर कमीशन भारत पहुँचा। उसने अपनेको ‘भारत-पाकिस्तान कमीशन’ ही घोषित किया। कई बार नयी दिल्ली तथा कराची जाकर उसने भारत तथा पाकिस्तान-सरकार से परामर्श किया। काश्मीर का भी उसने दौरा किया। उसके समक्ष पाकिस्तान ने मान लिया कि “उसकी सेनाएँ काश्मीर में आजाद काश्मीर-सरकार के सहायतार्थ लड़ रही हैं।” उसने बतलाया कि “काश्मीर पाकिस्तानका अंग है, उस पर भारतीय सेना के आक्रमण से पाकिस्तान के लिए खतरा उत्पन्न हो गया, अतः उसे वहाँ अपनी सेना भेजनी पड़ी।” कमीशन ने भारत तथा पाकिस्तान के सामने तुरत युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव रखा। भारत ने तो उसे स्वीकार कर लिया, पर पाकिस्तान ने ऐसी शर्तें रखीं, जो कमीशन की अधिकार-सीमा के परे थीं। कमीशन ने अपनी अन्तःकालीन रिपोर्टें सुरक्षा-समिति के सामने उपस्थित की। काश्मीर का प्रश्न लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच कटुता बढ़ती गयी। दोनों में आर्थिक, व्यापारिक कई प्रकार के समझौते हुए पर पाकिस्तान की ओर से किसी का भी समुचित पालन न हुआ। उल्टे वह भारत को ही उन्हें भंग करने का दोषी ठहराता रहा। पाकिस्तान के प्रधान मंत्री मियाँ लियाक़त अलीने साफ़ कह दिया कि “जब तक पाकिस्तान को काश्मीर नहीं मिल जाता, भारत के साथ उसकी मैत्री नहीं चल सकती।” उधर नेहरूजी ने कहा कि “पाकिस्तान पहले काश्मीर-युद्ध में भाग लेने की बात से इनकार करता रहा, पर अन्ततः कमीशन के सामने उसने स्वीकार किया कि उसकी सेनाएँ काश्मीरमें लड़ रही हैं। ऐसी दशा में उस पर कैसे विश्वास किया जाय ?”

कम्प्यूनिस्टों का कुचक्र—देश की राजनीतिक स्थिति में कम्प्यूनिस्टों ने अपना काम बनाने का अच्छा अवसर देखा। वे केवल मजदूरों तथा किसानों को ही नहीं भड़काने लगे, सशस्त्र आक्रमण की तैयारी भी करने लगे। कई जगह इसका पता लगा। हैदराबाद राज्य की सीमा पर के कई गाँवों पर उनके आक्रमण भी हुए। पश्चिमी बङ्गाल में वह दल गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। बम्बई में भी उनकी धरपकड़ हुई। देश के सामने यह मया खतरा खड़ा हो गया।

माउण्टबैटन का प्रस्थान—२१ जून १९४८ को लार्ड माउण्टबैटन विदा हो गये। वे भारत के अन्तिम वाइसराय तथा अन्तिम विदेशी गवर्नर जेनरल थे। जिस साम्राज्य की नींव लार्ड क्लाइव ने डाली थी, जिसे वारन हेस्टिंग्स ने दृढ़ बनाया, जिसका परिवर्द्धन लार्ड वेलेजली ने किया और लार्ड डलहौजी ने जिसे पूर्णता पर पहुँचाया, लार्ड माउण्टबैटन ने उसका अन्त कर दिया। १५ महीने के भीतर उन्होंने देश का नक्शा बदल दिया। भारत आते ही उन्होंने अपनी मिलनसारी, मधुरवाणी और कूटनीति से भारतीय नेताओं को मुग्ध कर लिया। कांग्रेसी नेताओं को उन्होंने समझाया कि यदि स्वतन्त्रता लेनी है तो देश का विभाजन मानना पड़ेगा और मिथां जिना को समझाया कि पाकिस्तान बनाना हो तो पंजाब तथा बङ्गाल का विभाजन स्वीकार करना होगा। कुछ लोग उन्हें भारत तथा ब्रिटेन के हितैषी, उदार तथा कुशल नीतिज्ञ मानते हैं और कुछ लोग उन्हें कूटनीति के पूरे आचार्य, जिन्होंने देश में सदा के लिए कलह के बीज बो दिये। वास्तव में वे क्या रहे, इसे भावी इतिहास ही बतलायेगा।



प्रथम भारतीय गवर्नर जेनरल—उनके स्थान पर श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी स्वतन्त्र भारत के प्रथम भारतीय गवर्नर जेनरल हुए। पहले कांग्रेसी शासन में वे मद्रास प्रान्त के प्रधान मन्त्री थे। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर वे पश्चिमी बङ्गाल के गवर्नर बनाये गये। लार्ड माउण्टबैटन जब कुछ दिनों के लिए लन्दन गये तब श्री राजगोपालाचारी स्थानापन्न गवर्नर

श्री राजगोपालाचारी

जेनरल हुए। पद ग्रहण करते समय उन्होंने कहा कि “यह निश्चय ही एक ऐतिहासिक अवसर है, जब कि इसी भूमि का एक सन्तान शासन का प्रधान हो रहा है। आपने मुझ में जो विश्वास प्रकट किया है, मैं प्रत्येक अवसर पर उसके अनुरूप ही कार्य करने का प्रयत्न करूँगा। हमारी समस्याएँ बहुत बढ़ गई हैं और हममें जो सर्वाधिक साहसी हैं, वे भी बेचैन हो उठे हैं। मेरे वे सहयोगी, जिनके ऊपर भारत का भार है, अपने जीवनका एक ही उद्देश्य रखते हैं और वह है भारत तथा उसके निवासियों की सुख समृद्धि।”

आर्थिक संकट—पौण्ड पावने के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार से समझौता करने के लिए भारत-सरकार की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल जुलाई में लंदन गया। कई सप्ताह तक बातचीत चलती रही, अन्ततः तीन वर्ष के लिए एक समझौता हुआ। भारत में ब्रिटिश-सरकार की जितनी सैनिक-सामग्री थी उसका दाम १ अरब ३३ करोड़ रुपया कूता गया और वह रकम मुजरा दी गयी। इसी तरह ब्रिटिश अफसरों के पेंशन की रकम भी मुजरा दी गयी। ब्रिटिश सरकार ने बाकी में से १ अरब ७ करोड़ रुपया तीन वर्ष में देना स्वीकार किया। इस समय देश बड़े आर्थिक संकट में था खर्च बेहद बढ़ गया था। आमदनी के कोई नये साधन न थे। अतः भारत-सरकार अधिकाधिक संख्या में नोट छापती चली गयी। फल यह हुआ कि महँगी और बढ़ गयी। मुद्रास्फीति रोकने के उपायों पर विचार करने के लिए नयी दिल्ली में सरकार के प्रतिनिधियों, अर्थविशेषज्ञों, बैंक, मजदूर-प्रतिनिधि आदि का एक सम्मेलन हुआ। उसने यह निश्चित किया कि “सरकारी खर्च में यथासम्भव कमी की जाय। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सभी विकास-योजनाओं की जांच की जाय और जो अनावश्यक हों उन्हें स्थगित कर दिया जाय। जमींदारों-उन्मूलन तथा मजदूर-निषेध योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करने की आशा न रखें। उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कर लगाने का कानून शीघ्र पास किया जाय। डाकखाने के ‘सेविंग बैंक’ में रुपया जमा करने की रकम बढ़ा दी जाय। कम्पनियों के लाभ पर नियंत्रण रखा जाय और सब तरह उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय।”

कायदे आजम जिना की मृत्यु—११ सितम्बर को पाकिस्तान के गवर्नर जेनरल कायदे आजम जिना की मृत्यु हो गयी। वे बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। पहले वे कांग्रेसी नेता थे और 'हिन्दू-मुसलिम एकता के दूत' समझे जाते थे। कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथ में आने पर वे उससे अलग हो गये। सत्याग्रह का सिद्धान्त उनकी समझ में न आया। थोड़े दिनों बाद उनकी दृष्टि मुसलिम लीग की ओर गयी और वे उसके अधिनायक बन बैठे। 'इस्लाम खतरे में है' इस नारे का उन्होंने पूरा लाभ उठाया। अपनी प्रखर बुद्धि, अथक परिश्रम और कूटनीति से उन्होंने पाकिस्तान स्थापित कर दिया। गांधीजी और उनके उद्देश्य, सिद्धान्त, विचार तथा कार्य एक दूसरे के प्रतिकूल थे पर दोनों धुन के पक्के थे। साल भर के भीतर ही भारत के ये दोनों असाधारण व्यक्ति चल बसे। भारत के इतिहास में सदा उनका नाम देश के विभाजन के साथ सम्बद्ध रहेगा, पर मुसलिम इतिहास में वे वर्तमान काल के एक सबसे बड़े मुसलिम राज्य के संस्थापक माने जायेंगे। उनके स्थान पर पूर्वी बंगाल के प्रधान मंत्री ख्वाजा नाजिमुद्दीन पाकिस्तान के नये गवर्नर जेनरल नियुक्त हुए हैं।

हैदराबाद में पुलिस कारवाई—पिछले समझौते का निजाम ने प्रारम्भ से ही पालन नहीं किया। भारतीय मुद्रा का प्रचलन अपने राज्य में उन्होंने विशेष आज्ञा से बन्द कर दिया और पाकिस्तान को २० करोड़ रुपये के ऋणपत्र दे दिये। सिकन्दराबाद से भारतीय सेना हट जाने से रजाकारों का उपद्रव बहुत बढ़ गया, वे खुले आम लूटपाट मचाने और हिन्दू जनता को त्रस्त करने लगे। उनके नेता कासिम रिजवी ने यह धमकी दी कि "यदि किसी प्रकार का बलप्रयोग किया गया तो भारत में उपद्रव मचा दिया जायगा और किसी दिन दिल्ली के लाल किले पर आसफ-जाही झण्डा फहरायेगा।" मुसलिम देशों में भी निजामी प्रतिनिधियों ने बहुत प्रचार किया। भारत-सरकार ने कई बार चेतावनी दी और समझौते के लिए प्रयत्न किया, पर सब बेकार हुआ। निजाम ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-समिति में भी मामला पेश किया और भारत पर समझौता भंग करने का दोषारोपण किया। समझौते का कोई मार्ग न देखकर भारत सरकार ने १३ सितम्बर को अपनी सेना भेज कर निजाम के विरुद्ध 'पुलिस कारवाई' की। पांच ही दिन के युद्ध में निजाम

ने आत्मसमर्पण कर दिया। कासिम रिजवी कैद कर लिया गया और निजाम के प्रधान-मंत्री लायक अली तथा उनके साथी भी नजरबन्द कर दिये गये। भारतीय सेना का संचालन दक्षिणी कमान के सेनानायक महाराज राजेन्द्रसिंह जी ने किया। निजाम ने कहा कि “हम तो सदा समझौते के लिए आतुर थे, पर लायक अली मंत्रिमण्डल और रजाकारों ने समझौता न होने दिया।” उन्होंने अपने परराष्ट्रमंत्री को सुरक्षा-समिति से हैदराबाद का मामला वापस ले लेने के लिए आदेश दिया पर उसने ऐसा नहीं किया। उसकी तथा पाकिस्तान की ओर से कहा गया कि “निजाम इसमें स्वतन्त्र नहीं। वे इस समय वही कह रहे हैं जो भारत-सरकार द्वारा उनसे कहलाया जा रहा है। निजाम के साथ बड़ी ज्यादती हो रही है। सुरक्षा-समिति को अपने प्रतिनिधि भेज कर जांच करानी चाहिये।” भारत-सरकार की ओर से कहा गया कि “यह भारत का घरेलू मामला है और अब वह ठीक ढंग से समाप्त हो गया, इसमें सुरक्षा-समिति को बोलने का कोई अधिकार नहीं।” शान्ति स्थापित होने तक हैदराबाद में सैनिक शासन की व्यवस्था कर दी गयी। दिसम्बर १९४८ में भारत के प्रधान मन्त्री नेहरूजी स्वयं हैदराबाद गये और निजाम से उनकी मित्रतापूर्ण मुलाकात हुई।

प्रधानमन्त्रि-सम्मेलन—अक्तूबर में लंदन में ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के प्रधान मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें भाग लेने के लिए भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू जी लंदन गये। वहाँ राष्ट्रमण्डल की रक्षा और आर्थिक नीतिके सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार हुआ। साथ ही यह प्रश्न भी आया कि राष्ट्रमण्डल का संघटन किस प्रकार का हो कि जिसमें भारत-संघ का उसमें बना रहना सम्भव हो सके। इस सम्बन्ध में कई सुझाव रखे गये। इसका अन्तिम निर्णय विधान-सम्मेलन के हाथ में है, जिसमें इस समय तक इस पर विचार चल रहा है। इन्हीं दिनों पेरिस में संयुक्तराष्ट्र-संघ की साधारण सभा का अधिवेशन हो रहा था। लंदन से लौटते हुए नेहरू जी पेरिस गये, वहाँ उनका खूब स्वागत हुआ और संयुक्तराष्ट्र-संघ की एक विशेष बैठक उनका भाषण सुनने के लिए की गयी। उसमें नेहरू जी ने भारत की नीति स्पष्ट करते हुए सबको गांधी जी द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने की सलाह दी।

काश्मीर में युद्ध बन्द—सयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त काश्मीर-कमीशन ने अपनी आरम्भिक जाँच समाप्त करके भारत तथा पाकिस्तान-सरकारके सामने यह सुझाव रखा कि काश्मीर में युद्ध स्थगित कर दिया जाय। पाकिस्तान अपनी सेनाएँ हटा ले, जिस प्रदेश पर उसका अधिकार हो गया है, वह आजाद काश्मीर-सरकार के हाथ में रहे। भारत भी क्रमशः अपनी सेनाएँ हटा ले, केवल शांति-स्थापन के लिए वह कुछ सेना छोड़ दे। इस तरह युद्ध स्थगित हो जाने पर मतगणना का कार्य आरम्भ हो। भारत ने तो शर्तें मान ली, पर पाकिस्तान ने कुछ ऐसी शर्तें रखीं, जिन्हें स्वीकार करने में कमीशन ने असमर्थता प्रकट की। युद्ध स्थगित कराने के प्रयत्न में विफल होने पर कमीशन वापस चला गया। पेरिस में पाकिस्तान तथा भारतीय प्रतिनिधियों से उसकी बात जारी रही। अन्ततः दोनों राज्य युद्ध स्थगित करने के लिए राजी हो गये और १ जनवरी १९४९ की आधी रात से काश्मीर में युद्ध स्थगित कर दिया गया।

परिशिष्ट (२)

कला और साहित्य

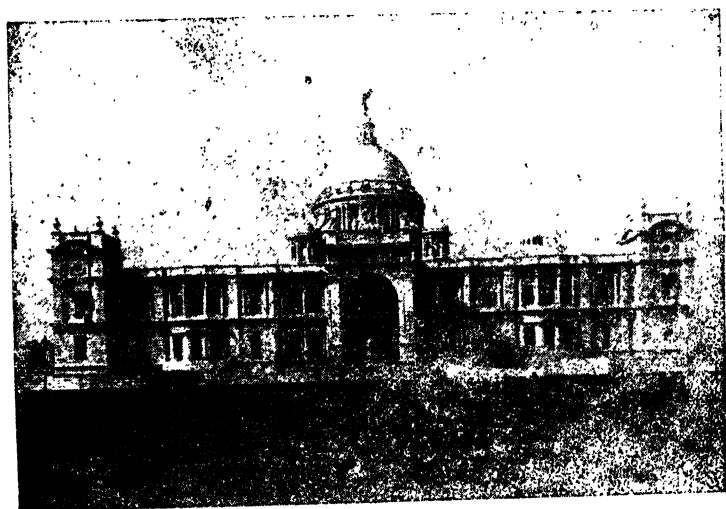
ललित कलाएँ—भारत की मुख्य उपयोगी कलाओं का जिस तरह नाश हुआ, दिखलाया जा चुका है। ब्रिटिश सरकार को उदासीनता के कारण इस काल में ललित कलाओं की भी अवनति हो गई। मुगल बादशाहों की संरक्षकता में इन कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी। उनके पतन होने के थोड़े ही वर्षों बाद देश में ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य हुआ, जिसने इनकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसी दशा में इन कलाओं ने देशी राज्यों में आश्रय लिया, परन्तु राजाओं का यूरोप जाना-आना प्रारम्भ हो जाने पर इनको प्रायः वहाँ से भी हटना पड़ा। सस्ती और तड़क-भड़कवाली विलायती चीजों के भुलावे में जनता भी पड़ गई। इस तरह भारतीय ललित कलाओं के नष्ट होने की नौबत आ गई। परन्तु इतने ही में राष्ट्रीयता की जागृति आरम्भ हुई, जिसने इन कलाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। भारत का शासन जब से ब्रिटिश राजाओं के अधीन हुआ, तब से सरकार ने भी इस ओर कुछ ध्यान दिया। कलकत्ता, बम्बई, मदरास तथा लाहोर में 'आर्ट्स स्कूल' (कलाविद्यालय) स्थापित किये गये। परन्तु इनमें बहुत दिनों तक भारतीय कलाओं के पुनरुद्धार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। सरकारी प्रदर्शनियों में विलायती चीजों की ही भरमार होती रही। विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में कलाओं को कोई स्थान न था। जनता की इस ओर प्रवृत्ति देखकर सरकार को भी कुछ न कुछ करना पड़ता था, परन्तु अधिकांश विदेशी अफसर न भारतीय ललित कलाओं के सच्चे भावों को समझते थे और न उनकी उन्नति के लिए कोई प्रयत्न ही करते थे। इस तरह ये कलाएँ सरकारी संरक्षकता से, जो उनकी उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक थी, वास्तव में वंचित रहीं।

स्थापत्य—सुन्दर इमारतें बनाने की कला बड़े महत्व की है। इसमें कई मुख्य उपयोगी तथा ललित कलाओं का समावेश हो जाता है। भारत की यह कला किसी समय बड़ी उन्नत अवस्था में थी। प्राचीन तथा मुगल-काल की सुन्दर इमारतों को देखकर अब भी लोग दंग रह जाते हैं। परन्तु ब्रिटिश काल में इसका भी हास हो गया। पहले-पहल जो अँगरेज आये थे वे हिन्दुस्तानी ढङ्ग की इमारतों में ही रहते थे। सूरत में उस समय के बने हुए अँगरेजों के मकबरे बिलकुल मुसलमानी ढङ्ग के हैं। परन्तु जब अँगरेजों ने मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई को बसाया, तब इनमें इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रचलित भेदे ढङ्ग की इमारतों का अनुकरण किया गया। कम्पनी के व्यापारियों को तब इसका कुछ भी ध्यान न था कि आगे चलकर देश पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। ब्रिटिश आधिपत्य के साथ साथ जब इन नगरों का राजनैतिक महत्व बढ़ गया, तब जनता तथा राजा-महाराजाओं की दृष्टि में यहाँ की इमारतें आदर्श बन गईं और इन्हीं की नकल होने लगी। सबसे पहले मुशिदाबाद तथा लखनऊ के नवाबों ने इस ढङ्ग की इमारतें बनवाना प्रारम्भ किया। ऐसी इमारतों में रहना आधुनिक सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा और जगह जगह इनका प्रचार हो गया। 'मुहकमा तामीरात' (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट) खोलकर सरकार ने सार्वजनिक इमारतों का ठेका अपने हाथ में ले लिया। यह विभाग अँगरेज इंजीनियरों को सौंपा गया, जिन्हें भारतीय स्थापत्य का कुछ भी ज्ञान न था। इंजीनियरिंग के कालेजों में भी इस भारतीय कला की पढ़ाई के लिए कोई प्रयत्न न किया गया। उस समय के इंजीनियर भारत में भी कोई ऐसी कला है इसको मानने के लिए तैयार न थे। इस विभाग ने देशी स्थापत्य की परम्परा का बिना कुछ ध्यान किये हुए इमारतें बना डालीं। कलकत्ता आर्ट्स स्कूल के भूतपूर्व अध्यक्ष हैवेल के शब्दों में इसके बनावे हुए कालेज 'सिपाहियों की बैरेक' से जान पड़ते हैं।^१

इधर बहुत धन फूँककर कलकत्ता में 'विक्टोरिया मेमोरियल हाल' (विक्टोरिया स्मारक भवन) बनाया गया है। लार्ड कर्जन इसको सुन्दरता में 'ताज' के

^१ हैवेल, एसेज आन इंडियन आर्ट, इंडस्ट्री ऐंड एजुकेशन।

सदृश बनवाना चाहता था, परन्तु उसके साथ तुलना में यह तुच्छ जान पड़ता है। जिस समय दिल्ली को फिर से राजधानी बनाने की घोषणा की गई, तब सबको यह आशा हुई कि इसकी नई इमारतों के बनाने में हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों को अपनी कारीगरी दिखलाने का अवसर दिया जायगा। परन्तु इनका निर्माण भी अँगरेज इंजीनियरों को सौंपा गया। इनके बनाने में १४ करोड़ से अधिक रुपया फूँका गया, पर तब भी मुगल काल की इमारतों के सामने ये भद्दी



विक्टोरिया मेमोरियल हाल

जान पड़ती हैं। डाक्टर जेम्स कर्जिस की राय में इनके बनाने में मौलिकता तथा कल्पना से तो काम ही नहीं लिया गया है। सेक्रेट्रियेट के दफ्तर और कौंसिलभवन 'कैदखाने' से जान पड़ते हैं। ये इमारतें अधिकतर 'इतालियन टङ्क' की बनाई गई हैं। कहीं कहीं जाली, छजा तथा छतरी देकर इनमें हिन्दुस्तानीपन लानेका प्रयत्न किया गया है। वाइसराय के भवन में इस ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है।

फर्ग्युसन के शब्दों में भारत में यह कला अब भी जीवित है। उसका कहना है कि “मैंने स्थापत्य के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो कुछ हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों से सीखा, उसका मुझे उस विषय की सब किताबें पढ़ जाने पर भी पता न चला था।” बनारस के घाट, मथुरा के मन्दिर, जयपुर नगर तथा बहुत से राजवाड़ों की कई एक इमारतें ब्रिटिशकाल ही की बनी हुई हैं, जिनमें हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों की कारीगरी का नमूना दिखलाई देता है। इस समय भी कहीं कहीं एक-आध इमारत इस ढंग की बन जाती है। मजबूती में इनका मुकाबला करना सहज नहीं। परन्तु सरकार, राजा, रईसों तथा अधिकांश जनता की उदासीनता के कारण यह कला धीरे धीरे नष्ट हो रही है। प्रायः कहा जाता है कि यह आधुनिक आवश्यकताओं के उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विदेशी कला के सिद्धान्तों को अपने ढंग पर ले आने का हिन्दुस्तानियों में सदा से एक बड़ा गुण रहा है। आजकल इमारत का खाका खींचनेवाले और उसके बनानेवाले भिन्न भिन्न होते हैं। परन्तु मध्यकालीन यूरोप की तरह भारत में ये दोनों काम मिस्त्री के ही हाथ में रहते थे। इस तरह हैबेल की राय में उसको इमारतों के बनाने में अपने भावों को प्रकट करने का अवसर मिलता था। परन्तु अब वह सुन्दर इमारतों की कल्पना करने के अयोग्य समझा जाता है और उसे केवल दूसरों के खींचे हुए नकशों के ढंग की इमारतें बनाने का काम दिया जाता है, जिनमें उसे अपनी कल्पना-शक्ति के दिखलाने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता।

चित्रकारी—सत्रहवीं शताब्दी में चित्रकारी के दो मुख्य ढंग थे, जो ‘मुगल कलम’ और ‘राजपूत या हिन्दू कलम’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। ‘मुगल कलम’ की उत्पत्ति अकबर के समय में हुई थी। इसमें प्रसिद्ध व्यक्तियों के छोटे छोटे चित्र, दरबार तथा शिकार के दृश्य और फूल-पत्ते तथा पशु-पक्षियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। जहाँ तक सम्भव हो इनकी पूरी नकल करनेका प्रयत्न किया जाता था। इस तरह इस कलम का मुख्य लक्षण ‘स्वाभाविकता’ था। मुगल साम्राज्य का पतन होने पर दिल्ली के बहुत से चित्रकार लखनऊ चले गये। कुल लोग बिहार तथा बंगाल में भी आबाद हो गये। बहुत से अँगरेज इन चित्रकारों से अपने ढंग की तस्वीरें बनवाने लगे, जिसका फल यह हुआ कि इन

पर पाश्चात्य चित्रकारी का प्रभाव पड़ने लगा। इस समय के बने हुए लखनऊ के प्रायः सभी चित्र इसी मिश्रित ढंग के हैं। बंगाल और अवध की नवाबियों के अन्त के साथ इस कला का भी लोप हो गया।

मुगल कलम के साथ साथ उत्तरी भारत के हिन्दू राज्यों में एक दूसरी ही चित्रकला की उन्नति हो रही थी। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भारत की



सुदामा की कुटी (राजपूत कलम)

प्राचीन चित्रकला से था। इसमें पौराणिक तथा जनसाधारण के जीवन के दृश्य दिखलाने का बड़ा प्रयत्न किया जाता था। इसका मुख्य केन्द्र जयपुर था। यह 'राजस्थानी' या 'राजपूत कलम' के नाम से प्रसिद्ध है।^१ मुगल दरबारों में भी इन चित्रों की माँग थी, इसलिए बहुत से चित्रकार दिल्ली,

^१ डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने इसको 'राजपूत कलम' का नाम दिया है, परन्तु श्री नानालाल चमनलाल मेहता की राय में इसको 'हिन्दू कलम' कहना ठीक है। स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग, पृ० ५।

आगरा तथा लाहोर में आबाद हो गये थे। मुगलों का पतन होने पर इनको पंजाब की छोटी छोटी पहाड़ी राज्यों में आश्रय मिला। इनमें काँगड़ा इस चित्रकला का मुख्य केन्द्र हुआ। इस तरह 'काँगड़ा' या 'पहाड़ी कलम' का प्रचार हुआ। राजा संसारचन्द्र के समय में इसकी बड़ी उन्नति हुई। टिहरी (गढ़वाल) तथा बुंदेलखण्ड के राज्यों में भी इसका प्रचार हुआ। गढ़वाली चित्रकारों में मोलाराम, माणकू और चैतू का बड़ा नाम है। पहाड़ी चित्रकार राजाओं के छोटे छोटे चित्र भी बड़े सुन्दर बनाने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के कई शहरों में उनकी माँग होने लगी। महाराजा रणजितसिंह के दरबार में भी कई एक पहाड़ी चित्रकार रहते थे। इनमें कपूरसिंह बड़ा प्रसिद्ध था। पंजाब पर अँगरेजों का अधिकार हो जाने से इन लोगों का भी आश्रय जाता रहा। सन् १९०५ के भीषण भूकम्प ने तो काँगड़ा नगर और वहाँ के बचे-खुचे चित्रकारों का अन्त ही कर दिया।

दक्षिण में हैदराबाद मुसलमान चित्रकारों का केन्द्र था। तंजोर और मैसूर में हिन्दू चित्रकारों को आश्रय मिलता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के कई एक चित्रकार तंजोर के राजा सरफोजी के दरबार में पहुँच गये थे। तंजोर के अन्तिम राजा शिवाजी के समय (१८३३-५६) में इन चित्रकारों के १८ घराने थे। ये लोग हाथीदाँत और लकड़ी पर भी काम करते थे। इनके बनाये हुए राजाओं के पूरे कद के तैलचित्र तंजोर के दरबार-भवन में इस समय भी देखने को मिलते हैं। मैसूर में राजा कृष्णराज वादयार के समय में इस कला की अच्छी उन्नति हुई। सन् १८३८ के बाद से वहाँ भी इसका लोप हो गया।^१ लन्दन के 'ब्रिटिश म्यूजियम' और बोस्टन में भारत के प्राचीन चित्रों के सबसे बड़े संग्रह हैं। भारत में भी इनके संग्रह करने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है।

बंगाल में श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके कुछ साथियों की अध्यक्षता में इस कला के प्राचीन सिद्धान्तों को फिर से काम में लाने का प्रयत्न हो रहा

है। इनकी राय में भारत की इस कला पर गणश्रात्य प्रभाव पड़ना ठीक नहीं है। इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का मत है कि विदेशी चित्रकारी के सिद्धान्तों को भी अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी दृष्टि से कई चित्रकार विलायती तैल तथा जलचित्रों की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

संगीत—मुहम्मदशाह (१७१९) अन्तिम मुगल बादशाह था, जिसके दरबार में गवैयों का मान होता था। आदरंग और सादरंग की बीणा प्रसिद्ध थी। इन्हीं दिनों शोरी ने हिन्दुस्तानी गाने में 'टप्पे' का बड़ा प्रचार किया। मुगल साम्राज्य का पतन होने पर यह कला भी देशी नरेशों के दरबारों में रह गई। अँगरेज तो बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी गाने को बिलकुल जंगली गाना ही समझते रहे। उनमें पहले-पहल सर विलियम जोन्स, विलियम औसले, कप्तान डे और विल्ड ने इसकी खूबियों को समझा। सन् १८१३ में पटना के रईस मुहम्मदरिजा ने 'नगमाते आसफी' लिखा, जिसका उत्तरी भारत के संगीत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके रागलक्षणों का हिन्दुस्तानी गाने में बहुत प्रचार है। इन्हीं दिनों जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने एक 'संगीत-सम्मेलन' किया, जिसके प्रयत्न से 'संगीतसार' की रचना हुई। सन् १८४२ में कृष्णानन्द व्यास ने कलकत्ते से 'संगीतरागकल्पद्रुम' नामक हिन्दी गीतों का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित करवाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सर सुरीन्द्रमोहन ठाकुर ने संगीत का वृहत् इतिहास तथा अन्य कई उपयोगी पुस्तकें निकालीं।

दक्षिण में तंजोर के राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) का दरबार गवैयों का केन्द्र था। स्वयं तुलजाजी को संगीत में बड़ी योग्यता थी। उसका 'संगीत-सारामृतम्' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है। त्यागराज (१८००-१८५०) तंजोर ही का रहनेवाला था, जिसके कीर्तनों का दक्षिण में बहुत प्रचार है। षट्काल गोविन्द का भी दक्षिण में बड़ा नाम है। कोचिन और त्रावणकोर के राजाओं की संगीत में बड़ी रुचि थी। पेरुमाल महाराज की रचनाएँ संस्कृत, तामिल, तेलुगू, मलयालम, मराठी और हिन्दुस्तानी में भी मिलती हैं।^१

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया गया। मुख्य मुख्य नगरों में 'संगीत-समाज' स्थापित हो गये। सन् १९१६ में महाराजा बड़ौदा की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन' हुआ। सन् १९१९ में 'अखिल भारतीय संगीत-परिषद्' (आल इंडिया म्युजिक एकेडेमी) की स्थापना हुई। सन् १९२७ में युक्तप्रान्तीय सरकार की ओर से लखनऊ में 'मैरिस संगीत-विद्यालय' खोला गया। अब बहुत से स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध हो गया है। नाट्यकला में 'यात्राओं' तथा 'रास-मंडलियों' का स्थान थियेट्रो ने लिया। पारसी कम्पनियों में बहुत दिनों तक पाश्चात्य थियेट्रो की भद्दी नकल की गई। पर शिक्षा के साथ साथ जनता की रुचि में परिवर्तन हुआ और इस कला के सुधार का भी प्रयत्न होने लगा। बङ्गाल तथा महाराष्ट्र ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। थोड़े दिनों से व्यवसायी नाटक कम्पनियों के खेलों में भी कुछ सुधार हो रहा है, पर वास्तव में इस समय तक भारत में राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव ही है।

साहित्य—देश के साहित्य की उन्नति की ओर ब्रिटिश सरकार केवल उदासीन ही नहीं रही, बल्कि अँगरेजी भाषा का प्रचार करके उसने उसके मार्ग में रुकावटें डालीं। परन्तु जनता उसको भूल न सकी। इस काल में संस्कृत साहित्य की कोई वृद्धि नहीं हुई पर उसका पुनरुद्धार अवश्य हुआ। बौद्धकाल के बाद से भारतीय विचारों का अन्य देशों में प्रचार बन्द ही सा हो गया था, पर यूरोप के साथ सम्बन्ध हो जाने से यह सिलसिला फिर जारी हो गया। यूरोप के, खासकर जर्मनी के, कई विद्वानों ने संस्कृत के सभी विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया। बड़े बड़े शहरों में इसके लिए समितियाँ स्थापित हो गईं और विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में संस्कृत को स्थान दिया गया। सभी विषयों के संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद और उनकी विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। मैक्समूलर ऐसे विद्वानों का भारत सदा कृतज्ञ रहेगा। भारत में भी नये ढंग पर संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा तथा काश्मीर दरबारों की ओर से वहाँ के पुस्तकालयों के हस्तलिखित ग्रन्थ विद्वानों द्वारा सम्पादित करवाकर प्रकाशित किये जाने लगे। काशी, कलकत्ता, पूना तथा अन्य

स्थानों में भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ काम हो रहा है और प्रतिवर्ष बहुत से अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो जाते हैं।

ब्रिटिश काल सबसे अधिक देश की आधुनिक भाषाओं की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। प्रायः इन सभी भाषाओं में गद्य की रचना इसी काल में प्रारम्भ हुई। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा और इन भाषाओं के साहित्य को देश-काल के अनुसार बनाने का प्रयत्न किया गया। छापेखाने का साधन मिल जाने से इनकी उन्नति में बड़ी सुगमता हो गई। पत्र-पत्रिकाओं का एक नया मार्ग खुल गया। प्रायः सभी विषयों पर अब इन भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

हिन्दी—भारत में अँगरेजी राज्य के आरम्भकाल में हिन्दी साहित्य के आधुनिक अभ्युदय का आरम्भ होता है। यों तो हिन्दी गद्य के कुछ नमूने ब्रज भाषा के एक आध प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं, पर सबसे पुराना आधुनिक हिन्दी गद्य का जो मुख्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, वह मुंशी सदासुखलाल का किया हुआ भागवत का स्वच्छन्द अनुवाद 'सुखसागर' है। इसमें पंडितों तथा साधु सन्तों में प्रचलित भाषा के शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया गया है। इसके अनन्तर मुंशी इंशाउल्लाखां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसमें "हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले" इसका उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है, पर पद्यों की रचना उर्दू ढङ्ग की है। इसी लिए कुछ लोग इसे हिन्दी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। सन् १८०० के लगभग कलकत्ते में हिन्दी गद्य के कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसमें श्रीरामपुर के मिश्ररियों ने भी योग दिया। डाक्टर गिलक्राइस्ट की अव्यक्षता में 'फोर्ट विलियम कालेज' में भी इस सम्बन्ध में कुछ काम हुआ। यहाँ के लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' की रचना की और सदल मिश्र ने 'नसिकेतोपाख्यान' लिखा। इनमें लल्लू-लालजी की अपेक्षा सदल मिश्र की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है, पर एक में ब्रजभाषा का और दूसरे में पूर्वी भाषा का पुष्ट स्पष्ट देख पड़ता है।

उत्तर भारत में अँगरेजी राज्य के स्थापित होने पर यहाँ की दरबारी भाषा

के स्थान पर राज-काज की भाषा उर्दू मानी गई। मुसलमान हिन्दी को कोई भाषा मानने के लिए तैयार न थे। उनका कहना था कि जब राज-काज की भाषा उर्दू है, तब उसी में सब प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए। राजा शिवप्रसाद ने इस मत का विरोध किया और उद्योग करके हिन्दी की पढ़ाई को भी शिक्षाक्रम में स्वीकार कराया। पर साथ ही साथ समय की प्रगति के अनुकूल ऐसी भाषा का स्वरूप खड़ा किया जो देवनागरी और फारसी अक्षरों में सुगमता से लिखी जा सके। इस भाषा में प्रायः फारसी शब्दों की अधिकता होती थी। राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस मत के विरोधी थे और भारतीय संस्कृति की परम्परा से अपने को अलग करने के लिए तैयार न थे। उन्होंने हिन्दी को ऐसा रूप दिया जिसमें स्वदेशी शब्दों की

अधिकता थी। शब्दों की इस विभिन्नता को छोड़कर हिन्दी और उर्दू के ढाँचे में उस समय कोई अन्तर न था। पीछे चलकर उर्दू फारसी की ओर अधिक झुकी और हिन्दी ने संस्कृत का आश्रय लिया।^१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने भाषा को “चलता, मधुर और स्वच्छ” बना दिया। वास्तव में वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं। साथ ही



भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

साथ उन्होंने साहित्य को भी नवीन मार्ग दिखलाया । नई शिक्षा के प्रभाव से देश की विचारधारा में बड़ा परिवर्तन हो रहा था । समाज-सुधार तथा देशभक्ति की नई उमंगें उठ रही थीं । उन्होंने साहित्य को देश-काल के अनुकूल बना दिया । बंगाल की नवीन साहित्यिक प्रगति का भी उन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने हिन्दी साहित्य की भी उसी ढङ्ग पर उन्नति करने का प्रयत्न किया । उनके जीवनकाल में ही पंडित बदरीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, बाल-कृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास और लाला श्रीनिवासदास ऐसे लेखकों और कवियों का एक मंडल तैयार हो गया, जो उनके अस्त हो जाने पर भी हिन्दी साहित्य के इस नये विकास में बहुत कुछ काम करता रहा । अनेक प्रकार के गद्य, प्रबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे ।^१

ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में प्राचीन शैली के भी कई एक प्रसिद्ध कवि हुए । इनमें पद्माकर भट्टका नाम मुख्य है । मराठा तथा राजपूत दरबारोंमें इनका बड़ा मान था । 'रीतिकाल' के कवियों में इनका स्थान 'सर्वश्रेष्ठ' माना गया है । अलीगढ़िब खाँ (प्रीतम) और सैयद गुलामनबी (रसलीन) ऐसे मुसलमान भी इन दिनों हिन्दी में कविता करते थे । गद्य के विकासकाल में भी कविता की प्राचीन परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही, परन्तु भारतेन्दु के समय से इसकी धारा ने भी एक नया रंग धारण किया । केवल भक्ति और शृंगार रस से हटकर इसका सम्बन्ध प्रतिदिन के जीवन से हो गया । भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने देशकाल के अनुकूल नये-नये विषयों की ओर ध्यान दिया, पर उन्होंने ब्रजभाषा की परम्परा को नहीं छोड़ा । उनकी कविताएँ ब्रजभाषा में प्रचलित छन्दों में ही हुआ करती थीं । भारतेन्दुजी के न रहने के कुछ ही दिनों बाद इस सम्बन्ध में भी नये विचार उत्पन्न हुए । गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में यह बात खटकने लगी । इसका फल यह हुआ कि खड़ी बोली में भी कविता होने लगी । यह प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ रही है । कुछ दिनों से अन्यानुप्रास-रहति अथवा अतुकान्त कविता की भी चाल चल पड़ी । काव्य में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध) ने बड़ी ख्याति

प्राप्त की। श्री मेथिलीशरण गुप्त की कविताएँ बड़ी लोकप्रिय हैं। नाटक लिखने में श्री जयशंकर प्रसाद और उपन्यास लिखने में श्री प्रेमचन्द बहुत प्रसिद्ध हुए।

सन् १९०३ में 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई, तब से हिन्दी की उन्नति के लिए संगठित रूप से काम होने लगा। नाटक, उपन्यास, इतिहास, निबन्ध, समालोचना तथा वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें और सुन्दर पत्र-पत्रिकाएँ बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगीं। कुछ दिनों तक अनुवादों की भरमार रही पर अब उच्च कोटि के मौलिक ग्रन्थ भी निकलने लगे हैं। विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची परीक्षाओं में भी हिन्दी को स्थान मिल गया। जब से महात्मा गांधी ने इन्दौर में 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के सभापति का आसन ग्रहण किया, तब से उस संस्था द्वारा आसाम और मदरास ऐसे प्रान्तों में भी हिन्दी के प्रचार का प्रबन्ध हुआ। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होनेपर सर्वप्रथम युक्तप्रान्तीय सरकारने अपने यहाँ देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को प्रान्तीय भाषा घोषित किया। उसका अनुकरण बिहार तथा मध्यप्रान्त ने भी किया। उसे राष्ट्रभाषा घोषित करने के प्रश्न पर विधान-सम्मेलन में विचार चल रहा है। आशा है कि वह शीघ्र उस उच्च आसन पर सुशोभित होगी।

उर्दू—जो प्रात संस्कृत के सम्बन्ध में कही गई वही अरबी तथा फारसी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों के अच्छे-अच्छे संस्करण भारत में प्रकाशित होने लगे, जिनका प्रचार अफगानिस्तान, ईरान तथा अन्य मुसलमानों राज्यों में हो रहा है। 'मदरसतुल आलिया' कलकत्ता, 'दाखल-उद्दूम' देवगन्ध (सहारनपुर) और 'नदवतुल उलमा' लखनऊ ऐसे विद्यालयों में अरबी तथा फारसी के अध्ययन का अच्छा प्रबन्ध है। इनमें भारत से बाहर के भी छात्र शिक्षा पाते हैं। परन्तु ब्रिटिश काल उर्दू की उन्नति के लिए ही प्रसिद्ध है। इसके कवियों का मुख्य केन्द्र दिल्ली था। मुगल बादशाहों की अवनत अवस्था में भी दर्द, सोज और सोदा ऐसे कवियों ने कुछ काल तक उनके दरबार में अपनी सुन्दर रचनाओं द्वारा बड़ी कीर्ति प्राप्त की। दर्द ने उर्दू कविता को 'भाषा दोहरों' के प्रभाव से मुक्त किया और अपने उच्च सूफी विचारों से इसको गम्भीर बना दिया। सोज ने गजलों में अच्छा नाम पैदा

किया। सोदा ने भी हिन्दी शब्दों की बड़ी काट-छाँट की, पर उसने हिन्दी साहित्य से उर्दू का नाता एकदम तोड़ नहीं दिया। उसकी रचनाओं में कहीं-कहीं अर्जुनकी वीरता और कृष्ण की लीलाओं का भी उल्लेख मिलता है। उर्दू काव्य में उसने 'कसीदा' और हास्यरस की रचनाओं का प्रचार किया। मीर तकी की भी प्रसिद्धि पहले-पहल दिल्ली ही में हुई। उर्दू गजलों का यह 'शेख सादी' माना जाता है। इंशा को उर्दू तथा हिन्दी दोनों में कविता का अभ्यास था। अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह (जफर) स्वयं एक अच्छा कवि था। उसके समय में गालिब और जौक ऐसे कवियों से दिल्ली दरबार साहित्य की दृष्टि से अन्तिम बार जगमगा उठा। जौक ने उर्दू भाषा को स्वच्छ बनाया और कसीदा तथा गजल में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। गालिब बड़े उच्च कोटि का विद्वान् और कवि था। वह फारसी तथा उर्दू दोनों में कविता करता था। उसकी रचनाएँ उच्च विचारों से पूर्ण तथा मौलिक हैं। कहीं कहीं उनमें हास्यरस का भी आनन्द आ जाता है। उर्दू के गद्य और पद्य दोनों में उसको उच्च स्थान प्राप्त है।

मुगल बादशाहों की दशा बिगड़ने पर दिल्ली के बहुत से कवियों ने लखनऊ के नवाबों के यहाँ आश्रय लिया। आगे चलकर यहाँ नासिख और आतिश ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ में 'मर्सियों' का बड़ा प्रचार हुआ। इनमें कहीं कहीं बड़े मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये गये हैं। उर्दू साहित्य को गन्दा करनेवाली 'रेखती' कविता का प्रचार लखनऊ के ब्यसनी दरबार में ही अधिक हुआ। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिदअली (अख्तर) को भी कविता का बड़ा शौक था। लखनऊ के बाद उत्तरी भारत में उर्दू के कवियों का रामपुर केन्द्र बन गया। अँगरेजी शिक्षा का काफी प्रभाव पड़ने पर उर्दू कविता की गति-विधि भी बदलने लगी। केवल शृंगाररस को छोड़कर इसका भी प्रवाह समाज और देश की ओर हो गया। आजाद और हाली के साथ उर्दू साहित्य में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। कवियों की प्रवृत्ति नये विषयों की ओर हुई और गजलों का स्थान 'मुसद्दस' तथा 'मसनवियों' ने लिया।^१

उर्दू गद्य की उन्नति पहले-पहल कलकत्ता के 'फोर्ट विलियम कालेज' में हुई। डाक्टर गिलक्राइस्ट ने कई योग्य विद्वानों को एकत्र करके कुछ पुस्तकें लिखवाईं। सन् १८३५ से अदालती भाषा हो जाने के कारण उत्तरी भारत में उर्दू का बड़ा प्रचार हो गया। बाद में लखनऊ से भी गद्य-साहित्य निकलना प्रारम्भ हो गया। इसमें मिर्जा रजबअली बेग ने अच्छा नाम पैदा किया। आजाद और गालिब ने भी गद्य की उन्नति में भाग लिया। सर सैयदअहमद ने अखबारी भाषा का प्रचार किया। आजकल अलीगढ़, भूपाल और हैदराबाद उर्दू साहित्य के मुख्य केन्द्र हैं। अलीगढ़ में 'मुसलिम विश्वविद्यालय' स्थापित हो जाने से इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। हैदराबाद के 'उस्मानिया यूनिवर्सिटी' में उर्दू ही शिक्षा का माध्यम है। औरंगाबाद में 'अंजुमन तरक्की उर्दू' अच्छा साहित्य प्रकाशित कर रही है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि पहले हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष भेद न था, परन्तु कुछ काल से दोनों में बड़ा भेद हो गया। थोड़े दिनों से दोनों के क्लिष्ट शब्दों को निकालकर साधारण बोलचाल की 'हिन्दुस्तानी' भाषा के प्रचार का प्रयत्न चला। इलाहाबाद में प्रान्तीय सरकार द्वारा स्थापित 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। हिन्दू-मुसलिम एकता की दृष्टि से 'हिन्दुस्तानी' को गांधीजी का प्रश्रय प्राप्त हुआ। इसे राष्ट्रभाषा बनाने के प्रश्न पर बहुत विवाद चला। पर अब जनता इसके पक्ष में नहीं है।

बंगला—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से बंगला में संस्कृत शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने लगा। इसी समय में अलाउल नाम के एक मुसलमान ने हिन्दी 'पद्मावत' का अनुवाद किया, जिसमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी बंगाल में नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र का दरबार बंगला के कवियों का मुख्य केन्द्र था। इनमें रामप्रसाद और 'अन्नदामंगल' तथा 'विद्यामुन्दर' के रचयिता भारतचन्द्र राय गुणाकर मुख्य थे। भारतचन्द्र की रचनाओं में संस्कृत शब्दों तथा छन्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता के साथ किया गया है। पूर्वीय बंगाल में इन्हीं दिनों विक्रमपुर के राजा राजवल्लभ के दरबार में जयनारायण सेन तथा उनकी भतीजी आनन्दमयी का बड़ा नाम था। बंगाल के गाँवों में भी कीर्तन, यात्रा तथा 'कविवाज्यों' द्वारा ग्राम्य साहित्य की उन्नति होती रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चन्द्रनगर में ऐंटनी नाम का एक पुर्तगाली बड़ा प्रसिद्ध 'कविवाला' था। इन्हीं दिनों करमअली, अलीराज तथा अन्य कई मुसलमानों ने भी सुन्दर गीतों की रचना की।^१

बँगला गद्य के कुछ नमूने 'शून्यपुराण' और न्याय तथा स्मृति-सम्बन्धी ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं, पर वास्तव में इसका विकास अँगरेजों के आने के बाद से आरम्भ हुआ। श्रीरामपुर के मिश्ररियों ने इसकी उन्नति में बड़ा योग दिया। डाक्टर कैरी तथा प्रैसी हालहेड ने कई एक पुस्तकें निकालीं। सर चार्ल्स विलकिंस ने बँगला अक्षरोंके छापने का प्रयत्न किया। 'फोर्ट विलियम कालेज' में पढ़ाई के लिए प्रायः सभी विषयों पर बँगला पुस्तकें लिखी गईं। हिन्दी, उर्दू तथा बँगला के गद्य-साहित्य की उन्नति में इस कालेज की उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। 'प्रबोधचन्द्रिका' के रचयिता मृत्युञ्जय तथा रामराम वसु इस कालेज के मुख्य बँगला अध्यापक थे। इन दिनों गद्य की जो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे साधारण शिक्षा की दृष्टि से लिखी गयी थीं, उनकी गणना उच्च साहित्य में नहीं की जा सकती। इसका प्रारम्भ वास्तवमें राजाराममोहन रायने किया। परन्तु उनकी भाषा में फारसी शब्दों की अधिकता रहती थी। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इसको संस्कृत का आश्रय देकर आधुनिक स्वरूप दिया। इतने दिनों में अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से आचार-विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया। समाज-सुधार तथा स्वदेश-भक्ति ने जोर पकड़ा, जिसके साथ-साथ साहित्य ने भी राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पैर रखा।



'आनन्दमठ' के रचयिता श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के समय से बँगलासाहित्य का नया। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय युग प्रारम्भ हुआ। उन्होंने तत्कालीन भाषा के भद्देपन को दूर करके उसे स्वच्छ

१ दिनेशचन्द्र सेन, हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर।

और उच्च विचारों के प्रकट करने योग्य बनाया। उनके ग्रन्थों का प्रायः सभी हिन्दुस्तानी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। पद्य में श्री माइकेल मधुसूदन दत्त ने अनुकान्त कविता का प्रचार किया, उनका 'मेघनादवध' बड़ा प्रसिद्ध काव्य है। बाद में हेमचन्द्र, नवीन सेन, रंगलाल तथा कामिनी राय की रचनाओं का बड़ा आदर हुआ। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्धि तो भारत के बाहर भी फैल गई। उनके मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो गया। साहित्य में उन्हें विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' भी मिला है। नाटकलेखकों में श्री द्विजेंद्र लाल राय का बड़ा नाम है। विज्ञान तथा दर्शन के उच्च और सूक्ष्म विचारों को सुन्दर तथा सरल भाषा में प्रकट करने का यश श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी को प्राप्त है। उपन्यास तथा गल्प लिखने में बंगालियों को अच्छी सफलता हुई है। देशी भाषाओं में बँगला ने बड़ी उन्नति की है। इसका साहित्य बहुत कुछ मौलिक है। सुसम्पादित पत्र-पत्रिकाओं तथा उच्चकोटि के ग्रन्थों द्वारा इसकी बराबर उन्नति हो रही है।

मराठी—अठारहवीं शताब्दी के मराठी साहित्य में मोरोपन्त का नाम सबसे विख्यात है। उनकी रचनाओं में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिकता से मिलता है। काव्य की दृष्टि से वे उच्चकोटि की भले ही न मानी जायें पर वे उच्च विचारों से पूर्ण हैं। मराठी की गणना उन इनी-गिनी भाषाओं में है जिनका बाल्यकाल पद्य में नहीं बल्कि गद्य में प्रारम्भ हुआ। सतारा के राजा प्रतापसिंह के समय तक मल्हार रामराव तथा अन्य लेखकों ने मराठी गद्य-साहित्य की परम्परा जारी रखी। परन्तु अँगरेज पादरियों ने कुछ कोष, व्याकरण तथा साधारण अँगरेजी पुस्तकों के अनुवाद निकाले, जिनमें मराठी साहित्य अपनी प्राचीन परम्परा से बहुत कुछ अलग हो गया। सरकारी अफसरों ने प्रायः इस ढंग के साहित्य को आश्रय दिया। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'निबन्धमाला' में बड़े जोरों के साथ मराठी के इस 'अँगरेजी अवतार' की खबर ली और उसके साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया। इस समय से वास्तव में मराठी साहित्य का नवीन युग प्रारम्भ हुआ।

नाटक लिखने में पहले विष्णु भावे तथा अण्णा किल्लेस्कर और बाद में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, वासुदेवशास्त्री खैरे तथा राम गणेश गडकरी ने बड़ी

सफलता प्राप्त की। केशवसुत, व्यम्बक बापूजी ठोमरे (बालकवि) और नासिक के गोविन्द ने कविता को उच्चकोटि पर पहुँचा दिया। ऐतिहासिक साहित्य में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे तथा वासुदेवशास्त्री खेंरे ने बड़ा काम किया। उपन्यासलेखकों में हरिनारायण आपटे तथा नाथमाधव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। आपटे के कई एक ऐतिहासिक उपन्यासों का हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का 'गीतारहस्य' चिरस्मरणीय रहेगा। मराठी साहित्य में इसकी गणना 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'दासबोध' के साथ की जा सकती है। बँगला की तरह मराठी की भी इस तरफ बड़ी उन्नति हुई। इसका भी आधुनिक साहित्य बहुत कुछ मौलिक है।

गुजराती—अनिश्चित राजनैतिक परिस्थिति के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य को विशेष उन्नति नहीं हुई। इस काल में कई भक्त कवि हुए। दयाराम प्राचीन शैली के अन्तिम प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। गुजराती के अतिरिक्त उनकी रचनाएँ ब्रजभाषा, मराठी, संस्कृत तथा उर्दू में भी मिलती हैं। गुजरात में उनकी 'गरबी' तथा पदों के गाने की बड़ी चाल है। उनकी भाषा सरल, स्वच्छ तथा भावमयी है। अँगरेजी शिक्षा के साथ आधुनिक गुजराती साहित्य का भी प्रारम्भ हुआ। पहले पढ़ाने के काम को कुछ साधारण पुस्तकें लिखी गईं, पर जब से सन् १८४८ में फोर्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी' स्थापित की तब से गुजराती साहित्य की उन्नति के लिए संगठित रूप से प्रयत्न होने लगा। दलपतराम और नर्मदाशंकर के साथ आधुनिक साहित्य का युग प्रारम्भ हुआ। इन दोनों ने समाज-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। नवलराम के शब्दों में दलपतराम की कविताएँ 'चतुरार्द्धपूर्ण' तथा 'सभारंजिनी' हैं। इनकी भाषा बड़ी सरल तथा सुन्दर है। नर्मदाशंकर की भाषा बड़ी जोरदार है, पर कहीं कहीं 'बाजारू' शब्दों से मिश्रित है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में उनके उच्च भाव और कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। गुजराती साहित्य की उन्नति में पारसियों ने भी भाग लिया। फर्दूनजी मर्जबानजी ने बम्बई में पहला गुजराती छापाखाना स्थापित किया। कहा जाता है कि गुजराती में अतुकान्त कविता का एक पारसी ने ही पहलेपहल प्रचार किया।

सनद तथा परमानों और कुछ नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों में गुजराती गद्य का प्रयोग अवश्य मिलता है; पर इसका विकास वास्तव में ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में ही हुआ। कुछ पादरियों ने इसमें बाइबिल के अनुवाद करने का प्रयत्न किया। वाट में रणछोड़दास गिरधर भाई ऐसे लोगों ने इसमें प्रारम्भिक शिक्षा योग्य पुस्तकों के लिखवाने की ओर ध्यान दिया। पर आधुनिक गद्य के प्रवर्तक वास्तव में नर्मदाशंकर ही हैं। उनका 'राज्यरंग' इतिहास तथा साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसके बाद नवलराम गद्य के सबसे अच्छे लेखक माने जाते हैं। आलोचना उनका मुख्य विषय था। यों तो नाटक लिखने का प्रारम्भ दलपतराम से ही हो गया था पर इसके उच्च श्रेणी पर पहुँचने का यश रणछोड़भाई उदयराम को प्राप्त है। रावबहादुर नन्दशंकर तुलजाशंकर ने 'करणवेलो' नामक आधुनिक ढंग का पहला उपन्यास लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचन्द्र' गुजराती में बड़ा प्रसिद्ध उपन्यास है। इसका कई एक भाषाओं में अनुवाद हो गया है।^१

तामिल-तेलुगू—इन दोनों भाषाओं की गणना प्राचीन भाषाओं में है। पर इनके भी गद्य का विकास ब्रिटिश काल ही में हुआ। तामिल साहित्य का आधुनिक काल पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। अटारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में परणज्योति मुनि, शिवप्रकाश स्वामी, त्रिकुटराजप्पा तथा एलप्पा नालवर प्रसिद्ध कवि हुए। प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं तथा कुछ जैन ग्रन्थों में तामिल के प्राचीन गद्य का नमूना मिलता है। परन्तु आधुनिक गद्य का लिखना वीर्म मुनि तथा अरुमुग नालवर ने ही प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक साहित्य में सूर्यनारायण शास्त्री ने अच्छी सफलता प्राप्त की। गद्य साहित्य में शैल्वकेश्वराय मुदली का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री ने कई प्राचीन ग्रन्थों का सरल भाषा में अनुवाद किया है। तेलुगू में 'नीतिचन्द्रिका' के रचयिता चिन्नयसुरि की लेखनशैली बड़ी उच्च कोटि की मानी जाती है। तेलुगू साहित्य को देशकाल के अनुसार बनाने का यश वीरेशलिङ्गम् को प्राप्त है। सभी विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। नाटक लिखने में लक्ष्मीनरसिंहम्

^१ कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, २ भाग।

तथा सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर कवुलु के नाम प्रसिद्ध हैं। 'आन्ध्र साहित्य-परिषत्' की ओर से तेलुगू की उन्नति के लिए बहुत कुछ काम हो रहा है।

विज्ञान—ज्योतिष तथा गणित में तो कुछ काम होता रहा पर भौतिक विज्ञान को भारत हजारों वर्ष से भूला हुआ था। त्रिशि काल में वैज्ञानिक शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो जाने का फल यह हुआ कि इस ओर फिर ध्यान आकर्षित हो गया। हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने यह बतलाया था कि वृक्षों में भी जीव है और उन्हें भी सुख-दुख का अनुभव होता है। अपने सूक्ष्म यंत्रों द्वारा सर जगदीशचन्द्र बोस ने इसको प्रत्यक्ष दिखावा दिया। भात के अन्य कई विद्वानों ने भी अपनी वैज्ञानिक योग्यता का परिचय दिया है। भौतिक विज्ञान में श्री चन्द्रशेखर रमण ने बड़ी ख्याति प्राप्ति की, उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' मिला। गणित में अब भी भारत का नम्बर बढ़ा हुआ है। साधारण शिक्षा होते हुए भी हाल ही में मदरास के स्वर्गीय श्री रामानुजम् ने अपनी विलक्षण बुद्धि से केम्ब्रिज के गणितज्ञों को चकित कर दिया था।

सांस्कृतिक पुनरुद्धार—स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ सांस्कृतिक पुनरुद्धार की ओर ध्यान दिया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार ने एक 'सांस्कृतिक ट्रस्ट' की योजना बनाई है। लखनऊ के 'संगीत महाविद्यालय' तथा दक्षिणके 'संगीत विद्यालय' व्यापक बनानेका विचार हो रहा है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है। युक्तप्रान्त के 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' को आर्थिक सहायता दी गयी है। विज्ञान की वृद्धि पर सरकारों का विशेष ध्यान है। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति का भारतके नवशिक्षित समाज पर बहुत प्रभाव पड़ गया है। देश की प्राचीन संस्कृति की ओर नेताओं का भी ध्यान नहीं है। वे उसे नये रंग में बदलना चाहते हैं। पर इससे भारत की प्राचीन संस्कृति का उद्धार न होगा। यदि भारत का व्यक्तित्व बनाये रखना है तो यह आवश्यक है कि साहित्य, कला, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति सभी को प्राचीन भारतीय आदर्श से ओत-प्रोत किया जाय।

संक्षिप्त विवरण

- सन् १४९८ वास्कोडगामा का आगमन ।
„ १५०९ एलबुकर्क की नियुक्ति ।
„ १५१० गोआ पर पुर्तगालियों का अधिकार ।
„ १५१५ एलबुकर्क की मृत्यु ।
„ १५८० स्पेन और पुर्तगाल की एकता ।
„ १५८८ स्पेन के जहाजी बेड़ा 'आर्मडा' पर अँगरेजों की विजय
„ १६०० पहली ईस्ट इंडिया कम्पनी ।
„ १६०२ डच ईस्ट इंडिया कम्पनी ।
„ १६०८ हार्किंस का जहाँगीर के दरबार में आगमन ।
„ १६१२ सूरतमें अँगरेजों की कोठी ।
„ १६१५ सर टामस रो का आगमन ।
„ १६२२ उरमुज पर अँगरेजों का अधिकार ।
„ १६२३ अम्बोयना का हत्याकांड ।
„ १६४० मंदराष्ट्र की नींव ।
„ १६६१ धम्मई की प्राप्ति ।
„ १६७४ पांडुचेरी की नींव ।
„ १६८५ ईस्ट इंडिया कम्पनी का औरंगजेब के साथ झगड़ा ।
„ १६९० कलकत्ता की नींव ।
„ १६९८ नई ईस्ट इंडिया कम्पनी ।
„ १७०२ दोनों कम्पनियों की एकता ।
„ १७०८ संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी ।

- सन् १७२२ हैदरअली का जन्म ।
- „ १७३२ सादतअली खाँ अवध का सूबेदार ।
- „ १७३५ ड्यूमा पांडुचेरी का गवर्नर ।
- „ १७४१ अलीवर्दी खाँ बंगाल का सूबेदार
- „ १७४२ डूप्ले पांडुचेरी का गवर्नर ।
- „ १७४६ फ्रांसीसियों के साथ अँगरेजों का पहला युद्ध; मदरास पर फ्रांसीसियों का अधिकार ।
- „ १७४८ पांडुचेरी के आक्रमण में अँगरेजों की असफलता; एलाशपल की सन्धि; निजाम आसफजाह की मृत्यु ।
- „ १७४९ मदरास अँगरेजों को वापस; कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन की मृत्यु; अम्बर की लड़ाई में चान्दा साहब की विजय ।
- „ १७५१ फ्रांसीसियों के साथ अँगरेजों का दूसरा युद्ध; चान्दा साहब द्वारा त्रिचनापल्ली का घेरा; अर्काट पर क्लाइव का अधिकार और उसकी रक्षा ।
- „ १७५२ त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसियों की हार; चान्दा साहब की मृत्यु ।
- „ १७५४ डूप्ले की वापसी; गुजाउद्दौला अवध का नवाब ।
- „ १७५५ घेरिया पर क्लाइव और वाट्सन का आक्रमण ।
- „ १७५६ अलीवर्दी खाँ की मृत्यु; सिराजुद्दौला की नवाबरी; कलकत्ता पर आक्रमण; कालकोठरी की दुर्घटना; फ्रांसीसियों के साथ तीसरा युद्ध ।
- „ १७५७ कलकत्ता में अँगरेजों की विजय; चन्द्रनगर पर अँगरेजों का अधिकार; पलासी का युद्ध; सिराजुद्दौला की मृत्यु; २४ परगना की प्राप्ति; मीरजाफर की पहली नवाबरी ।
- „ १७५८ लैली का आगमन; सेंट डेविड के किले पर अधिकार; मदरास के आक्रमण में असफलता; उत्तरी सरकार में कर्नल फोर्ड की विजय ।
- „ १७५९ बिदेरा में डच लोगों की हार; अलीगौहर की बंगाल पर चढ़ाई ।

- सन् १७६० बांडवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों पर अँगरेजों की विजय; क्लाइव की वापसी; वैनसिगार्ट बंगाल का गवर्नर; मीरकासिम की नवाबी ।
- „ १७६१ पानीपत का तीसरा युद्ध; मराठों की पराजय; पेशवा बालाजी की मृत्यु; माधवराव बल्लाल पेशवा; पांडुचेरी पर अँगरेजी अधिकार; हैदरअली मैसूर का शासक ।
- „ १७६३ मीरकासिम से झगड़ा; उदवानाला की उड़ाई में उसकी हार; पटना का हत्याकांड; मीरजाफर की दूसरी नवाबी; फ्रांसीसी युद्ध का अन्त; पेरिस की सन्धि; चन्द्रनगर तथा पांडुचेरी फ्रांसीसियों को वापस ।
- „ १७६४ बक्सर के युद्ध में अँगरेजों की विजय ।
- „ १७६५ क्लाइव की दूसरी गवर्नरी; मीरजाफर की मृत्यु; इलाहाबाद की सन्धि; दीवानो प्रदान ।
- „ १७६७ पहला मैसूर युद्ध; हैदर तथा निजाम की त्रिन्नोमली में हार; क्लाइव की वापसी; वेरेल्स्ट बंगाल का गवर्नर ।
- „ १७६८ नैपाल में गोरखों का राज्य ।
- „ १७६९ कार्टियर की गवर्नरी; हैदर के साथ मदरास की सन्धि ।
- „ १७७० बंगाल तथा बिहार में दुर्भिक्ष ।
- „ १७७२ हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर; पेशवा माधवराव की मृत्यु, नारायणराव पेशवा ।
- „ १७७३ रेग्युलेटिंग ऐक्ट ।
- „ १७७४ सहेला युद्ध; हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर-जनरल ।
- „ १७७५ रायोबा के साथ सूरत की सन्धि; पहले मराठा युद्ध का आरम्भ; महाराजा नन्दकुमार को फाँसी; शुजाउद्दौला की मृत्यु; आसफुद्दौला अवध का नवाब ।
- „ १७७६ पेशवा के साथ पुरन्धर की सन्धि; कर्नल मानसन की मृत्यु ।
- „ १७७८ फ्रांसीसियों के साथ युद्ध ।

- सन् १७७९ मराठों के साथ वडगाँव का समझौता ।
- „ १७८० फ्रांसिस की वापसी; ग्वालियर पर अँगरेजों का अधिकार; दूसरा मैसूर युद्ध; कर्नाटक पर हैदर का आक्रमण; कर्नल बेली की दुर्दशा; रणजीतसिंह का जन्म ।
- „ १७८१ पोर्तोनोवो की लड़ाई में हैदर की हार; बनारस के राजा चेतसिंह का शगड़ा ।
- „ १७८२ अवध की बेगमों की लूट, मराठों के साथ सालबाई की सन्धि; कर्नल ब्रेथवेट पर टीपू की विजय; हैदर की मृत्यु ।
- „ १७८३ फ्रांसिसियों के साथ सन्धि ।
- „ १७८४ माहादजी सिन्धिया का प्रमुख; टीपू के साथ मंगलोर की सन्धि; पिट का इंडिया ऐक्ट ।
- „ १७८५ हेस्टिंग्स का इस्तीफा ।
- „ १७८६ लार्ड कार्नवालिस गवर्नर-जनरल ।
- „ १७८८ गुलामकादिर की निष्ठुरता ।
- „ १७९० तीसरा मैसूर युद्ध; मराठा और राजपूतों के बीच पाटन की लड़ाई ।
- „ १७९१ मराठों के साथ मिरथा की लड़ाई में राजपूतों की हार ।
- „ १७९२ टीपू के साथ श्रीरंगपट्टन की सन्धि ।
- „ १७९३ फ्रांस की राज्यक्रान्ति का आरम्भ, बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त; कम्पनी का नया आज्ञापत्र ।
- „ १७९४ माहादजी सिन्धिया की मृत्यु ।
- „ १७९५ सर जान शोर गवर्नर-जनरल, खर्दा की लड़ाई में निजाम पर मराठों की विजय; सवाई माधवराव पेशवा की मृत्यु; बनारस में इस्तमरारी बन्दोबस्त; अहिल्याबाई की मृत्यु ।
- „ १७९६ दूसरा बाजीराव पेशवा ।
- „ १७९८ सादतअली खाँ अवध का नवाब; सर जान शोर की वापसी; लार्ड वेलेजली गवर्नर-जनरल, निजाम के साथ सन्धि ।

- सन् १७९९ चौथा मैसूर युद्ध; टीपू की मृत्यु; तंजौर और सूरत का अपहरण; रणजीतसिंह लाहौर का राजा ।
- „ १८०० नाना फडनवीस की मृत्यु; हैदराबाद की सहायक सन्धि ।
- „ १८०१ कर्नाटक का अपहरण; अवध के साथ ज्यादाती; लखनऊ की सन्धि ।
- „ १८०२ फ्रांसीसियों के साथ अमीन्स की सन्धि, पूना पर होलकर का अधिकार; बाजीराव के साथ बेसेन की सन्धि ।
- „ १८०३ दूसरा मराठा युद्ध; अलीगढ़, दिल्ली, असेई, लासवाड़ी, अरगाँव की लड़ाइयाँ; मौसला के साथ देवगाँव की सन्धि; सिन्धिया के साथ अर्जुनगाँव की सन्धि ।
- „ १८०४ होलकर के साथ युद्ध; मानसन की हार; डीग की लड़ाई ।
- „ १८०५ भरतपुर के आक्रमण में असफ़ाक्ता; वेलेजली की वापसी; लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार गवर्नर-जनरल; लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु; सर जार्ज बालों गवर्नर-जनरल; मराठों के साथ सन्धियाँ ।
- „ १८०६ विल्होर् का उपद्रव ।
- „ १८०७ लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल ।
- „ १८०८ फारस और काबुल के साथ सम्बन्ध ।
- „ १८०९ रणजीतसिंह के साथ ~~मद्रास~~ मद्रास की सन्धि; मद्रास के सैनिक उपद्रव ।
- „ १८१० फ्रांसीसी द्वीपों पर अधिकार ।
- „ १८११ जावा की विजय ।
- „ १८१२ कम्पनी का आज्ञापत्र; लार्ड हेस्टिंग्स गवर्नर-जनरल ।
- „ १८१४ नैपाल युद्ध; अवध के नवाब सादतअली की मृत्यु ।
- „ १८१५ सिगौली की सन्धि ।
- „ १८१७ पिंडारी और मराठा युद्ध; खड़की, सीताबल्दी, नागपुर और महीदपुर की लड़ाइयों में अंगरेजों की विजय ।
- „ १८१७ कोरेगाँव और आष्टी की लड़ाई; पेशवाई का अन्त ।

- सन् १८१९ गाजीउद्दीन अवध का पहला बादशह ।
- „ १८२० सर टामस मानरो मदरास का गवर्नर ।
- „ १८२३ लार्ड हेस्टिंग्स की वापसी; लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल ।
- „ १८२४ पहला बर्मी युद्ध; त्रिपुरा का विद्रोह ।
- „ १८२६ भरतपुर किले का पतन; बर्मियों के साथ यांडबू की सन्धि ।
- „ १८२७ दौलतगढ़ सिन्धिया की मृत्यु ।
- „ १८२८ एमहर्स्ट का इस्तीफा; लार्ड विलियम बैंटिंक गवर्नर-जनरल ।
- „ १८२९ सती-प्रथा का अन्त; ठगी का दमन; ब्रह्मसमाज की स्थापना ।
- „ १८३० कचारा की जन्ती ।
- „ १८३१ मैसूर का राजा पदच्युत; रणजीतसिंह के साथ रूपुर में भेंट ।
- „ १८३३ कम्पनी का आज्ञापत्र ।
- „ १८३४ कुर्ग का अपहरण ।
- „ १८३५ अँगरेजी शिक्षा का निर्णय; बैंटिंक की वापसी; दोस्तमुहम्मद काबुल का अमीर ।
- „ १८३६ लार्ड आर्कलैंड गवर्नर-जनरल ।
- „ १८३७ रानी विक्टोरिया को गद्दी; बर्न्स की काबुलयात्रा; उत्तरी भारत का अकाल ।
- „ १८३८ रणजीतसिंह तथा शाहशुजा के साथ सन्धि; अफगान-युद्ध की घोषणा ।
- „ १८३९ रणजीतसिंह की मृत्यु; गजनी की विजय; काबुल पर अधिकार ।
- „ १८४० अफगानियों का विद्रोह ।
- „ १८४१ बर्न्स और मैकनाटन का वध ।
- „ १८४२ अकबरखाने के साथ सन्धि; अँगरेजी सेना को दुर्दशा; आर्कलैंड की वापसी; लार्ड एलिनबरा गवर्नर-जनरल; जलालाबाद की रक्षा; काबुल की विजय ।
- „ १८४३ मियानी की लड़ाई; सिन्ध का अपहरण; महाराजपुर और पनियर की लड़ाई में सिन्धिया की हार ।

- सन् १८४४ लार्ड एलिनबरा की वापसी; हेनरी हार्डिज गवर्नर जनरल ।
- „ १८४५ पहला सिख युद्ध; मुदकी और फोरोजशहर की लड़ाइयाँ ।
- „ १८४६ अलीवाल और सोबराँव की लड़ाइयाँ; अँगरेजों की विजय, लाहोर की सन्धियाँ ।
- „ १८४८ हार्डिज की वापसी, लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल; मूलराज का विद्रोह; दूसरा सिख युद्ध; सतारा के राजाओं का अन्त ।
- „ १८४९ चिलियानवाला और गुजरात की लड़ाइयाँ; पंजाब का अपहरण ।
- „ १८५२ दूसरा बर्मी युद्ध; पीगू पर अधिकार ।
- „ १८५३ भारत में पहली रेल; कम्पनीका अन्तिम आज्ञापत्र ।
- „ १८५६ अवध का अग्रहरण; डलहौजी की वापसी; लार्ड कैनिंग गवर्नर जनरल ।
- „ १८५७ सिपाही विद्रोह; मेरठ, दिल्ली, बरेली, लखनऊ तथा झांसी में उपद्रव ।
- „ १८५८ विद्रोह की शान्ति; कम्पनी का अन्त, बिकटोरिया का घोषणापत्र, लार्ड कैनिंग पहला वाइसराय ।
- „ १८५९ तात्या टोपे को फाँसी ।
- „ १८६१ हाईकोर्टों की स्थापना; इण्डियन कौंसिल ऐक्ट ।
- „ १८६२ लार्ड एलगिन वाइसराय; अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह की मृत्यु ।
- „ १८३३ अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु ।
- „ १८६४ सर जान लॉरेंस वाइसराय ।
- „ १८६८ शेरअली काबुल का अमीर ।
- „ १८६९ लार्ड मेयो वाइसराय; अम्बाला में शेरअली के साथ भेंट; ड्यूक आफ एडिनबरा का आगमन ।
- „ १८७२ लार्ड मेयो का वध; लार्ड नार्थब्रुक वाइसराय ।
- „ १८७५ मल्हारराव गायकवाड़ पदच्युत; आर्यसमाज की स्थापना; युवराज (प्रिंस ऑफ वेल्स) एडवर्ड की यात्रा ।

- सन् १८७६ लार्ड लिटन वाइसराय; इंग्लैंड के शासकों को 'कैसे हिन्द' की उपाधि; दक्षिण में दुर्भिक्ष ।
- „ १८७७ दिल्ली का दरबार ।
- „ १८७८ वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट; दूसरे अफगान-युद्ध का आरम्भ ।
- „ १८८० लार्ड लिटन का इस्तीफा, लार्ड रिपन वाइसराय
- „ १८८१ मैसूर की वापसी; पहली मनुष्य-गणना ।
- „ १८८२ वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट रद्द ।
- „ १८८४ लार्ड डफरिन वाइसराय ।
- „ १८८५ इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना; पंजदेह की घटना; तीसरा बर्मी युद्ध ।
- „ १८८६ बर्मा के राज्य का अन्त ।
- „ १८८८ लार्ड लैंसडौन वाइसराय ।
- „ १८९१ मनीपुर का उपद्रव ।
- „ १८९२ दूसरा इंडियन कौंसिल ऐक्ट ।
- „ १८९४ दूसरा लार्ड एलगिन वाइसराय ।
- „ १८९५ चित्तूराल पर धावा ।
- „ १८९६ प्लेग और अकाल ।
- „ १८९७ तीराह पर आक्रमण ।
- „ १८९९ लार्ड कर्जन वाइसराय ।
- „ १९०१ विकटोरिया की मृत्यु; सातवाँ एडवर्ड सम्राट्, हबीबुल्ला अफगा-निस्तान का अमीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त ।
- „ १९०३ तिब्बत पर धावा; दिल्ली में दरबार ।
- „ १९०४ यूनवर्सिटीज ऐक्ट ।
- „ १९०५ बंग-विच्छेद; स्वदेशी आन्दोलन; दूसरा लार्ड मिंटो वाइसराय ।
- „ १९०६ मुसलिम लीग ।
- „ १९०७ कांग्रेस में फूट ।
- „ १९०८ क्रान्तिकारी दल, बम से हत्याएँ ।

- सन् १९०९ माले-मियो सुधार ।
- „ १९१० दूसरा लार्ड हार्डिज वाइसराय ।
- „ १९११ सम्राट् पाँचवें जार्ज का दिल्ली में राज्याभिषेक; बंग विच्छेद रद्द ।
- „ १९१२ बिहार और उड़ीसा का नया प्रान्त ।
- „ १९१३ दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह ।
- „ १९१४ यूरोपीय महायुद्ध का आरम्भ ।
- „ १९१६ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना; लार्ड चेम्सफर्ड वाइसराय; कांग्रेस में एका; हिन्दू-मुसलमानों का निर्वाचन-सम्बन्धी समझौता ।
- „ १९१७ बगदाद विजय; मेसोपोटामिया कमीशन; पार्लामेंट में भारत-सचिव की वृत्ति ।
- „ १९१८ मांटैग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट; गैलट कमेटी रिपोर्ट; रौलट-ऐक्ट; महायुद्ध का अन्त ।
- „ १९१९ रौलट-ऐक्ट सत्याग्रह; जलियानवाला बाग का हत्याकांड; हंटर कमेटी की नियुक्ति; सुधार-कानून; अमानुल्ला अफगानिस्तान का बादशाह; तीसरा अफगान-युद्ध ।
- „ १९२० खिलाफत का झगड़ा; लोकमान्य तिलक की मृत्यु; असहयोग आन्दोलन का आरम्भ; लिबरल फेडरेशन ।
- „ १९२१ लार्ड रीडिंग वाइसराय; प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार, मोपला विद्रोह; चौरीचौरा की दुर्घटना; बारडोली-निर्णय; सविनय-अवज्ञा स्थगित; अकाली आन्दोलन; अमानुल्ला के साथ सन्धि ।
- „ १९२२ मांटैग्यू का इस्तीफा; महात्मा गान्धी को जेल; स्वराज्य दल ।
- „ १९२४ खिलाफत का अन्त; हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा; कटारपुर और कोहाट की दुर्घटनाएँ; दिल्ली में एकता सम्मेलन ।
- „ १९२६ लार्ड अरविन वाइसराय; कृषि कमीशन ।
- „ १९२७ साइमन कमीशन की नियुक्ति ।

- सन् १९२८ नेहरू कमेटी रिपोर्ट; साइमन कमीशन का बहिष्कार; लाला लाजपत राय की मृत्यु, कच्छक्ता में सर्वदल सम्मेलन ।
- „ १९२९ औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में लार्ड अरविन की विशति; बाल विवाह निषेध कानून; पूर्ण स्वराज्य कांग्रेस का ध्येय ।
- „ १९३० नमक सत्याग्रह; गोलमेज सम्मेलन ।
- „ १९३१ अरविन गांधी समझौता, लार्ड विलिंगडन की नियुक्ति ।
- „ १९३२ साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा; तृतीय गोलमेज सम्मेलन ।
- „ १९३३ गांधी जी का २१ दिन का अनशन ।
- „ १९३४ बिहार का भूकंप; समाजवादी दल की स्थापना ।
- „ १९३५ नया शासन विधान ।
- „ १९३६ बादशाह छठे जार्ज; लार्ड लिनलिथगो का आगमन; नया निर्वाचन
- „ १९३७ कांग्रेसी सरकारों का पदग्रहण ।
- „ १९३८ अग्रगामी दल की स्थापना ।
- „ १९३९ दूसरा यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ; कांग्रेसी सरकारों का पदत्याग ।
- „ १९४० व्यक्तिगत सत्याग्रह ।
- „ १९४१ रवीन्द्र की मृत्यु; जापान महायुद्ध में शामिल ।
- „ १९४२ बर्मा पर आक्रमण; क्रिप्स प्रस्ताव; भारत छोड़ो आन्दोलन ।
- „ १९४३ बंगाल में दुर्भिक्ष लार्ड वेवल की नियुक्ति,
- „ १९४४ भीमती कस्तूरबा गांधी मृत्यु
- „ १९४५ महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय, प्रथम शिमला सम्मेलन, पलमेंटी शिष्ट मण्डल का आगमन ।
- „ १९४६ नया निर्वाचन, अमात्य मण्डल का आगमन, दूसरा शिमला सम्मेलन, मध्यवर्ती सरकार की स्थापना, कलकत्ते में प्रत्यक्ष काररवाई दिवस, पूर्वी बंगाल का हत्या काण्ड, मध्यवर्ती सरकार में लीग का प्रवेश, बिहार में उपद्रव, मालवीय जी की मृत्यु, विधान सम्मेलन आरम्भ ।
- „ १९४७ गांधी जी की बंगाल यात्रा, पंजाब में लीगी आन्दोलन, स्वतंत्रता

तिथि की घोषणा, नमककर की समाप्ति, लाड^१ माउण्ट बैटन का आगमन, नयी दिल्ली में एशियाई सम्मेलन, धर्म-युद्ध आन्दोलन, स्वतन्त्रता और विभाजन की घोषणा, स्वतन्त्रता प्रदान, पाकिस्तान की स्थापना, जूनागढ़ का झगड़ा, काश्मीर में युद्ध ।

सन् १९४८ गांधी जी की हत्या, राज्यों का विलयन, श्री राजगोपालाचारी प्रथम भारतीय गवर्नर जनरल, कायदे आजम जिना की मृत्यु, हैदराबाद में पुलिस कार्रवाई ।

बंगाल के गवर्नर-जनरल

- „ १७७४ वारेन हेस्टिंग्स ।
- „ १७८५ सर जान मैकफरसन ।*
- „ १७८६ लार्ड कार्नवालिस ।
- „ १७९३ सर जान शोर ।
- „ १७९७ सर अल्योर्ड क्लार्क ।*
- „ १७९८ लार्ड वेलेजली ।
- „ १८०५ लार्ड कार्नवालिस दूसरीबार, सर जान बार्लो,* पहला लार्ड मिंटो ।
- „ १८१३ लार्ड हेस्टिंग्स ।
- „ १८२३ जान ऐडम*, लार्ड ऐमहर्स्ट ।
- „ १८२८ बटरवर्थ ब्रेली*, लार्ड विलियम बैंटिक ।

भारत के गवर्नर-जनरल

- „ १८३३ लार्ड विलियम बैंटिक ।
- „ १८३५ सर चार्ल्स मेडकाफ ।*
- „ १८३६ लार्ड आकलैंड ।

* अस्थायी या स्थानापन्न ।

- सन् १८४२ लाड^१ एलिनवरा ।
 „ १८४४ लाड^१ हार्डिज ।
 „ १८४८ लाड^१ डलहौजी ।
 „ १८५६ लाड^१ कैनिंग ।
-

गवर्नर-जेनरल तथा वाइसराय

- „ १८५८ लाड^१ कैनिंग ।
 „ १८६२ पहला लाड^१ एलगिन ।
 „ १८६३ सर राबर्ट नेपियर*, सर विलियम डेनिसन* ।
 „ १८६४ सर जान लारेंस ।
 „ १८६९ लाड^१ मेयो ।
 „ १८७२ सर जान स्ट्रैची*, लाड^१ नेपियर*, लाड^१ नार्थब्रुक ।
 „ १८७६ लाड^१ लिटन ।
 „ १८८० लाड^१ रिपन ।
 „ १८८४ लाड^१ डफरिन ।
 „ १८८८ लाड^१ लैंसडौन ।
 „ १८९४ दूसरा लाड^१ एलगिन ।
 „ १८९९ लाड^१ कर्जन ।
 „ १९०४ लाड^१ एमथिल*, लाड^१ कर्जन दूसरीवार ।
 „ १९०५ लाड^१ मिण्टो ।
 „ १९१० दूसरा लाड^१ हार्डिज ।
 „ १९१६ लाड^१ चेम्सफोर्ड ।
 „ १९२१ लाड^१ रीडिंग ।
 „ १९२६ लाड^१ अरविन ।

* अस्थायी या स्थानापन्न ।

- सन् १९३१ लार्ड विलिंगडन ।
 „ १९३६ लार्ड स्त्रिलिथगो ।
 „ १९४३ लार्ड वेवल ।
 „ १९४७ लार्ड माउण्ट बैटन ।
-

स्वतन्त्र भारत के गवर्नर-जनरल

- „ १९४७ लार्ड माउण्ट बैटन ।
 „ १९४८ श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ।
-

अनुक्रमणिका

अ

अकबर, मुगल सम्राट ६, ९, १०, १९,
८३, २७८, ३०६, ३१०, ३१५, ५१५ ।

अकबर खाँ, ३०२, ३०३, ३०४,
३०५ ।

अकाली आन्दोलन, ४८२, ४७३ ।

अखिल भारतीय संगीत परिषद,
५१९ ।

अग्रगामी दल, ५३५ ।

अजमेर, ३९० ।

अजीजुद्दीन, २२९, ३१४ ।

अजीतसिंह, ४५० ।

अजीमुद्दौला, १६९ ।

अजीमुल्ला, ३६५ ।

अटक, ३९८ ।

अतलान्तक घोषणापत्र, ५५१ ।

अदन, ५ ।

अदयार, ४२० ।

अदयार नदी, २३ ।

अन्नदामंगल ६५० ।

अनवरुद्दीन, अर्काटका नवाब, २२,
२५, २६ ।

अंजुमन, लाहोर, ४२३ ।

अंजुमन तरकी उर्दू, ६५० ।

अनसारी डाक्टर, ५१३, ५१५ ।

अप्टन कर्नल, १०४ ।

अप्पा साहब, २४१, २४२, २९६, ३३६ ।

आफज, अमीर, ३८६, ३८७ ।

अफगानिस्तान, ३९०, ३९१, ३९५,
३९६, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५,
४१३, ४१५, ४२४, ४२५, ४२६,
४३३, ४३५, ४४७, ४८१, ५५६,
६४८ ।

अफ्रिका, २, ५४१, ५५१, (दक्षिण
सत्याग्रह) ५७०, ५७६ ।

अफीमका व्यापार, ४३२ ।

अब्दुल गफ्फार खाँ, ५१७, ५७५,
५७६, ६०५ ।

अब्दुल गफूर खाँ, २४३ ।

अब्दुल्ला शेख, ५६८, ५६९, ६१७,
६१८ ।

अब्दुर्रज्जाक, ईरानी यात्री, ३ ।

अब्दुर्रहमान, अमीर, ४०३, ४०५,
४१५, ४२५, ४३५ ।

- अमजदअली, अवधका बादशाह, ३४१।
 अम्बरकी लड़ाई, २५, २६।
 अम्ब्राजी, १४१, १८७, १९७, १९८।
 अम्बाला, ३९०।
 अम्ब्रेडकर, डाक्टर भीमराव, ५१४, ५१९।
 अम्बोयना, ८।
 अमरसिंह, तंजोरका राजा, १७०, १७१।
 अमृतकौर, भारत सरकार की स्वास्थ्य
 मन्त्री, ६१०।
 अमृतगव, १८२, १८५, १८६, १९२।
 अमृतसर, ७०, २१८, २२९, ३६२,
 ४७०, ४७२, ४८३, ५६९, ५९२,
 ६११, ६१४।
 अमरीका, २, ८२, ११३, १२२,
 १२६, १५४, २३४, ४२०, ४२१,
 ४६१, ५४१, ५४२, ५५१, ६२१,
 ६२२।
 अमानुल्ला, अफगानिस्तान का बाद-
 शाह, ४८१, ४८२।
 अमात्य मण्डल, ५५९, ५६०, ५६१,
 ५६२, ५६६, ५७७, ५७१, ५७२,
 ५८१, ५८२, ५८४, ५८९।
 अमीर खाँ, २०४, २०६, २३१, २४३।
 अमीरचन्द, सेठ, ४१, ४५, ४६, ४७,
 ६५।
 अम्बर, सुब्रह्मण्य, ४२२, ४२३।
 अयूबखाँ, ४०५।
 अयोध्यानाथ, ४२३।
 अयोध्याप्रसाद, दीवार, ३१४।
 अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, ६४७।
 अर्काट, २६, २७, २८, २९, २२४।
 अर्क्याओजिकल डिपार्टमेंट, ४४०।
 अरगाँव, १९३, १९४।
 अर्जुन, ६४९।
 अर्जुनगाँव की सन्धि, २०१।
 अर्नाल्ड, ३३६, ३५४।
 अरब सागर, १६६।
 अरमगाँव, ११।
 अरविन, लार्ड, वाइसराय, ४९१,
 ४९७, ५०९, ५१२, ५१३, ५१६।
 अराकान, २६४, २६५, २६८।
 अल्काट, कर्नल, ४२०।
 अलमिडा, पुर्तगाल का राजप्रतिनिधि,
 ४, १६।
 अलमोड़ा, २३६।
 अलवर, २०१, २१९, ३८९, ६२८।
 अलाउल, ६५०।
 अलिकजेण्डर अलबर्ट, ५५९।
 अज़ीगढ़, १९९, २००, ५२५, ६५०।
 अलीगढ़ कालेज, ३९८, ५००।
 अलीगौहर की चढ़ाई, ४९।
 अलीनगर की सन्धि, ४३।
 अलीपुर, ५१६।
 अलीमसजिद, ४०२।

- अलीमुहम्मद, ६९ ।
 अलीमुहिब खाँ, ६४७ ।
 अलीराज, ६५१ ।
 अलीवर्दी खाँ, बंगाल का सूबेदार,
 १९, ३८, ३९, ४०, ४५, ४८, ८४ ।
 अलीवाल की लड़ाई, ३१८ ।
 अलीहुसेन, १६९ ।
 अलोम्पा, २६४ ।
 अवध, १९, ४९, ५७, ६१, ६३,
 ६८, ५९, ९५, ९६, १०७, ११०,
 १२०, १३६, १३८, १३९, १४७,
 १४०, १५९, १७१, १७२, १७३,
 १७४, १८७, २१०, २३४, २५२,
 २५३, २५४, २८२, २९५, ३१०,
 ३३५, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४,
 ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३५६,
 ३५७, ३७५, ३७६, ३८१ ।
 असहयोग आन्दोलन, ४७४, ४७५ ।
 असीरगढ़, १९४, २४६ ।
 असेई की लड़ाई, १९३ ।
 असेम्बली, लेजिस्लेटिव, ४६६, ४८६,
 ४८७, ४८९, ४९४, ४९५, ४९६,
 ५०२, ५०८, ५०९ ।
 अहमदनगर, १४७, १८९, १९३,
 २०१ ।
 अहमदशाह अब्दाली (दुर्रानी), ६८,
 ७०, १४९, २८४, २९७ ।
 अहमदाबाद, ११, १७, १०६, ४७१,
 ५०७, ५३४, ५८९ ।
 अहमदुल्ला, ३६८ ।
 अहिल्याबाई, इन्दौर की रानी, ७६,
 १५०, १५१, १८० ।
 आ
 आउट्रूम, ३४६ ।
 आक्टरलोनी, जनरल, २००, २३५,
 २७१ ।
 आकलैंड, लार्ड, गवर्नर-जनरल, २९४,
 २९८, २९९, ३००, ३०३, ३०४,
 ३१०, ३३२, ३४७ ।
 आक्सस, नदी, १, ३९१ ।
 आगरा, ८, १७, ७१, १५४, १९१,
 १९२, २००, २०१, २०८, २७२,
 ३०६, ५००, ५१७, ६१६, ६४२ ।
 आंग्रे, कान्होजी, ७७, ७८ ।
 आजमगढ़, ३६९ ।
 आजाद, उर्दू लेखक, ६४९, ६५० ।
 आजाद मौलाना अबुलकलाम, ५१३,
 ५२९, ५४०, ५६१, ५६९ ।
 आजाद हिंद फौज, ५५६, ५५८,
 ५५९ ।
 आतिश, उर्दू कवि, ६४९ ।
 आदरंग, ६४३ ।
 आँवला, ६९ ।
 आन्ध्र साहित्य परिषद्, ६५५ ।

आनन्दमठ, ६५१ ।	इंचकेप लार्ड, ४९८ ।
आनन्दमयी, ६५० ।	इंचवर्ड, कप्तान, ७७ ।
आपटे, हरिनारायण, ५२८ ।	इण्डिया आफिस, ६०३ ।
आवर, पीटर, २७२ ।	इण्डियन कौंसिल ऐक्ट, (सन् १८६१)
आमू, नदी, १ ।	३८३, (सन् १८९२) ४२८, ४३४ ।
आर्मंडा, स्पेन का जहाजी बेड़ा, १० ।	इण्डिया कौंसिल, ३७७, ३८५, ४१२,
आयर्लैंड, १५३, १५४, ३८९ ।	४२३, ४५२, ४६५ ।
आर्य्यसमाज, ४१९, ५०१ ।	इण्डो-चैना, ४१८ ।
आरनी, २९ ।	इंशाउल्लाखाँ, ६४५, ६४९ ।
आवा, ३३०, ३३२ ।	इत्तिहादुल मुसलमीन, ६२० ।
आसफजाह, निजाम, १९, २४, २५,	इन्दौर, १५०, २२३, २८०, ३३४,
२७ ।	३९४, ५०५, ६२८, ६४८ ।
आसफुद्दौल, अवध का नवाब, ११०,	इनाम कमीशन, २५०, ३५७ ।
१११, १२४, १४७, १४८, ३४६ ।	इनिस, जनरल, ३७६ ।
आस्ट्रिया, ४५९, ४६०, ५३७ ।	इफितखारुद्दीन, ५८८ ।
आस्ट्रिया के सम्राट्, १५ ।	इब्नसऊद, वहाबी सुल्तान, ४८७ ।
आस्ट्रेलिया, ४९२ ।	इम्पी, सर एलाइजा, जज, ९८, १०१,
आसफ अली, ६२१ ।	१०२, १०३ ।
आस्वोर्न, ९ ।	इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स, ४१९ ।
आसाम, २६४, २६५, २६६, २६८,	इमामगढ़, ३०७ ।
२८३, ३८४, ३८६, ४२७, ४४२,	इलबर्ट बिल, ४११, ४१२, ४२२ ।
४५५, ५३३, ५६४, ५८५, ६४८ ।	इलाहाबाद, ४९, ५७, ६७, ६८, ६९,
इ	९३, ११२, १३९, १४९, १९८,
इकबाल सर मुहम्मद, ५३२ ।	२००, २४२, २७२, २७५, २७६
इटली, ४१९, ४५९, ४६१, ४८२,	३२९, ३५१, ३६०, ३६४, ३६५,
५३७, ५४१, ५५० ।	३६९, ३७३, ३७९, ४३८, ४८९,
इंचकेप कमेटी, ४९६ ।	५००, ५२०, ५२५, ५५८, ६५० ।

इलाहीबख्श, २२८ ।

इलाहीबख्श-पीर, ५९७ ।

इस्तमरारी बन्दोबस्त, ११७, १३०,
१३१, १३३, १४०, १४५, ४०८,
४०९, ४३४ ।

इस्माईल बेग, १४१ ।

ई

ई० आई० आर०, ३५१, ४९८ ।

ईप्रीज की लड़ाई, ४६० ।

उ

उजनाला का कुँआ, ३६२, ३७३ ।

उज्जैन, १८८ ।

उड़ीसा, १९८, २५४, ४४३, ४५५,
५६४ ।

उड़ीसा का अकाल, ३८७, ३८८ ।

उदयपुर, १४१, २२२, २३१ ।

उदयपुरी, गोसाई, १९८ ।

उदयराम, रणछोड़ भाई, ६५४ ।

उदवानाला की लड़ाई, ५४ ।

उमदतुलउमरा, कर्नाटक का नवाब,
१४७, १६८ ।

उरमुज का बन्दरगाह, ५, ६, ११ ।

उस्मानिया युनिवर्सिटी, ६५० ।

ऊ

ऊर्म, ३०, ३६, ४४, ८४ ।

ए

एकजीब्यूटिव कौंसिल, ३८३, ४५२

एकता सम्मेलन, दिल्ली, ४८८ ।

एटली, ब्रिटिश प्रधान मंत्री, ५५३,
५६०, ५६२, ५८१, ५८९, ५९८,
६०२, ६०६, ६०७ ।

एडवर्ड, युवराज, ३९५, सम्राट्, ४३९,
४५०, ४५२, ४५४, ५२५ ।

एडवर्ड्स, इतिहासकार, ३४८ ।

एम्थिल, लार्ड, गवर्नर-जनरल, ४४४ ।

एमहर्स्ट, लार्ड, गवर्नर-जनरल, २६३,
२६४, २६७, २७०, २७२, २७३ ।

एलगिन, लार्ड, वाइसराय, ३८४, ३८५ ।

एलगिन, (दूसरा) लार्ड, वाइसराय,
४२९, ४३१ ।

एल्फिंस्टन, २३०, २४४, २५४, २५६
२५७ ।

एलबुर्क, ४, ५, ६, ७ ।

एलाशपल की सन्धि, २४ ।

एलिचपुर, १९४ ।

एलिजबेथ, इंग्लैंड की रानी, ९, १० ।

एलिनबरा, लार्ड गवर्नर-जनरल, ३०४,
३०५, ३०६, ३०९, ३१०,
३११ ।

एलिस, ५३, ५४ ।

एलेनबी, जनरल, ४६१ ।

एशर, लार्ड, ४९४ ।

एशियाई सम्मेलन, ५९४ ।

एशियाटिक सोसायटी, ११८ ।

ऐ

ऐडम, २८७ ।

ऐडम, जान, २६३, २९२, २९३ ।

ऐंटनी, पुर्तगाली कविचाला, ६५१ ।

ऐंडरसन, १४१ ।

ऐब्रट, कप्तान, ३२४ ।

ओ

ओडायर, सर माइकेल, ४७१, ४७३ ।

ओयन, सिडनी, १८५, २१३ ।

औ

औपनिवेशिक स्वराज्य की विज्ञप्ति,
५०९, ५१० ।औरंगजेब, मुगल सम्राट्, १२, १३,
१९, ३७, ८३, २३७, २७७, ४४६ ।

औरंगाबाद, २०३, ५२५, ६५० ।

औसले, विलियम, ६४३ ।

अं

अंडमन द्वीप, ५४२ ।

क

कचार, २६५, २६८, २८३, ४२७ ।

कजिंस, डाक्टर जेम्स, ६३९ ।

कटक, १९२, १९८ ।

कड़ा, ६१, ६८ ।

कन्दहार, २८३, २९८, ३००, ३०४,
४०३, ४०५ ।कनाडा (कैनाडा), ४१५, ४४७,
४८३, ४९२ ।

कनाडा, १६०, १६६ ।

कनानूर, ४ ।

कनाट, ड्यूक आफ, ४७० ।

कनिंघम, इतिहासकार, ३१७ ।

कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी, हैदरा-
बाद में प्रथम भारतीय एजेंट जेनरल,
६२१ ।

कपूरसिंह, चित्रकार, ६४२ ।

कबीर, ८३ ।

कम्बरमियर, सेनापति, २७१ ।

कमाऊँ, २३५, २३६ ।

कर्कपेट्टिक, १५६, १५७, २३४, २३५ ।

कर्जन, लार्ड, वाइसराय, ४३३, ४३३,
४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४४०, ४४१,
४४२, ४४३, ४४४, ४४६, ४४७,
४४९, ४५५, ४५६, ४९३, ५९६,
६३८ ।

कर्णघेलो, ६५४ ।

कर्नाटक, २१, २५, २६, २७, ३०,
७९, ८०, ८३, ११४, १३५, १३६,
१३८, १४७, १६८, १६९ ।

कर्नूल, २९६ ।

करपात्री जी, श्री स्वामी हरिहरानन्द
सरस्वती, ५९९, ६००, ६१६ ।

करमअली ५६१ ।

कराची, २७५, ५५९, ५६०, ५८८,
६१५, ६२३ ।

करी, लाहोर का रेजिडेंट, ३२३ ।

करीमख़ाँ, २३८, २३९ ।

करौली, ३३४ ।

कलकत्ता, ११, १२, १३, १४, १५,

३८, ४०, ४१, ४३, ४४, ४६, ५१,

५३, ५४, ५९, ६०, ८९, ९१, ९७,

११८, १२५, १२८, १३९, १५०,

१५६, १५८, १६१, १७३, २०२,

२११, २१६, २१७, २२५, २३२,

२३३, २६६, २६७, २७५, ३३२,

३३६, ३४२, ३५१, ३५२, ३६०,

३६१, ३८४, ३९६, ४०७, ४११,

४१२, ४२३, ४४३, ४५२, ४५५,

४५६, ४६४, ४७४, ४८९, ५०४,

५०९, ५११, ५१८, ५७२, ५७४,

६११, ६१४, ६२८, ६३७, ६३८,

६४४, ६४८, ६५० ।

कलकत्ता का सरकारी भवन, २१६,
२१७ ।

कलकत्ता ज़रनल, २६३ ।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन, ४९९ ।

कबुलु, वेंकटेश्वर, ६५५ ।

कलप्पन का अनशन ५१९ ।

कांगड़ा, २८४, ३२०, ५१७ ।

कांगड़ी, गुरुकुल, ४८९ ।

कांग्रेस, इंडियन नेशनल, ४२२, ४२३,

४२४, ४२८, ४२९, ४३१, ४३४,

४३७, ४३९, ४४१, ४४३, ४४५,

४४८, ४४९, ४५२, ४५३, ४५७,

४६२, ४७०, ४७३, ४७४, ४७५,

४७६, ४७८, ४८५, ४८७, ४८८,

५०३, ५०४, ५१०, ५११, ५१३,

५१४, ५१५, ५१७, ५२०, ५२१,

५२२, ५२५, ५२६, ५२८, ५२९,

५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३५,

५३८, ५३९, ५४४, ५४५, ५४९,

५५२, ५५४, ५५५, ५६१, ५६५,

५६७, ५६८, ५६९, ५७१, ५७२,

५७३, ५७७, ५८२, ५८४, ५८५,

५८६, ५८९, ६०२, ६०३, ६२३ ।

काटन, सर हेनरी, ४२२ ।

कानपुर, १९९, ३६४, ३६५, ३७२,

३७३, ५०७, ५१४, ५७८, ५९९,

६१४ ।

काब्डन, ३३१ ।

काबुल, २२२, २३०, २८४, २९७,

२९८, २९९, ३०३, ३०४, ३०५,

३०८, ३०९, ३५०, ४००, ४०१,

४०२, ४०३, ४०५, ४८१ ।

कार्टियर, ८७ ।

कालीकट, ३, ४, ६, १७, २०,

३६, ७३ ।

कालपी १९७, ३७१ ।

काला समुद्र, १ ।

कात्विन, सर, ४१४ ।

क्लाइड, लार्ड, सेनापति, ३६८ ।

क्लाइव, लार्ड, १८, २७, २८, २९,

३०, ३२, ३४, ४४, ४५, ४७, ४८,

४९, ५०, ५१, ५८, ५९, ६०, ६१,

६२, ६३, ६४, ६५, ६७, ७८, ८७,

८८, ८९, ९७, १२९, १९८, २८६,

३५५, ६३२ ।

क्लाइव, लार्ड, मदरास का गवर्नर,

१६८, १६९ ।

क्लार्क, ओलार्ड, १६१, १८७ ।

क्लार्क, सर जार्ज, बम्बई का गवर्नर,

३३३, ३३६ ।

काठियावाड़, ५३६ ।

कार्नेक, मेजर, ६० ।

कार्नवालिस, लार्ड, गवर्नर जनरल,

१२५, १२६, १२७, १२८, १२९,

१३०, १३१, १३२, १३४, १३५,

१३६, १३७, १३८, १३९, १४०,

१४१, १४२, १४५, १४६, १४७,

१५०, १५३, १६८, १७४, १८३,

२११, २१८, २१९, २२०, २२१,

२३२, २३३, २३४, २६३, ४१९ ।

कारीकल, २० ।

कालकोठरी कलकत्ता, ४२, ३६२ ।

काला कानून २९४ ।

काल्स, १८८, १८९, १९३ ।

काश्मीर, २८४, ३२०, ४००, ४०४,

४०९, ४१८, ४२५, ४२७, ५३३,

५६८, ५६९, ६०४, ६१६, ६१७,

६१८, ६१९, ६२४, ६२८, ६३१,

६३६, ६४४ ।

काशी, ५९९, ६४४ ।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, ६४८ ।

काशी विद्यापीठ, ५२२ ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, ४५८,

४५९, ५७९ ।

काशीराव, १९०, २८४ ।

कास्पियन समुद्र, १ ।

कासिमबाजार, १३, २०, ४०, ४१,

४५, ८८ ।

कांगड़ा, ६४८ ।

किचनर, लार्ड, प्रधान सेनापति,

४४३, ४४४, ४५४, ४६० ।

क्रिप्स, सर स्टैफर्ड, ५४२, ५४३,

५४४, ५५९, ५९० ।

क्रिमिया, ३६० ।

क्रिश्चियन पुराण, ९ ।

क्रिस्कोर, अण्णा, ६५२ ।

किरकी (खड़की), २४५ ।

किरवी की जागीर, ३७० ।

किक्केड, इतिहासकार, २५७ ।

किलात, ३५०, ४०० ।

की, रेवरेंड; २८८ ।

- कीनिया, ४९२ ।
 कुमार स्वामी, डाक्टर आनन्द, ६४१ ।
 कुमारी, अन्तरीप, ३३१ ।
 कुर्ग, १३७, २८०, २८१ ।
 कुर्रम की घाटी, ४०२ ।
 कुलाबा, ७७ ।
 कुँवरसिंह, ३६९ ।
 कुस्तुनतुनियाँ, १५५ ।
 कूट, पटना की कोठी का अध्यक्ष, ५३ ।
 कूट, सर आयर, ३५, ११४, ११७ ।
 कूर, डिप्युटी कमिश्नर, ३६२, ३७३ ।
 कृपालनी, जीवतराम भगवानदास, ५७९ ।
 कृष्ण, ६४९ ।
 कृष्णचन्द्र, नवद्वीप का राजा, ६५० ।
 कृष्णराज, मैसूर का राजा, ६४२ ।
 कृष्णदास, ४०, ४१ ।
 कृष्णाकुमारी, २३१ ।
 कृष्णानन्द स्वामी, ६०० ।
 कृषि कमीशन, ४९७, ५२७ ।
 कृषि विभाग, ४४० ।
 के, (काये) सर जान, २३९, २४०, ३३७, ३७२ ।
 केब्राल, ४, ६ ।
 केबो, जान, २ ।
 केम्ब्रिज, ५३१ ।
 क्लेवरिंग, ९८, ९९ ।
 क्वेटा, ४०० ।
 केशवसुत, ६५३ ।
 केसरी, समाचारपत्र, ४३१, ४५० ।
 कैनिंग, लॉड, गवर्नर-जनरल, ३६६, ३६७, ३६८, ३७६, वाइसराय, ३७९, ३८२, ३८४, ३८६, ३९५, ४४० ।
 कैनिंग कालेज, लखनऊ, ३८२ ।
 कैम्पबेल, सर आर्चीबोल्ड, २६७, २६८, ३६८, ३७३ ।
 कैम्पबेलपुर, ५११ ।
 कैरी, पादरी, २८८, ६५१ ।
 कैवेमरी, ४०२ ।
 कैसरबाग को लूट, ३६८ ।
 कैसलरी, बोर्ड आफ कंट्रोल का अध्यक्ष, १८४, २११ ।
 कोकोनद, ५४२ ।
 कोचीन, ४, १३६, ५१९, ६२८, ६४३ ।
 कोटा, २२२ ।
 कोयम्बटूर, १६६ ।
 कोयल, १९९, २०० ।
 कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स, १४, ११९ ।
 कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स, १४, ११९ ।
 कोरिया, ४३३ ।
 कोलब्रुक, १२३, १८७ ।
 क्लोज, मेजर, १८९, ३०८ ।

कोलम्बस, २ ।
 कोल्हापुर, ३७५ ।
 कोलात्रा, ३३३ ।
 कोसीजुरा का जमीन्दार, १०२ ।
 कोहनूर हीरा, २८४, ३२६, ३२७ ।
 कोहाट, ४८८ ।
 कौंसिल ऑफ स्टेट (राज्य-परिषद्),
 ४६६, ४६७ ।
 कंट्रोल और राशन, ५४७ ।

ख

खडगसिंह, ३१५, ।
 खर्दा की लड़ाई, १४७, १५४, १५६,
 १७८ ।
 खरे, वामुदेव शास्त्री, ६५२-५३ ।
 खरे, डाक्टर, ५३१ ।
 खाकसार संघटन, ५३९ ।
 खाडिलकर, कृष्णाजी प्रभाकर, ६५२ ।
 खांडेराव, ७२, ७३ ।
 खां साहब, डाक्टर, ५१७, ५७५ ।
 खानदेश, १९३ ।
 खिज्रहयात खां, ५९१ ।
 खिलफत, ४७४, ४८७ ।
 खैबर घाटी, २८४, ४०२ ।
 खैरपुर, ३०६ ।
 खैरीगढ़, २५३ ।

ग

गडकरी, राम गणेश, ६५२ ।

गजनी, ३००, ३०४, ३०५ ।
 गजनवी, महमूद, ३०५ ।
 गढ़वाल, २३६, ५१७ ।
 गढ़मुक्तेश्वर, ५७८, ५८९ ।
 गणेशशंकर विद्यार्थी, ५१४ ।
 गदर पार्टी, ४६३ ।
 गजनगर अली खाँ, ५७७ ।
 गफ, लाड, सेनापति, ३२५ ।
 गव्विस, मार्टिन, ३६४ ।
 ग्वालियर, १०६, १९७, २०२, २१८,
 २२१, ३०८, ३०९, ३७०, ३७१,
 ३९४, ४१८, ६२८ ।
 गाजीउद्दीन, पिंडारी, २३७ ।
 गाजीउद्दीन हैदर, अवध का यादशाह,
 २५२, २५३, १५४, ३४६ ।
 गाजीपुर, २१९, २२० ।
 गान्धी, मोहनदास करमचन्द (महात्मा),
 ४५७, ४५८, ४७१, ४७२, ४७४,
 ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०,
 ४८४, ४८५, ४८६, ४८८, ४९२,
 ५०५, ५१०, ५११, ५१२, ५१३,
 ५१४, ५१५, ३१६, ५१८, ५१९,
 ५२०, ५२१, ५२२, ५२९, ५३५,
 ५३६, ५३८, ५४०, ५४४, ५४५,
 ५४६, ५४८, ५४९, ५५०, ५६२,
 ५६५, ५७०, ५७४, ५७८, ५८५,
 ५८६, ५९१, ५९७, ५९८, ६०३,

- ६११, ६१४, ६१७, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६३४, ६३५, ६४८, ६५० ।
- गान्धी, कस्तूरबा, ५१७, ५२१, ५४६ ।
- गायकवाड़, ७६, १४७, १९६, ३२१, (मल्हाराव) ३९४ ।
- गार्डन, कप्तान, ७७ ।
- गाल्लिक की हत्या, ५१६ ।
- गाल्लि, ६४९, ६५० ।
- गाविलगाद, १९५ ।
- ग्रिबिल, इतिहासकार, १६६ ।
- गिरधरभाई, रणछोड़दास, ६५४ ।
- गिलक्राइस्ट, डाक्टर, ६४५, ६५० ।
- गिलगिट, ४२५, ४२७ ।
- गीता रहस्य, ६५३ ।
- ग्रीथेड, कमिश्नर, ३७४ ।
- गुजरात, ७६, १०६, १५५, १९६, २०१, २०६, ४३४ ।
- गुजरात की लड़ाई, ३२४, ३२५ ।
- गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, ६५३ ।
- गुजरावाला, ६११ ।
- गुडहोप, अन्तरीप, ३, १०५, २३१ ।
- गुप्त कमेटी, ११९, १५८, २७१ ।
- गुरु का बाग, ४८३ ।
- गुरुदास, ९० ।
- गुरुदासपुर, ६११ ।
- गुरुवयूर मन्दिर, ५१९ ।
- गुलबर्गा, ४८८ ।
- गुलबसिंह, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ४२५, ४२६, ५६९, ६१६ ।
- गुलामकादिर, १४०, २०० ।
- गुलामनवी, ६४७ ।
- गुलामहुसेन, ३७, ७१ ।
- ग्लेडस्टन, इंग्लैंड का प्रधान सचिव, ४०२, ४०३, ४०६, ४१३ ।
- गोआ, ४, ८, ९ ।
- गोखले, गोपाल कृष्ण, ४४५, ४४९ ।
- गोखले, बापू, २४५ ।
- गोडसे, नाथूराम विनायक, ६२६, ६२७ ।
- गोडार्ड, जनरल, १०६ ।
- गोरखपुर, २३५, २३९, २६०, २६१, ४७८ ।
- गोलमेज सम्मेलन, लन्दन, (प्रथम) ५१२, ५१३, ५१४, ५३२, (द्वितीय) ५१५, ५१८, (तृतीय) ५२०, ५२२, गोलवलकर, माधवराम सदाशिव, ५८७ ।
- गोविंद, ६५३ ।
- गोविन्दगाढ़, ३५९ ।
- गोविन्दराव, कालपो का सूत्रेदार, १९७ ।
- गोविन्द, षट्काल, ६४३ ।
- गोविन्दसिंह, ३१७ ।

गोहद, १९०, २१८, २२१ ।	चान्दकुँवरि, ३१५ ।
गंगा, नदी, १९१, २९५, ३६४ ।	चाँदपुर, ५७५ ।
गंगा की नहर, ३५३ ।	चान्दासाहब, २५, २६, २७, २८, २९, ३० ।
गंगाधरराव, ३७० ।	चार्नक, जाव, १२ ।
गंगाधर शास्त्री, २४४ ।	चार्ल्स दूसरा, इंग्लैंड का राजा, १२, १४ ।
गंडूर, ८०, ११३, ११४, १२२, १३५ ।	चित्तताल, ४२४, ४२५, ४२९, ४३० ।
गंडमक की संधि, ४०२ ।	चिदम्बरम्, ५०० ।
घ	चिनसुरा, ८, ३८, ४९, २७८ ।
घासीराम, कोतवाल, २५१ ।	चिन्नयसूरि, ६५४ ।
घेरिया की लड़ाई, ५४ ।	चिपलूणकर, विष्णु शास्त्री, ५२६ ।
घोष, लालमोहन, ४३९ ।	चिलियानवाला, की लड़ाई, ३२४, ३२५ ।
च	चीतू, २३८, २३९ ।
चटगाँव, ५२, २६५, ४४२, ५११, ६११ ।	चीन, ५, २३४, २६३, २७५, २८६, ३८५, ४३२, ४३६, ५४८ ।
चट्टोपाध्याय, बंकिमचन्द्र, ६५१ ।	चुनारगढ़, ५७, ३२८ ।
चन्दूलाल, २२४, २८१ ।	चुंगी की लाइन, ३९८ ।
चन्द्रगिरि का राजा, ११ ।	चुन्दरीगर, मियाँ, ५८४ ।
चन्द्रनगर, १५, २०, २१, ३४, ३६, ३८, ४४, ४५, २७८, ५२६, ६५१ ।	चेकोस्लोवाकिया, ५३७ ।
चम्बल, नदी, २०६, २२२, २२३, ३७५ ।	चेट्टि, अन्नामलै, राजा, ५०० ।
चर्खासंघ, ४८६ ।	चेतसिंह, बनारस का राजा, १०७, १०८, १०९, ११०, ११२, १२०, १२४ ।
चर्चिल, ५४२, ५५१, ५५३, ६०२ ।	चेम्बरलेन, ४०१, ४०२ ।
चांग, कार्ड शेक, ५४८ ।	चेम्बरलेन, आस्टिन, ५३७ ।
चाइल्ड, जोशिया, १२ ।	

चेम्सफर्ड, लार्ड, वाइसराय, ४६१,
४६२, ४६४, ४६५, ४७३ ।
चैतू, चित्रकार, ६४२ ।
चैम्पियन, कर्नल, ९४ ।
चौधरी, बदरीनारायण, ६४७ ।
चौवीस परगना की जमींदारी, ४६ ।
चौरीचौरा, ४७७, ४७८ ।
चंगेज खाँ, ५६२ ।

छ

छत्रमंजिल, ३६६ ।
छत्रसिंह, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६ ।

ज

जकात, २४८ ।
जगत सेठ, २४, ४९ ।
जगदीशपुर, ३६९, ३७० ।
जगन्नाथजी का मन्दिर, १९८ ।
जंकोजी, सिन्धिया, ३०९ ।
जनकोजी, सिन्धिया, ७६ ।
जब्बलपुर, २७७, ५५९ ।
जमरूढ, २८४, ४९३ ।
जमशेदपुर, ४९७, ६२८ ।
जमाँशाह, १४९, १५५, १७१, १७३,
१७७, १८२, १८६, १८७, २१४,
२२७, २२९ ।
जमुना, नदी, १९१, २१८, २२८, ३७४ ।
जम्मू, ३१४, ३१५, ३१८, ३२०,
४२६, ५६९ ।

जमोरिन, कालीकट का राजा, ३, ४ ।
जयन्तिवा, २६८, २८३ ।
जयकर, मुकुन्दराव, ५१२, ५१३ ।
जयप्रकाश नारायण, ५८५ ।
जयशंकर प्रसाद, ६४८ ।
जयसोर ,, ६११ ।
जयपुर, ७१, १४१, २०१, २०४,
२२२, २३१, ३९४, ५१५, ५१६,
६४०, ६४६ ।
जयाजीराव, सिन्धिया, ३७० ।
जर्मनी, ४१६, ४३५, ४५९, ४६०,
४६१, ५१९, ५३६, ५३७, ५३८,
५४१, ५५०, ५५६, ६४४ ।
जलपाईगुड़ी, ६११ ।
जलालाबाद, ३०३, ३०४, ३०५,
३०९, ४८१ ।
जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड,
४७२, ४७३, ४७५, ५९१ ।
जससिंह, सरदार, ७० ।
जहाँगीर, मुगल सम्राट्, १०, ११ ।
जहाँनारा, ११ ।
जापान, ५, ४४९, ४६१, ४९६,
५४१, ५४२, ५५०, ५५१, ५५७ ।
जानोजी, भोंसला, १६, ३३७ ।
जार्ज पाँचवा, सम्राट्, ४५४, ४५५,
५१२ ।
जार्ज छठा, बादशाह, ५२५, ५२६ ।

जार्ज, लायड, इंग्लैंड का प्रधान सचिव,

४८० ।

जावरा की जागोर, २४३ ।

जावा द्वीप, ८, ५०, २३१, ५४२ ।

जिंजी, ३६ ।

जिना, मुहम्मद अली, ५१३, ५५५,
५३३, ५३८, ५३९, ५४४, ५५०,
५५२, ५६१, ५६६, ५६७, ५७२,
५७७, ५८०, ५८१, ५८५, ५९७,
५९८, ६००, ६११, ६१३, ६१४,
६३४ ।

जिनेवा, ६२८ ।

जिनोवा, १ ।

जिरेस्पी, जनरल, २३५ ।

जो० आई० पी० रेलवे, ३५१ ।

जीनतमहल, बहादुरशाह की बेगम, ३४९ ।

जूनागढ़, ६१५, ६१९ ।

जॉर्जिस, रिचर्ड, ३३७, ३३८ ।

जेम्स पहला, इंग्लैंडका राजा, १०, ११ ।

जेम्सन, सर स्टैन्ले, ५१८ ।

जेरुसलेम, ४६१ ।

जैनाबाद, ३३८ ।

जोधपुर १४१, २०१, २२२, २३१,
२४२, ४५० ।

जोन्स, सर विलियम, ११८, ६४३ ।

जौक, ६४९ ।

जंगबहादुर, नैपालका प्रधान सचिव,
२३७, ३६८ ।

झ

झाऊलाल, १४८ ।

झाँसी, ३३९, ३७० ।

झिन्द, २२८ ।

झिन्दन रानी, ३१५ ।

ट

टांशेंड, जनरल, ४६० ।

टाड कर्नल, १४१, २३८, २५७, २५८ ।

टामस, सन्त, ९ ।

टाटनहम, ५४६ ।

टिहरी, ६२८, ६४२ ।

टीपू सुल्तान, ११४, ११६, ११७,

१२२, १३४, १३५, १३६, १३७,

१४०, १४६, १५२, १५४, १५५,

१५६, १५७, १५८, १५९, १६०,

१६१, १६२, १६३, १६५, १६६,

१६८, १६९, १७२, १८७, २०३,

२१४, २१५, २२०, २२४, २२५,

२३८, २५२, २८० ।

टेनासरिम, २६४, २६८ ।

टेम्पल, सर रिचर्ड, ३३९, ३९३ ।

ट्रेड्स डिस्प्यूट बिल, ५०७ ।

ट्रेड यूनियन बिल, ५०७ ।

टैरिफ बोर्ड, ४९७ ।

टोम सेंट की चढ़ाई, २३ ।

टोंक, २२२, २४३ ।

टंडन, पुरुषोत्तमदास, ५८५ ।

ठ

ठगोंका दमन, २७६, २७७।

ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ, ६४२।

ठाकुर, ज्योतिन्द्रमोहन, ४११।

ठाकुर, द्वारकानाथ, २७९।

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ, ५४०, ५४१, ६५२।

ठाकुर, सुरीन्द्रमोहन, ६४३।

ठोमरे, व्यम्बक आपूजी, ६५३।

ड

डफ, २८८।

डफ, ग्रांट, ७९, १३६, १९३।

डफरिन, लाड, वाइसराय, ४१५,
४१६, ३१८, ४१९, ४२३, ४२४,
४२६, ४२७, ४२८।

डबल भत्ता, ६१।

डलहौजी लाड, गवर्नर-जनरल,
२५१, ३२२, ३२४, ३२५, ३२६,
३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१,
३३२, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७,
३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४४,
३४५, ३४६, ३४८, ३४९, ३५०,
३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५,
३५६, ३५९, ३६०, ३६७, ३७४,
३८१, ३८५, ३८९, ३९५, ४४४,
४९१, ६३२।

डण्डी यात्रा, ५१०।

डाक, ३५२, ३५३।

डाक्ट्रन ऑफ लैप्स (दायावसान का
सिद्धान्त), ३३४।

डान, लीगी दैनिक पत्र, १७३, ५९०।

डामन, ८।

डायर, जनरल, ४७२, ४७३, ४७४।

डार्की (दोहरी शासन-व्यवस्था)
४६५, ४९०।

डिडीगल, ७२, १३७।

डियाज, २।

डिरोम, मेजर, १६४।

डीग, २०८, २०९, २१०।

डीबोयन, १४०, १४१, १४२, १९९,
२०३।

डुरांड, हेनरी मार्टिमेर ४२५।

डुंडाज, बोर्ड ऑफ, कंट्रोलका अध्यक्ष,
१५४।

डुंडीखॉ, ६९।

डूफ्ले, २१, २२, २३, २४, २५, २६,
२७, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४,
६५, २१२।

ड्यू, ८।

ड्यूमा, २०, २१, ३२।

डे, कप्तान, ६४३।

डेकन बर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसा-
यटी, २५०।

डेन्मार्क, १५, ५३६, ५४१।

ड्रेक, कलकत्ताका गवर्नर, ४०, ४१, ४४।

डेविडसेन्ड का किला, २४, ३४, ३५।

ढ

ढाका, २०, ५०, १२८, २६५,

४४२, ५००, ५११, ४६१/६११।

तकी, मीर, ६४९।

तहरतुल मुजाहदीन, ३।

त्यागराज, ६४३।

तात्या टोपे, ३७०, ३७१, ३७२।

तार, ३५२।

ताशकन्द, ४०१।

तिब्बत, २३४, २९१, ४३६, ४३७,

४४८, ४९४।

तिलक, बाल गंगाधर, ४३१, ४४८,

४५०, ४६२, ४७५, ६५३।

तीराह, ४२९।

तुकोजी, होलकर, ६५, ७६, १८०।

तुजक जहाँगीरी, ४३०।

तुर्किस्तान, ४०१।

तुर्की, ४१५, ४३०, ४३५, ४६०,

४६१, ४७४, ४८१, ४८७।

तुलजाजी, तंजोर का राजा, १७०,

६४३।

तुलजाशंकर, नन्दशंकर, ६५४।

तुलसीबाई, होलकर, २४३।

तुंगभद्रा, नदी, १३७।

तेजसिंह, ३१८, ३१९।

तैमूर का घराना, ३४९।

तैलंग, काशीनाथ व्यम्भक, ४२२।

तंजोर, २०, २५, २६, २८, २९,

३३, ८१, १७०, १७१, १७३,

२७८, ३५०, ५१७, ६४२।

थ

थाई लैं ५४२।

थार्नटन, इतिहासकार, १२४, २९०।

थियासोफिकल सोसायटी, ४२०।

थीना, बर्मा का राजा, ४१६, ४१७,

४१८।

थोर्न, मेजर, १९८, २०८।

द

दत्त, माइकेल मधुसूदन, ६५२।

दमस्क, ४६१।

दमाजी, गायकवाड़, ७६।

दयानन्द सरस्वती, स्वामी, ४१९, ४२०।

दयाराम, ६५३।

दयालसिंह, ४२३।

दर्द, उर्दू कवि, ६४८।

दलपतराम, ६५३।

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह, ४५६।

दादा खासगीवाला, ३०९।

दारापुरम्, १६६।

दारुलउलूम, देवबन्द, ६४८।

दास, चित्तरंजन, ४८४, ४८५,

४८६, ५१८।

दास, बीणा, ५१८ ।

दास, यतीन्द्रनाथ, ५०९ ।

दासबोध, ६५३ ।

दिनकर राव, ३७६ ।

दिलीपसिंह, ३१५, ३१९, ३२१,

३२४, ३२६, ३२७, ३२८ ।

दिल्ली, १९, २४, ६२, ६३, ६८,

७५, १०७, १४१, १४२, १५४,

१९१, १९९, २००, २०८, २१९,

२७२, २७३, ३४९, ३५१, ३५७,

३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३७३,

३७४, ३७५, ३७६, ३९७, ४३९,

४४७, ४५४, ४५६, ४६१, ४६४,

४७०, ४७१, ५००, ५१०, ५१४,

५१६, ५१७, ५१८, ५२४, (नयी)

५२६, ५४४, ५५७, ५६१, ५६२,

५६९, ५७८, ५८२, ५८६,

५९७, ५९९, ६००, ६०१, ६०७,

६११, ६१२, ६१४, ६१५, ६२२,

६२४, ६२५, ६२८, ६३४, ६४०,

६४१, ६४८, ६४९, ।

दिल्ली दरबार, (सन् १८७७),

३९७, (सन् १९०३) ४३९,

(सन् १९११) ४५४ ।

दीनाजपुर, १३२, ६११ ।

दीनानाथ, ३१४ ।

दीनापुर, ३६०, ३६९ ।

दीवानी, ६१, ६२, ६३, ८७, १३०,

१४१ ।

दुर्जनसाल, २७०, २७२ ।

दुर्नी की हत्या, ५१६ ।

देवगाँव की सन्धि, २०१, ०२ ।

देवनगिरि, ३८६ ।

देवीकोट, ८१ ।

देसाई, भूलाभाई, ५५७ ।

देहरादून, २३६, ४९५ ।

दोस्तमुहम्मद, अमीर, २८३, २८४,

२९७, २९८, २९९, ३००, ३०१,

३०२, ३०५, ३२४, ३५०, ३८६ ।

दौलतराव, सिन्धिया, १८०, १८२,

१८५, १८६, १८७, १८८, १८९,

१९०, १९१, १९३, १९४, १९७,

१९९, २००, २०५, २१८, २२१,

२२५, २२८, २४२, २४३, २७३ ।

दौलताबाद, १४७ ।

घ

घर्मशाला, ३८५ ।

घर्मसंघ, ५९९, ६१६ ।

घर्मयुद्ध, ५९९, ६०० ।

घनवाद, ६२८ ।

घरसना पर घावा, ५११ ।

ध्यानसिंह, ३१४, ३१५ ।

घारवार, १३७ ।

घौलपुर, ६२८ ।

न

नगमाते आसफी, ६४३ ।	नाजिमुद्दीन, ६३४ ।
नजमुद्दौला, ५७, ५८, ६२, ९० ।	नाजीदल, ५३७ ।
नदवतुलउलमा, लखनऊ, ५२३ ।	नॉट, जनरल, ३०४ ।
नदिया, १३२, ६११ । द्वीप, ६५० ।	नाट्टभाई, ४३१ ।
नन्दकुमार, राजा, ५८, ९०, ९९, १००, १०१, १०२ ।	नाथमाधव, ६५३ ।
ननकाना का महन्त, ४८२ ।	नादिरशाह, ३६२ ।
नर्मदा, नदी, २४२, ३७५ ।	नादिरखॉ, ४८१, शाह, ४८२ ।
नर्मदाशंकर, ६५३, ६५४ ।	नानक, ८३ ।
नरसिंहम्, लक्ष्मी, ६५४ ।	नाना फड़नवीस, ७९, १०४, १०५, १०६, १०७, ११५, १४२, १४३, १४४, १४६, १४७, १५५, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, २५०, २५१ ।
नरेन्द्रमंडल (चेम्बर ऑफ प्रिंसेज) ४६९, ५०६, ६०४ ।	नाना साहब, ३५०, ३५७, ३६४, ३६५, ३६६, ३७५ ।
नमककर, ५९१ ।	नाभा, २२८, ४८३, ५०५ ।
नमक सत्याग्रह, ५१०, ५१३ ।	नार्थब्रुक, लार्ड, वाइसराय, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९९, ४०८ ।
नमजवान भारत सभा, ५११ ।	नायडू, सरोजिनी, ५११, ५९४, ५९५, ६१० ।
नवलगम, ६५३, ६५४ ।	नारायणराव, पेशवा, ७९ ।
नसरुल्ला, ४८१ ।	नावनिहालसिंह, ३१५, ३१६ ।
नसरू, २३७ ।	नावलर, अरुमुग, ६५४ ।
नसिकेतोपाख्यान, ५२१ ।	नावलर, एलप्पा, ६५४ ।
नसीरुद्दीन हैदर, अवध का बादशाह, २८२, २९५ ।	नार्वे, ५४१ ।
नाइल का युद्ध, १६० ।	नासिक, ५२८, ६५३ ।
नागपुर, १८८, २४१, २७३, २९६, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३५७, ४७५, ५००, ५३४, ५८७ ।	नासिख, उर्दू कवि, ६४९ ।

नासिरजंग, २४, २५, २६, २७ ।

निकलसन, कर्नल, ३६२, ३७३, ३७६ ।

निक्सन, कप्तान, ७४ ।

निजाम, १९, २४, २५, २६, ३०, ३४, ७५, ७९, ८०, ११३, १३५, १३६, १३७, १४५, १४६, १४७, १५४, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६५, १६७, १८४, १८८, १९३, २२३, २२४, २३८, २५८, २८१, २९५, ३१०, ३४०, ३४१, ३५७, ३७६, ३८१, ४३७, ४३८, ५०५, ६२०, ६२१, ६३४, ६३५ ।

निबन्धमाला, ६५२ ।

निश्तर, सरदार युद्धरब, ५७९ ।

नीतिचन्द्रिका, ६५४ ।

नील, कर्नल, ३६५, ३६६, ३६८, ३७३ ।

नीलगिरि की पहाड़ी, ३८४ ।

न्यूफाउंडलैंड, २ ।

न्यूबरी, ९ ।

न्यूयार्क, ४२० ।

न्यूशपल की लड़ाई, ४६० ।

नून, सर फीरोज खॉ, ५६२ ।

नूरमुहम्मद, मीर, ३०७ ।

नूरमुहम्मद, सैयद (अफगानी राजदूत) ४०० ।

नेगापट्टम्, ८ ।

नेपियर, सर चार्ल्स, ३०७, ३०८, ३२५, ३३३, ३५४, ३७५ ।

नेपोलियन, १३४, १५५, १६०, १९६, २३३, २४०, ३११ ।

नेशनल गार्ड, लीगी, ५८८ ।

नेहरू, मोतीलाल, ५०३, ५११, ५१२, ५१४, ५२२ ।

नेहरू, जवाहरलाल, ५११, ५१७, ५२५, ५२६, ५२९, ५३०, ५३५, ५४०, ५४८, ५५८, ५६७, ५६९, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७८, ५७९, ५८१, ५८३, ५८५, ५९०, ५९१, ५९२, ५९४, ५९५, ५९६, ६०३, ६०४, ६०७, ६०८, ६१०, ६२२, ६३५ ।

नेहरू रिपोर्ट, ५०४ ।

नैटाल, ४५६, ४५७ ।

नैनीताल, २३६ ।

नैपाल, २३४, २३५, २३६, २३७, २४०, २४२, ३२८, ३७५, ३८१, ४०९, ४९४ ।

नोआखाडी, ५७५ ।

नोटन, कप्तान, २६६ ।

नोबेल पुरस्कार, ५२७, ५४० ।

नोलन, इतिहासकार, २४३ ।

नौरोजी, दादाभाई, ४२२, ४२३, ४२९, ४४८ ।

प

पटना, १३, २०, ४५, ४९, ५३, ५४
८७, ९१, १०२, १२८, २६०,
३६९, ५००, ५१८, ५२२, ५७७,
६४३।

पटियाला, ७०, २२८, ४८३, ५०७,
६२८।

पटेल, वल्लभभाई, सरदार, ५११, ५१४,
५२९, ५३५, ५५९, ५७४, ५८०,
५८५।

पटेल, विट्ठलभाई, असेम्बली के पहले
निर्वाचित अध्यक्ष, ५०८, ५०९,
५२१।

पद्माकर, भट्ट, ६४७।

पद्मावत, ६५०।

पनियर, की लड़ाई, ३०९।

पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट, ३५३, ३९१,
५१३।

पब्लिक सर्विसेज कमीशन, ४२८।

पब्लिक सेप्टी बिल, ५०८।

प्रतापसिंह, काश्मीरका महाराजा, ४२६,
४२७।

प्रतापसिंह, जयपुर का महाराजा,
६४३।

प्रतापसिंह, तंजोर का राजा, ८१।

प्रतापसिंह, सतारा का राजा, २९६,
३३६, ६५२।

प्रबोधचन्द्रिका, ६५१।

प्रशिया, १५।

पलादी का युद्ध, ४७, ४८, ५७, ६७,
३६०।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, ४३४, ४९३।

पाकिस्तान, ५३१, ५३३, ५६१,
५६२, ५६३, ५६५, ५६६, ५७१,
५७५, ५८६, ५९२, ५९६, ५९७,
६०१, ६०३, ६०५, ६११, ६१२,
६१५, ६१६, ६१७, ६२३, ६२४,
६२५, ६२८, ६३१, ६३४, ६३६।

पाटन का युद्ध, १४१।

पादशाह बेगम, २९५।

पांडुचेरी, १५, २०, २१, २२, २३,
२४, ३४, ३५, ३६, ४५, ११३,
१४०।

पानीपत, ६७, ६८, ७१, ७४, ७६,
७९।

पामर कम्पनी, २५८।

पामर, कर्नेल, १८०।

पामस्टर्न, लार्ड, ३५८।

पायनियर, समाचारपत्र, ४३८।

पार्लमेंटी शिष्ट मण्डल, ५५३।

पार्लमेंटी बोर्ड, ५३०।

प्राइज, विलियम, ७८।

प्लाउडन, रेजीडेण्ट, ४१८, ४२६।

पाल, १७४।

फाल्मैन, जर्मन अफसर, १९३ ।

फाल्कनर, ११४ ।

फाशा, मुस्तफ़ा कमाल, ४८७ ।

फिट, इंग्लैंड का प्रधान सचिव, १५४;
२११ ।

फिट का इंडिया ऐजेंट, ११९, १२६,
१३६, १४०, १४६, १५४, २१५ ।

फिंडारियों का दमन, २३७, २३८,
२३९, २४० ।

फिरार, फ्रांसीसी यात्री, ३ ।

फिलार्ड, आनन्दरंग, २५ ।

फिसेप, २८९ ।

फीगू, २६४, ३३१, ३३२ ।

फीलीभीत, ६९ ।

फुआवाँ का राजा, ३६८ ।

फुर्तगाल, २, ४, ६, ७, ८, १२, १५, १७ ।

पुरन्दर, (पुरन्धर) २४४ ।

पुरन्दर की सन्धि, १०४ ।

पुर्निया के नवाब, ४० ।

पुर्णिमा, मैसूर का मन्त्री, ११५, १६४,
१६७, २८० ।

पूर्ण स्वराज्य दिवस, ५११ ।

पूना, ९४, १०३, १०४, १४२, १५५,
१७९, १८२, १८८, १९०, २४५,

२४८, २४९, २५०, ३३८, ४३१,
५११, ५१६, ५२०, ५३४, ६३८,

६४४ ।

पूलीकट, ८ ।

पूसा का कृषि कांजेज, ४९७ ।

पेद्री, ८१ ।

प्रेमचन्द्र, ६४८ ।

प्रेमसागर, ६४५ ।

पेरन, ८३ ।

पेरिस की सन्धि, ३६, ६३५ ।

पेरी, अर्सकाइन, ४१४ ।

पेरूमल, ६४३ ।

पेरो, सिन्धिया का फ्रांसीसी अफसर, १९९ ।

प्लेग, ४३०, ४३१ ।

पेसली, २६० ।

पेशावर, २३०, २८४, २९७, २९९,
३०१, ३१६, ३२४, ३८६, ४००,
४०२, ४३०, ५११, ५७५ ।

पैलेस्टाइन, [फिलस्तीन] ४६० ।

पोप का आज्ञापत्र, ४, ६ ।

पोफम, मेजर, १०६ ।

पोलैण्ड, ५१४, ५३६, ५३७ ।

प्रोम, २६८ ।

पोर्टोनोवो, ११४ ।

पोलक, जनरल, ३०४ ।

पौण्डपावना, ५५१ ।

पंजदेह, ४१५, ४१६ ।

पंजाब बोर्ड, ३२९ ।

फ

फतह खाँ, ५५८ ।

फतहगढ़, १३९, २०८, ३२८ ।

फतहपुर, ३६५ ।

फतहपुर, सीकरी, ९, ४४० ।

फर्ग्युसन, ६४० ।

फर्खसियर, मुगलसम्राट्, ३८ ।

फाक्स, ११९, १२० ।

फाटेंस्कू, इतिहासकार, १९३ ।

फारस, १७७, २२२, २२८, २२९,

२३०, २५७, २९६, २९७, २९८,

२९९, ३६०, ३६१, ४३३, ४३६ ।

फारस की खाड़ी, १, ५, ११, ४३५,

४३६, ४४७ ।

फारेस्ट, इतिहासकार, ११६ ।

फासिस्ट दल, ५३७ ।

फासेट, हेनरी, ४२२ ।

फ्रांस, १५, १७, २१, ३३, ४१, ११३,

१३४, १३९, १५३, १५४, १५५,

२२७, २२९, २३१, ४१६, ४३५,

४५९, ४६०, ५३६, ५३७, ५४१ ।

फ्रांसिस, फिलिप, ९८, ९९, १०४,

११७, ११९, १२०, १४०, १८३,

१९०, ४२२ ।

फिच, राबर्ट, ९ ।

फिनलैण्ड, ५४१ ।

फिरंगिया, ठग, २७७ ।

फिलिप दूसरा, स्पेन का राजा, ७ ।

फिलीपाइन, ५४२ ।

फीरोजपुर, ३००, ३०६, ३१६, ३१७,

३१८ ।

फीरोजशहर, की लड़ाई, ३१८ ।

फ्रीमैन, ३८१ ।

फ्रीस्टेट, ४५७ ।

फुलटन, ८०, ८३, ८६ ।

फुलर, सर बैमफील्ड, ४४९ ।

फेन, प्रधान सेनापति, २९९ ।

फ्रेजर, हैदराबाद का रेजीडेण्ट, ३४०,

३४१ ।

फ्रेरे, सतारा का रेजीडेण्ट, ३३६ ।

फेजाबाद, १११, ११२, २८२,

३६८ ।

फैजुल्लाखाँ, ९५ ।

फैमिन इंड्योरेंस फंड (अकाल रक्षा-

कोष), ३८८ ।

फ्रैंकलिन, ११० ।

फोर्ट विलियम, किला, १२, ८९ ।

फोर्ट विलियम कालेज, १७५, १७६,

१७७, २१०, ५२१, ५२५, ५२६,

६४५, ६५०, ३५१ ।

फोर्ड, कर्नल, ३४ ।

फोर्ब्स, ६५३ ।

ब

बक्सर, ३०० ।

बक्सर की लड़ाई, ५७, ५८, ६१, ६२ ।

बगदाद, ४६० ।

- बघेलखण्ड, ६२८ ।
 बच्चा सका, (हवीबुल्ला), ४८२ ।
 बज्रवज्र, ८८ ।
 बटलर, सर हारकोर्ट, ५०६ ।
 बटलर कमेटी, ५०५, ५०६, ५०७ ।
 बडौदा, १०६, २४४, ३९४, ५०५, ५२०, ६२८, ६४४ ।
 बदखशाँ, ३९१, ।
 बदलीसराय, की लड़ाई, ३६२ ।
 बनर्जी, उमेशचन्द्र, ४२३ ।
 बनर्जी, सर गुरुदास, ४४१ ।
 बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ, ४२२, ४४२, ४४९ ।
 बनारस, ९३, ९४, ९५, १०७, १०८, १०९, १११, १२७, १३१, १७१, १८७, २७२, २८१, २९६, ३२४, ३७३, ५१५, ६२८, ६४० ।
 बम्बई, नगर तथा प्रान्त, ११, १२, १४, ५१, ७२, ७७, ८१, ९७, ९८, १०३, १०५, १२०, १२२, १३७, १६२, २५६, २५७, २६६, २९४, ३०८, ३३३, ३३६, ३८४, ४०७, ४११, ४१९, ४२२, ४२३, ४५२, ४६४, ४७१, ४७६, ५०७, ५१२, ५१३, ५१६, ५२९, ५५९, ५६४, ५७१, ५७२, ५७४, ५८९, ५९९, ६३८ ।
 बर्क, एडमंड, १२०, १२१, १४५, १५४, २२७, ४२२ ।
 बर्टन, रिचर्ड, ३०७ ।
 बर्दवान, ५२, ६११ ।
 बर्नियर, ३१ ।
 बर्न्स, २९७, २९८, ३०६ ।
 बर्मा, ५२४, ५५६ ।
 बर्मा का राज्य, २६४ ।
 बर्लिन, ५५० ।
 ब्रह्मसमाज, २९२, ४२०, ५०१ ।
 बगर, १८८, २०१, ३४०, ३४१, ४३७, ६२० ।
 बरहानपुर, १८८, १८९, १९४, ३३८ ।
 बरेली, ३६८, ३६९, ६१४ ।
 बलगारिया, ५४१ ।
 बलदेवसिंह सरदार, ५७४, ५८१, ६०३ ।
 बलभद्रसिंह, २३५ ।
 बसरा, ४६० ।
 बसालतजंग, निजाम का भाई, १३५ ।
 बसु, रामराय, ६५१ ।
 बसु, सुभाषचन्द्र, ५२१, ५२७, ५३५, ५४०, ५५६, ५५७, ५८६ ।
 बसु, शरतचन्द्र, ५८६, ५९६ ।
 बहादुरशाह, अन्तिम मुगल सम्राट्, ३४९, ३५७, ३६१, ३६३, ३७५, ५२४, ६४९ ।

- वासुदेव, डाक्टर, ११ ।
 बाजीराव (पहला) पेशवा, ७६,
 २३७ ।
 बाजीराव (दूसरा), पेशवा, १७९,
 १८२, १८३, १८४, १८६, १९६,
 २४२, २४४, २४५, २४६, २४७,
 २५०, २५१, २५६, २५७, २७८,
 ३३८, ३५०, ३६४ ।
 बापू गोखले, २४५ ।
 बादल नमक सत्याग्रह, ५११ ।
 बायजाबाई, २७४ ।
 ब्राइट, जान, ४२२ ।
 ब्राइडन, जान, डाक्टर, ३०३ ।
 ब्राउन, जौनपुर का कलेक्टर, २८२ ।
 ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग, ६४२ ।
 ब्राकने पोन्नर, ५५९ ।
 ब्राउटन, लार्ड, ३३५ ।
 बार्कर, ९३ ।
 बारडोली निर्णय, ४७८ । करवंदी,
 ५१४ ।
 बारडोली में सत्याग्रह ५०७, ५०८ ।
 बारवेल, ९८, १०० ।
 बालकन राज्य, ५४१ ।
 बाल-विवाह-निषेध कानून, ५०१ ।
 बालाजी, पेशवा, ७४, ७८, २४७ ।
 बालासाहब, २४१, २४२ ।
 बालासोर, ११, १९८ ।
 बालेश्वर, २० ।
 बारहदाय, ३८६ ।
 बारिकपुर, २६६, ३५८, ३५९, ३६० ।
 बारिकपुर का अन्धायवधर, २१६ ।
 बारी-दोआब नहर, ३५३ ।
 बालों, सर आर्जे, २२०, २२१, २२२,
 २२३, २२४, २२५, २२६ ।
 बावरिंग, ११६ ।
 बासनियां, ४६० ।
 ब्रिगो, सरजेंट, ५४ ।
 ब्रिटिश इंडियन असोसियेशन, ४२३ ।
 ब्रिस्टो, ११२ ।
 ब्रिटिश म्युजियम, ५१८ ।
 ब्रिटेन, ५३७, ५३८, ५४१, ५४२,
 ५४५, ५५१, ५६०, ५६२ ।
 ब्रिटूर, २४६, ३३८, ३६४, ३६५ ।
 ब्रिलोचिस्तान, (बलूचिस्तान), ३५० ।
 ४२४, ४३६, ६०२, ६०५ ।
 बीकानेर, ५०५, ६१४ ।
 बीजापुर के सुल्तान, ४ ।
 बीटसन, कर्नल, १६० ।
 बीबीघर, का खून, ३६५, ३६६ ।
 बी० बी० सी० आई० रेलवे, ३५२ ।
 बुकानन, डाक्टर, २१६, २६०, २६१ ।
 बुटवल, २३५, २३६ ।
 बुसो, २७, ३०, ३४, ३५ ।
 बुंदेलखंड, १९२, १९६, १९७, २०४,

२०६, २७३, ३७०, ३७१, ३८८, ५१७,
६२८, ६४२ ।

वेकंसफील्ड, लार्ड, हॉल्लैंड का प्रधान
सचिव, ३९७, ४०२, ४०३ ।

वेदनूर, ७३ ।

वेंटिक, विलियम, लार्ड, २२४, २७४,
२७५, २७९, २८१, २८२, २८४,
२८५, २८८, २८९, २९०, २९२,
२९४, २९९, ३०३, ३५७, ४०५ ।

वेनफील्ड, पाल, १३८ ।

वेन, वेजउड, भारतसचिव, ५०९,
५१७ ।

वेयर्ड, कर्नल, १७० ।

वेथक्टे, कर्नल, ११४ ।

वेल्, इवांस, मेजर, २८०, ३२७ ।

वेल्, एंड्रूज़, २८७ ।

वेलजियम, ४६०, ५३६, ५७१ ।

वेली, कर्नल, ११४ ।

वेली, कर्नल, लखनऊ का रेजीडेंट,
२५२, २५३ ।

वेली, बटरवर्थ, २७५ ।

वेवरिज, इतिहासकार, १२४ ।

वेसीन, ७७, १०३, १०४ ।

वेसीन की सन्धि, १८२, १८३, १८४,
१८७, १८८, १८९, १९१, १९६,
२०३, २११, २२४, २४४ ।

वेसेंट, मिसेज, एनी, ४२०, ४६३ ।

ब्रैडला, सर चार्ल्स, ४२२, ४२७ ।

ब्लैवटस्की, मैडम, ४२० ।

बोर्ड ऑफ कंट्रोल, ११९, १५४,
१८४, २११, २२७, २३८, ३०४,
३३१, ३३२, ३३५, ३४१, ३४२,
३७७ ।

बोर्ड ऑफ ट्रेड, ३२२ ।

बोर्ड ऑफ रेवेन्यू, २७५ ।

बोल्ट्स, ५६ ।

बोलन दर्रा, ३०० ।

बोस, आनन्दमोहन, ४२२ ।

बोस, सर जगदीशचन्द्र, ६५६ ।

बोस्टन, ५१८ ।

बंग-विच्छेद, ४४२ ।

बंगलौर, ७२, १३७ ।

बंगाल आर्डिनेंस, ४८९ ।

बंगाल की खाड़ी, १६६, ३३१ ।

बंगाल टेनेसी बिल, ४१९ ।

भ

भगतसिंह सरदार, ५१६, ५१७ ।

भट्ट, बालकृष्ण, ६४७ ।

भट्ट, पद्माकर, ६४७ ।

भड़ौच, १९२, १९६, २०१ ।

भरतपुर, ७१, ७५, २०८, २०९,
२१९, २२५, २७०, २७१, २७२,
५०५, ६२८ ।

भागलपुर, २६०, ५७७ ।

- माटगाँव, २३४ ।
 भारतीय दंड-विधान, २८६ ।
 भारत धर्म-महामण्डल, ५९९ ।
 भावलपुर, २९७, ३०० ।
 भावे, विष्णु, ६५२ ।
 भूटान, २३४, ३८६ ।
 भोपटकर लक्षण बलवंत, ५९१ ।
 भूपाल, ५२५, ६०४, ६२८, ६५० ।
 भूपाल की बेगम, ३८१, ३८९ ।
 भूमध्य सागर, १ ।
 भोंसला फंड, ३३७ ।
 भोंसला शासन, ३३७, ३३८ ।
 म
 मकसूदाबाद, ३७ ।
 मक्काशरीफ, १३ ।
 मललीपट्टन की कोठी, १३, १५, २० ।
 मल्लेरी, (अलवर), २२५ ।
 मत्स्य संघ ६२८ ।
 मथुरा, २०८, ५१५, ६१६, ६४० ।
 मदन लाल, ६२५ ।
 मदरसतुल आलिया, कलकत्ता ६४८ ।
 मदरास, नगर तथा प्रान्त, ८, ११, १२, १४, २१, २२, २३, २४, २७, २८, ३४, ३५, ४४, ४५, ५१, ७४, ८०, ८९, ९७, ९८, १०३, ११३, ११४, ११७, १२०, १२२, १२५, १३७, १४७, १५५, १५६, १५८, १६२, २२०, २२४, २२५, २२७, २५५, २५७, २६०, २६१, २६६, २६७, २७४, २९४, ३८४, ३९७, ४०७, ४११, ४२०, ४२२, ४२३, ४५२, ४५८, ४६४, ५१२, ५१३, ५५६, ५६४, ६२८, ६३७, ६३८, ६४८ ।
 मध्य भारत संघ, ६२८ ।
 मध्यवर्ती सरकार, ५७१, ५७४, ५८०, ५८१, ५९१ ।
 मशरिकी अल्लामा, खाकसार नेता, ५३९ ।
 मनरो, सर यामस, २१३, २४०, २५४, २५५, २५९, २६२, ४२२ ।
 मनरो, हेक्टर, ५७, ११४ ।
 मनीपुर, २६४, २६५, २६८, २८१, ४२७ ।
 मनुष्य-गणना, (सन् १८८१) ४०९ ।
 मर्जबानजी फर्दूनजी, ६५३ ।
 मर्तबान, ३३१ ।
 मर्व, ४०३, ४१५ ।
 मर्सर, डाक्टर, २६२ ।
 मरे, कर्नल, २०६ ।
 मलकापुर, १८८ ।
 मरका पर विजय, ५, ८ ।
 मल्हारराव, गायकवाड़, ३९४ ।
 मल्हारराव, होलकर, ७६ ।

- मंलाबार, ३, ८, ७३, ११३, १३७, ६ मार्कहम, रेजीडेंट, १०९ ।
 १६४, १६६, २४५, ४७७ । ६ मार्टिन, इतिहासकार, ३६२ ।
 मलया प्रायद्वीप, ३३१, ५४२, ५५६ । ६ मार्टिन, फ्रांसीसी, २०, ३२ ।
 मलवली, १६२ । ६ मालें, सर जान, भारतसचिव, ४५१,
 मसाला के टापू, ८, १०, २३१ । ४५४, ४६४ ।
 मसूरी, २३६ । ६ मालें-मिंटों सुधार, ४५२, ४६२ ।
 महबूबअली खाँ, निजाम, ४३८ । ६ मार्शमैन, १२४, १२९, २६३, २८८,
 महाजनसभा, ४२३ । २९० ।
 महानदी, ३९८ । ६ मारिशस, १५७, २३०, २३१ ।
 महानसिंह, २२७ । ६ मालकम, सर जान, ७०, ७६, १२३,
 महाबन्दूला, बर्मी सरदार, २६५, २६६, १५१, १५६, १५७, २२२, २२३,
 २६८ । २२९, २३०, २३७, २३८, २४१,
 महाराजपुर, ३०९ । २४५, २४६, २५७, २६२, २७५,
 महीदपुर, २४३ । ४२२ ।
 महीपतराम, २२३ । ६ मालदा, ६११ ।
 माउण्ट बैटन, लार्ड लुई, ५८९, ५९३, ६१५, ५९७, ६००, ६०१, ६०२, २३७, २३८, २४४, २४६, २७३, ३७१,
 ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६१३, ६१७, ६१८, ६२१, ६३२ । ६ मालवीय, मदनमोहन, ४२३, ४५८,
 ५११, ५१४, ५१८, ५१९, ५२०,
 माणकू चित्रकार ६४२ । ५७८ ।
 माणिकचन्द, राजा, ४३ । ६ मावलंकर केन्द्रीय असेम्बली अध्यक्ष,
 माधवराव, बल्लाल, पेशवा, ७४, ७५, ५५५ ।
 ७७, ७८, ८९, १४३, २५० । ६ मास्टिन, टामस, ७२, १०४ ।
 माधवराव, सर, दीवान, ३९५ । ६ माहादजी, सिन्धिया, ६८, ७५, ७६,
 माधवराव, सवाई, पेशवा, १०६, १७८, १०६, १०७, १२५, १४०, १४१,
 १७९ । १४२, १४३, १४४, १४७, १९७,
 मामा साहब, ३०९ । १९९, २०३ ।

माही, २०, ३६, ११३ ।	मीरजाफर, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९,
मांटसोरी सिस्टम, २८७ ।	५०, ५१, ५२, ५४, ५५, ५७,
मांटिग्यू, एडविन, भारतसचिव, ४६०,	५८, ६०, ६५, ८८, ९० ।
४६४, ४६९, ४८० ।	मीरन, ४८, ५१ ।
मांटिग्यू-चेम्सफर्ड सुधार, ४६४, ४६५,	मीरनपुर कटरा, ९४ ।
४६६, ४६७, ४६८, ४६९ ।	मीरपुर, ३०६ ।
मानसन, ९८, ९९ ।	मीरमदन, ४७ ।
मानसन, कर्नल, २०६, २०८, २११ ।	मुकुन्दरा, २०६, २०७ ।
मांडवी, ३३३ ।	मुखर्जी, डाक्टर श्यामा प्रसाद, ६०५ ।
मिडिल्टन, रेजीडेंट, ११२ ।	मुजफ्फर खॉं, २८४ ।
मिदनापुर, ५२ ।	मुजफ्फरजंग, २५, २६, २७ ।
मिथानी का युद्ध, ३०७ ।	मुजफ्फरपुर, ४४९, ५२२ ।
मिरथा का युद्ध, १४१ ।	मुडीमैन कमेटी, ४९०, ५०१ ।
मिल, इतिहासकार, ६५, १२४, १२९ ।	मुदकी की लड़ाई, ३१८ ।
मिलबर्न, २६१ ।	मुदली, शेख केशवराय, ६५४ ।
मिश्र, प्रतापनागयण, ६४७ ।	मुन्नाजान, २९५ ।
मिश्र सदल, ६५४ ।	मुनि, पर्णज्योति, ६५४ ।
मिस्त्र देश, १, १५५, १७७, ४१३,	मुनि, वीर्म, ५३० ।
४१५, ५४१ ।	मुन्नी बेगम, ९०, १००, १२४ ।
मिटो, लार्ड, गवर्नर-जनरल, २२६,	मुर्शिदकुलीखॉं, ३७, ३८ ।
२२७, २२८, २२९, २३०, २३१,	मुर्शिदाबाद, ३७, ४३, ४८, ८७,
२३२, २३४, २५७, २६३, २९६ ।	९१, १२८, ६११, ६३८ ।
मिटो, (दूसरा) लार्ड, वाइसराय, ४४७,	मुलतान, २८४, ३२३, ३२४, ३२५,
४४८, ४५२, ४५३, ४५४, ४६३ ।	६१० ।
मीरभालम, २२३ ।	मुसलिम नेशनल गार्ड ५७४,
मीरकासिम, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५,	५९७ ।
५७, ६१, ८८ ।	मुसलिम सम्मेलन काश्मीर, ५६९ ।

- मुसलिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, मेयो कालेज, अजमेर, ३९० ।
 ५००, ५२५ । मेयो, लार्ड, वाइसराय, ३८९, ३९०,
 मुसोलिनी, ५३७, ५५० । ३९२, ३९३, ३९५, ४०९ ।
 मुहम्मदअली शाह, अवध का बादशाह, मेरठ, ३५१, ३६०, ३६१, ३६२,
 २९५, ३४१, ३४७ । ३७४, ५७९ ।
 मुहम्मदअली, कर्नाटक का नवाब, मेवान्द, ४०५ ।
 २६, २७, २९, ३०, ८० ८१, मेसोपोटामिया, (इराक) ४६०, ४९४ ।
 १४७, १६८, १६९, ३५७ । मेहता नानालाल चमनलाल ६४१ ।
 मुहम्मद अली मौलाना, ५१३ । मेहता, सर फिरोजशाह ४२२, ४४९ ।
 मुक्ति दिवस, ५३९ । मैकडानल, सर घेंटनी, ४३१, ४३४ ।
 मुहम्मदगौस, कर्नाटक का नवाब, ३४९ । मैकडोनाल्ड, १८० ।
 मुहम्मदरिजा खॉ, ५७, ६०, ९०, मैकडोनाल्ड, रैम्से, ५१३, ५१७, ५१८ ।
 १००, १०१ । मैकनाटन, २९८, २९९, ३०१, ३०२,
 मुहम्मदरिजा, पटना के रईस, ६४३ । ३०५ ।
 मुहम्मदरिजा 'नगमाते आसफी' का मैकफर्सन, सर जान, १८५ ।
 लेखक, ६४३ । मेंकमिलन हेरल्ड ६०७ ।
 मुहम्मदशाह, मुगल सम्राट्, ६४३ । मैक्समूलर, ६४४ ।
 मुंगेर, ५३, ५२२, ५७७ । मैकाले, १०२, १२४, २८६, २८९,
 मूर, १६४ । २९०, २९४, ३८३ ।
 मूलराज- ३२३ ३२४, ३२६, ३२८ । मेमनसिंह ४४२ ।
 मृत्युंजय, 'प्रबोधचन्द्रिका' का लेखक, मैरिस संगीत-विद्यालय, लखनऊ, ६४४ ।
 ६५१ । मैलापुर, २३ ।
 मेघनादवध काव्य, ६५२ । मैलेसन, इतिहासकार, ३६३, ३६८,
 मेटकाफ, सर चार्ल्स, २२५, २२८ । ३७१, ३७२, ३७४ ।
 २३९, २७०, २७१, २७२, २८१, मैथिलीशरण गुप्त, ६४८ ।
 २८९, २९२, २९३, ३०० । मैसूर, ७२, ७३, ७५, ११३, ११५,
 मेडोज, मद्रास का गवर्नर, १३६, १३७ । ११६, १३४, १३५, १३६, १३७,

१३८, १४०, १४२, १४६, १५६,	याकूबखॉ, ३९६, ४०२, ४०३ ।
१५८, १५९, १६२, १६६, १६७,	यांडबू की सन्धि, २६८ ।
१६८, १८३, १९२, २४६, २६०,	यूनान, ४६१, ५४१ ।
२६२, २८०, २८१, ४०५, ४०६,	यूनियनिस्ट दल, ५५२, ५६८ ।
४६९, ५०५, ५१७, ५२०, ६२८,	यूनिवर्सिटीज ऐक्ट, ४४१ ।
६४४ ।	यूफ्रेटीज, नदी, १ ।
मैचैस्टर, १३३, २६०, ३८३, ३९४,	यूरोपीय महायुद्ध, ४५९, ४६०, ४६१ ।
४३२ ।	यूरोपीय महायुद्ध, दूसरा, ५३६ ।
मैसेल, रेजीडेंट, ३३९ ।	यंगहसबैंड, कर्नल, ४३६ ।
मोपला-विद्रोह, ४७७ ।	र
मोर्स, मदरास का अध्यक्ष, २१ ।	रघुनाथराव, (राघोबा) ७५, ७८,
मोरोपन्त, ६५२ ।	७९, १०३, १०४, १०५, १०६,
मोलाराम, चित्रकार, ६४२ ।	११३, १७९, १८२, १८३ ।
मोहकमचन्द, २२८ ।	रजाकार, ६२०, ६३४ ।
मोहतरफा, २४८ ।	रजबअली बेग, मिर्जा, ६५० ।
मोहनलाल, मुंशी, ३०२ ।	रजासाहब, २९ ।
मंगल पांडे, ३६० ।	रणजीत सिंह, पंजाब का महाराजा,
मंगलोर, की सन्धि, ११६, नगर,	२२२, २२७, २२८, २२९, २३०,
११७, १२० ।	२४२, २८३, २८४, २८५, २९७,
मण्डल, योगेन्द्रनाथ, ५७७ ।	२९८, २९९, ३००, ३०६, ३०७,
मंडाले, ४१६, ४५०, ४६२ ।	३१३, ३१४, ३१५, ३१७, ३२३,
य	३२५, ३२९, ३५७, ५१७, ६४२ ।
यशवन्तराव, होलकर, १८२, १८७	रणजीतसिंह, भरतपुर का राजा, २०८ ।
१९०, २०३, २०४, २०५, २०६,	रणवीरसिंह, काश्मीर का महाराजा,
२०७, २०८, २०९, २१८, २२०,	४२५, ४२६ ।
२२२, २२३, २२५, २२८, २३१ ।	रत्नागिरि, ४१८ ।
२४३ ।	रमण चंद्र शेल्वर, ६५५ ।

- रहमत अली, चाधरी, ५३२, ५३३ । राबर्ट्स, जनरल, ४०२, ४०५ ।
 राजस्थान संघ, ६२८ । रामकृष्ण, परमहंस, ४२१ ।
 राउंड टेबल कान्फरेंस, ५१० । रामचन्द्रराव, ३३९ ।
 राघोजी (पहला), भोंसला, २०, ७६ । रामनगर, १०८ ।
 राघोजी (दूसरा), भोंसला, १८६, रामनारायण, बिहार का हाकिम,
 १८७, १८८, १८९, १९४, २०१, ४९, ५३ ।
 २०४, २२०, २४१, २४२, ३३८ । रामप्रसाद, ६५० ।
 राजकोट, ३९०, ५३६ । रामपुर, ९५, ६२८, ६४९ ।
 राजप्पा, त्रिकुट, ६५४ । रामपुरा, २०६, २०७, २२२ ।
 राजपूताना, ७२, ३७५, ३८८, ३८९, रामानुजम्, ६५५ ।
 ५०७ । रामराव, मल्हार, ६५२ ।
 राज्यरंग, ६५४ । रामशास्त्री, न्यायाधीश, ७९, २४८ ।
 राज गोपालाचारी चक्रवर्ती, ५२१, रायगढ़, २४४ ।
 ५४९, ६३२ । रायदुर्लभ, ४७, ४९ ।
 राजवल्लभ, ४०, ९० । रायल इंडियन मेरीन, ४९६ ।
 राजवल्लभ, विक्रमपुर का राजा, ६५० । राय, कामिनी, ६५२ ।
 राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ, ६५३ । राय, द्विजेन्द्रलाल, ६५२ ।
 राजशाही, १३२, ६११ । राय, भारतचन्द्र, गुणाकर, ६५० ।
 राजाराम, ७७ । राय, राममोहन, राजा, २७९, २८६,
 राजेन्द्र प्रसाद, ५२१, ५२९, ५७९, २८८, २८९, २९१, २९२, ४२१,
 ५८२, ५८३, ६०७ । ६५१ ।
 राजेन्द्र सिंह महाराज, ६३५ । राय, डाक्टर विधानचन्द्र, ५७२ ।
 राणोजी, पटेल, ७६ । रावलपिंडी, ३२५ ६१० ।
 रानाडे, महादेव गोविन्द, ४२२ । राव साहब, ३७१ ।
 रानी केतकी की कहानी, ६४५ । राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) ४९२ ।
 रानीगंज, ३५१ । राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ, ५८७, ५८८,
 रिट्स, इतिहासकार, १२३, ४१८ । ६२७ ।

राष्ट्रिय समाजवाद, ५३६, ५४१ ।
 रिजर्व बैंक, ६२४ ।
 रिजवी कासिम, रजाकार नेता, ६३४,
 ६३५ ।
 रिपन, लार्ड वाइसराय, ४०४, ४०६,
 ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११,
 ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६,
 ४१९, ४२४, ४२६ ।
 रीडिंग, लार्ड, वाइसराय, ४७५, ४७६,
 ४७६ ४९१, ५०५ ।
 रीशल्ड, फ्रांसीसी मन्त्री, १५ ।
 रुकुनुद्दीन, निजाम का दीवान, १४५ ।
 रुहेलखंड, १९, ६९, ९४, ९५, १७३,
 ३६८, ३६९, ३७५ ।
 रुपुर, २८५ ।
 रूमानिया, ५४१ ।
 रूस, २८३, २९६, २९८, ३८७,
 ३९१, ४०१, ४०४, ४१३, ४१५,
 ४१६, ४१८, ४३०, ४३५, ४३६,
 ४४९, ४५९, ४६०, ४६१, ४६३,
 ४८१, ५०८, ५३७, ५४१, ६२१ ।
 रेग्युलेटिंग ऐक्ट, ९७, ९८, १०२,
 १०३, १२६ ।
 रेडक्लिफ, सर सीरिल, ६१० ।
 रेनल, मेजर, ११८ ।
 रेमाँ, १४५, १५६, १५७, १६० ।
 रेल, ३५१, ३५२ ।

रेलवे बोर्ड, ४९८, ४९९-१ ।
 रैयतवारी बन्दोबस्त, २५५ ।
 रो, सर टामस, १०, ११ ।
 रोज, सर ह्यू, ३७१ ।
 रोम साम्राज्य, १ ।
 रोशनबेग, २४३ ।
 रौलट, जस्टिस, ४७० ।
 रौलट-विल सत्याग्रह, ४७०, ४७१ ।
 रंगलाल, ५२७, ६५२ ।
 रंगून, २६६, २६७, २६८, ३३०,
 ३३१, ३३२, ३६३, ४१६, ५०० ।

ल

लखनऊ, ११२, १४८, १७३, ३३४,
 ३४४, ३६४, ३६६, ३६७, ३६८,
 ३७५, ३८२, ४६२, ४६९, ४८८,
 ५००, ५१३, ५१८, ५१९,
 ५२४, ५२५, ५२६, ६३८, ६४१,
 ६४८, ६४९, ६५० ।
 लखनऊ कालेज, २८२ ।
 लडलो, इतिहासकार, ३२७, ३७७ ।
 लतीफगढ़, १०८ ।
 लन्दन, ९, १०, ५१०, ५१६, ५२०,
 ५२२, ५५१, ५५४, ५६०, ६०१,
 ६०३, ६३२, ६३५, ६४२ ।
 लल्लूलालजी, ६४५ ।
 लहासा, ४३७ ।
 लक्ष्मणसिंह, राजा, ६४६ ।

लक्ष्मीबाई, शाँसी की रानी, ३७०,
३७१ ।

लक्ष्मीश्वरसिंह, दरभंगा महाराज, ४२२ ।

लाजपतराय, लागा, ४५०, ५०३,
५३१ ।

लावरडोने, २२, २३ ।

लायल, सर एल्फ्रेड, इतिहासकार,
११०, १२४, २१२ ।

लारेंस, सर जान, ३६१, ३७४, ३७६,
बाइसराय, ३८५, ३८६, ३८७,
३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९५,
४१५ ।

लारेंस सर हेनरी, १४९, ३२२,
३२४, ३२६, ३२९, ३४३, ३४४,
३४५, ३४७, ३४८ ३६७, ४२२ ।

लारेंस लार्ड पेथिक, भारत मंत्री, ५५३,
५५९, ५६०, ५६५, ५८१, ५८४,

५९८, ५९९ ।

लालसमुद्र, १ ।

लालसिंह, ३१६, ३१७, ३१८,
३२० ।

लासबाड़ी की लड़ाई, २०१ ।

ललकुर्ती दल, ५१७ ।

लायकअली, ६३५ ।

लाहोर, ७०, १४९, २२७, २४५,
२८४, २९९, ३०६, ३१७, ३१८,
३१९, ३२१, ३२२, ३२४, ३२५,

३२७, ३६१, ३९०, ४१९, ४२३,
५०८, ५०९, ५१०, ५१२, ५१७,
५३४, ५८८, ५९२, ६००, ६१०,
६११, ६३७, ६४२ ।

लिटन, लार्ड, बाइसराय, ३८७, ३९६,
३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१
४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६,
४१०, ४११, ४१४, ४२३, ४२६ ।

लिटन, लार्ड, बंगाल का गवर्नर,
४९१ ।

लिनलिथगो, लार्ड, बाइसराय, ५२७,
५२९, ५३८, ५४७, ५४८ ।

लिस्टोवेल, लार्ड, ५९९ ।

लियाकतअली, ५८२, ५९१ ।

लिबरल फ़ेडरेशन, नेशनल, ४७०,
५०१ ।

लिस्वन, ३ ।

ली कमीशन, ४९८ ।

लीग मुसलिम, ४४८, ४६२, ५१३,
५२५, ५३२, ५३३, ५३४, ५३८,
५४४, ५५२, ५५६, ५६१, ५७१,
५७२, ५७४, ५७७, ५८१, ५८२,
५८५, ५९२, ५९८, ६०२ ।

लीड्स, जौहरी, ९ ।

ली बार्नर, इतिहासकार, ३३६ ।

लुघियाना, २२८, २९७, ३१८ ।

लूकन, एक अँगरेज अफसर, २०० ।

लू, की लड़ाई, ४६० ।
 लेक, लार्ड, सेनार्पात, १८९, १९९,
 २०१, २०५, २०७, २०८, २१०,
 २१९, २७० ।
 लेजिस्लेटिव असेम्बली, ४६६, ४८७,
 ४८९, ४९४, ४९५ ।
 लैली, ३४, ३५ ।
 लैंग, सैम्युएल, अर्थसदस्य, ३८२ ।
 लैसडौन, लार्ड, वाइसराय, ४२४,
 ४२५ ।
 लो, हैदराबाद का रेजीडेंट, ३४० ।
 लोसान की सन्धि, ४८७ ।
 लंका, १७७, ५४२ ।
 लंकाशायर, ३९८, ४३२ ।

च

वर्णाश्रम स्वराज्य संघ, ५९९ ।
 वर्धा योजना, ५३० ।
 वरसेई को सन्धि, ५३६ ।
 वडगांव का समझौता, १०४, १०५ ।
 वजीरअली, १४८, १४९, १७१,
 १७३, १८७ ।
 वयनाड, १६६ ।
 वर्थेमा, इटालियन यात्री, ३ ।
 वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट, ३९९, ४०६ ।
 वाजिदअली, अवध का अन्तिम बाद-
 शाह, ३४१, ३४२, ३४५, ३४६,
 ३६७, ५२४, ६४९ ।

वाटरलू का युद्ध, १९६ ।
 वाट्स, ४५, ४७ ।
 वाट्सन, ४४, ४७ ।
 व्यास, अम्बिकादत्त, ६४७ ।
 व्यास, कृष्णानन्द, ५१८ ।
 वार्ड, २८८ ।
 वास्कोडगामा, २, ३, ४, ६ ।
 वासिलमुहम्मद, २३८, २३९ ।
 वांडवाश की लड़ाई, ३५, ७९ ।
 विक्टोरिया, इंग्लैंड की रानी, ३०४,
 ३११, ३२६, का घोषणापत्र, ३७९,
 ३८०, ३८१, ३८९, भारत की
 साम्राज्ञी, ३९७, ३९९, ४१०, ४१२,
 ४३९, ४४४, ४५० ।
 विक्टोरिया मेमोरियल हाल, कलकत्ता,
 ६३८, ६३९ ।
 विक्रमपुर, २६५, ५२६ ।
 विजगापट्टम, ५४२ ।
 विजयदुर्ग, ७७, ७८ ।
 विजयनगर, ७२ ।
 विजय पुंगी, ५०९ ।
 विजयालक्ष्मी पण्डित, ५३०, ५७६, ६२१ ।
 विजय राघव चारियर, ५२० ।
 विद्यासागर, ईश्वरचन्द्र, ६५१ ।
 विद्यासुन्दर, ६५० ।
 विधान सम्मेलन, ५२६, ५६४, ५६६,
 ५६७, ५६८, ५८१, ५८२, ५८३,

५८४, ५८५, ५८८, ५९१, ५९३,	वेलेजली, आर्थर, १६२, १६७, १८४,
५९९, ६०१, ६०२, ६०४, ६०५,	१८५, १८६, १८८, १८९, १९०,
६०७ ।	१९२, १९३, १९४, १९५, २०२,
विन्ध्य प्रदेश संघ, ६२८ ।	२०३, २०५, २०६, २११, २१४
विनगेट, ४२६ ।	२१८, २३८, वेल्मिगटन, ड्यूक,
विल्किंस, सर चार्ल्स ६५१ ।	२९९, ३११ ।
विलर्ड, कप्तान, ६४३ ।	वेलेजली, लार्ड, गवर्नर-जनरल, १४६,
विलिङ्गटन लार्ड, ५१६ ।	१५३, १५४, १५५, १५६, १५७,
विल्सन, अमरीका का राष्ट्रपति, ४६३ ।	१५८, १५९, १६०, १६१, १६२,
विल्सन, इतिहासकार, २१३, २३५ ।	१६५, १६६, १६७, १६८, १६९,
२३८, २६०, २८९ ।	१७०, १७१, १७२, १७३, १७५,
विल्सन, जेम्स, अर्थसदस्य, ३८२ ।	१७६, १७७, १८१, १८२, १८३,
विलियम कैसर, ४६१ ।	१८६, १८९, १९०, १९१, २०२,
विलियम चौथा, इंग्लैंड का राजा,	२०३, २०७, २१०, २११, २१२,
२८५ ।	२१३, २१४, २१५, २१६, २१८,
विवेकानन्द, स्वामी, ४२१ ।	२१९, २२०, २२१, २२९, २३१,
वीरबाला दरबार, ५३६ ।	२३२, २३५, २३८, २५९, २६०,
वीर्ममुनि, ६५४ ।	२६३, २९१, २९५, २९९, ३०३,
वीरेशलिंगम्, ६५४ ।	३११, ३५५, ४४४, ६३२ ।
बुड, चार्ल्स, बोर्ड ऑफ कंट्रोल का	वेलेजली, हेनरी, १६७, १७३, १७४ ।
अध्यक्ष, ३१४, ३४२, ३५३, ३५४,	वेवर, लार्ड, ५४८, ५४९, ५५१,
३८४, ४९१ ।	५५२, ५५३, ५५४, ५७७, ५८१,
बुड, डाक्टर, ३७४ ।	५८९, ५९३ ।
बृन्दावन, ६१६ ।	बेंचुरा, २२७ ।
बेडरवर्न, सर विलियम, ४२२ ।	वैनसिटर्ट, गंगाल का गवर्नर, ५०, ५४ ।
बेनिस, १, २ ।	श
बेरेल्ट, ८७ ।	शम्भाजी, ७७ ।

शान्तिनिकेतन, ५४१ ।

शार्दूलसिंह, सरदार कवीश्वर, ५८६ ।

श्याम, ४३३ ।

श्यामसिंह, ३१९ ।

शायस्ताखाँ, ३८ ।

शालिंगद, ११४ ।

शास्त्री, श्रीनिवास, ४९२, ५१३ ।

शास्त्री, स्वामीनाथ, ६५४ ।

शास्त्री, सूर्यनारायण, ६५४ ।

शाहआलम, मुगल सम्राट्, ५७,

५८, ६१, ६७, ६८, ७५, ९०,

१४०, १४१, १९१, १९९, २००,

२०१, २१९ ।

शाहगंज, ३४७ ।

शाहजहाँ, मुगल सम्राट्, ११, ३६२ ।

शाहजहाँपुर, ३६८ ।

शाहपुरी का टापू, २६५ ।

शाहशुजा, अमीर, २३०, २८३,

२८४, २८५, २९७, २९९, ३००,

३०१, ३०५, ३०७, ३१६ ।

शाहाबाद, २६० ।

शाहू, महाराज, ७६, ७७, ८१ ।

शिकारपुर, ३०० ।

शिगारासिंह सूवेदार, ५५८ ।

शिकिम, २३५, (सिकिम) ४३६ ।

शिताबराय, ९०, १०० ।

शिमला, २७२, २९९, ४४१, ४५६, ४६२ ।

शिमला सम्मेलन पहला, ५५१, ५५२,

दूसरा ५६२ ।

शिरोमणि गुप्तद्वारा प्रबन्धक कमेटी,

४८२, ४८३ ।

शिवप्रसाद, राजा ५२१ ।

शिवाजी, ७७, ८१, २३७, २४६,

२४७, २५१, २५२, ३५७ ।

शिवाजी, तंजोर का अन्तिम राजा,

३५०, ६४२ ।

शिवप्रकाश, स्वामी, ६५४ ।

शिक्षा कमीशन, (सन् १८८१),

४०९ ।

श्रद्धानन्द, स्वामी ४८९ ।

श्रीनिवासदास, लाला, ६४७ ।

श्रीरामपुर, १५, २३१, ६४५, ६५१ ।

श्रीरंगपट्टन, १३७, १५९, १६१,

१६२, १६६ ।

शुजाउद्दौला, अवध का नवाब, ५७,

५८, ६१, ६३, ६८, ११०, ११२,

१४९, ३४६ ।

शून्यपुराण ६५१ ।

शेखूपुरा, ६११ ।

शेफर्ड, १९७ ।

शेरअली, अमीर, ३८६, ३८७, ३९०,

३९५, ३९६, ३९९, ४०२, ४०३, ४०५ ।

शेरसिंह, छत्रसिंह का लड़का, ३२४,

३२५ ।

- शेरसिंह, रणजीतसिंह का दूसरा सदासुखलाल, मुंशी, ६५४ ।
 लड्डका, ३१५, ३१६ । सफ़्दरजंग, ६८ ।
 शेरिडन, १२० । सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, ५९९ ।
 शोर, फ़्रेडरिक, २८२ । सनातन धर्म महासभा, ५९९ ।
 शोर, सर जान, गवर्नर जनरल, १३०, सप्र, सरतेज बहादुर, ५१२, ५१३ ।
 १३१, १४०, १४४, १४५, १४६, समाजवादी दल, ५२२ ।
 १४७, १४८, १५०, १५३, १५४, समरू, ५४ ।
 १७२, १७४, २१२ । समरू बेगम, १९४, २०१, २०४ ।
 शोरी, ६४३ । समाचारदर्पण, (बैंगला पत्र) २६३ ।
 शौकत अली मौलाना, ५१३, ५१४ । सरफोजी, तंजोर का राजा, १७०,
 श्योराज, २३५, २३६ । ६४२ ।
 शंघाई, ४८३ । सर्वदल-सम्मेलन, ५०३, ५०४,
 ५०५ ।
 स खलाराम बापू, १०४ । सर्विथा, ४६० ।
 सतञ्ज, नदी, २२८, २२९, २३४, सवैट ऑफ दि पीपुल सोसायटी,
 २८४, २८५, ३०८, ३१७, ३१८, लाहोर, ५०३ ।
 ३१९ । सरस्वतीचन्द्र, ६५४ ।
 सच्चिदानन्द सिंह, ५८२ । सरहिन्द, ७० ।
 सतारा, ३३५, ३५७ । सलावतजंग, २७, ३० ।
 सतारा के राजा, २४६ । स्वराज्यदल, ४८४, ४८५, ४८६,
 स्कीन, जनरल, ४९५ । ४८७ ।
 सती-प्रथा, ५, ८४, २५०, २७७, सहायक प्रथा, १५६, १६७, १६८,
 २७८, २७९, २९१, ३२१, ३५८, २१२, २१३ ।
 ५०१ । सहारनपुर, ४८७, ६४८ ।
 सदर दीवानी अदालत, १२८, २९४ । स्थानीय स्वशासन, ४०६, ४०७ ।
 सदर निजामत अदालत, १२८ । साइमन, सर जान, ५०२ ।
 सदाशिवराव भाऊ, ७१ । साइमन कमीशन, ५०१, ५०२, ५०३,

सागर का जिला, २४२ ।	सिकन्दर हयात खां, सर, ५३२ ।
सांडर्स, पुलिस कमिश्नर, ५०८ ।	सिंगौली की सन्धि, २३६ ।
सांडर्स, मदरास का अध्यक्ष, २८ ।	सिंगापुर, ५४२, ५५६, ५५७, ५५८ ।
सादतअली, अवध का नवाब, १४८, १४९, २५२, ३४६ ।	स्टिफन, सर जेम्स, १००, १०२, ३८१ ।
सादतखां, अवध का सूबेदार, १९, ६८ ।	सिधेलम, ९ ।
सादरंग, ६४३ ।	सिटन, ३६८ ।
सादी, शेख, ६४९ ।	स्टिवार्ट, मेजर, २७३ ।
साचितजंग, ६६ ।	स्टिवेंस, ९ ।
सालब्राई की सन्धि, १०६, ११५, ११७, १४०, १४१, १४४, १९६ ।	स्टिवेंसन, १८९, १९४ ।
सालसट, १०३, १०४ ।	सिन्ध, २३०, २८३, २८४, २९७, ३००, ३०६, ३०७, ३०८, ५५५, ५५६, ५६४, ५६८, ५८७, ५९६, ५९७, ६०२, ६०५ ।
सावरकर विनायक दामोदर, ५३४, ५४४ ।	सिन्ध, नदी, २८३, २८४, २९९, ३००, ३०६ ।
सावरमती आश्रम, ५२१ ।	स्मिथ, इतिहासकार, ६५, १०२, ११३, ११६, १३१, २२१, २७३, ३०४ ।
स्काट, कर्नल, १७३ ।	स्मिथ, कर्नल, ७३ ।
स्यालकोट, ६११ ।	स्मिथ, जार्ज, ८० ।
स्वाम, २६४ ।	स्मिथ, मेजर, ६७ ।
सालिसवरी, भारतसचिव, ३९६ ।	सिराजुद्दौला, ४०, ४३, ४५, ४८, ४९, ५८, ८४, ८८ ।
सार्वजनिक सभा, ४२३ ।	सिलहट, ६११ ।
सालारजंग, ३७६, ४३९ ।	सिंह, सत्येन्द्रप्रसन्न, कानूनीमेम्बर, ४५२, ४६५, बिहार और उड़ीसा का गवर्नर, ४७० ।
सारन, ५७० ।	
सावनमल, ३२३ ।	
साहबदयाल, सर, ४१४ ।	
सिकन्दराबद, ६२१, ६३४ ।	

- सीतावलदी, २४२ ।
सीमाप्रान्त, ५५५, ५६४, ५६८, ५७५,
५९३, ६०२ ।
स्लीमैन, कर्नल, २६२, २७७, ३०९,
३२३, ३२४, ३४३, ३४४, ३४५,
३४७, ३४८ ।
सुखसागर, ६४५ ।
सुचेतसिंह, ३१४, ३१५ ।
स्टुआर्ट, १६२, १९५, २११ ।
सुदामा की कुटी, ६४१ ।
सुप्रीम कोर्ट, ९७, ९८, १००, १०१,
११८, २९४, ३८३ ।
सुप्रीम कौंसिल, ३३२ ।
सुब्बारायडू, ६५५ ।
सुवर्णदुर्ग, ७७, ७८ ।
सुहरवर्दी शहीद, ५७३, ६०५, ६१४ ।
सूरजमल, ७१, २०८ ।
सूरत, १०, १३, १५, १७, २०, ३६
८१, १३३, १७५, ४४८, ५१३ ।
सूरत की कोठी, १० ।
स्टेत्समैन, पत्र, ४४३ ।
स्टेपर, ९ ।
स्पेन, ७, १०, ३११ ।
स्पेन का राजा, २ ।
स्वेज की नहर, ३९४, ४१३ ।
सेन, केशवचन्द्र, २९२, ४२१ ।
सेन गुप्त, ५११ ।
सेन, जयनारायण, ५६० ।
सेन, विनेशचन्द्र, ६५१ ।
सेन नवीन, ६५२ ।
सेंट्रल हिन्दू कालेज बनारस, ४५८ ।
सेंट हेलेना का टापू, २४० ।
सेलेक्ट कमेटी, ४७, १२४ ।
सेलम, १३७ ।
स्क्रैफ्टन, ८० ।
स्टैची सर जान, ३३४, ३९३, अर्थ-
सदस्य, ३९७, ३९८ ।
सैयद अहमद खाँ, सर, ३९८, ३९९,
६५० ।
सोज, उर्दू कवि, ६४२ ।
सोने की चिड़िया, २ ।
सोमनाथ का फाटक, ३०५ ।
सोबराव की लड़ाई ३१८ ।
सोरेनसेन, पार्लमेण्टरी शिष्ट मंडल के
सदस्य, ५५४ ।
सौदा, उर्दू कवि ६४८, ६४९ ।
सौराष्ट्र संघ, ६२८ ।
संगीतरागकल्पद्रुम, ६४३ ।
संगीतसार, ६४३ ।
संगीतसारामृतम्, ६४३ ।
संसारचन्द्र, राजा, ६४२ ।
संयुक्त राष्ट्रसंघ, ५७०, ५७६, ५९५,
६१८, ६१९, ६२२, ६३४,
६३५ ।

ह	
हक मजरूल, ५१० ।	३११, ३१२, ३१६, ३१७, ३२१,
हकीम मेहदी, २८२ ।	३२२, ३२३, ३२६, ३३४, ३४४ ।
हजारा २८४, ३२०, ३२४, ६१६ ।	हार्डिज, लार्ड, वाइसराय, ४५४,
हवाई द्वीप, ५१४ ।	४५८, ४६१, ४६३ ।
हटन, इतिहासकार, २१४ ।	हार्न, अन्तरीप, २३१ ।
हदीस, ९१ ।	हाल, मिल्डन, १० ।
हनुमानगढ़ी, ३४६ ।	हालवेल, ४१, ४२, ८४ ।
हन्नीबुल्ला, अमीर, ४३५, ४४७, ४८१,	हालहेड, प्रेसी, ६५१ ।
४८२ ।	हाली, उर्दू कवि, ६४९ ।
हरिजन, गांधी जी का पत्र, ५४५ ।	हालेंड, ७, ८, १५, १७, ५०, २३१,
हरीपुरा, ५३३ ।	४६१, ५४१ ।
हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु, ६४६ ।	हालेंड, मद्रास का गवर्नर, १३६ ।
हरीराव, होलकर, २९६ ।	हाशिम मियां, ५७३ ।
हरीसिंह, नलवा, २८४ ।	हांगकांग, ५४२ ।
हरीसिंह, काश्मीर के राजा, ३१६,	हिटलर फुहरर, जर्मनी, ५३७, ५४१,
६१७ ।	५५०, ५५६ ।
हाइकोर्ट, ६८३ ।	हिन्द महासागर, २७० ।
हाकिंस, १०, ११ ।	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ६४८ ।
हाजेज, ८४, ८६ ।	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद,
हाफिज रहमत खां ६९, ९४, ९६ ।	६५० ।
हायदाउस, बोर्ड ऑफ कंट्रोल का	हिन्दू कालेज, कलकत्ता, २८८ ।
अध्यक्ष, ३३२, ३३५ ।	हिन्दू कानून समिति, ५२२ ।
हाउसन, सर अनैस्ट, ५१६ ।	हिन्दू कोड ५५२ ।
हारिंगटन, लार्ड, भारतसचिव,	हिन्दूकुश, ४२९ ।
४०३, ।	हिन्दू महासभा, ४८८, ५०१, ५१४,
हार्डिज, सर हेनरी, गवर्नर-जनरल,	५२५, ५३४, ५३८, ५४४, ५५५,
	५७३, ५९१, ५९६, ६०३, ६२७ ।

हिन्दूर, पहाड़ी राज्य, २३५ ।	२४४, २५२, २५३, २५४, २५८,
हिम्मत बहादुर, गोसाई, १९७ ।	२५९, २६३, २७०, २७४, ३४०,
हिमाचल प्रदेश, ६२८ ।	३४६, ३५५ ।
हिसार, ६९४ ।	हैदरअली, ७२, ७३, ७४, ७८, ७९,
हीटली कमीशन, ५०७ ।	८१, ८३, १०६, ११३, ११४,
होल्सर, १०४ ।	११५, ११६, १२२, १३५, १६२,
हुगली, १२, ४४ ।	१६४, १६५, १६९ ।
हयूम, ए० ओ०, ४२२, ४२३ ।	हैदरबेग खाँ, १३९ ।
हेअर, डेविड, २८८ ।	हैदराबाद, १९, ८०, १४७, १५६,
हेडगेवार, डाक्टर केशव बलिराम, ५२७ ।	१५७, १६७, १९३, २५८, २९५,
हेनरी, आठवाँ, इंग्लैंड का राजा, ९ ।	३३४, ३३५, ३७६, ४३९, ४६९,
हेनरी, राजकुमार, २ ।	५१७, ५२५, ५३३, ६०४, ६२०,
हेवर पादरी, २५२, २५४ ।	६३२, ६३४, ६३५, ६४२, ६५० ।
हेमचन्द्र, ६५२ ।	हैदराबाद, सिन्ध, ३०६ ।
हेरात, २८३, २९७, २९९, ४०३,	हैने, कर्नल, १३९ ।
४०५, ४१५ ।	हैरिस, मदरास का गवर्नर, १५६ ।
हेस्टिंग्ज, वारेन, ५४, ८५, ८८, ८९,	हैवलाक, जनरल, ३६५ ।
९०, ९१, ९२, ९३, ९५, ९६, ९७,	हैवेल, ई० बी०, ६३८, ६४१ ।
९८, ९९, १००, १०१, १०२,	होम्स, इतिहासकार, ३७६ ।
१०३, १०४, १०५, १०६, १०७,	होम्स, मेजर, ३६९ ।
१०८, १०९, ११०, १११, ११२,	होमरूल आन्दोलन, ४६४, ४७० ।
११३, ११४, ११७, ११८, ११९,	होर सर सेमुअल, ५१७ ।
१२०, १२१, १२३, १२४, १२५,	हंटर कमेटी, ४७३ ।
१२६, १२८, १२९, १३९, १४१,	हंटर, विलियम, ३५२, ३५४, ४०८ ।
१४५, २१२, २५९, २६३, २८६,	
३४६, ३५५, ४३६ ६३२ ।	
हेस्टिंग्ज, लार्ड, गवर्नर-जनरल, २३२,	
२३३, २३८, २४०, २४१, २४२,	

ब्र

ब्रिम्बकजी, २४४ ।
ब्रावणकोर, १३६, १३७, २०३, ५०४,

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library

मुससूरी

MUSSOORIE

यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है।

This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 954.03
MIS



405081

14
954.03
मिश्र

अवाप्ति सं०
ACC. No. ~~3211~~

वर्ग सं. पुस्तक सं.
Class No. Book No.
लेखक मिश्र, गंगा शंकर
Author.

M
954.03 LIBRARY ~~3211~~

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

मिश्र

MUSSOORIE

Accession No. 125061

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving